मुमुक्षु

अक्टूबर १९८३

आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ३ : अंक १
आश्विन सं० २०४०
अक्तूबर १९८३

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

यज्ञ, दान और तप — स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती १

पीठरहस्य — स्वामी करपात्री जी ५

श्री बलराम-जयन्ती और गर्ग संहिता — श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' १०

डरो मत — आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी १२

महालक्ष्मी का अवतरण १७

कर्मयोग — रवीन्द्रनाथ ठाकुर २०

काशी मुमुक्षुभवन समाचार २३

अंधेरे पक्ष की बात न कीजिए — डॉ० रामचरण महेन्द्र २५

•

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों का फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी हैं। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज करके मँगायें।

व्यवस्थापक-मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी
वाराणसी—५

•

मुमुक्षु

वर्ष : ३] अक्टूबर १९८३ [अंक : १

यज्ञ, दान और तप

श्री स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज

[पिछले दिनों कलकत्ता में श्री अभिमन्युकुमारजी भुवालका के निवास पर महाराजश्री का प्रवचन हुआ था, उसके कुछ अंश]

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
—गीता १८।५

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति पावन यज्ञ, दान और तप का निरूपण करते समय उसमें एक मनीषिणाम् शब्द डाल दिया। 'मनीषिनस्तु-भवन्ति, किन्तु पावनानि न भवन्ति' मनीषी तो बड़े-बड़े होते हैं, परन्तु वे बहुधा पावन नहीं होते। कोई विद्वान् हो, बुद्धिमान् हो, बड़ा प्रतिभाशाली हो, किन्तु उसका अन्तःकरण भी शुद्ध हो—ऐसा प्रायः देखने में नहीं आता। विद्या-बुद्धि अन्तःकरण को पवित्र करने में समर्थ है, यह ठीक है। आप बड़े विद्वान् हैं, बड़े मनीषी हैं। लोक-व्यवहार में मनीषी शब्द का अर्थ होता है कि मन जिसके वश में है। जो मन को अपने विचार के अनुसार चलाये, उस बुद्धि को मनीषा कहते हैं। मनसः + ईषा=मनीषा। मनीषा अस्ति येषां ते मनीषिनः। मन को चलाने वाली बुद्धि जिसके पास है, उसको कहते हैं मनीषी। आप इतने बुद्धिमान हैं कि अपने मन को जैसे चाहें, वैसे चला सकते हैं। परन्तु इतने पर भी आपका अन्तःकरण शुद्ध है, यह बात नहीं कहीं जा सकती। क्योंकि अन्तःकरण में मोह आकर बस जाता है। मोह एक तो प्राकृत होता है और दूसरा संस्कृत। अहंता होती है, ममता होती है। फिर काम है, क्रोध है, लोभ है, पक्षपात है, क्रूरता है। ये सब भी अन्तःकरण में ही होते हैं। इसलिए अन्तःकरण में जैसी अशुद्धि होती है, शुद्धि के साधन भी उसी प्रकार के होते हैं।

कपड़े पर तेल का दाग लग जाय, तो उसको छुड़ाने के लिए नीबू या दही का प्रयोग करना पड़ता है। ऐसी ही हमारे हृदय में जैसी मलिनता आ जाती है, उसको दूर करने के लिए कुछ विशेष प्रकार के प्रयास करने पड़ते हैं। बुद्धिमान् तो बहुत हैं, परन्तु पूत नहीं है, पवित्र नहीं हैं, पावन नहीं हैं, जब दूसरे का माल हड़पते हैं, तब पवित्र कहाँ हैं ? जब दूसरे को दुःख पहुँचाते हैं, तब पवित्र कहाँ हैं ? जब दूसरे को नीचा दिखाते हैं, तब पवित्र कहाँ है ? जब मोहवश पक्षपात और क्रूरता करते हैं, तब पवित्र कहाँ है ? यह कहा जा सकता है कि संसार में जितना उपद्रव विशेष बुद्धिमानों ने मचाया है, उतना साधारण बुद्धिमानों ने नहीं। बड़े-बड़े बुद्धिमानों ने ही बड़े-बड़े उपद्रव मचाये हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा कि बुद्धिमानों, तुम्हारी बुद्धि तो बहुत बड़ी है। परन्तु तुम्हारा मन और अन्तःकरण इतना स्वच्छ नहीं है, निर्मल नहीं है, पवित्र नहीं है। आओ, तुम्हारे अन्तःकरण के वस्त्र में जो मलिनता लगी हुई है, उसको धोने का उपाय हम बतायें। उसी उपाय को कहते हैं—यज्ञ, दान और तप। हम इनके क्रम का विचार न करके पहले दान को लेते हैं।

दान से द्रव्य की शुद्धि तो होती ही है, ममता की शुद्धि और मोह की भी शुद्धि हो जाती है। दान होता है बाहरी वस्तु का, परन्तु वह शुद्ध करता है भीतर। इसी तरह यज्ञ जो है वह क्रिया शुद्धि है। क्रिया होती है बाहर और शुद्धि होती है भीतर। दान धन का होता है, धन बाहर रहता है और क्रिया शरीर से होती है। यज्ञ भी शरीर से होता है और तप से शरीर की शुद्धि होती है। इस प्रकार तीन विभाग कर लो—तप करने से मन और देह की शुद्धि, यज्ञ करने से कर्म की शुद्धि और दान करने से धन की शुद्धि। ये तीनों शुद्धियाँ मिल कर अन्तःकरण को शुद्ध कर देती हैं। गीता में पहले इनके शुद्ध रूप का वर्णन है। यहाँ तो केवल उद्देश्य है, नाम है। परन्तु इनके स्वरूप-रूप का जो वर्णन है—वह विलक्षण है।

अब यज्ञ को देखो। जब हम यज्ञ करते हैं, तब तीन बातें हमारे जीवन में होती हैं—एक तो नियम से रहने की आदत पड़ती है—जैसे कब उठना, कब जागना, कब स्नान करना, कब सन्ध्या-वन्दन करना और कब भगवत् चिन्तन करना। इससे जीवन नियमित हो जाता है। यदि बाह्य यज्ञ हो, तो अग्नि के सामने बैठना, देवता का चिन्तन करना, आहुति देना अनिवार्य होता है। अग्नि से हम पवित्र तेज ग्रहण करते हैं। अग्नि से बढ़ कर शोधक और कोई वस्तु नहीं है। वायु भी उतना शोधक नहीं है जितना अग्नि शोधक है। आप तो जानते ही हैं कि कोयले को हीरा कौन बनाता है? अग्नि बताता है। अग्नि का सेवन होता है, तो अग्नि के तेज का, प्रकाश का आवाहन होता है और अपने शरीर में तेज का प्रवेश होता है। अग्नि की इच्छा करो। अग्नि शब्द का अर्थ क्या है—अग्र्–अग्रे नयति इति अग्निः। जो हम को आगे बढ़ावे, प्रगति दे, उसका नाम अग्नि है। एक तो जीवन नियमित होता है, दूसरा अग्नि से तेज का ग्रहण होता है और तीसरा उसमें होता है प्रदान।

प्रदान क्या होता है? हम लोग घर में रसोई बनाते हैं तो उसका धुआँ आसमान में उड़ता है। कारखाने का धुआँ उड़ता है, मोटर का धुआँ उड़ता है, गन्दे-गन्दे पदार्थ आसमान में उड़ते रहते हैं। आसमान इतना बड़ा है, इतना बड़ा है कि वह आसमान ही है। उसके समान और कोई नहीं है। लेकिन उसको भी हम गन्दी वस्तुओं को डाल-डाल कर, फेंक-फेंक कर गन्दा करते रहते हैं। जब हम अग्नि में मन्त्र का उच्चारण करके शुद्ध वस्तु डालते हैं, तो उससे न केवल अग्नि ही पवित्र होती है, बल्कि उसका जो पवित्र धुआँ फैलता है, वह हमारे द्वारा दूषित किये हुए आकाश को भी शुद्ध करता है। जब हम शुद्ध मन्त्रों के उच्चारण द्वारा यह प्रार्थना करते हैं कि हे अग्नि देवता, हमको सन्मार्ग से ले चलो, हे वायु देवता, हमारे जीवन में प्राणनीय शक्ति भर दो, तो इसका क्या अर्थ होता है? यही अर्थ होता है कि हे आकाश, तुम को हम अशुद्ध शब्दों का उच्चारण करके गन्दा करते रहते हैं। इसलिए उसके बदले हम शुद्ध मन्त्र का उच्चारण करते हैं। इसी तरह हम अशुद्ध धुआँ उड़ा कर वायु को दूषित करते हैं तो उसके निवारणार्थ शुद्ध धुँआ उड़ाते हैं और अग्नि में गन्दी-गन्दी चीज डाल कर अग्नि को गन्दा करते रहते हैं, तो पवित्र आहुति डाल कर अग्नि को शुद्ध करते हैं।

इस प्रकार हम यज्ञ के द्वारा समग्र अन्तरिक्ष को पवित्र करके लोगों की सेवा करते हैं। अनजान में ही हमारे द्वारा सब प्राणियों की सेवा हो जाती है। हमारे जीवन में जो सर्वभूत हितकारी कार्य होते हैं, उनमें एक यज्ञ भी है। तीसरा है तप। तप माने अपने मन और इन्द्रियों का संयम। देखो न, हमारी इन्द्रियाँ चाहे जहाँ चली जाती हैं, उन्हें कोई बन्धन ही नहीं है। कान चाहे जिस शब्द को ग्रहण कर लें, आँख चाहे जिस रूप को निहारने लग जाए, नाक में चाहे जो गन्ध घुस जाय और जीभ चाहे जो रस चख ले, त्वचा चाहे जिसका स्पर्श कर ले, कोई मर्यादा इन्द्रियों के लिए नहीं है। आजकल एक बात जगह-जगह सुनने में आती है कि यदि मन वश में नहीं हुआ, तो इन्द्रियों को वश में करके क्या करना है? परन्तु यह बात सर्वथा विपरीत है। पहले इन्द्रियाँ वश में की जाती हैं और उसके बाद मन वश में होता है। मन का वश में होना फल है और इन्द्रियों को वश में करना साधना है। जब साधन करेंगे, तब साध्य अथवा फल की प्राप्ति होगी। यदि कहो कि जब मन वश में हो जायेगा, तब हम अपनी इन्द्रियों को वश में करेंगे, तो यह ठीक नहीं है। यदि

ऐसा करोगे, तो न कभी मन वश में होगा और न इन्द्रियों को कभी वश में कर सकोगे। साधना वहीं से प्रारम्भ होती है, जहाँ स्थिति होती है। **भूमौ पतति पादात्तां भूमिरेव परं बलम्**—आदमी जिस धरती पर गिरा हुआ होता है, उसी धरती का सहारा लेकर उठता है। इसलिए जब हम धन में आसक्त हैं, इन्द्रियों के भोग में आसक्त हैं, संग्रह में आसक्त हैं, तब हमारी साधना धन से, भोग से प्रारम्भ होनी चाहिए। हमें यह विचार करना चाहिए कि धन में हम कौन-सा धन लें और कौन-सा न लें? यदि हम धन लेते हैं, तो उसको शुद्ध करने की प्रणाली क्या है? हम इन्द्रियों से भाँति-भाँति के भोग भोगते हैं, तो इन्द्रियों को शुद्ध करने की प्रणाली क्या है? हम शरीर से बहुत सारे काम करते हैं, तो शरीर को शुद्ध करने की प्रणाली क्या है? यह जो शोधन की प्रक्रिया है—वह ऊटपटांग नहीं हुआ करती। ठीक ढंग से उसको चलाना पड़ता है।

अब 'तप' पर ध्यान दो। 'क' से लेकर 'ह' तक के अक्षरों में सोलहवाँ अक्षर 'त' और इक्कीसवाँ अक्षर 'प' है। इसको मुख्य साधना माना जाता है—अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए। कहा गया है कि कष्ट सहकर भी अपने जीवन को ठीक ढंग से ले चलो। तप के तीन रूप गीता में बताये गये हैं—शरीर का तप, वाणी का तप और मन का तप। इनमें सबसे सुगम है वाणी का तप। इसका अर्थ है कि हम जो बोलते हैं, उसको तपा कर बोलते हैं कि ऐसे ही कच्चा बोल देते हैं। आप यदि भात खाते हैं, तो चावल को खूब पका कर, तपा कर, परिपक्व करके खाते हैं कि कच्चा ही खाते हैं? इसी तरह जब बोलना हो, तब भली-भाँति सोच-विचार करके बोलना चाहिए। यह नहीं कि चाहे, जो मन आया सो अनाप-शनाप बोल दिया। आप बोलते समय यह देख कर बोलिये कि इससे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा कि नहीं? अन्तःकरण वह है जो बाहर की वस्तु को भीतर लेकर रख लेता है। बाहर की वस्तु को भीतर करके रखने का जो औजार है, साधन है, कारण है उसको अन्तःकरण कहते हैं। जैसे हम आँख से किसी को देखते हैं और बाद में उसकी याद आती है, तो हमारे मन में वह दीखता है। वह दीखना कहाँ गया? भोजन करते हैं, बाद में उसकी याद आती है, तो उसकी स्मृति कहाँ गयी? अन्तःकरण में गयी। स्मृति को भीतर रखने वाला जो करण है, औजार है, उसी को अन्तःकरण कहते हैं।

एक दिन मैंने किसी को एक कड़ी बात कह दी। बाद में उसकी याद आने लगी कि हाय-हाय, तुमने इतनी कड़वी बात दूसरे को क्यों कही? यदि बोलते समय हमारी वाणी मे तप होता, हम सोच-विचार कर पक्का करके, अपने दिल में तौल कर देखते कि यह बात बोलने लायक है कि नहीं, तो वह कड़वी बात हमारे मुँह से क्यों निकलती और हमको पछताना क्यों पड़ता? हमारी ही वाणी से हमारे ही दिल में एक खटका जम गया। अगर तप हो जाता, हम सोच-समझ कर बोलते, तो हमें वह दुःख न होता। हमारी वाणी हमारे दिल में एक खटकने वाली स्मृति तो बन ही गयी और जिसको हमने कही, उसके लिए भी बन गयी।

तो, तपस्या का अर्थ यह हुआ कि हम अपनी वाणी से जो कुछ भी बोलें, उसे बहुत सोच-समझ कर बोलें। हमारा बोलना हमारी कापी में, हमारे बही-खाते में, रजिस्टर में भले ही नोट हो या न हो, हमारी पुस्तक में लिखा जाय या न लिखा जाए, लेकिन हमारे अन्तःकरण के भीतर जो पुस्तक है, उसमें वह जरूर लिखा जायेगा और उसका सुख-दुःख बाद में भोगना पड़ेगा।

गीता ने वाणी की तपस्या को सबसे पहली तपस्या बताया है। उसका कहना है—**'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते'** ॥ (गीता १७।१५)।

सबसे सुगम जीभ से बोलना है। शरीर से करना तो बहुत कठिन है और मन को धारण कर लेना, पकड़ लेना और भी कठिन है।

बड़े-बड़े मनीषी भी बोलते तो बहुत हैं, लेकिन ऐसी बातें बोलते हैं, मानो जहर उगल रहे हों, बाण मार रहे हों। यह जो वाणी के द्वारा बाण मारता है या जहर उगलता है या अपने दिल में भरी हुई भड़ास बाहर निकालता है—इसका अर्थ यह है कि अभी बोलने वाले

की वाणी तपायी हुई नहीं है। वह ठीक-ठीक शोधन करके वाणी का उच्चारण नहीं करता। उसके हृदय में जो वाणी थी वह अशुद्ध, जिसके कान में पड़ी वह अशुद्ध, उसका हृदय अशुद्ध, फिर जब वह दूसरे को कुछ बतायेगा, तो वह भी अशुद्ध। इसका मतलब है कि अशुद्ध वाणी से अशुद्धि की परम्परा बढ़ जायेगी। इसलिए बोलिए तब, जब बोलने की रीति आती हो। हमारे पास मुँह है, इसलिए हम बोलेंगे और चाहें जो बोलेंगे—ऐसा मानने पर आपकी बुद्धि आपके जीवन का निर्माण नहीं करेगी।

हमारे गाँव में बोलते हैं कि 'हे पड़ाइन, जब मुँह से बोलो तब शुभ ही बोलो।' यह सब पर लागू होती है। ऐसा ही बोलना चाहिए जो किसी के दिल में चुभे नहीं, जिससे किसी के हृदय में कोई हूल न उठे, कोई उद्वेग न हो। उद्वेग माने हूल उठना ही होता है। हम लोग बचपन में बरसात के दिनों में, जब कुएँ भर जाते थे, तब लाठी लेकर बड़े जोर से पानी में मारते थे और उससे उसमें से हूल उठती थी। इसी तरह हम जीभ से जो बोलते हैं इससे यदि किसी के हृदय में हूल उठा दी, चोट पहुँचा दी, उसको घायल कर दिया, उसके हृदय में चुभ गयी, तो यह बोलने का कोई तरीका नहीं।

अन्तःकरण शुद्ध करने का श्रीगणेश यही है कि हम दूसरे को दुःख पहुँचाने वाली बात न बोलें। संयम हो वाणी में तो यही वाणी का तप हो जाता है। इसलिए अपने को रोक कर बोलिये। मुझको एक साधू ने बताया था कि जब बोलना हो, तो पहले उस बात को मन में तीन बार बोल कर फिर बोलो। धड़ाधड़ बोलते मत जाओ। अब आता है कि बोलो तो सच बोलो। इसमें एक बात यह है कि बोलना ही बोलना धर्म नहीं है, गुप्त रखना भी धर्म है। कहीं बोलना धर्म होता है, कहीं न बोलना धर्म होता है। यह नहीं कि हम इस सत्य को जानते हैं, तो चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जो बोल जायें हमें उसके परिणाम पर भी ध्यान रखना चाहिए कि सत्य बोलने का परिणाम क्या होगा? इसलिए जहाँ उपनिषद् में 'सत्येन लभ्यस्व तपसा एव आत्मा'—आया है वहाँ शंकराचार्य जी ने भाष्य किया कि सत्य बोलने से ही आत्मा की उपलब्धि होती है, ऐसा नहीं है। तब क्या है? असत्य का परित्याग करने से आत्मा की उपलब्धि होती है। उन्होंने सत्येन का अर्थ किया कि असत्य वचन का त्याग कर दो, असत्य बोलना छोड़ दो। परन्तु सत्य भी वही बोलो, जहाँ बोलना अति आवश्यक हो।

इस प्रकार जो लोग अन्धाधुंध सत्य बोलते हैं, यह भी ठीक नहीं है। अविवेकपूर्ण सत्य भी हानिकारक होता है। सत्य चाहिए, पर उसके साथ विवेक चाहिए। सत्य हो, प्रिय हो, हितकारी हो, अवसरोचित हो और बोलना आवश्यक हो, तभी बोलना चाहिए।

सत्य की जानकारी होते हुए भी उसमें प्रियता मिलानी पड़ती है। उस को मधुर करके बोलना पड़ता है और वह हितकारी हो, तब बोला जाता है। अहितकारी हो तो नहीं बोला जाता और मौके पर ही बोला जाता है। मनु जी कहते हैं—सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतम् ब्रूयातत् एष धर्मः सनातनः।

अर्थात् सत्य बोलो, परन्तु प्रिय बोलो। प्रिय बोलो परन्तु सत्य बोलो। प्रिय झूठ मत बोलो और अप्रिय सत्य मत बोलो। यह सनातन धर्म की रीति है।

धर्म कोई काष्ठ-धर्म नहीं होता। लकड़ी के समान कड़ा धर्म नहीं होता। धर्म लचीला होता है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि "अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितम् च यत्—ऐसा सत्य बोलना चाहिए, जो प्रिय हो, हितकर हो। जिससे लड़ाई-झगड़ा पैदा होता हो, वह बात बोलनी ही नहीं चाहिए।

(क्रमशः)

ब्रह्म बनाये बन रहे, ते फिर और बनें न।
कान कहत नहिं बैन ज्यों, जीभ सुनत नहिं बैन ॥ वृन्द
भगवान ने जिसे जैसा जो कुछ बना दिया, फिर वह दूसरा कुछ बन नहीं सकता।
जीभ की तरह कान बोल नहीं सकते, और जीभ कानों की तरह सुनने से रही।

पीठ-रहस्य

श्री हरिहरानन्द सरस्वती स्वामी करपात्रीजी महाराज

कुछ दिन हुए एक विदुषी पाश्चात्य महिला ने इस आशय के कुछ प्रश्न किये थे कि "५१ तीर्थ होते हैं, इस ५१ संख्या का क्या अभिप्राय है? सती के शरीर के ५१ टुकड़े हुए, जहाँ-जहाँ एक टुकड़ा गिरा वहाँ-वहाँ एक मन्दिर, एक तीर्थ बना। यहाँ सती के शरीर के टुकड़े होने का अभिप्राय क्या है? यह कथा किस तत्त्व को समझाने के लिए बतलायी गयी है? विष्णु ने चक्र से सती का शव काट दिया, ऐसा उन्होंने क्यों किया? पार्वती का शव शिव ले जाते हैं, उनके दुःख से पृथ्वी नष्ट हो जाती है, इन बातों का क्या अभिप्राय है? यह घटना किस तत्त्व की, किस सिद्धान्त की द्योतक है? शिव का अपमान होने से सती मर गयी, यह क्यों? क्या लज्जा से? सती कौन है? उनकी मृत्यु किस तत्त्व के नष्ट हो जाने की द्योतक है? सती का पुनरुज्जीवन कब और कैसे होता है?"

उपर्युक्त विषयों पर कहना यही है कि अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति ही 'सती' हैं, अनन्त ब्रह्माण्डाधीश्वर शुद्ध ब्रह्म ही 'शङ्कर' हैं। ब्रह्म से ही माया-सम्बन्ध के द्वारा सृष्टि हुई है। ब्रह्मा ने दक्षादि प्रजापतियों को निर्माण कर सृष्टि के लिए नियुक्त किया। दक्ष ने भी मानसी सृष्टि-शक्ति से बहुत सी सन्तानें बनायीं। परन्तु वे सबकी सब श्रीनारद के उपदेश से विरक्त हो गयीं। ब्रह्मादि सभी चिन्तित थे। किसी समय ब्रह्मा से एक परम मनोरम पुरुष उत्पन्न हुआ। उसके सौन्दर्य्यादि गुणों पर सभी लोग मोहित हो उठे। ब्रह्मा ने उसे काम, कन्दर्प, पुष्पधन्वा आदि नाम से सम्बोधित किया। दक्षकन्या रति के साथ उसका उद्वाह हुआ। वसन्त, मलय, कोकिला, प्रमदा आदि उसको सहायक मिले। ब्रह्मा ने उसे वरदान दिया कि तुम्हारे हर्षण, मोहन, मादन, शोषण आदि पञ्च पुष्पबाण अमोघ होंगे। मैं, विष्णु, रुद्र, ऋषि, मुनि सभी तुम्हारे वशीभूत होंगे, तुम राग उत्पन्न कर प्राणियों को सृष्टि बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित करो। काम ने वर प्राप्त कर वहीं उसकी परीक्षा करनी चाही। उसी क्षण दैवात् ब्रह्मा से एक अत्यन्त लावण्यवती सन्ध्या नाम की कन्या उत्पन्न हुई। काम ने अपने पुष्पमय धनुष को तानकर ब्रह्मा पर बाण चलाया। ब्रह्मा का मन विचलित हो उठा और वे सन्ध्या पर मोहित हो उठे। सन्ध्या में भी काम के वेग से हाव-भाव आदि प्रकट हुए। श्रीशङ्कर भगवान् ने इन सबकी चेष्टाओं को देखकर उन्हें प्रबोध कराया। ब्रह्मा लज्जित हो उठे और काम को शाप दिया कि—"तुम शङ्कर की कोपाग्नि से भस्म हो जाओगे।" काम ने कहा—"महाराज! आपने ही तो मुझे ऐसा वरदान दिया है, फिर मेरा क्या दोष?" ब्रह्मा ने कहा—"कन्या जैसे अयोग्य स्थान में मुझे तुमने मोहित किया, इसीलिये तुम्हें शाप हुआ। अस्तु, अब तुम शिव को वशीभूत करो। काम ने कहा कि "शिव-शृङ्गारयोग्य, उन्हें मोहित करनेवाली स्त्री संसार में कहाँ है?" ब्रह्मा ने दक्ष को आज्ञा दी—"तुम महामाया भगवती योगनिद्रा की आराधना करो। वह तुम्हारी पुत्रीरूप से अवतीर्ण होकर शङ्कर को मोहित करे। दक्ष भगवती की आराधना में लग गये। ब्रह्मा भी भगवती की स्तुति में संलग्न हुए। भगवती प्रकट हुई और कहा—"वरदान माँगो।" ब्रह्मा ने कहा—"देवि! भगवान् शिव अत्यन्त निर्मोह एवं अन्तर्मुख हैं। हम सब कामवश हैं, एक उन्हीं पर काम का प्रभाव नहीं है। बिना उनके मोहित हुए सृष्टि का काम नहीं चल सकता। मैं उत्पादक, विष्णु पालक और वे संहारक हैं। तीनों के सहयोग के बिना सृष्टिकार्य्य असम्भव है। सृष्टि के विघ्नरूप दैत्यों के हनन में भी कभी विष्णु का, कभी शिव का प्रयोजन होगा, कभी शक्ति से यह काम होगा। अतः उनका कामासक्त होना आवश्यक है।" देवी ने कहा—"ठीक है, मेरा भी विचार उन्हें मोहने का था, परन्तु अब तुम्हारे प्रोत्साहन से मैं अधिक प्रयत्नशील होऊँगी। मेरे बिना शङ्कर को कोई नहीं मोहित कर सकता। मैं दक्ष के यहाँ जन्म लेकर जब अपने दिव्यरूप से शङ्कर को मोहित

करूँगी, तभी सृष्टि ठीक चलेगी।" यह कहकर देवी ने दक्ष के यहाँ जाकर उन्हें वर दिया और उनके यहाँ सतीरूप से प्रकट हुई। किञ्चित् बड़ी होते ही शिवप्राप्ति के लिये तप करने में लग गयीं। इतने ही में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं ने जाकर शङ्कर की स्तुति की और उन्हें विवाह के लिये राजी किया। उधर सती की आराधना से शङ्कर प्रसन्न हुए और उन्हें वरदान दिया कि 'हम तुम्हारे पति होंगे।' फिर उनका सानन्द विवाह सम्पन्न हुआ और सहस्रों वर्षों तक सती और शिव का शृङ्गार हुआ। उधर दक्ष के यज्ञ में शिव का निमन्त्रण न होने से और उनका अपमान जानकर सती ने उस देह को त्यागकर हिमवत्पुत्री पार्वती होकर शिवपत्नी होने का निश्चय किया और योगबल से देह त्याग दिया। शिवजी को समाचार विदित होने पर बड़ा क्षोभ और मोह हुआ और दक्षयज्ञ को नष्ट करके सती के शव को लेकर शिवजी घूमते रहे। सम्पूर्ण देवताओं ने या सर्वदेवमय विष्णु ने शिवमोहशान्ति एवं साधकों के सिद्धि आदि कल्याण के लिए शव के भिन्न-भिन्न अङ्गों को भिन्न-भिन्न स्थलों में गिरा दिया, वे ही ५१ पीठ हुए।

हृदय से ऊर्ध्वभाग के अङ्ग जहाँ पतित हुए, वहाँ वैदिक एवं दक्षिण मार्ग की सिद्धि होती है और हृदय से निम्नभाग के अङ्गों के पतनस्थलों में वाममार्ग की सिद्धि होती है। १—सती की योनि का जहाँ पात हुआ, वहाँ कामरूप नामक पीठ हुआ, वह 'अकार' का उत्पत्तिस्थान एवं श्रीविद्या से अधिष्ठित है। यहाँ कौलशास्त्र से अणिमादि सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं। लोम से उत्पन्न इसके वंश नामक दो उपपीठ हैं, वहाँ शाबर मन्त्रों की सिद्धि होती है। २—स्तनों के पतनस्थल में काशिकापीठ हुआ और वहाँ से 'आकार' उत्पन्न हुआ। वहाँ देहत्याग करने से मुक्ति प्राप्त होती है। सती के स्तनों से दो धाराएँ निकलीं, वही असी और वरुणा नदी हुई। असी के तीर पर दक्षिण सारनाथ उपपीठ है एवं वरुणा के उत्तर में उत्तर सारनाथ उपपीठ है, वहाँ क्रमशः दक्षिण एवं उत्तर मार्ग के मन्त्रों की सिद्धि होती है। ३—गुह्यभाग जहाँ पतित हुआ वहाँ नेपालपीठ हुआ, वहाँ से 'इकार' की उत्पत्ति हुई। वह पीठ वाममार्ग का मूलस्थान है। वहाँ ५६ लाख भैरव-भैरवी, दो हजार शक्तियाँ, तीन सौ पीठ एवं चौदह श्मशान सन्निहित हैं। वहाँ चार पीठ दक्षिण मार्ग के सिद्धिदायक हैं, उनमें भी चार में वैदिक मन्त्र सिद्ध होते हैं। नेपाल से पूर्व में मल का पतन हुआ अतः वहाँ किरातों का निवास है। तीस हजार देवयोनियों का वहाँ निवास है। ४—वाम नेत्र का पतनस्थान रौद्र पर्वत है, वह महत्पीठ हुआ, 'ईकार' की उत्पत्ति वहाँ से हुई। वामाचार से वहाँ मन्त्रसिद्धि होकर देवता का दर्शन होता है। ५—वाम कर्ण के पतनस्थान में काश्मीरपीठ हुआ, वह 'उकार' का उत्पत्तिस्थान है। वहाँ सर्वविध मन्त्रों की सिद्धि होती है। वहाँ अनेक अद्भुत तीर्थ हैं किन्तु कलि में सब म्लेच्छों द्वारा आवृत कर दिये जायेंगे। ६—दक्षिण कर्ण के पातस्थल में कान्यकुब्जपीठ हुआ और 'ऊकार' की उत्पत्ति हुई। जहाँ गङ्गा-यमुना के मध्य में अन्तर्वेदी नामक पवित्र स्थल में ब्रह्मादि देवों ने स्वस्वतीर्थों का निर्माण किया है वहाँ वैदिक मन्त्रों की सिद्धि होती है। उस कर्ण के मल के पतनस्थान में यमुनातट पर इन्द्रप्रस्थ नामक उपपीठ हुआ, उसके प्रभाव से विस्मृत वेद ब्रह्मा को वहाँ पुनः उपलब्ध हुए। ७—नासिका के पतनस्थान में पूर्णगिरिपीठ है, वह 'ऋकार' का उत्पत्तिस्थल है। वहाँ योगसिद्धि होती है और मन्त्राधिष्ठातृ देव प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। ८—वाम गण्डस्थल की पतनभूमि पर अर्बुदाचल पीठ हुआ और 'ॠकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ अम्बिका नाम की शक्ति है, वाममार्ग की सिद्धि होती है, दक्षिण मार्ग में विघ्न होते हैं। ९—दक्षिण गण्डस्थल के पतनस्थान में आम्रातकेश्वर पीठ हुआ, 'ऌकार' की उत्पत्ति हुई। वह धनदादि यक्षिणियों का निवासस्थान है। १०—नखों के निपतनस्थल में एकाम्रपीठ हुआ, 'ॡकार' की उत्पत्ति हुई। वह पीठ विद्याप्रदायक है। ११—त्रिवलि के पतनस्थल में त्रिस्रोतपीठ हुआ और वहाँ 'एकार' का जन्म हुआ। वस्त्र के तीन खण्ड उसके पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में गिरे, वे तीन उपपीठ हुए। गृहस्थ द्विज को पौष्टिक मन्त्रों की सिद्धि वहाँ होती है। १२—नाभि की पतनभूमि कामकोटिपीठ हुई, वहाँ 'ऐकार' का प्रादुर्भाव हुआ; समस्त काममन्त्रों की सिद्धि वहाँ होती है, उसको चारों दिशाओं में उपपीठ हैं जहाँ अप्सराएँ निवास करती हैं। १३—

अंगुलियों के पतनस्थल हिमालय पर्वत में कैलाशपीठ हुआ, 'ओकार' का प्राकट्य हुआ। अंगुलियाँ लिङ्गरूप में प्रतिष्ठित हुईं, वहाँ करमाला से मन्त्रजप करने पर तत्क्षण सिद्धि होती है। १४—दन्तों के पतनस्थल में भृगुपीठ हुआ, वहाँ से 'औकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वैदिकादि मन्त्र वहाँ सिद्ध होते हैं। १५—दक्षिण करतल के पतनस्थान में केदारपीठ हुआ, वहाँ 'अं' की उत्पत्ति हुई। उसके दक्षिण में कङ्कण के पतनस्थान में अगस्त्याश्रम नामक सिद्ध उपपीठ हुआ और उसके पश्चिम में मुद्रिका के पतनस्थल में इन्द्राक्षी उपपीठ हुआ। उसके पश्चिम में वलय के पतनस्थल में रेवती-तट पर राजेश्वरी उपपीठ हुआ। १६—वाम गण्ड की निपातभूमि पर चन्द्रपुरपीठ हुआ, 'अः' की उत्पत्ति हुई। सभी मन्त्र वहाँ सिद्ध होते हैं। १७—जहाँ मस्तक का पतन हुआ, वहाँ श्रीपीठ हुआ और 'ककार' का प्रादुर्भाव हुआ। कलि में पापी जीवों का वहाँ पहुँचना दुर्लभ है। उसके पूर्व में कर्णाभरण के पतन से उपपीठ हुआ, जहाँ ब्रह्मविद्या-प्रकाशिका ब्राह्मी शक्ति का निवास है। उससे अग्निकोण में कर्णार्द्धाभरण के पतन से दूसरा उपपीठ हुआ, जहाँ मुखशुद्धकरी माहेश्वरी शक्ति है। दक्षिण में पत्रवल्ली की पातभूमि में कौमारी शक्तियुक्त तीसरा उपपीठ हुआ। नैर्ऋत्य में कण्ठमाल के निपातस्थल में ऐन्द्रजालविद्या-सिद्धिप्रद वैष्णवीशक्ति समन्वित चौथा उपपीठ हुआ। पश्चिम में नासा-मौक्तिक के पतनस्थान में वाराही शक्त्यधिष्ठित पाँचवाँ उपपीठ हुआ। वायुकोण में मस्तकाभरण के पतनस्थान में चामुण्डा शक्तियुक्त क्षुद्रदेवता-सिद्धकर छठा उपपीठ हुआ और ईशान में केशाभरण के पतन से महालक्ष्मी से अधिष्ठित सातवाँ उपपीठ हुआ। १८—बाहु के पतनस्थल में अमरकण्टक पर्वत पर ओंकारक्षेत्रपीठ हुआ। वहाँ 'खकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वह पीठ नर्मदा से अधिष्ठित है, वहाँ तप करनेवाले महर्षि जीवन्मुक्त हो गये। उसके उत्तर में कञ्चुकी की पतनभूमि में उपपीठ हुआ, जो ज्योतिर्मन्त्र-प्रकाशक एवं ज्योतिष्मती से अधिष्ठित है। १९—वक्षःस्थल के पतनस्थल में एक पीठ हुआ और 'गकार' की उत्पत्ति हुई। अग्नि ने वहाँ तपस्या की और देवमुखत्व को प्राप्त होकर ज्वालामुखीसंज्ञक उपपीठ में स्थित हुए। २०—वामस्कन्ध के पतनस्थान में मालवपीठ हुआ, वहाँ 'घकार' की उत्पत्ति हुई। गन्धर्वों ने रागज्ञान के लिये तपस्या कर वहाँ सिद्धि पायी। २१—दक्षिण कक्ष का जहाँ पात हुआ, वहाँ कुलान्तकपीठ हुआ एवं 'ङकार' की उत्पत्ति हुई। विद्वेषण, उच्चाटन, मारण के प्रयोग वहाँ सिद्ध होते हैं। २२—जहाँ वाम कक्ष का पतन हुआ, वहाँ कोट्टकपीठ हुआ और 'चकार' का प्राकट्य हुआ। वहाँ राक्षसों ने सिद्धि प्राप्त की है। २३—जठरदेश के पतनस्थल में गोकर्ण पीठ हुआ। वहाँ 'छकार' की उत्पत्ति हुई। २४—प्रथम वलि का जहाँ निपात हुआ, वहाँ मातुरेश्वरपीठ होकर 'जकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ शैवमन्त्र शीघ्र सिद्ध होते हैं। २५—अपर वलि के पतनस्थान में अट्टहासपीठ हुआ, 'झकार' का प्रादुर्भाव हुआ, वहाँ गणेश-मन्त्रों की सिद्धि होती है। २६—तीसरी वलि का जहाँ पतन हुआ वहाँ विरजपीठ हुआ और 'ञकार' की उत्पत्ति हुई। वह पीठ विष्णु-मन्त्रों का सिद्धिप्रदायक है। २७—जहाँ बस्तिपात हुआ और 'टकार' की उत्पत्ति हुई वहाँ राजगृहपीठ हुआ। राजगृह में वेदार्थज्ञान की प्राप्ति होती है। नीचे क्षुद्रघण्टिका के पतनस्थल में घण्टिका नामक उपपीठ हुआ, वहाँ ऐन्द्रजालिक मन्त्र सिद्ध होते हैं। २८—नितम्ब के पतनस्थल में महापथपीठ हुआ तथा 'ठकार' की उत्पत्ति हुई। जातिदुष्ट ब्राह्मणों ने वहाँ शरीर अर्पित किया और दूसरे जन्म में कलियुग में देहसौख्यदायक वेदमार्ग-प्रलुप्तक अघोरादि मार्ग को चलाया। २९—जघन का जहाँ पात हुआ, वहाँ कोलगिरिपीठ हुआ और 'डकार' की उत्पत्ति हुई। वन-देवताओं के मन्त्रों की वहाँ सिद्धि शीघ्र होती है। ३०—दक्षिण ऊरु के पतनस्थल में एलापुर-पीठ हुआ, 'ढकार' का प्रादुर्भाव हुआ। ३१—वाम ऊरु के पतनस्थान में कालेश्वरपीठ हुआ, 'णकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ आयुवृद्धिकारक मृत्युञ्जयादि मन्त्र सिद्ध होते हैं। ३२—दक्षिण जानु के पतनस्थान में जयन्तीपीठ होकर 'तकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ धनुर्वेद की सिद्धि अवश्य होती है। ३३—वाम जानु जहाँ पतित हुआ, वहाँ उज्जयिनीपीठ हुआ 'थकार' प्रकट हुआ, वहाँ कवचमन्त्रों की सिद्धि होकर रक्षण होता है। अतः उसका नाम 'अवन्ती' है। ३४—दक्षिण जङ्घा के पतनस्थान में योगिनीपीठ हुआ, 'दकार'

की उत्पत्ति हुई। वहाँ कौलिक मन्त्रों की सिद्धि होती है। ३५-वामजङ्घा के पतनस्थान पर क्षीरिकापीठ होकर 'धकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ वैतालिक तथा शाबर मन्त्र सिद्ध होते हैं। ३६—दक्षिण गुल्फ के पतनस्थान में हस्तिनापुरपीठ हुआ, 'नकार' की उत्पत्ति हुई। वहीं नूपूर का पतन होने से नूपूरार्णवसंज्ञक उपपीठ हुआ, वहाँ सूर्य-मन्त्रों की सिद्धि होती है।

३७—वामगुल्फ के पतनस्थल में उड्डीशपीठ होकर 'पकार' का प्रादुर्भाव हुआ। उड्डीशाख्य महातन्त्र वहाँ सिद्ध होता है। जहाँ दूसरे नूपुर का पतन हुआ, वहाँ डामर उपपीठ हुआ। ३८—देहरस (अस्थि) के पतनस्थान में प्रयागपीठ हुआ, 'फकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ मृत्तिका श्वेतवर्ण की दृष्टिगोचर होती है। वहाँ अन्यान्य अस्थियों का पतन होने से अनेक उपपीठों का प्रादुर्भाव हुआ। गङ्गा के पूर्व में बगलोपपीठ एवं उत्तर में चामुण्डादि उपपीठ, गङ्गा-यमुना के मध्य में राजराजेश्वरीसंज्ञक, यमुना के दक्षिण तट पर भुवनेशी नामक उपपीठ हुआ। इसीलिये प्रयाग तीर्थराज एवं पीठराज कहा गया है। ३९—दक्षिण पृष्नि के पतन-स्थान में षष्ठीशपीठ हुआ एवं 'बकार' का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ पादुका मन्त्र की सिद्धि होती है। ४०—वाम पृष्नि का जहाँ पात हुआ, वहाँ मायापुरपीठ हुआ, 'भकार' की उत्पत्ति हुई, समस्त मायाओं की सिद्धि वहाँ होती है। ४१—रक्त के पतनस्थान में मलयपीठ हुआ एवं 'मकार' की उत्पत्ति हुई। रक्ताम्बरादि बौद्धों के मन्त्र यहाँ सिद्ध होते हैं। ४२—पित्त की पतनभूमि पर श्रीशैल पीठ हुआ तथा 'यकार' का प्रादुर्भाव हुआ। विशेषतः वैष्णव मन्त्र यहाँ सिद्ध होते हैं। ४३—मेद के पतनस्थान में हिमालय पर मेरुपीठ हुआ एवं 'र' की उत्पत्ति हुई। स्वर्णाकर्षण भैरव की सिद्धि वहाँ होती है। ४४—जहाँ जिह्वाग्र का पतन हुआ, वहाँ गिरिपीठ हुआ तथा 'लकार' की उत्पत्ति हुई। यहाँ जप करने से वाक्सिद्धि होती है। ४५—मज्जा के पतनस्थान में माहेन्द्रपीठ हुआ, वह 'वकार' के प्रादुर्भाव का स्थान है, जहाँ शाक्त मन्त्रों के जप से अवश्य सिद्धि होती है। ४६—दक्षिण अंगुष्ठ के पातस्थान में कामनपीठ हुआ एवं 'शकार' की उत्पत्ति हुई, यहाँ समस्त मन्त्रों की सिद्धि होती हैं। ४७—वामांगुष्ठ के निपतन-स्थान में हिरण्यपुरपीठ हुआ, वहाँ 'षकार' की उत्पत्ति हुई। वहाँ वाममार्ग से सिद्धिलाभ होता है। ४८—रुचि (शोभा) के पतन-स्थान में महालक्ष्मीपीठ हुआ एवं 'सकार' का प्राकट्य हुआ। यहाँ सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ४९—धमनो के पतनस्थान में अत्रिपीठ हुआ, वहाँ 'हकार' उत्पन्न हुआ और यावत् सिद्धियाँ होती हैं। ५०—छाया के सम्पातन स्थान में छायापीठ हुआ एवं 'लकार' की उत्पत्ति हुई। ५१—केशपाश के पतनस्थल में छत्रपीठ का प्रादुर्भाव हुआ, यहीं 'क्षकार' का उद्गम हुआ। यहाँ समस्त सिद्धियाँ शीघ्रतापूर्वक उपलब्ध होती हैं।

अ, आ, इ, ई उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। क, ख, ग, घ, ङ। च, छ, ज, झ, ञ। ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न। प, फ, ब, भ, म। य, र, ल, व, श, ष, स, ह, ळ, क्ष, यही ५१ वर्णों की वर्णमाला है। यहाँ अन्त का ल 'ळ' रूप से उच्चरित होता है तथा अन्तिम 'क्ष' माला का सुमेरु है। इसी माला के आधार पर सती के भिन्न-भिन्न अङ्गों का पात हुआ है। एतावता इतनी भूमि वर्णसमाम्नायस्वरूप ही है। भिन्न-भिन्न वर्णों की शक्तियाँ और देवता भिन्न हैं। इसीलिये उन-उन वर्णों, पीठों, शक्तियों एवं देवताओं का परस्पर सम्बन्ध है। जिसके ज्ञान और अनुष्ठान से साधक को शीघ्र ही सिद्धि होती है। माया द्वारा ही परब्रह्म से विश्व की सृष्टि होती है। सृष्टि हो जाने पर भी उसके विस्तार की आशा तब तक नहीं होती, जब तक चेतन पुरुष की उसमें आसक्ति न हो। अतएव, सृष्टि-विस्तार के लिए काम की उत्पत्ति हुई। रजःसत्व के सम्बन्ध में द्वैतसृष्टि का विस्तार होता है, परन्तु तम कारणरूप है वहाँ द्वैतदर्शन की कमी से मोह की कमी होती है। सत्वमय सूक्ष्मकार्य्यरूप विष्णु एवं रजोमय स्थूलकार्य्यरूप ब्रह्मा के मोहित हो जाने पर भी कारणात्मक शिव मोहित नहीं होते। परन्तु जब तक कारण में भी मोह नहीं, तब तक सृष्टि की पूर्ण स्थिति नहीं होती। इसीलिये स्थूल-सूक्ष्म कार्य्यचैतन्यों को ऐसी रुचि हुई कि कारण चैतन्य भी मोहित हो। परन्तु वह अघटित घटनापटीयसी महामाया के ही वश की बात है। इसीलिए सबने उसीकी आराधना की। देवी प्रसन्न हुई, वह भी अपने पति को स्वाधीन करना चाहती है। स्वाधीनभर्तृका स्त्री ही परम

सौभाग्यशालिनी होती है। वही हुआ, महामाया ने शिव को स्वाधीन कर लिया, फिर भी पिता द्वारा पति का अपमान होने पर उसने उस पिता से सम्बन्धित शरीर को त्याग देना उचित समझा। महाशक्ति का शरीर उसका लीला· विग्रह ही है। जैसे निर्विकार चैतन्य शक्ति के योग से साकार विग्रह धारण करता है, वैसे ही शक्ति भी अधिष्ठान चैतन्ययुक्त हो साकार विग्रह धारण करती है। इसीलिये शिव-पार्वती दोनों मिलकर अर्द्धनारीश्वर के रूप में व्यक्त होते हैं। अधिष्ठान चैतन्यसहित महाशक्ति का उस लीलाविग्रह सती-शरीर से तिरोहित हो जाना ही सती का मरना है। प्राणी की तपस्या एवं आराधना से ही शक्ति को जन्म देने का सौभाग्य एवं उसे परमेश्वर से सम्बन्धित कर अपने को कृतकृत्य करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, परन्तु, यदि बीच में प्रमाद से अहङ्कार उत्पन्न हो जाता है, तो शक्ति उससे सम्बन्ध तोड़ लेती है और फिर उसकी वही स्थिति होती है जो दक्ष की हुई। सती का शरीर यद्यपि मृत हो गया, तथापि वह महाशक्ति का निवास-स्थान था, श्री शङ्कर उसीके द्वारा उस महाशक्ति में रत थे, अतः मोहित होने के कारण भी फिर उसको छोड़ न सके। यद्यपि परमेश्वर सदा स्वरूप में ही प्रतिष्ठित होते हैं, फिर भी प्राणियों के अदृष्टवश उनके कल्याण के लिये सृष्टि, पालन, संहरण आदि कार्य्यों में प्रवृत्त से प्रतीत होते हैं उन्हींके अनुरूप महामाया में उनको आसक्ति और मोह की भी प्रतीति होती है। इसी मोहवश शङ्कर महाशक्ति के अधिष्ठानभूत उस प्रिय देह को लेकर घूमने लगे।

देवता और विष्णु ने मोह मिटाने के लिए उस देह को शिव से वियुक्त करना चाहा। साथ ही अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति के अधिष्ठानभूत उस देह के अवयवों से लोक का कल्याण हो, यह भी सोचकर भिन्न-भिन्न स्थानों में विभिन्न अङ्गों को गिराया। भिन्न-भिन्न शक्तियों के अधिष्ठानभूत भिन्न-भिन्न अङ्ग जिन स्थानों में पड़े, वहाँ उन शक्तियों की सिद्धि सरलता से होती है। जैसे कपोत और सिंह के मांस आदि में भी उनकी विशेष विशेषता प्रकट होती है, वैसे ही सती के भिन्न-भिन्न अवयवों में भी उनकी विशेषता प्रकट होती है। इसीलिये जैसे हिंगु के निकल जाने पर भी उसके अधिष्ठान में उसकी गन्ध या वासना रहती है, वैसे ही सती की महाशक्तियों के अन्तर्हित होने पर भी उन अधिष्ठानों में वह प्रभाव रह गया। जैसे सूर्य्य-कान्ता पर सूर्य्य की रश्मियों का सुन्दर प्राकट्य होता है, वैसे ही उन शक्तियों के अधिष्ठानभूत अङ्गों में उनका प्राकट्य बहुत सुन्दर होता है। यहाँ तक कि जहाँ-जहाँ उन अङ्गों का पात हुआ, वे स्थान भी दिव्य शक्तियों के अधिष्ठान माने जाते हैं। वहाँ भी शक्तितत्त्व का प्राकट्य अधिक है। अतएव, उन पीठों पर शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है। अङ्ग सम्बन्धी कोई अंश या भूषण-वसनादि का जहाँ पात हुआ, वहीं उपपीठ है। उनमें भी उन-उन विशेष शक्तितत्त्वों का आविर्भाव होता है। अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति का जो अधिष्ठान हो चुका है, वह एवं तत्सम्बन्धी समस्त वस्तुओं में शक्तितत्त्व का बाहुल्य होना ही चाहिये। वैसे तो जहाँ भी कहीं, जिस किसी भी वस्तु में जो भी शक्ति है, उन सबका ही अन्तर्भाव महामाया में ही है—

"यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥"

अपनी-अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार इष्ट देवता, मन्त्र, पीठ, उपपीठ के साथ सम्बन्ध जोड़ने से सिद्धि में शीघ्रता होती है। तथा च—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥"

इत्यादि वचनों के अनुसार प्रणवात्मक ब्रह्म ही निखिल विश्व का उपादान है। वही शक्तिमय सती-शरीररूप में और निखिल वाङ्मय प्रपञ्च के मूलभूत एकपञ्चाशत् वर्णरूप में व्यक्त होता है। जैसे निखिल विश्व का शक्तिरूप में ही पर्य-वसान होता है, वैसे ही वर्णों में ही सकल वाङ्मय प्रपञ्च का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि सभी शक्तियाँ वर्णों की आनुपूर्वीविशेषमात्र हैं। शब्द-अर्थ का, वाच्य-वाचक का असाधारण सम्बन्ध किंबहुना अभेद ही होता है, अतएव, एकपञ्चाशत् वर्णों के कार्यभूत सकल वाङ्मयप्रपञ्च का जैसे एकपञ्चाशत् वर्णों में अन्तर्भाव किया जाता है, वैसे ही वाङ्मयप्रपञ्च के वाच्यभूत सकल अर्थमयप्रपञ्च का उसके मूलभूत एकपञ्चाशत् शक्तियों में अन्तर्भाव करके वाच्य-वाचक का अभेद प्रदर्शित किया गया है। यही ५१ पीठों का रहस्य है।

श्रीबलराम-जयन्ती और गर्ग संहिता

श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र'

श्रीबलरामजी की जयन्ती कब पड़ती है ? यह विवादास्पद है। विवादास्पद तो श्रीराधाष्टमी और श्रीजानकी-जयन्ती भी है। आजकल भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को श्रीबलराम-जयन्ती मनाई जाती है। इसी प्रकार भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को श्रीराधाष्टमी तथा वैशाख शुक्ल नवमी को श्रीजानकी-नवमी मनाने की प्रथा प्रचलित है।

वाराणसी से प्रकाशित पंचांगों की प्राचीन प्रथा की रक्षा करते हुए 'चिन्ताहरण जन्त्री' एवं 'चिन्ताहरण पंचांग' के सम्पादक श्रीजगजीवनदास गुप्तजी ने वर्तमान प्रचलित प्रथा के अनुसार वैशाख शुक्ल नवमी को 'वैष्णव मतानुसार जानकी-जयन्ती' और भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को 'श्रीराधाष्टमी' लिखा है, किन्तु भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को बलराम-जयन्ती नहीं लिखा है।

साथ ही पुराने पंचांगों की परम्परा का निर्वाह करते हुए माघ कृष्ण अष्टमी को 'श्रीजानकी-जयन्ती' कार्तिक कृष्ण अष्टमी को 'राधाष्टमी' दिया है। श्रीबलराम-जयन्ती नहीं दी है।

पुराने, विशेषतः काशी के पुराने विश्व पंचांग में मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष पंचमी को 'बलदेव-जयन्ती' लिखा जाता था। इस मान्यता में उनका जन्म शतभिषा नक्षत्र में माना जाता है। इससे उनका नाक्षत्रिक नाम संकर्षण है। उस समय सूर्य वृश्चिक का, चन्द्रमा कुम्भ का, लग्न वृश्चिक कहा गया है। शेष ग्रह भाद्रपद की कुण्डली के समान हैं; जिनकी चर्चा आगे की जा रही है।

भाद्रपद षष्ठी लोलार्क षष्ठी है, भाद्रपद शुक्ल अष्टमी दुर्गाष्टमी तथा महालक्ष्मी व्रत की तिथि है और वैशाख शुक्ल नवमी श्रीबगलामुखी-जयन्ती है। इस प्रकार ये तिथियाँ प्राचीनतम समय (सतयुग) से पर्व तिथियाँ हैं।

दूसरी और माघ कृष्ण अष्टमी का एक नाम सीताष्टमी भी उपरोक्त पंचांग में दिया है और कार्तिक कृष्ण अष्टमी को 'अहोई अष्टमी' पंचांगों में लिखा तो जाता ही है, व्रज में कहा भी जाता है और इस तिथि को राधाकुण्ड में स्नान का मेला भी लगता है। 'अजन्मा के जन्म की भाँति' अहोई-अजन्मी के होने की यह तिथि है, यह प्रश्न असंगत नहीं है। तब इसका महत्त्व हो जाता है, जब पुराने पंचांगों की परम्परा में 'चिन्ताहरण पंचांग' इसे राधाष्टमी कहता है।

श्रीबलराम-जयन्ती के सम्बन्ध में रसाचार्य डा० वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी (मथुरा) ने अपने ग्रन्थ 'नन्दोत्सव' में उद्धरण दिया है—

> इत्थं गते पंच दिनेषु भाद्रे
> स्वातौ च षष्ठ्यां असिते बुधे च।
> उच्च ग्रहैः पंचभिरावृते च
> लग्ने तुलायां दिन मध्य देशे॥

श्री चतुर्वेदीजी ने यह नहीं दिया कि यह श्लोक कहाँ का है, किन्तु इससे मिलता-जुलता श्लोक गर्ग संहिता में है।

श्री चतुर्वेदीजी की इसी पुस्तक में आगे श्रीबलरामजी की पूरी कुण्डली पृष्ठ २७ पर इस प्रकार दी है—

"तुला राशिः। लग्नोऽपि तुलाख्यः। लग्न एव शुक्र-शनि योगः। तृतीये केतुः, चतुर्थे भौमः। दशमे गुरुः। नवमे राहुः। एकादशे सूर्यः! द्वादशे कन्यायां बुधः।"

यह कुण्डली निर्दोष (ठीक) लगती है। लेकिन इसमें केवल चार ग्रह उच्च के हैं—१. तुला का शनि, २. मकर का मंगल; ३. कर्क का गुरु और ४. कन्या का बुध।

तुला का शुक्र और सिंह का सूर्य स्वगृही हैं। तुला का चन्द्र मित्र गृही है।

अनेक मतों में मिथुन के राहु तथा धनु के केतु को उच्च का माना तो जाता है; किन्तु तब ६ ग्रह उच्च के कहने चाहिये। दूसरी बात यह कि पुराने ज्योतिष ग्रन्थों में राहु-केतु ग्रह माने ही नहीं गये हैं। ये छायाग्रह हैं। इनकी

उच्चता गिनी नहीं जाती। भले पौराणिक कथा में ये एक शरीर के दो खण्ड (मस्तक और धड़) माने गये हों, पर ज्योतिष में समान्तर चलनेवाले ये भिन्न स्वभाव के हैं। राहु शनि का मित्र है और शनि के शत्रु मंगल से केतु की मित्रता है।

जिस पूर्णिमा का चन्द्रोदय जिस नक्षत्र पर होता है, महीने का नाम उसी नक्षत्र के अनुसार होता है। इसलिए भाद्रपद की पूर्णिमा को पूर्वा भाद्रपद या उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र होगा। इसे ध्यान में रखें, तो भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को स्वाती नक्षत्र का होना ही अधिक सम्भाव्य है। इस प्रकार श्रीबलराम-जयन्ती की तिथि और नक्षत्र का योग मिलता है।

प्रश्न पाँच ग्रहों के उस समय उच्च का होने का है। गर्ग संहिता का यह वर्णन किसी प्रकार संगत नहीं होता। अतः इस वचन को प्रक्षिप्त मानने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। इस विषय में ज्योतिष के स्पष्ट नियम हैं—

१. यदि सूर्य या चन्द्र में-से कोई उच्च का न हो, तो पाँच ग्रह एक साथ कभी उच्च के नहीं होंगे।

२. सूर्य मेष में (१३ अप्रैल से) चैत्र में उच्च का होता है। अतः श्रीराम के जन्म के समय सूर्य उच्च का था। इसलिए उनके जन्म-चक्र में पाँच ग्रह उच्च के हैं।

३. चन्द्रमा वृष राशि में उच्च का होता है। कृत्तिका नक्षत्र के अन्तिम तीन चरण, रोहिणी नक्षत्र तथा मृगशिरा नक्षत्र के प्रारम्भ के दो चरण वृष राशि के हैं। श्रीकृष्ण का जन्म रोहिणी नक्षत्र में हुआ। अतः चन्द्रमा वृष राशि का होने से उच्च का है। इसीलिए श्रीकृष्ण के जन्म चक्र में पाँच ग्रह उच्च के हो सकें।

४. सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि ये सात ग्रह हीं प्राचीन ज्योतिष में मान्य हैं। इनमें से—सूर्य या चन्द्र में से—कोई उच्च का न हो, तो ग्रह पाँच ही बचते हैं और वे पाँचों एक साथ कभी उच्च के नहीं हो सकते; क्योंकि—

शुक्र और बुध सूर्य से चालीस अंश से दूर कभी नहीं होते। शुक्र मीन में उच्च का होता है और बुध कन्या में। ये राशियाँ परस्पर नब्बे अंश दूर हैं। अतः सूर्य कहीं भी हो, एक साथ शुक्र का मीन पर और बुध का कन्या पर होना सम्भव नहीं है। आकाश में ऐसी स्थिति आने की कोई सम्भावना नहीं है।

श्री बलरामजी का जन्म भाद्रपद में हुआ, अतः सूर्य उच्च का नहीं था। ऊपर 'नन्दोत्सव' में दी गयी कुण्डली में उसे सिंह का कहा गया है। इसी प्रकार स्वाती नक्षत्र का जन्म होने से चन्द्रमा भी उच्च का नहीं है। वह तुला राशि का है। बुध कन्या का होने से उच्च का है; किन्तु शुक्र तुला का होने से स्वगृही है, उच्च का नहीं है।

श्रीबलरामजी के जन्म के समय पाँच ग्रह उच्च के थे, यह वचन किसी प्रकार संगत नहीं होता। अवश्य उनके जन्म के समय कोई ग्रह नीच का या शत्रुगृही नहीं था। मंगल, बुध, गुरु और शनि ये चार ग्रह उच्च के थे। शुक्र और सूर्य स्वगृही थे। चन्द्रमा मित्रगृही था।

यदि छाया ग्रह राहु-केतु को गिनना ही हो, तो एक मत से राहु वृष में और केतु वृश्चिक में उच्च के होते हैं और दूसरे मत से राहु मिथुन में और केतु धनु में उच्च का होता है। समान्तर गति होने से दोनों एक साथ उच्च या नीच के होते हैं। इनको उच्च का जोड़ने की परम्परा ज्योतिष ग्रन्थों में नहीं हैं; किन्तु जोड़े ही तो उच्च के छः ग्रह कहने पड़ेंगे। गर्ग संहिता के 'पंचग्रह उच्च' की संगति फिर भी नहीं लगेगी। ●

निःस्वार्थ सेवा—एक कोढ़ का दुसाध्य रोगी था। वह बड़ा ही हठी तथा नास्तिक था। उसके तमाम अंगों में कोढ़ फूट रहा था। एक बार प्रसिद्ध संत फ्रांसिस उसके पास गये तो वह उनको गाली देने लगा क्योंकि उस ओर से गुजरने वाले लोग उसे गालियां देते और और घृणा से मुंह फेर लेते थे। इसलिये उसकी धारणा हो गयी थी। कि सब के सब मुझसे घृणा करते हैं।

संत फ्रांसिस उसकी गाली की परवाह किये बिना ही आगे बढ़ते गये और उसके पास पहुँच कर अत्यन्त विनम्र वाणी में बोले 'भैया तुम मुझे चाहे गाली दो या मारो पर मैं तुम्हारे पास अवश्य आऊंगा और घाव धोऊंगा। उन पर पट्टियां करूंगा और तुम्हारी हर तरह से सेवा करूंगा।'

डरो मत

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥
—भागवत, ७, १५, २२

(संकल्प के त्याग से काम को, कामनाओं के त्याग से क्रोध को, अर्थ में अनर्थबुद्धि करने से लोभ को और तत्त्व-चिन्तन से भय को जीता जा सकता है ।)

भागवत के इस श्लोक में बताया गया है कि मनुष्य को धर्म-पथ से विचलित करने वाली आदिम मनोवृत्तियों को कैसे जीता जा सकता है ? इसमें विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि काम को तो असंकल्प से जीतने की बात बतायी गयी है, क्रोध को काममूलक समझ कर काम-विवर्जन के द्वारा जीतने की बात बतायी गयी है, अर्थ में अनर्थ-बुद्धि उत्पन्न करके उसे परास्त करने की बात सोची गयी है, लेकिन, भय को दूर करने के लिए तत्त्व-चिन्तन की आवश्यकता बतायी गयी है । सच बात तो यह है कि शास्त्रकारों की दृष्टि से 'भय' नामक मानस-शत्रु का अस्तित्व बहुत गहराई में है । आधुनिक विज्ञान भी बताता है कि जीव के प्रथम दर्शन के साथ-ही-साथ 'भय' नामक वृत्ति का जन्म हो जाता है । वह आत्म-रक्षा का आवश्यक अस्त्र है । जीव-तत्त्व में सबसे प्रमुख वृत्ति जिजीविषा की है । जिजीविषा अर्थात् जीवित रहने की, बचे रहने की इच्छा । इस इच्छा का प्रकाश दो रूपों में होता है : (१) अपने-आपको समस्त विध्वंसक तत्त्वों से बचाए रखना और (२) सन्तान-प्रवाह के रूप में अपने-आप को चिरकाल तक जीवित रखने का प्रयास । आत्म-रक्षा के लिए लोभ और क्रोध की भी आवश्यकता है, क्योंकि लोभ के द्वारा अपनी पुष्टि के साधन जुटाये जाते हैं और क्रोध के द्वारा भीति-जनक तत्त्वों का विध्वंस किया जाता है । लोभ अर्थ-संचय की ओर प्रवृत्त करता है और क्रोध अनर्थ-निश्चय की ओर । पर, इन दोनों ही के मूल में अपने-आपके उच्छेद का भय है । यदि आधुनिक मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त को सर्वात्मना स्वीकार किया जाय, तो मानना पड़ेगा कि जीव की यह सहज प्रवृत्तियाँ हैं । काम का स्थान मुख्य है, भय का दूसरा है और शास्त्र में बताये हुए अन्य शत्रुओं के स्थान बाद में आते हैं । हमारे शास्त्रकारों ने षट्-रिपुओं में काम, भय और लोभ को मुख्य स्थान दिया है, यद्यपि, काम उनमें मुख्य है । व्यापक अर्थों में भय भी काम ही का परिणाम है, क्योंकि जिजीविषा या जीते रहने की इच्छा एक प्रकार का 'काम' ही है और भय उसका साधन-मात्र है । मनुष्य डर कर आत्म-रक्षा करना चाहता है, अर्थात् वह 'चाहता' है । यह 'चाहना' ही काम है । इस सहजात वृत्ति से जीव-मात्र बँधा हुआ है । लोभ, मोह इत्यादि इसी के परिणाम हैं । परन्तु, व्यावहारिक जीवन में काम, भय और लोभ को मनुष्य के समस्त स्खलन, पतन का कारण बनते देखा गया है । जिसे सन्त लोग 'धर्म' कहते हैं, उसके मार्ग में ये वृत्तियाँ प्रधान रूप से बाधक हैं । परन्तु, ये तीनों ही जीवमात्र की प्रबल वृत्ति जिजीविषा ही के परिणाम हैं । इसीलिए, व्यास जी ने 'भारत-सावित्री' में कहा है कि काम, भय और लोभ से चालित होकर कभी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए । परन्तु, ये तीनों मनुष्य के जीवित रहने की सहजात प्रवृत्ति के परिणाम हैं, इसीलिए, व्यास जी ने और भी स्पष्ट रूप से कहा है कि जीवित या जीवन के लिए भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख अनित्य हैं और जीव नित्य है, किन्तु उसके हेतुभूत सुख-दुःखादि विषय अनित्य हैं :

न जातु कामान्न भयान्न लोभा-
द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ? ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

किन्तु यदि वैज्ञानिक रहस्य को स्वीकार किया जाय, तो मानना पड़ेगा कि जीव अपने प्रादुर्भाव-काल ही से

कामपरक है। यदि जीव अपने प्रादुर्भाव काल ही से कामात्मता से ग्रस्त है, तो फिर उपाय क्या है ? मनु भगवान ने इसी बात को सोचकर मनुस्मृति में कहा था—'**कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहात्यकामता**'। अर्थात् कामात्मता बुरी बात है, लेकिन कठिनाई यह है कि इस दुनिया में काम विवर्जित भाव है भी नहीं। यह एक विचित्र उलझन है। यदि काम-विवर्जित भाव नहीं है, तो भय और लोभ से छुटकारा भी नहीं है, लेकिन छुटकारा आवश्यक है। कैसे छूटा जाय ? संसार का इतिहास कहता है कि लोभ ने बड़े-बड़े विद्वानों को, तत्त्व-चिन्तकों को, मनीषियों को और सन्तों को पछाड़ दिया। 'भागवत' में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है :

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञा संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोप्येके असन्तोषात् पतत्यधः॥

—भागवत ७, १५, २१

अर्थात् हे 'राजन् ! विविध विद्याओं के ज्ञाता, दूसरों के अनेक संशयों के उच्छेदक और अनेक सभाओं के सभापति अगणित पंडित असन्तोष के कारण ही पतित हो चुके हैं।' और प्रत्येक मनुष्य कभी-न-कभी यह अवश्य अनुभव करता है कि भय के कारण वह सच बोल नहीं पाता, धर्म-मार्ग पर चल नहीं पाता, नामर्दी और कायरता का शिकार बन जाता है। इतिहास कहता है कि लोभ से मनुष्य पतित हो जाता है और अनुभव कहता है कि भय से आदमी बर्बाद हो जाता है और संसार के विकास के रहस्य को जानने वाले कहते हैं कि लोभ भी मनुष्य के साथ-साथ पैदा होता है और भय भी साथ-साथ ही पैदा होता है। इस प्रकार एक तरफ कुआँ है, तो दूसरी तरफ खाई। क्या हम लोभ और भय से छुटकारा नहीं पा सकते ? यहीं सोचने की जरूरत पड़ती है। कोई दूसरा प्राणी नहीं सोचता। मनुष्य ही सोचता है। मनुष्य की यह विशेषता है कि उसे जीव-धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। जिसे वैज्ञानिक 'जीव-धर्म' कहते हैं, उसी के पेट से मनुष्य का यह विशेष धर्म भी निकला है। संक्षेप में इसको 'मानवता' कहते हैं। वह संसार के इतर जीवों से भिन्न श्रेणी की है, किन्तु मनुष्य का वह सहज-धर्म है। 'भागवत' का जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है और उसमें जो यह कहा गया है कि "तत्त्व-चिन्तन से मनुष्य भय को जीत सकता है", वह मानव-धर्म है। मनुष्य का सहज धर्म है तत्त्व-चिन्तन। तत्त्व-चिन्तन के द्वारा ही हम इस उलझन से निकल सकते हैं। तत्त्व क्या है ? 'तत्त्व' शब्द का शाब्दिक अर्थ है तत् का भाव। 'तत्' अर्थात् 'वह'। जो मुझ से अलग है, भिन्न है। जो वस्तु हमसे पृथक् दिखायी देती है, उसका स्वरूप क्या है ? और वह है क्या ? सन्तों ने अपने अनुभव से देखा है कि विकास की प्रक्रिया से संसार में जो नाना प्रकार की चीजें दिखायी देती हैं, वह वस्तुतः एक ही मूल सत्य का नाना रूपों में विकास है। सच्चे अर्थों में जो 'मैं' हूँ, वही 'वह' है, जो 'मैं' हूँ, वही 'तुम' हो। उपनिषदों में इसी को कहा गया है कि "जो वह है, वही तू है, वही मैं हूँ—**तत्त्वमसि, नेहनानास्ति किंचन।**" यदि मनुष्य इस तत्त्व-दर्शन तक पहुँचे, तो आत्म-रक्षा और आत्म-पोषण की बातें बिलकुल बेकार और थोथी साबित हों। कौन किससे डरे, कौन किसे पाने की कोशिश करे ? जिसे आत्म-रक्षा कहा जाता है, वह असल में तत्त्व-ज्ञान न होने का परिणाम-मात्र है। हम इस रहस्य को भूल जाते हैं, इसीलिए डरते हैं, इसीलिए लोभ करते हैं। इसीलिए विविध वस्तुओं के पाने की इच्छा करते हैं। क्रोध ही से हिंसा उत्पन्न होती है। गांधीजी ने अपने अन्तिम जीवन में अपनी यह भूल स्वीकार की थी कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजों से सत्ता प्राप्त करने की जो लड़ाई हुई, वह अहिंसक लड़ाई थी। वह कमजोरों और बुजदिलों की लड़ाई को अहिंसा की लड़ाई नहीं मानते थे। जो आध्यात्मिक दृष्टि से पंगु और अपाहिज हैं, वे भय को नहीं जीत सकते और जो भय को नहीं जीत सकता, वह अहिंसा और मैत्री पर विश्वास भी नहीं कर सकता। २४ दिसम्बर, १९४७ ई० के अपने प्रार्थना-प्रवचन में उन्होंने कहा था कि "दुनिया मानती है कि हिन्द ने अहिंसा और शान्ति के जरिये आजादी ली है। अगर ऐसा ही होता, तो मुझे अच्छा लगता। मगर, पंगु और नामर्दों से अहिंसा चल नहीं सकती। यह पंगुपन और गूंगापन शारीरिक नहीं है। शरीर से पंगु बनने वाले तो ईश्वर की मदद से अहिंसा पर खड़े रह सकते हैं। एक बच्चा भी अहिंसा पर खड़ा

रह सकता है—जैसे प्रहलाद। ऐसा हुआ था या नहीं, मैं नहीं जानता। पर, कहानी बन गयी है कि प्रह्लाद ने अपने पिता से साफ कह दिया था कि मेरी कलम से राम के सिवा कुछ निकलेगा ही नहीं। मेरे सामने बारह वर्ष का बच्चा प्रह्लाद आज भी खड़ा है। मगर, जो आदमी आत्मा से लूला है, पंगु है, अन्धा है, वह अहिंसा को समझ नहीं सकता। अहिंसा का पालन कर नहीं सकता। मैंने गलती से यह सोच लिया था कि हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई अहिंसक लड़ाई थी। लेकिन, पिछली घटनाओं ने मेरी आँखें खोल दी हैं कि हमारी अहिंसा कमजोरों का मन्द विरोध था। अगर हिन्दुस्तान के लोग सचमुच बहादुरी से अहिंसा का पालन करते, तो वे इतनी हिंसा कभी नहीं करते।''

जो कमजोर है, जिसे पद-पद पर अपने-आपसे उच्छिन्न होने की आशंका है, वह भयार्त्त जीव आध्यात्मिक रूप से पंगु और अपाहिज है। उससे सत्य और अहिंसा-धर्म का पालन नहीं हो सकता। इसलिए, शास्त्रकारों ने 'भय' के निवारण के लिए 'तत्त्व-चिन्तन' को उपाय बतलाया है। भारतवर्ष में गान्धीजी के भक्तों की कमी नहीं थी, उनको दैवी-शक्ति-सम्पन्न महात्मा मानने वाले भी कम नहीं थे, पर अधिकतर मानते उतना ही थे, जितने से उनका तात्कालिक लाभ दिखायी देता था। जरा-सी मतलब से इधर-उधर की बात उन्होंने कही नहीं कि लोगों ने कान बन्द किये। सोचा कि महात्मा लोग तो ऐसी बहकी-बहकी बातें कहते ही रहते हैं। वे सदा अव्यावहारिक होते हैं। लोगों ने तो उन्हें पत्र लिख-लिख कर 'पागल' कहा। २८ दिसम्बर को महात्मा जी ने अपनी प्रार्थना-सभा में कहा था—'मैंने तो करोड़ों की आवाज उठायी—न उठाऊँगा, तो मेरी आवाज को क्यों सुनें ? जब मैं अपनी आवाज उठाता हूँ, तब कौन सुनता है ? मैं कहता हूँ, कि मुसलमानों को दुश्मन मत मानो, तब लोग मुँह मोड़ लेते हैं। लोग कहते हैं कि यह क्या पागलपन करता है ? मेरी ऐसी आवाज कोई नहीं सुनता। हाँ, मैं इतना तो जरूर कहूँगा कि करोड़ों लोग मेरी आवाज नहीं सुनते हैं, तो अपने धर्म को हानि पहुँचाते हैं। लोगों को समझना चाहिए कि मैं जब हमेशा अच्छी बात कहता हूँ, तब अभी बुरी बात क्यों कहूँगा ? मैं गलत बात कहता ही नहीं। इसमें गलत बात क्या कहनी थी। जो मैं कहता हूँ कि धर्म की जड़ दया है, वह तो तुलसीदास का कथन है। उससे कहो कि तू दीवाना है। लेकिन, उसकी रामायण जितनी चलती है, उतनी सारे हिन्दुस्तान में कोई दूसरी पुस्तक नहीं चलती—शायद ही दुनिया में इतनी कोई पुस्तक चलती होगी। वह पुस्तक सिर्फ बिहार में चलती है या युक्त-प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) में चलती है, ऐसी बात नहीं है। वह सब जगह चलती है। मैंने तो उसका काम किया, उनकी आवाज उठायी। इसमें मुझको पागल कहने की क्या बात है।''

सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि साधारण मनुष्य प्रवृत्तियों से बुरी तरह आक्रान्त है। वह तत्त्व-चिन्तन के रास्ते जा ही नहीं पाता। उसमें का जड़ग्राही पशुत्व प्रबल हो उठता है और चिदाश्रयी मनुष्य परास्त हो जाता है। क्या किया जाय ? जड़ का आकर्षण बड़ा प्रबल होता है। पर, मनुष्य हारकर भी नहीं हारता। कहीं कोई बड़ी शक्ति है कि उसे उठा देती है। ऐसा न हो, तो मनुष्य कब का समाप्त हो गया होता ? सब भटक जाते हैं, फिर भी मनुष्य-धर्म बचा रहता है। आदमी आग से डरता है, जल जाने की आशंका होती है और इस आशंका में मृत्यु का हो जाना भी निश्चित रहता है, लेकिन आदमी कीचड़ से भी डरता है, विशेष कर उस अवस्था में जिस समय साफ कपड़े पहने हो। गन्दगी से बच कर रहना पवित्र मनुष्य का स्वभाव है। सामाजिक जीवन में भी हम दो प्रकार के भय से ग्रस्त होते हैं। एक तो ऐसा भय, जिसमें विनष्ट हो जाने की आशंका हो और एक ऐसा भय, जिसमें यश या कीर्ति के धूमिल होने की आशंका हो। कई बार मनुष्य मृत्यु-भय को बर्दाश्त कर लेता है, लेकिन यश के दूषित होने की आशंका को नहीं सह पाता। सामाजिक जटिलताओं में कभी-कभी शुद्धशील व्यक्ति को कलंकित होते देखा गया है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक का नायक चारुदत्त धर्म-भीरु था, परन्तु उसे स्त्री-हत्या के अपराध में अदालत से मृत्यु-दण्ड सुनना पड़ा। चारुदत्त के मुँह से कवि ने सभ्य और सुसंस्कृत मनुष्य की मनोकामनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया है।

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितंयशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्र जन्म समं क्वचिद् ॥

(मैं मृत्यु के भय से नहीं डरता। मुझे इसी बात का अफसोस है कि मेरा यश धूमिल हो जायेगा। यदि मैं लोक-दृष्टि में विशुद्ध माना जाता, तो उस अवस्था की मृत्यु मेरे लिए पुत्र-जन्म जैसी आनन्दकर होती।)

गान्धीजी के सेवा क्षेत्र में आने के पूर्व इतिहास और पुराण में ऐसी घटनाएँ प्राप्त होती हैं जहाँ साहसी लोगों ने लोक-निन्दा के भय को भी अमान्य किया है। परन्तु गान्धी जी ने सब प्रकार के भय से मुक्त होने का मन्त्र दिया। प्रचलित कानून के अनुसार अदालत द्वारा दण्डित होना पहले बड़ा भारी कलंक माना जाता था। साधारण मनुष्य इस कलंक से उद्धार पाने के लिए ऐसे अनेक प्रयत्न करता था, जो ईमानदारी और सच्चाई से नहीं, बल्कि सिर्फ आत्म-रक्षा के भाव से चालित होते थे। गान्धी जी ने सारे देश को वह नैतिक शक्ति दी जिसे पाकर लोगों ने उचित कार्य के लिए कानून द्वारा लांछित होने को श्रेयस्कर समझा। जहाँ उद्देश्य साधु हो, लक्ष्य लोक-हित हो, परिणाम दीनता और परमुखापेक्षिता से मुक्त हो—वहाँ प्रचलित कानूनों का विरोध किया जा सकता है। वहाँ स्वेच्छा से सब प्रकार की यातनाओं का वरण किया जा सकता है। परन्तु गान्धीजी ने इसमें एक बड़ी भारी शर्त लगा दी—कष्ट पाने वाले के चित्त में विरोधी के प्रति घृणा का भाव नहीं होना चाहिए। यदि विरोधी को मोह और जड़ता से उबारा जा सके, अर्थात् गान्धी के शब्दों में यदि 'हृदय-परिवर्तन' किया जा सके, तो सभी कष्ट चरितार्थ होते हैं। यह बहुत बड़ी शक्ति है। गांधी जी के ऊपर अपार श्रद्धा होने के कारण विदेशी सत्ता से संघर्ष के समय लोगों ने उनकी आज्ञाओं का पालन किया। कुछ लोगों ने युद्ध-नीति के रूप में, कुछ लोगों ने अन्य उपाय के अभाव में और कुछ थोड़े लोगों ने सच्चे हृदय से इस शर्त का पालन किया। अवस्था बदलते ही अधिकांश की व्यवस्था भी बदल गयी। इसीलिए गान्धीजी को कहना पड़ा कि 'मैंने जो सोचा था कि भारतवर्ष अहिंसा की लड़ाई लड़ रहा है वह ठीक नहीं था।' परन्तु इससे एक बात साधारण आदमी की समझ में भी आ जाती है कि श्रद्धा और भक्ति से ऐसी बहुत-सी बातें हो सकती हैं जो साधारणतः असम्भव मानी जाती हैं। इसीलिए सभी सन्तों ने और सभी शास्त्रों ने भगवान् की श्रद्धा-भक्ति का उपदेश दिया है। हमने संघर्ष के दिनों में गान्धी जी पर अर्थात् भगवान् के 'अनन्य' भक्त पर अपार श्रद्धा के बराबर ही थी। परन्तु हमारी श्रद्धा एकान्तिक श्रद्धा नहीं थी। गांधीजी ने अपने महाप्रयाण के नौ दिन पूर्व अपनी प्रार्थना-सभा में कहा था कि 'इस जगत में पाप कभी अपने-आप रह नहीं सकता, वह किसी के सहारे ही टिक सकता है। सिर्फ भगवान् और उनके भक्त ही अपने सहारे रह सकते हैं। इसी में से हमारा असहयोग निकला। अहिंसात्मक असहयोग यहाँ भी ठीक है। आप भी भगवान् का नाम लेते हैं, कोई पुलिस भी मदद पर न आये, गोलियां चलती रहें, फिर भी मैं राम-नाम लेता रहूँगा और आपसे लिवाता रहूँ, तभी मैं धन्यवाद के लायक हूँ।'

ईश्वर पर भरोसा करने वाला आदमी विपत्तियों से नहीं डरता। विपत्ति वह नहीं है जिसे दुनिया में साधारणतः दुःख और यातना कहा जाता है। असली विपत्ति वह है जब मनुष्य का भगवान् पर से विश्वास हिल जाता है। 'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने एक बड़े सुन्दर प्रसंग की अवतारणी की है। जब हनुमानजी लंका से लौट कर आये, तो उन्होंने भगवान् रामचन्द्र से सीता जी की अवस्था का वर्णन किया। उन्होंने बताया कि सीताजी दिन-रात राम-नाम का ही जप किया करती हैं और बड़े कष्ट में हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया।

"सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहि कहे भल दीनदयाला॥"

रामचन्द्रजी ने सुना तो आँखों में आँसू आ गये :

"सुनि सीता दुख प्रभु सुख ऐना।
भरि आए जल राजिव नैना॥"

फिर उन्होंने बड़े प्रेम से हनुमान जी से पूछा कि "कहो हनुमान, मन से, कर्म से और वचन से जिसने मेरी ही टेक धारण की हो, उस व्यक्ति को कभी विपत्ति आनी चाहिए?" रामचन्द्र जी ने बड़े दुःख से यह वाक्य कहा। साधारण मनुष्य होता, तो समझता कि रामचन्द्र जी अपनी

असमर्थता की बात कह रहे हैं, परन्तु हनुमान जी परम भक्त थे, उन्होंने अपनी गलती महसूस की। कैसी परस्पर-विरुद्ध बात कह दी थी उन्होंने। जो मनुष्य भगवान् पर दृढ़ भाव से भरोसा किये हुए है, उसे क्या विपत्ति सता सकती है? सीता के लिए विपत्ति तब होती जब वे लक्ष्य-भ्रष्ट हो जातीं। भगवान् पर से उनका भरोसा उठ जाता। परन्तु ऐसा तो हुआ नहीं और फिर भी हनुमान जी ने कातर भाव से कह दिया कि "सीता के अति बिपति बिसाला।" जब भगवान् ने उलट कर उनसे प्रश्न किया कि "सपनेहुँ बिपति कि बूझिय ताही", तब उन्होंने बात समझी और फिर ठीक ढंग से कहा :

"कह हनुमन्त बिपति प्रभु सोई।
जब तव सुमिरन भजन न होई॥"

गान्धीजी ने यही बात अपने ढंग से कितनी ही बार कही। वे राम पर भरोसा रखते थे और राम की आवाज पहचानते थे। अपनी अन्तिम प्रार्थना-सभा में उन्होंने कहा था : "मैं किसी के कहने से कैसे भाग सकता हूँ? किसी के कहने से मैं खिदमतगार नहीं बना हूँ, किसी के कहने से मैं मिट नहीं सकता हूँ। ईश्वर के चाहने से जो मैं हूँ, बना हूँ, ईश्वर को जो करना होगा सो करेगा। ईश्वर चाहे तो मुझे मार सकता है। मैं समझता हूँ कि मैं ईश्वर की बात मानता हूँ।" महात्मा जी का यह अन्तिम उपदेश बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। भगवान् पर उनके अखण्ड विश्वास का यह दृढ़ उद्घोष है और साधारण मनुष्य के लिए यह उनका दृढ़ कण्ठ से दिया हुआ परम मन्त्र है। यह समस्त जीवन के तत्त्व-चिन्तन का सार है, विपत्ति, कष्ट, मृत्यु और लोक-निन्दा आदि सब प्रकार के भयों से मुक्ति पाने का अमोघ अस्त्र है। यह 'डरो मत' का सबसे उत्तम, सबसे सरल और सबसे अमोघ मन्त्र है। साधारण मनुष्यों के लिए उनका यह उपदेश अत्यन्त उपादेय है। हम जब किसी प्रकार की भय या आशंका से विचलित होते हैं, तो उसका मतलब होता है कि हमने भगवान् का भरोसा छोड़ दिया। जो भगवान् का भरोसा नहीं छोड़ता, वह डरता भी नहीं। गान्धी जी ने कहा है, "राम पर भरोसा रखो, डरो मत।" समस्त विपत्तियाँ, सारी यातनाएँ और सारी लांछनाएँ भगवान् को समर्पित होकर धन्य हो जाती हैं। जो प्रभु का भक्त है, वह किसी का शत्रु नहीं। यातनाएँ और विपत्तियाँ उसके लिए फूल का सेज बन जाती हैं। लांछनायें और भर्त्सनाएँ उसके गले का हार सिद्ध होती हैं। ऐसे भक्त के लिए जब दुःख आता है, तो वह उसमें भी भगवान् का दर्शन पाता है। रवीन्द्रनाथ ने गाया है कि 'तुम दुःख के रूप में आये हो, इसलिए मैं तुम से डर नहीं जाऊँगा।" जहाँ व्यथा है वहीं तो तुम हो, वहीं तुम्हें कस कर पकड़ूँगा।'—

दुखेर वेशे एसेछ बेले
तोमारे नाहि डरब हे।
जेथाय व्यथा सेथो तोमारे
निबिड़ करे धरिब हे।

'मैं तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मेरे अन्तर में आन्दोलित यह भाव नया नहीं है, आजकल का नहीं है। यह भाव जन्म से ही मेरे साथ आया है; मेरे रंध्र-रंध्र में इस भाव की निष्पत्ति है।'

—१९०६ में नवयुवक अरविन्द द्वारा अपनी पत्नी मृणालिनी देवी को लिखे गये एक पत्र का अंश। अलीपुर बम-केस में सर्वप्रथम पुलिस ने यह पत्र उद्घाटित किया था।

महालक्ष्मी का अवतरण

महाभारत के शान्ति पर्व की एक कथा का आधुनिक जीवन-योजना की भाषा में संक्षिप्त हिन्दी-रूपान्तर

—'तो यह आपका अन्तिम निर्णय है, देवि ?' देवराज इन्द्र ने लक्ष्मी से साग्रह पूछा ।

'हाँ देवेन्द्र । मेरा निर्णय सदा अटल रहा है । और, यह निर्णय कोई आज का तो है नहीं ।—जब मैं बलि का त्याग कर पाताल-लोक से देव-लोक में आयी थी और स्वर्गंगा के तट पर विश्राम कर रही थी—उस समय मैंने आपसे जो कहा था, वह याद है न ?' प्रस्थान के लिए उद्यत विमान की ओर देखते हुए लक्ष्मी ने उत्तर दिया ।

'याद है, देवि ।—परन्तु इस तरह सहसा आप देव-लोक का त्याग करके चली जाएँगी, ऐसा तो हमने कभी सोचा तक नहीं था ।

'आपने कदाचित् पृथ्वी पर की उत्तरोत्तर बदलती हुई स्थितियों की ओर ध्यान नहीं दिया । दें भी क्यों, अनवरत विलास-रत देव-वर्ग को इसके लिए अवकाश ही कब है ?' लक्ष्मी ने पद्मकान्ति मणि-जटित अपने बायें हाथ के कनक-वलय को दायें हाथ की अंगुष्ठा और अनामिका से घुमाते हुए कहा ।

इन्द्र ने संकोच-जड़ित स्वर में निवेदन किया—'आपका कथन बहुत अंशों में सत्य है देवि, किन्तु पृथ्वी-लोक की परिवर्तित परिस्थितियों से भी तो अवगत हो लूँ ।'

'यदि आप वस्तुतः पृथ्वी-लोक की परिस्थितियों से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, तो आइये मेरे साथ । मैं अब अधिक देर यहाँ ठहरना नहीं चाहती ।'

'इतनी उतावली ?—'

'हाँ, देवाधिपते । सुनिये, कोटि-कोटि मानव-कण्ठों की यह समवेत पुकार ।'

इन्द्र ध्यानपूर्वक नीचे की ओर देखते हुए सुनते हैं—'आओ माँ लोक-पालि के । तुम श्रम द्वारा साध्य हो न । अतः श्रम द्वारा पूजित एवं श्रम-सीकर से सिक्त होकर आओ । हे श्रम-लक्ष्मी, हम तुम्हें बारम्बार नमस्कार करते हैं ।'

'अच्छा, इन पृथ्वीवासियों ने तो आपका नाम भी बदल दिया है ।' इन्द्र ने लक्ष्मी की ओर कटाक्ष किया ।

'हाँ । और, यह नाम मुझे अधिक प्रिय है—अन्य सभी नामों से प्रिय । अच्छा, चलिये । विमान प्रस्तुत है ।'

'अच्छा । यह आपका नया वाहन, विमान ? यह तो हमारे विमानों से सर्वथा भिन्न है ।'

'हाँ, यह मानव-निर्मित विमान है । मन्त्र-चालित नहीं, यन्त्र-चालित ।'

❀ ❀ ❀ ❀

'देखिये, यह आ गया पृथ्वी-लोक । कोटि-कोटि नर-नारी हमारे स्वागत में आँखें बिछाये बैठे हैं । हम अब नीचे उतरें ।' विमान की गति वायुमण्डल में स्थिर करते हुए लक्ष्मी ने कहा ।

'आपने तो बिना किसी आधार के ही विमान स्थिर कर दिया, देवि ।' इन्द्र की वाणी में अपार आश्चर्य था ।

'हाँ, यह तो आपने एक नगण्य आश्चर्य देखा । मनुष्य ने इससे और भी बड़े-बड़े आश्चर्यजनक साधनों का निर्माण किया है । वायुमण्डल में विमान स्थिर कर देना तो बड़ी छोटी बात है । मनुष्य ने ऐसे-ऐसे साधन बनाये हैं, जिनके द्वारा वह वायुमण्डल-हीन स्थानों में उपयुक्त वायुमण्डल तैयार कर लेता है—अपनी आवश्यकता के अनुसार नये-नये ग्रह-उपग्रह और नक्षत्रों की सृष्टि कर लेता है तथा वर्तमान ग्रह-नक्षत्रों का शीत व तापमान भी बदल लेता है ।'

इन्द्र चकित हो कभी लक्ष्मी के प्रदीप्त मुखमण्डल की ओर और कभी पृथ्वी की ओर देखते रहे । फिर उन्होंने साश्चर्य पूछा—'तो, क्या मनुष्य ने वायुदेव को अपने वशीभूत कर लिया है ?'

'हाँ, देवेन्द्र । वायु को ही नहीं, उसने आपके खास अनुचर मेघ को भी अपना वशवर्ती बना लिया है ।',

'अर्थात् ?'

'अर्थात्—वह मरुस्थल देखिये।' कह कर लक्ष्मी ने एक विशाल मरुस्थल की ओर संकेत किया।

'मगर वह मरुस्थल नहीं, वह तो एक शस्य-श्यामल प्रदेश है। —मैं तो इस प्रदेश पर सदा अप्रसन्न रहा हूँ।'

"लेकिन आपकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता को अब पूछ कहाँ है?—मनुष्य कृत्रिम वर्षा-वायु से वहाँ आपके मेघों को खदेड़ ले जाता है और वहाँ जाकर भी यदि मेघों ने बरसने से इनकार किया, तो ठोस ओदजन-(हाइड्रोजन) चूर्ण के तीक्ष्ण प्रहार से वह उन्हें बरसने को मजबूर कर देता है।'

"देवि।—मैं तो देखता हूँ, वहाँ छोटी-बड़ी कई नदियाँ भी प्रवाहित हैं।"

"देवराज, वे सभी नदियाँ नहीं, उनमें अधिकांश नहरें हैं। हाँ, बड़े-बड़े जो जल-प्रवाह आप देख रहे हैं, वे अवश्य नदियाँ हैं...."

"लेकिन ये नदियाँ आयी कहाँ से?" इन्द्र ने हैरान होकर पूछा।

"देवराज, शताब्दियों से भूगर्भ में सोयी हुई नदियों को मनुष्य ने बुद्धि-बल एवं श्रम-शक्ति के सहारे जगा लिया है, अपनी श्री-वृद्धि के लिए उन्हें प्रसन्न कर लिया है। अब आइये, आपको मैं विशाल नदी मातृक तथा वर्षामातृक प्रदेशों में ले चलूँ।" कह कर लक्ष्मी आगे बढ़ीं।

इन्द्र के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन्होंने देखा—अपने दुर्दम वेग और संहारक उत्साह के लिए प्रसिद्ध नदियों का प्रवाह बाँधों से संयमित कर लिया गया है, उनकी धाराएँ विभिन्न दिशाओं में मोड़ दी गयी हैं और उनके तट पर विशालकाय यन्त्रालयों का निर्माण कर दिया गया है। चकित-दृष्टि से चारों ओर देख कर इन्द्र ने कहा—"मुझे तो यह सब स्वप्नवत् लग रहा है, देवि।"

हँसते हुए लक्ष्मी ने कहा—"बस, इतने ही से।—अभी वह देखिये, मनुष्य सागरों की दुर्निवार तरंगों को अपनी मुट्ठी में बाँध रहा है।—इन तरंगों का भी वह यथेच्छ उपयोग करता है, उनकी शक्ति से अपने लिए विद्युत्-प्रवाह निकालता है। इनके कण-कण में घुले हुए रासायनिक द्रव्यों से अपना कोष भरता है और अपने सशक्त जलपोत से स्थल की ही भाँति इन पर उछलता फिरता है।—इतना ही नहीं, उसने सागरों के अतल जल-गर्भ को भी मथ डाला है। अकेला मथ डाला है, बिना देवताओं और दानवों की सहायता के और बिना शेषनाग की मदद के।—अच्छा आइये, आपको मैं यहाँ के निवासियों के अन्यान्य विभव-ऐश्वर्य दिखलाऊँ। आपको बताऊँ कि, मनुष्य कितना महान् है?"

"आप मनुष्य को इतना अधिक महत्त्व देती हैं, देवि।"

लक्ष्मी के मुख पर मातृ-सुलभ मुस्कराहट खेल गयी। इन्द्र ने लक्ष्मी के साथ खेत में प्रवेश किया। आदमकद अनाज की पौधें वायु में झूम रही थीं, पकी बालियाँ स्वर्ण-गुच्छ-सी उनकी फुनगी से झुक कर पृथ्वी का स्पर्श करने को व्याकुल थी। इन्द्र ने पूछा—"देवि, क्या अनाजों की नस्ल बदलने का विश्वामित्री प्रयोग सफल हो गया?—मैंने इसके पहले कभी इतनी पुष्ट शस्य-फलियाँ नहीं देखीं और न देखे इतने समृद्ध पौधें।"

लक्ष्मी ने पहले मनुष्य के भाल पर चमकते हुए श्रम-सीकर को दिखाया और फिर संकेत किया उसके द्वारा निर्मित विभिन्न कृषि-यन्त्रों की ओर।

इन्द्र ने फिर कहा—"देवि। मगर भूमि का पोषण-तत्त्व तो हमने बहुत पहले ही सुखा दिया था।...."

लक्ष्मी ने एक विशाल यन्त्रालय की ओर उँगली उठा कहा—"उसमें आप लोगों द्वारा प्रदत्त पोषण-तत्त्व से हजार गुना सशक्त पोषण तैयार होता है।"

नन्दनवन की विलास-भूमि तथा अप्सराओं की छाया में चलने वाले इन्द्र के लिए पृथ्वी की चिकनी मिट्टी कठिन लगने लगी। उन्होंने देवताओं की चिर-अभ्यस्त पराजय-भावना से पीड़ित होते हुए कहा—"देवि। अब चलिये यहाँ से, दूसरी ओर चलें!"

वहाँ से दोनों एक फल और फूलों से भरे उद्यान में गये। फलों के परिवर्तित आकार, उनका विविध मनोहर रूप-रंग तथा फूलों का वर्ण-गंध-संभार देख कर इन्द्र ने साश्चर्य प्रश्न किया—"देवि, तो क्या अब यहाँ ऋतुओं के नियमन की भी आवश्यकता नहीं पड़ती? यहाँ तो मैं सभी प्रकार के फल-फूल देख रहा हूँ—ऋतु-काल-निरपेक्ष।"

"हाँ, देवेन्द्र। मनुष्य के श्रम और बुद्धि ने अब किसी अपौरुषेय शक्ति या नियमन की अपेक्षा नहीं रखी। वह अपनी आवश्यकताओं की स्वयं पूर्ति करता है।"

लक्ष्मी के साथ-साथ इन्द्र ने पूरे पृथ्वी-लोक का भ्रमण किया और देखा कि, मनुष्य ने पृथ्वी का आद्यंत परिवर्तन कर दिया है, अपने श्रम और कौशल से उसके सभी ऐश्वर्य-विभूतियाँ एकत्र कर ली हैं—सूर्य की तेजस्विता, सागरों की उद्दामता और वायु की निरंकुशता, सब पर उसका नियन्त्रण है। किन्तु उसकी दुर्बलता भी उनकी आँखों से छिपी न रह सकी। उसी दुर्बलता की ओर संकेत करते हुए इन्द्र ने लक्ष्मी को देव-लोक की ओर पुनः आकर्षित करने की अन्तिम युक्ति लगायी—"देवि। किन्तु आपने यह भी कभी सोचा है कि, अपनी जिस बुद्धि के बल पर मनुष्य ने इतनी सिद्धियाँ अर्जित की हैं, उसी बुद्धि को वह आत्म-विनाश के लिए प्रवृत्त कर रहा है? एक ओर तो वह प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों का उद्घाटन करके नव रचना के प्रासाद निर्मित करता है और दूसरी ओर उन्हीं शक्तियों के दुरुपयोग से उस प्रासाद को भस्मसात् करने की बात सोचता है। क्या आप इस आत्मविरोधी प्रवृत्तिवाले मनुष्य के यहाँ रह भी सकेंगी?"

"आपका कथन ठीक है, देवेन्द्र। मनुष्य में आत्म-विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं, इसे मैं जानती हूँ।—और, इसका कारण है कि, अब तक यहाँ पर मेरे तीन ही चरण प्रतिष्ठित हुए हैं—चौथा नहीं।—मैंने स्वर्गंगा के तट पर आपसे कहा था कि, मेरे चार चरण होते हैं—स्थल, जल, अग्नि तथा प्रजा अथवा लोक-समूह। स्थल को कृषि-नियोजित करके तथा उसके गर्भस्थित खनिज ऐश्वर्य का पूर्ण सदुपयोग करके मनुष्य ने मेरे प्रथम चरण को स्थिर किया है। नदी, सागर, यहाँ तक कि, आपक मेघ को भी अपना आज्ञाकारी अनुचर बना कर मनुष्य ने मेरे द्वितीय चरण की प्रतिष्ठा की है। सूर्य के उत्ताप को, जो अग्नि का मूल उद्गम-स्थल है, विद्युत्-शक्ति में परिणत करके मनुष्य ने अग्नि को भी अपना पूर्ण वशवर्ती भृत्य बना लिया है और इस भाँति उसने मेरे तृतीय चरण को प्रतिष्ठित किया है। बाकी है, केवल मेरे चतुर्थ चरण की प्रतिष्ठा, जिसका अर्थ है, प्रत्येक मनुष्य के हृदय में लोक-कल्याण की भावना की प्रतिष्ठा। उसके बाद कोई किसी से द्वेष नहीं करेगा, किसी की हिंसा नहीं करेगा—बल्कि सब एक-दूसरे के उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करेंगे, सब मिल-जुल कर समृद्धि-लाभ करेंगे—और, मेरा पूर्ण विश्वास है कि, जिस पराक्रमी मनुष्य ने इतने अध्यवसाय के साथ मेरे तीन चरण अपने यहाँ प्रतिष्ठित कर लिये हैं, वह चौथे चरण की भी शीघ्र ही प्रतिष्ठा कर लेगा, क्योंकि यह तो उसकी आदिकाल से कामना रही है—

स्वस्थि मात्र उत पित्रे नो अस्तु।
स्वति गोभ्यो जतते पुरुषेभ्यः॥
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु।
ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥

—सारे विश्व का कल्याण हो, सभी प्राणियों का कल्याण हो तथा सभी मनुष्यों की विभूतियाँ कल्याणमयी हों। कोई भी शक्ति और विभूति पीड़ा देने वाली न हों। सभी दीर्घायु हों। (अथर्व. १-३१-४)

●

एक दिन ये सारे दीपक बुझ जायेंगे—आकाश के दीपक भी बुझ जायेंगे। वैभव के दीपकों को काल खा जायेगा। ज्ञान के दीपकों को विवाद खा जायेगा; धर्म के दीपकों को कर्मकांड निगल जायेगा। किन्तु पराक्रम-पुरुषार्थ की जो क्षीण रेखा इतिहास का तिलक बन गयी है, वह अपने प्रकाश में कभी मन्द नहीं होगी।

—तमिल महाकाव्य 'शिल्प्पाधिकारम् इलंगोवाडिहल'

कर्मयोग

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जो जानते हैं कि भय के बीच अभय है, नियम के बीच आनन्द अपने आपको प्रकाशित करता है, वे नियम को पार करके आगे निकल जाते हैं। यह बात नहीं कि उनके लिए नियम का बन्धन नहीं होता, लेकिन वह आनन्द का ही बन्धन है। वह प्रेमी के लिए प्रियतम का बाहु-पाश है। उसमें दुःख नहीं, कोई भी दुःख नहीं। ऐसे लोग सारे बन्धनों को खुशी से ग्रहण करते हैं। किसी बन्धन से बचना नहीं चाहते, क्योंकि सभी बन्धनों के बीच वे आनन्द का निबिड़ स्पर्श अनुभव करते हैं। वस्तुतः जहाँ नियम नहीं, जहाँ उच्छृंखल उन्मत्तता है वहीं बन्धन है, वहीं मृत्यु है, वहीं असीम से विच्छेद है, पाप की यन्त्रणा है। मनुष्य जब प्रवृत्ति के आकर्षण से सत्य के सुदृढ़ नियम-बन्धन को छोड़ देता है तब वह माँ के आलिंगन से बिछुड़े हुए शिशु की तरह रोता है और कहता है—'मा मा हिंसोः।' मुझ पर आघात न करो। वह कहता है – बाँधो, मुझे बाँधो, अपने नियम से मुझे बाँधो, अन्दर से बाँधो, बाहर से बाँधो, मुझे आच्छन्न करके, आवृत्त करके बाँधो, कहीं जरा भी ढील न दो, मुझे जकड़ कर रखो। तुम्हारे नियम के बाहु-पाश में बँध कर ही मुझे तुम्हारे आनन्द से विजड़ित होने दो। मुझे पाप के मृत्यु-बन्धन से छुड़ा कर दृढ़तापूर्वक मेरी रक्षा करो।

कुछ लोग नियम को आनन्द के विपरीत जान कर उन्माद को ही आनन्द समझते हैं। उसी तरह हमारे देश में ऐसे बहुत से लोग हैं जो कर्म को मुक्ति के विपरीत समझते हैं। वे सोचते हैं कर्म स्थूल पदार्थ है, आत्मा के लिए बन्धन है।

लेकिन हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि जिस तरह नियम में ही आनन्द है उसी तरह कर्म में ही आत्मा की मुक्ति है। अपने-आप में आनन्द प्रकाशित नहीं हो सकता, इसलिए वह बाह्य नियम चाहता है, उसी तरह अपने-आप में मुक्ति नहीं मिल सकती, तभी आत्मा मुक्ति के लिए बाह्य कर्म की ओर मुड़ती है। मानव-आत्मा कर्म द्वारा ही अपने भीतर से अपने-आपको मुक्त करती है, यदि ऐसा न होता तो वह इच्छापूर्वक कभी कर्म न करता।

मनुष्य जितना काम करता है उसी मात्रा में अपने आन्तरिक अदृश्य को दृश्य बनाता है और अपने सुदूरवर्ती अनागत को ओर अग्रसर होता है। इसी तरह मनुष्य अपने-आपको स्पष्ट करता है—अपने विविध कर्मों में, राष्ट्र और समाज में, अपने-आपको अलग-अलग दिशाओं से देख पाता है।

यह 'देख पाना' ही मुक्ति है। अन्धकार मुक्ति नहीं, अस्पष्टता मुक्ति नहीं। अस्पष्टता जैसा भयंकर बन्धन दूसरा कोई नहीं है। अस्पष्टता को भेद कर ऊपर उठाने के लिए ही बीज में अंकुर का प्रयास है, कली में फूल का प्रयास है। अस्पष्टता के आवरण को दूर करके परिस्फुट होने के लिए ही हमारे चित्त के भाव बाह्य आकार ढूँढ़ते हैं। आत्मा अनिर्दिष्टता के कुहरे से मुक्त होकर बाहर निकलने के लिए कर्म की सृष्टि करती है। जो कर्म उसकी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक नहीं है उसका भी वह निर्माण करती है, क्योंकि वह मुक्ति चाहती है। मानव अपने आन्तरिक आच्छादन से मुक्ति चाहता है, अरूप के आवरण से मुक्ति चाहता है। वह अपने को देखना चाहता है। जंगल और घास को काट कर वह जब बगीचा बनाता है तब वह कुरूपता से सौंदर्य को मुक्ति देता है। यह उसीका आन्तरिक सौन्दर्य है—इसे यदि बाहर से मुक्ति न मिली तो वह अन्दर से भी मुक्ति प्राप्त नहीं करता। समाज में स्वेच्छाचार में सुनियम स्थापित करके अकल्याण की बाधाओं से वह कल्याण को मुक्ति देता है। यह कल्याण उसका अपना आन्तरिक कल्याण है, इसे बाहर से मुक्ति दिलाये बिना यह अन्दर से मुक्त नहीं होता। इसी तरह मनुष्य अपनी शक्ति को, अपने सौन्दर्य और मंगल को, अपनी आत्मा को विविध कर्मों के बीच मुक्त करता है। और ऐसा करता हुआ ही वह अपने-

आपको महान् रूप में देखता है, उसका आत्म-परिचय विस्तीर्ण हो जाता है।

उन्होंने संसार के बीच, कर्म के बीच, अपने-आपको आनन्द द्वारा प्रबल रूप से व्यक्त करना चाहा था, दुःख और कष्ट से वे पराजित नहीं हुए, अपने हृदय के भार से वे धूलिशायी नहीं हुए। मनुष्य में यह जो जीवन का आनन्द है, कर्म का आनन्द है, वह बिलकुल सत्य है। विश्व-मानव की निरन्तर कर्म-चेष्टा को इतिहास के विराट क्षेत्र में हम सत्य दृष्टि से देखें—क्या वहां धर्म केवल दुःख के ही रूप में दिखाई देता है। वास्तव में हम देखते हैं कि कर्म के दुःख को मनुष्य ने वहन नहीं किया, बल्कि कर्म ने ही मनुष्य के दुःख वहन किये हैं। इसलिए मनुष्य की सभ्यता जितनी ही विकसित होती जाती है, नये प्रयोजन बढ़ते जाते हैं, उतने ही परिमाण में मनुष्य अपनी इच्छा से नये-नये कर्मों का भी निर्माण करता है। मनुष्य अपने वर्तमान से कहीं बड़ा है, यदि वह चाहे तो किसी एक जगह खड़ा हो कर आराम कर सकता है, लेकिन ऐसा करने से उसकी सारी कृतार्थता नष्ट हो जाती है। यह महाविनाश मनुष्य के लिए असहाय है। जीवित रह कर कर्म करना होगा और कर्म करते हुए जीवित रहना होगा, यही अनुशासन हमने सुना है। कर्म और जीवन में अविच्छिन्न योग है।

वास्तव में सत्यस्वरूप ब्रह्म को जब हम विभाजित करते हैं तभी कठिनाई उपस्थित होती है। यूरोप आजकल यह भी कहने लगा है कि ईश्वर क्रमशः परिणत होता है। ईश्वर अपने-आप में ईश्वर है, यह बात यूरोप के लोग मानना नहीं चाहते—वे कहते हैं ईश्वर स्वयं अपना निर्माण करता है। इस तरह केवल 'चलते जाने' और 'करते जाने' की दिशा में उसके चित्त का झुकाव होने से हम पाश्चात्य जगत में शक्ति की उन्मत्तता देखते हैं। लेकिन आध्यात्मिकता अन्दर-बाहर के योग से सन्तुलित होती है। सत्य एक ओर नियम है, दूसरी ओर आनन्द। सितार के सब तार जब सच्चे बँधे होते हैं, जब हम बन्धन में नियम का लेश-मात्र उल्लंघन नही होता, तभी संगीत-निर्माण होता है। हमारी जीवन-वीणा में भी कर्म के छोटे-मोटे तार तब तक बन्धन लगते हैं जब तक कि उन्हें सत्य के नियम में कस कर बांधा नहीं जाता।

तभी मैंने कहा था कि कर्म का त्याग करना नहीं, बल्कि दैनन्दिन कर्मों को एक चिरस्थायी स्वर में बांधना ही सत्य की साधना है, धर्म की साधना है। इसी साधना का मन्त्र है—यद्यत्कर्म प्रकुर्वीत तद् ब्रह्मणि समर्पयेत्, जो भी कर्म करते हो, उसे ब्रह्म को समर्पित करना है। समस्त कर्म के द्वारा आत्मा का अपने-आप को ब्रह्म के सामने निवेदन करना है।

कर्म में मनुष्य का यह जो विराट आत्म-प्रकाशन है, अनन्त के सम्मुख उसका यह जो निरन्तर आत्म-निवेदन है, उसकी आज्ञा करके अपने घर के एक कोने में कौन पड़ा रहेगा? मानवज्ञान ने मिलकर, धूप और बरसात में मानव-माहात्म्य का जो अभ्रभेदी मन्दिर बनाया है उससे दूर भाग कर यह कौन कहेगा कि अकेले पन के भाव-रस-संभोग में ही मनुष्य का भगवान् से मिलन होता है, और यही धर्म की चरम साधना है? ओ उदासीन, अपने ही उत्पाद से विभोर संन्यासी! क्या तुम सुन नहीं पाते कि इतिहास के सुदूर प्रसारित क्षेत्र में, मनुष्यत्व के प्रशस्त राजपथ पर, मानवात्मा यात्रा कर रही है—मेघ मंद्र गर्जन के साथ अपने कर्म के विजय-रथ पर आरूढ़, विश्व में अपने अधिकार को विस्तीर्ण करते हुए यात्रा कर रहा है? आकाश में फहरानेवाली उसकी विजय-पताका के सामने पर्वत विदीर्ण हो कर रास्ता छोड़ देते हैं। जंगलों की जटिलता इस विजय-रथ को देख कर पराभूत हो जाती है, जैसे सूर्य-प्रकाश से कुहरे का लोप होता है। दुःख, अस्वास्थ्य-अव्यवस्था उसके सामने पग-पग पीछे हटती है। अज्ञान की बाधा दूर होती है। अन्धता का अन्धकार कट जाता है। चारों ओर, देखते-ही-देखते श्रीसम्पदा, काव्यकला और ज्ञान धर्म का आनन्द-लोक उद्घाटित होता है।

कौन कहता है: 'मैं मानवीय इतिहास के क्षेत्र से दूर भाग कर, निष्क्रियता-निश्चेष्टता के बीच, ईश्वर-मिलन का अधिकारी हूँगा? कौन कहता है कि यह सब मिथ्या है, यह बृहत् संसार, नित्य विकासमान मानवसभ्यता मिथ्या है, अन्दर-बाहर की सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त करने का मानवीय प्रयास मिथ्या है, परम दुःख और परम सुख की साधना मिथ्या है? जो इन सबको मिथ्या कहता है उसके

चित्त में कितने बड़े असत्य का आक्रमण हुआ है। क्या उसके लिए यह सम्भव है कि भागते-भागते सम्पूर्ण शून्यता के बीच पहुँचे ? जो भीरु है, जो विश्व से दूर भागता है, वह ईश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता है। कर्म में ही आनन्द है और उसी आनन्द में आनन्दमय ईश्वर विराजता है।

'आत्मक्रीड: आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'—जिसकी क्रीडा और जिसका आनन्द परमात्मा में है, जो क्रियावान् है, वही ब्रह्मविद है। आनन्द है और आनन्द की क्रीडा नहीं है, यह असम्भव बात है। वह क्रीडा निष्क्रिय नहीं, वह क्रीडा ही धर्म है। जिसका आनन्द ब्रह्म में है उसकी रक्षा कर्म के बिना कैसे हो सकती है। कवि का आनन्द काव्य में, शिल्पी का आनन्द शिल्प में, वीर का शक्ति-प्रतिष्ठा में और ज्ञानी का तत्पाविष्कार में कर्म के व्यक्त होता है। उसी तरह ब्रह्मविद् का आनन्द जीवन के छोटे-बड़े सभी कामों में सत्य के द्वारा, सौन्दर्य के द्वारा, बन्धन और मंगल के द्वारा, असीम को व्यक्त करने का प्रयास करता है। हम देख सकेंगे कि हमारे कर्म शान्तिमय, कल्याणमय और आनन्दमय हैं।

हम इतने अभागे हैं कि कार्य के भीतर में अवकाश नहीं मिलता। प्रवाहित होने में ही नदी को छुट्टी मिलती है, हवा में प्रसारित हो कर ही फूलों का परिमल छुट्टी पाता है—लेकिन हमें अपने सारे कर्मों में छुट्टी का बोध नहीं होता। हम कर्म में अपने-आपको नहीं देते, अपना दान नहीं करते, इसीलिए कर्म हमें दबा कर रखता है। हे आत्मदा, विश्व के कर्म में तुम्हारी आनन्द-मूर्ति को प्रत्यक्ष करके, कर्म के भीतर ही हमारी आत्मा की ज्वाला तुम्हारी ओर उठे। जहाँ मनुष्य जंगलों और चट्टानों को दूर हटा कर अपने लिए निवास-भूमि तैयार करता है वहाँ तुम्हारा ही आनन्द प्रकाशित होता है। जहाँ स्वदेश-कल्याण के लिए मनुष्य अथक कर्म के बीच अपने-आपको दान करता है, वहाँ तुम्हारा ही आनन्द विस्तारित होता है। जहाँ मनुष्य के जीवन का आनन्द, कर्म का रूप धारण करना चाहता है वही मनुष्य महान् है, वहीं उसका प्रभुत्व है। जहाँ जोवन में आनन्द नहीं, कर्म में आस्था नहीं, वहां तुम्हारा सृष्टि तत्व प्रतिहत होता है और वहीं निखिल का प्रवेश-द्वार संकीर्ण हो जाता है।

●

प्रलयंकर आंधी से आलोड़ित उस तांडव-तड़ित अमावस्या को एक जीर्ण-प्राणा युवती उस श्मशानी अर्द्धरात्रि को मेरे द्वार पर आकर आर्तनाद करने लगी। द्वार खोलकर मैंने उससे पूछा तो रोते-रोते ही वह बोली—'बेटे, डाकुओं ने मेरे वस्त्राभूषण छीन लिये हैं, वे मेरा पीछा कर रहे हैं। तुम मेरी रक्षा करो।' मैं क्षणभर सोचता रहा; फिर अन्दर भागा और जोर से द्वार बन्द कर लिये—तीसरे दिन मेरे पड़ोसी का शव मिला। कावेरी के तट पर सारे नगर ने उसे अपनी श्रद्धांजलि चढ़ायी—पुरुष-नारियों ने उसकी चिताभस्म से अपनी माँगें भरीं—स्वयं कावेरी उसे पाकर धन्य हो गयी। हाय री मेरी कायरता ! उसी दिन से रो रहा हूँ—जो सौभाग्य मेरे पास स्वयं आया था, मैं उसे नहीं ले सका—और दरवाजे के छेद में से झाँक रहा मेरा पड़ोसी उसे पा गया ! उसने सिर चढ़ाकर-नश्वर सिर चढ़ाकर-अनश्वर सिर पा लिया !

—सुब्रह्मण्य भारती

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

सितम्बर-अक्टूबर १९८३

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल दाल, साग आदि १२५०) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के ब्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

स्थायी भण्डारा

श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता कच्चा ७-९-८३
श्री रामअवतार सराफ, ,, ,, १२-९-८३
श्रीमती चन्द्रमणि देवी, पदपराग वाराणसी पक्का २९-९-८३
श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता कच्चा ६-१०-८३
श्री हनुमानप्रसाद ढांढनिया, हबड़ा कच्चा २४-१०-८३
श्री स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती (जजस्वामी) बृन्दावन, कच्चा २७-१०-८३
श्री रामवल्लभ जी एवं श्रीमती धन्नी बाई चाण्डक ट्रस्ट, अमरावती, कच्चा ३१-१०-८३

अस्थायी भण्डारा

श्रीमती मेघादेवी डिडवानिया, वाराणसी पक्का ६-९-८३
श्री कार्तिक चक्रवर्ती, कलकत्ता पक्का ७-९-८३
श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार स्मृति सेवा ट्रस्ट, वाराणसी, कच्चा २८-९-८३
,, ,, ,, ३०-९-८३
श्रीमती गान्धारी देवी मुरारका, वाराणसी कच्चा १-१०-८३
श्री हरिकृष्ण, बाबूलाल एवं बालकिशन जी श्री गंगानगर एकादशी फलाहार २-१०-८३
श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार स्मृति सेवा ट्रस्ट वाराणसी कच्चा ३-१०-८३
,, ,, ,, ४-१०-८३
श्री शिवप्रसाद शिवनारायण अग्रवाल, कानपुर कच्चा ५-१०-८३
श्री गौरीशंकर खण्डेलवाल, चण्डीगढ़ पक्का ७-१०-८३
श्री लखीप्रसाद नारसरिया, वाराणसी कच्चा ८-१०-८३
श्री नारायणप्रसाद बूबना, कलकत्ता पक्का १६-१०-८३
श्री ,, ,, ,, कच्चा २१-१०-८३
श्री स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती (जज स्वामी) बृन्दावन शरदपूर्णिमा खीर प्रसाद २२-१०-८३
श्री जयनारायण मोदी, हापुड़ प्रतिमास एक पक्षीय एकादशी दुग्ध वितरण

अन्न क्षेत्र

श्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, वाराणसी (सप्ताह में एक दिन अन्न दान)
श्री सत्यनारायण रूँगटा, कलकत्ता (मासिक) ३००) सितम्बर ८३
श्रीमती गान्धारी देवी मुरारका, वाराणसी १०१)
श्री राम बाबू सिंहल, रोहतक १५०)
श्रीमती कलावती देवी, अहमदाबाद ६०)
श्री स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती (जजस्वामी) बृन्दावन शरदपूर्णिमा खीर वितरण
श्रीमती शान्ति देवी केडिया, वाराणसी मासिक २०२) सितम्बर, अक्टूबर ८३
श्री वसन्त खेतान, जयपुर ५००) मासिक १५००) अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर ८३
श्री सत्यनारायण रुँगटा, कलकत्ता ३००) अक्टूबर ८३
मेसर्स शालीमार वायर्सइण्डस्ट्रीज लि० कलकत्ता ५००) मासिक १५००) सि., अ., नवम्बर ८३

'मुमुक्षु' आजीवन सदस्यता

श्री रामकृष्ण टेकड़ीवाल, गोरखपुर २५१)

भवन निर्माण

श्री एस० एन० सील, कलकत्ता १०,०००)

क्षेत्र सहायता

श्री शिवभगवान जालान चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता ७५०)

श्री रामकुमार सराफ, मारवाड़ी सेवा संघ, वाराणसी ३७५)

उत्तर काशी अन्न क्षेत्र

श्री कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता १२५) मासिक

अग., सित., अक्टूबर ८३ ३७५)

श्री आत्माराम ढाढनिया, वाराणसी एवं

श्रीमती सावित्री देवी गोयनका, गीता प्रेस, गोरखपुर

२ दरी, ५ रजाई, ५ गद्दा, ५ तकिया एवं ५ चादर।

विशेष सहायता

श्री प्रभुनाथ तिवारी, गोपालगंज बिहार ११००)

होम्योपैथिक चिकित्सालय

	नये रोगी	पुराने रोगी	योग
सितम्बर	३७०	१७०६	२०७६
अक्टूबर	३९३	२०६७	२४६०

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

	नये रोगी	पुराने रोगी	योग
सितम्बर	१३४	६३५	७६९
अक्टूबर	१२३	४८१	६०४

"—माँ की छाती पर बैठकर यदि कोई राक्षस रक्तपान कर रहा हो, ऐसा देखकर माँ का पुत्र क्या करेगा? निश्चिन्त-प्रफुल्ल भाव से षट्रस भोजन करने बैठेगा, स्त्री-पुत्रों के साथ आमोद करने बैठेगा या माँ का उद्धार करने दौड़ पड़ेगा? मेरी आँखों के प्रकाश में माँ की यही दुर्गति आकार ग्रहण कर रही है। माँ की छाती पर दानव का अत्याचार मेरी चेतना के लिए असह्य हो गया है और क्षण-प्रतिक्षण मेरे भीतर से यह ध्वनि मुखरित हो रही है कि इस पतित जाति को पुनः वीर-शिरोमणि बनाने की शक्ति मेरी वाणी में है--मैं तो यह अनुभव कर चुका हूँ कि भगवान् ने इस महाव्रत की साधना के लिए ही मुझे इस पृथ्वी पर भेजा है। पूर्वजों का यह शौर्य-बोध इन करोड़ों कानों में गूँज उठेगा, तभी मेरी वाणी शेष हो जायगी--

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्राः वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥

—वीरो, उठो, आगे बढ़ो। शत्रु पर विजय प्राप्त करो। तुम्हारी भुजाएँ वज्र के समान उग्र हों—तुम सदैव अजेय रहो।

--ऋग्वेद १०-१०३-१३

अंधेरे पक्ष की बात न कीजिए

डा० रामचरण महेन्द्र

एक पाठक अपनी परेशानी इन शब्दों में लिखते हैं, "पिछले कुछ सप्ताहों से 'नेगेटिव थिंकिंग' की आदत हो गई है। जाने-अनजाने मन जीवन के अंधेरे पक्ष की ही बात सोचता रहता है। एकाकी स्वभाव का हूँ। इससे कोई खास जान-पहचान भी नहीं हो पाई है—किस्मत की मार ही समझता हूँ जि जो भी काम हाथ में लेता हूँ उसी का परिणाम कष्टदायी होता है। मन अशान्त रहता है।"

जीवन के अन्धेरे पक्ष की बात कौन सोचता है ? वह व्यक्ति जो अपने उद्देश्य-पूर्त्ति में कठिनाई या असफलता पाता है। कार्य में फेल होकर निराश हो जाता है, जिसके सहयोगी, संगी, साथी, कार्यकर्त्ता मित्र या सम्बन्धी धोखा दे देते हैं। व्यापार में हानि हो जाती है। मानवीय सम्बन्धों में घर-परिवार वाले छोड़ देते हैं। रोजगार न मिलने से गरीबी, बेबसी, बेकारी का सामना करना पड़ता है। शरीर में कोई असाधारण या असाध्य रोग हो जाता है जो चिकित्सा के बावजूद ठीक ही नहीं हो पाता है। प्रेम में असफलता मिलती है। रुचि का व्यवसाय या मित्र नहीं मिलते हैं। विभाग के ऊँचे अफसरों से सम्बन्धों में तनाव आता है या वे अत्याचार पर उतारू हो जाते हैं। ऐसी एक नहीं, हजारों पेचीदगियाँ या परेशानियाँ जिन्दगी को अस्तव्यस्त कर सकती हैं।

कई व्यक्ति इतने सन्देहशील होते हैं कि सड़क के किनारे बैठे ज्योतिषियों को हाथ दिखाकर कष्ट-निवारण की युक्तियाँ पूछा करते हैं। कई झाड़-फूंक करने वाले फकीरों के पाले पड़ जाते हैं तो कुछ दान:पुण्य द्वारा संकट-निवारण की तरकीबें बताने का दम भरते हैं। यह सभी जीवन के अंधेरे पक्ष (Negative thinking) के दुष्परिणाम हैं। इन सभी से सावधान हो जाना चाहिए।

नकारात्मक चिन्तन मन का रोड़ा है। ऐसा मरीज केवल अपने विरुद्ध ही सोच-सोचकर अपना मनोबल क्षीण करता है। वह अपनी गुप्त शक्तियों के प्रति विश्वास नहीं करता। याद रखिये, ऊँचा चढ़ने और तरक्की करने में सभी को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ा है। दिन-रात वे अपने उच्च उद्देश्य की प्राप्ति में लगे रहे, अनेक असफलताएँ सहीं, लोगों के कोपभाजन बने, आर्थिक कठिनाइयों में से गुजरे, तब जाकर सफलता प्राप्त हुई थी। जिन्हें आप किसी भी क्षेत्र में उन्नति करते देखते हैं, वे घोर परिश्रमी और लगन के पक्के रहे हैं। उन्हें अपने बाहुबल और साहस का भरोसा रहा है।

डेल कार्नेगी नामक विद्वान् ने एक प्रसंग इन शब्दों में लिखा है, "मैंने एक बार एडी रीकेन बेकर से पूछा कि जब आप अपने साथियों सहित प्रशान्त महासागर में एक लकड़ी के गट्ठों की आपतकालीन नाव पर समुद्र में भटक रहे थे, तब जीवन की कौन सी महत्त्वपूर्ण बात आपने सीखी ?" उत्तर में उन्होंने बताया कि "मैंने यह सीखा कि जब तक आपके पास पीने के लिए स्वच्छ पानी और खाने के लिए भोजन है, आपको अन्य किसी भी बात की शिकायत नहीं करनी चाहिए।"

'टाइम' पत्रिका में एक सैनिक अधिकारी के विषय में एक लेख छपा था। एक अधिकारी गोडल केनाल पर घायल हो गया था। गले में गोली के टुकड़े के लग जाने के कारण उसे सात बार खून चढ़वाना पड़ा था। डाक्टर से उसने लिखकर पूछा, 'क्या मैं जीऊँगा?' डाक्टर ने कहा 'हाँ'। उसने दूसरी बार फिर लिखकर पूछा, 'मैं बोल भी सकूँगा ?' डाक्टर ने कहा, 'हाँ'। तब उसने लिखा 'फिर मैं व्यर्थ ही क्यों घबड़ा रहा हूँ।'

यही बात आपके लिए भी उपयोगी है। आप व्यर्थ बेमतलब घबड़ा रहे हैं। आप ऐसी बातों के लिए सोच रहे हैं जो कभी भी आपके साथ घटने वाली नहीं है। इसलिए आप भी चिन्ता क्यों नहीं छोड़ते और कहते कि 'मैं भी कैसा कायर हूँ कि फजूल ही घबड़ा रहा हूँ।' ऐसा दृष्टिकोण बना लेने से आप महसूस करेंगे कि आपका घबड़ाना व्यर्थ है।

Regd No. LRN 169 Reg. No. RN. 40196/82

अक्टूबर १९८३ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यता प्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२०१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी हैं। हर फ्लैट में तीन कमरे, रसोई, स्नान घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन बिताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

•

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

मुमुक्षु

नवम्बर १९८३

आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ३ : अंक २
कार्तिक सं० २०४०
नवम्बर १९८३

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

यज्ञ, दान और तप	स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती	१
लोक और परलोक	घनश्यामदास बिड़ला	५
रूपं देहि, जयं देहि, यशो देहि द्विषो जहि	श्री विश्वनाथ मुखर्जी	१०
असन्तोष की कामना	श्री हरीन्द्र दवे	१५
शक्ति की महिमा	स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती	१९
श्रमेव जयते	डॉ० वी० के० राव	२२
काशी मुमुक्षु भवन समाचार		२४

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों की फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी हैं। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज कर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी
वाराणसी—५

मुमुक्षु

वर्ष : ३] नवम्बर १९८३ [अंक : २

यज्ञ, दान और तप

श्री स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज

•

गताङ्क से आगे

आयुर्वेद-शास्त्र का एक उत्तम ग्रन्थ है, अभी १००-५० वर्ष के भीतर नेपाल में मिला है। 'कश्यप-संहिता' उसका नाम है। जैसे चरक संहिता है, वैसे ही कश्यप-संहिता है। उसमें जहाँ बोलने की प्रक्रिया बताई गई है वहाँ कहा गया है कि 'अविसंवादी पेशलम्'। इसका अर्थ है कि बोलने में स्पष्टता होनी चाहिए। जिसको कहने से लोग वाद-विवाद करने। लगें ऐसी विवादास्पद बात को लोगों के सामने रखने की कोई आवश्यकता नहीं होती। जो बात बढ़ाने वाली बात नहीं बोलते, उनके शरीर में रोग नहीं होता। यदि स्वस्थ रहना चाहो तो वाद-वाद बढ़ाने वाली बात अपने मुँह से मत बोलो। वाद-विवाद बढ़ाने वाली बातों से शरीर में कई प्रकार के रोगों का उदय हो जाता है—ऐसा कश्यप संहिता का मत है।

गीता का तप पंचाग्नि तापना नहीं है, चौरासी धूनियाँ जलाना नहीं है, धूप में खड़े रहना नहीं है और भूखे रहना भी नहीं है। गीता का तप है स्वाध्यायाभ्यसनं। जो अपना स्वाध्याय है, उसका अभ्यास करो। स्वाध्याय माने अपने स्वरूप का अध्ययन। दूसरों के बारे में अध्ययन करना तप नहीं है। ब्रिटिश सम्राट की परम्परा क्या है या उदयपुर, जयपुर के महाराजाओं को क्या क्या शौक था—इस अध्ययन का नाम स्वाध्याय नहीं है। अपने बारे में अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। यह हार्ट है, यह प्राण है, यह मन है, मन में ऐसी इच्छायें हैं—इनमें कौन पूरी करने योग्य है और कौन नहीं है? वस्तु का, सत्य का विचार कैसे होता है? अपने अहं का क्या स्वरूप है? यही सब स्वाध्याय है, इसी का अभ्यास करना चाहिए।

अभ्यास का अर्थ है स्वाध्याय। पूरा-पूरा बार-बार स्वाध्याय, आत्मनिरीक्षण, अपने बारे में अध्ययन—यह सूक्ष्म वाणी का तप है। यह तप पवित्र करने वाला तप है। असत्य बोलोगे तो अन्तःकरण अशुद्ध होगा। उद्विग्न करने वाली बात बोलोगे तो अन्तःकरण अशुद्ध होगा। अप्रिय बोलोगे तो अन्तःकरण अशुद्ध होगा। अस्पष्ट बोलोगे तो अन्तःकरण अशुद्ध होगा। अधिक बोलोगे, वाद-विवाद करने वाली बात बोलोगे तो अन्तःकरण अशुद्ध होगा। जिसका दो अर्थ निकले, बोले कुछ और बाद में व्याख्या कर दी कुछ और—इस तरह अस्पष्ट वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह भी एक तप है। इसका अर्थ हुआ वाणी पर संयम। वाणी का संयम ही तप है और यह तप करोगे तो तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचयमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥—गीता १७।१४

अब शरीर से तप करने का वर्णन करते हैं। इसमें एक है दूसरे का सत्कार। देव, द्विज, गुरु प्राज्ञ में गुरु अलग

है, प्राज्ञ अलग है, ब्राह्मण अलग है। जो अपने से श्रेष्ठ है, जाति से श्रेष्ठ है, बुद्धि में श्रेष्ठ है और हमारे प्रज्ञा की वृद्धि करने वाले हैं - हमारी बुद्धि को बढ़ाने वाले है, वे प्राज्ञ हैं। जो संस्कार से बड़े हैं, जन्म से बड़े हैं वे द्विज हैं। इसी तरह चन्द्र है, सूर्य है, अग्नि है, वायु है, देवता है, अपने सद्गुरु हैं और अपने से अधिक प्रज्ञावान् हैं। यह जो पूजा है, आदर है, सत्कार है--यह शरीर का तप है। आप जानते ही हैं इसको।

दूसरा तप है अपने शरीर को पवित्र रखना। पवित्र रखने में जो स्पर्शजन्य सुख है, उससे बचना पड़ता है। देखो, देवता, द्विज, गुरु और प्राज्ञ ये तो बाहर रहते हैं। अपने शरीर में जो अपवित्रता है, उस अपवित्रता को मिटाने का प्रयास करना चाहिए। वस्त्र पवित्र हो, भोजन पवित्र हो, भूमि पवित्र हो और स्पृश्यास्पृश्य की भावना भी हो। अस्पृश्यता की भावना का नाम घृणा नहीं है। घृणा और अस्पृश्यता दोनों एक नहीं होतीं है। हमको याद है, बचपन में चौथे दिन हम लोग अपनी माता को छूते थे। चार दिनों तक माँ अलग पात्र में भोजन करती थी और कम्बल पर अलग घर में सोती थी। किसी के सामने नहीं आती थी। हम लोगों को माता के पास जाने की मनाही थी। तो क्या इसका अर्थ है कि हम अपनी माता से घृणा करते थे? अपनी बहन से घृणा करते थे? अपनी बेटी से घृणा करते थे? अपनी पत्नी से घृणा करते थे? यह तो राजनीतिक लाभ उठाने के लिए लोगों ने अस्पृश्यता और घृणा को एक साथ मिला दिया। हम अपने ही शरीर के अनेक अंगों, अनेक अवयवों का स्पर्श करने के बाद हाथ धोते हैं। तो क्या हमको अपनी नाक से घृणा है? हमको अपनी आँख से घृणा है? अपने मुँह से घृणा है? हम जो अपने संयम के लिए किसी वस्तु का या व्यक्ति का स्पर्श नहीं करते, उसमें घृणा नहीं है, वह तो एक प्रकार की मर्यादा है, तपस्या है।

एक बार कोई सज्जन आए। मैंने कहा रोटी खिलाओ। वे हाथ जोड़ कर खड़े हो गए और बोले कि बाबा, क्या आप हमारे हाथ की रोटी खाओगे? एक बार बचपन के एक परिचित मित्र शराब पीकर हमको मिले। वे कोने में हटे जाएँ, और हाथ जोड़ें तो मैंने पूछा कि क्या बात है भाई? वे बोले कि अभी मैं आपको छूने लायक नहीं हूँ। तो हम लोग जो हड्डी, मांस, विष्ठा-मूत्र से भरी हुई पुड़िया लिये-लिये चलते हैं, यह क्या है? योगदर्शन में बहुत बढ़िया सूत्र है--

शौचात्स्वाङ्ग-जुगुप्सा परैरसंसर्गः (योगदर्शन, २।४०)

जब हम देखते हैं कि हमारा शरीर बहुत अशुद्ध है तो मन होता कि हम अभी देवता को छूने योग्य नहीं हैं। अभी देवता को नहीं छूयेंगे, अभी पूजा नहीं करेंगे। अभी अपने गुरुजी का स्पर्श नहीं करेंगे। स्नान करके आयेंगे तब करेंगे। आज अपने शरीर को, अपनी वाणी को, अपने मन को पवित्र करने की जो भावना है, वह अपने हृदय में नहीं रही। फिर हम पवित्र किसको करना चाहते हैं? दूसरे को पवित्र करना चाहते हैं और अपनी अपवित्रता की ओर ध्यान नहीं देते हैं। क्या हम चोरी करने से अपवित्र नहीं होते? बेईमानी करने से अपवित्र नहीं होते? दूसरे की गाँठ काटने से क्या अपवित्र नहीं होते? हम अपनी पवित्रता को बिलकुल भूल गये हैं। अपने को पवित्र रखना तपस्या है। अपने को पवित्र रखो। अपनी पवित्रता-अपवित्रता पर विचार करना चाहिए। यही आध्यात्मिक साधना है।

एक सबसे बड़ी बात यह है कि जीवन में सरलता होनी चाहिए। ये जो अभिमानी लोग हैं, उनके जीवन में सरलता बिलकुल नहीं होती। इससे बढ़कर अशुद्धि तो और कुछ हो ही नहीं सकती कि मन में कुछ है, तन में कुछ है और वचन में कुछ है। यह बहुत बड़ी अपवित्रता है। तपस्या यही है कि आप तीनों को एक रूप बनावें। अपने आश्रमोचित ब्रह्मचर्य का पालन करें। लोगों को मालूम नहीं है कि गृहस्थ का ब्रह्मचर्य कैसा होता है। न तो वेद-शास्त्र का अध्ययन रहा और न तो स्वयं का विचार रहा। विवाह होता है--इसका उद्देश्य यह नहीं होता कि हम भोग करके अपने तन-मन को नष्ट कर लें। बल्कि पर-पुरुषों से बचने के लिए स्त्री का विवाह होता है। फिर एक स्त्री और एक पुरुष का जो सहवास है, उसके लिए भी नियम होते हैं जैसे यह निषिद्ध रात्रि है, यह अमावस्या है, यह पूर्णिमा है, यह एकादशी है, यह संक्रान्ति है, यह ग्रहण है, यह जन्माष्टमी है आदि।

असल में विवाह का उद्देश्य भोग को बढ़ाना नहीं है, विवाह का उद्देश्य तो भोग को संक्षिप्त करना है, कम करना है। जब हम गृहस्थ रहकर भी शास्त्रोक्त रीति से रहते हैं तो उसमें हमारा ब्रह्मचर्य ज्यों–का–त्यों रहता है। और जब कोई नियम नहीं, कोई मर्यादा नहीं, केवल भोग ही भोग आ गया जीवन में, तब हम तपस्या से च्युत हो गए। अन्तः-करण की शुद्धि नहीं रही।

आप चाहे तप करो, अध्ययन करो, सर्वस्व दान करो —परन्तु यदि आपका भाव शुद्ध नही है तो वह सब जीवन में अपराध के रूप में आ जाता है। इसलिए अपराध का जीवन व्यतीत न करके, अपने जीवन में किसी को दुःख न पहुँचाने का व्रत लेना चाहिए। जीवन के लिए सबसे सुगम तपस्या यही है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥
(गीता १७।१६)

आपका मन हमेशा निर्मल रहे, उसमें न कपट रहे, न छल रहे। आपका मन मुस्कुराता रहे। मनःप्रसादः—आप सबके प्रति चन्द्रमा के समान आह्लाददायी बनें रहें और आवश्यकता पड़ने पर ही बोलें। निरर्थक वाणी का अपव्यय न करें, अपनी इन्द्रियों को वश में रखें और भाव को हमेशा शुद्ध रखें। इसी को बोलते हैं मानस-तपस्या। वाणी की तपस्या, शरीर की तपस्या और मन की तपस्या—ये तीनों तपस्यायें चाहें बुद्धिमान् के जीवन में रहें या निर्बुद्धि के जीवन में रहे, मंगलमय हैं। निर्बुद्धि के जीवन में रहेंगी तो बुद्धि बढ़ेगी और अन्तःकरण शुद्ध होगा तथा यदि बुद्धिमान् के जीवन में रहेंगी तो उसकी बुद्धि गलत रास्ता नहीं बतावेगी।

(२)

यज्ञार्थात्कर्मणो ऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। (गीता ३।९)

गीता कहती है कि यज्ञ के लिए कर्म करोगे तो मुक्ति मिलेगी और यज्ञ की दृष्टि न रखकर कर्म करोगे तो बन्धन मिलेगा। यहाँ कर्म के सम्बन्ध में दो बातें आपको सुनानी हैं। कोई श्लोक बोलकर किसी का निषेध या समर्थन कर देना ठीक नहीं है। वस्तुतः एक ऋषि की दृष्टि से विचार करना चाहिए। कुछ लोग ऐसे हैं जो निकम्मे रहते हैं, अकर्मण्य होते हैं। उनसे किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वे तमोगुण से ग्रस्त हैं। उनसे न तो धर्म होगा, न अर्थ होगा, न काम होगा। उनको न मोक्ष मिलेगा और न तात्मतुष्टि होगी। मनुजी का वचन है कि जिस काम को करने से आत्मतुष्टि हो वह काम प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए और जिससे आत्मग्लानि हो, अपने में हीनता का भाव आ जाए, वह काम नहीं करना चाहिए—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥

अर्थात् जो निकम्मा है, तमोगुणाक्रान्त है, उसके लिए तो कोई पुरुषार्थ नहीं है। जीवन में जो पौरुष है उसका सबूत है कि बिना कर्म किये कोई रह ही नहीं सकता। आप कितना सोयेंगे? कितना प्रमाद करेंगे? कितने आलस्य में रहेंगे। तन्द्रा में कब तक रहेंगे? इसलिए प्रतिभाशाली पुरुषों, उठो, जागो और जीवन में अग्नि का, प्रकाश का, तेज का आह्वान करो।

हम जब कर्मक्षेत्र में उतरते हैं तो दो प्रकार के कर्म सामने आते हैं। एक जो विहित होते हैं वे और एक जो निषिद्ध होते हैं वे। निषिद्ध का अभिप्राय है कि यदि कोई भी आकर एक बार टोक दे कि यह काम मत करो तो उस पर विचार कर लेना चाहिए। यह नहीं कि छाती तान कर कह दें कि जाओ, हम तो यही करेंगे। किसी की बात पर विचार करके कर्म करना यह विनयपूर्वक कर्म होता है। और, बिना सोचे-विचारे अभिमान से कर्म में लग जाना, यह कर्म को अपने साथ बाँधता है। विहित कर्म के दो भेद हैं। आप काम तो करते हैं, परन्तु इसे देख लेना है कि यह अनुशासन के अनुसार हैं कि वासना के अनुसार है। निकम्मेपन से ऊपर आने पर और कर्मक्षेत्र में उतरने पर यह विवेक करने की जरूरत होती है कि क्या हम अपनी वासना के अनुसार ही कर्म किये जा रहे हैं।

मन की पकड़ कभी-कभी बहुत धोखा देती है। क्योंकि मन में अनेक वासनाएँ भरी हुई हैं। कुछ वासनाएँ भोजन से आई हुई हैं। कुछ वासनाएँ माता-पिता की, दादा-दादी की और नाना-नानी की परम्परा से आयी हैं। समाज के रूप को देखकर और जीव के पूर्वजन्म की ओर से भी

अनेकों प्रकार की वासनाएँ हमारे हृदय में आई हुई हैं। इनमें से कुछ अच्छी हैं, कुछ बुरी हैं। यदि हम बिना विवेक किये वासना के अनुसार ही काम करते रह जायेंगे तो ये हमारी वासनाएँ न जाने हमें कहाँ ले जाकर डाल देंगी। इसलिए कर्म करने में वासना की प्रधानता नही, अनुशासन की प्रधानता होनी चाहिए।

अनुशासन में देखना पड़ता है कि अनुशास्ता कौन है? अनुशासन देने वाला या करने वाला कौन है? इस पर विचार करना पड़ता है कि अनुशासन कैसा है? शाश्वत दृष्टि का अनुशासन है कि क्षुद्र-दृष्टि का अनुशासन है? जब आप एक गाँव में सीमित होकर जिले को हानि पहुँचाते हैं, जिले में सीमित होकर प्रान्त को हानि पहुँचाते हैं तो वह क्षुद्र अनुशासन हो गया। राष्ट्र में सीमित होकर विश्व मानवता को हानि पहुँचाते हैं तो वह भी क्षुद्र अनुशासन हो गया। महान् अनुशासन वह है जो हमारे जीवन को पूर्णता के साथ जोड़ता है। जो अनुशासन हमें पूर्णता की ओर उन्मुख नहीं करता वह क्षुद्र अनुशासन है। अनुशासन को तौलकर देखो कि वह अनुशासन कैसा है? तुम्हें क्षुद्र दृष्टि से आबद्ध करता है या उदार दृष्टि से जोड़ता है?

देखो, हमारे देखते-देखते जो संविधान बना, उसमें ४०-४५ से भी अधिक संशोधन हो चुके हैं। ऐसा क्यों? जो तात्कालिक अनुशासन होते हैं, उनका ढंग दूसरा होता है। मूल तत्व पर, पूर्ण-विश्व पर, प्राणि-मात्र पर दृष्टि रख कर ही सच्चा अनुशासन होता है। मानवता पर दृष्टि रख कर ही सही अनुशासन होता है। जो दृष्टिहीन अनुशासन है, उसमें संकीर्णता होती है और उसको कभी-न-कभी पार करना पड़ता है। यदि हम सच्चे अनुशासन के अनुसार काम करते हैं तो वही अभ्युदय और निःश्रेयस देने वाला धर्म होता है—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्म का लक्षण क्या है? जिससे हम अपने पाँव को गलत जगह जाने से रोक सकें। जीभ को बुरी बात बोलने से रोक सकें, हाथ को बुरा काम करने से रोक सकें, उसी अनुशासन का नाम धर्मानुशासन होता है। धर्म किसी भूखण्ड में नहीं बँधता। वह हिन्दुस्तान में पैदा हुआ कि यूरोप में पैदा हुआ कि अमेरिका में पैदा हुआ—यह धर्म की पहचान नहीं है। वह ५०० वर्ष पहले हुआ कि ५ लाख वर्ष पहले हुआ—यह भी धर्म की पहचान नहीं होती। धर्म की पहचान यह होती है कि उससे हम अपने मन और इन्द्रियों पर संयम करने में समर्थ होते हैं कि नहीं। 'धारणाद् धर्मः' अर्थात् जो धारण किया जा सके, वह धर्म है। यह देखो कि हमारे जीवन की जो मोटर चल रही है, जीवन का जो रथ चल रहा है, उसमें हमारा ब्रेक अथवा बारक ठीक है कि नहीं? उसको रोकने का सामर्थ्य ठीक है कि नहीं। हमारे भीतर यह शक्ति होनी चाहिए कि हम चाहें जहाँ कह दें कि हाथ, बैठ जा, जब तक मैं आज्ञा न दूँ, तब तक हटना नहीं। पाँव, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि बुरी जगह पर मत जाना। आँख, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम बुरी वस्तु मत देखना। भाई मेरे, हमारे अपने शरीर में ही जो साधन हैं वे हमारे वश में हैं कि नहीं—यह देखो। हम 'ब्रेक' लगाते रहें और मोटर गढ़े में गिर जाए तो ऐसी मोटर किस काम की?

तो, विहित कर्म का अर्थ होता है—अपने जीवन में संयम। संयम के बिना न तो धनोपार्जन ठीक से होता है, न तो भोग की शक्ति रह सकती है और न तो मोक्ष ही प्राप्त हो सकता है। गीता कहती है कि जीवन में संयम की शक्ति भी यज्ञ ही है—आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते। (गीता ४।२७) यही अनुशासन आत्मसंयम शाश्वत है। इसी के अनुसार कर्म करना चाहिए।

अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि आप अनुशासन के अनुसार तो कर्म करते हैं, किन्तु सकाम कर्म करते हैं कि निष्काम करते हैं। देखो, निकम्मेपन को पहले काट दिया—यह पहली भूमिका हुई। और, जो स्वच्छन्द आचरण था कि चाहे जो खा लिया, चाहे जो पी लिया, चाहे जो कर लिया, चाहे जो दे दिया, उसको भी काट दिया। कैसे काटा? संवैधानिक आचरण से। अब संवैधानिक आचरण में यह भेद आया कि आप कुछ पाने के लिए कर्म कर रहे हैं कि निष्काम भाव से कर्म कर रहे हैं? अपने सुख-स्वार्थ के लिए आचरण कर रहे हैं कि लोगों के कल्याण के लिए? यज्ञ को समझने के लिए कर्म की यह भूमिका समझना आवश्यक है। यह पोथी पढ़ने से नहीं आती। ● (क्रमशः)

लोक और परलोक

घनश्यामदास बिड़ला

स्वर्ग-नरक की यह परम्परा सदियों से चली आती है और सबसे दिलचस्प बात तो यह है कि सभी मुल्कों में और सभी मज़हबों में इनका वर्णन-करीब-करीब मिलता है। मेरा ख्याल है कि वेदों में स्वर्ग का इस तरह का रोचक वर्णन नहीं है और न उपनिषदों में ही स्वर्ग-नरक का रोचक और भयानक विवरण मिलता है।

जो पुण्यात्मा हैं वे स्वर्ग में, और पापी नरक में जाते हैं ऐसा बताया गया है। पर स्वर्ग का जो वर्णन है, वह पुण्यशीलों के लिए आकर्षक हो सकता है इसमें सन्देह है। स्वर्ग के राजा इन्द्र का तो यह हाल है कि जहाँ किसी ने तप आरम्भ किया कि उसके दिल में घबराहट पैदा हो जाती है। होनी तो चाहिए खुशी देवता को क्या, हर पुरुष को कि कोई पुण्यशील व्यक्ति शुभ कर्म में जुटना चाहता है। देवता को तो और भी अधिक खुशी होनी चाहिए, पर इससे उल्टा कोई तप करता है तो इन्द्र के घर मानो स्यापा-सा पड़ जाता है। कारण यह माना जाता है कि तप सिद्ध होने पर तपस्वी द्वारा इन्द्र का इन्द्रासन छीन लिये जाने का भय रहता है।

पर यदि दो तपस्वी एक ही कोटि के हों तो फिर इन्द्रासन एक ही को मिलेगा या दोनों को? यह प्रश्न सुलझाया नहीं गया। हाँ, एक आसन के दो उम्मीदवार होने का मौका आया हो, इसका पुराणों में कोई प्रसंग नहीं मिलता। और किसी तपस्वी ने अपने तप के बल से इन्द्र को दरिद्र बना डाला हो, ऐसा भी मेरी निगाह में कोई उदाहरण नहीं आया।

ब्रह्म-हत्या के आक्रमण से डर कर जब इन्द्र अपनी पुरी छोड़ कर भाग गया, तब ऋषियों ने इन्द्रपुरी को सूना छोड़ना उचित न जानकर नहुष को इन्द्रासन पर बैठा दिया। पर नहुष भी निकम्मा निकला। उसके सिर पर ऐसा भूत सवार हुआ कि उसने इन्द्राणी को छीनना चाहा। उसकी जब नीयत बिगड़ी तो फिर उसे सर्प बनना पड़ा। यही एक उदाहरण इन्द्रासन पर कब्जा करने का आता है और सो भी लोकमत से बाध्य होकर। बाकी तो ध्रुव-प्रह्लाद-जैसे अनेक तपस्वी हुए जिन्होंने इन्द्र के मोहल्ले की तरफ आँख तक उठाकर न देखा। तो फिर पता नहीं, इन्द्र तप करने वालों से इतना क्यों डरता था? शायद उसका स्वभाव ही शक्की बन गया था।

जो हो, स्वर्ग के राजा इन्द्र का धन्धा शिष्ट पुरुषों के आचार-विचार से इतना उलटा रहा है कि तपस्वी को स्वर्ग लुभावना लगे, यह समझ में नहीं आता।

इन्द्र स्वयं ऐश में गर्क रहता था, अप्सराएँ उनके यहाँ नृत्य-गान किया करती थीं और मालूम होता है कि उनका

घनश्यामदास बिड़ला

इन्द्र के साथ काफी लगाव-उलझाव भी था। इन्द्र को भी केवल अप्सराओं से ही सन्तोष नहीं था। वह इधर-उधर भी चक्कर काटा करता था, जिसके फलस्वरूप गाली-गलौज के सिवाय शाप तक की भी नौबत आ गयी थी।

इधर अप्सराओं का यह हाल कि किसी ने तप शुरू किया कि झट इन्द्र की प्रेरणा से वे तपस्वी को गिराने-उलझाने की फिक्र में लग जाती थीं। एकाध मरतबा तो वे

खुद भी फँस गयीं। मेनका और विश्वामित्र का किस्सा तो है ही। इधर उर्वशी का पुरूरवा में मन फँस गया। ऐसे अनेक किस्से हैं, जो स्वर्ग की स्वर्गीयता सिद्ध नहीं करते।

स्वर्ग की अन्य भी अनेक विचित्रताएँ मिलती हैं। नारद और अन्य ऋषि-मुनि तो बिना मरे भी बेरोक-टोक स्वर्ग में आते-जाते रहते थे, पर दूसरी तरफ त्रिशंकु बेचारा सशरीर जाने लगा तो उसे धक्के खाने पड़े। स्वर्ग की ये परस्पर विरोधी बातें और उसकी महिमा उलझन में डालने वाली हैं और विदेशियों के जन्नत से इतनी मिलती-जुलती हैं कि यह संस्था जिस रूप में वर्णित है वह आर्य है या अनार्य, इसमें भी शंका उपजाती है। पर यह सब तो विद्वानों के अन्वेषण की सामग्री है।

गोलोक, विष्णुलोक ये कुछ भिन्न प्रवृत्ति के लोक थे। उनका भी वर्णन है। पर वहाँ यह खटपट और षड्यन्त्र नहीं रहे।

दूसरी ओर गीताकार ने भी 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्' कह कर स्वर्ग की महिमा बढ़ाई है। पर उपर्युक्त स्वर्ग और गीता का स्वर्ग दोनों एक ही प्रान्त की राजधानी हों, ऐसा नहीं लगता। गीता का स्वर्ग, पुनर्जन्म और मुक्ति समालोचना की कसौटी पर कसे जाने लायक मसाला है। पर इन सबका अर्थ स्पष्ट नहीं है। असलियत क्या है, इसकी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, कल्पना ही की जा सकती है।

मुझे तो लगता है कि गीता के स्वर्ग और नरक शायद इसी संसार में और अक्सर इसी शरीर में ही हमें मिल जाते हैं। रोजमर्रा हम गीता के स्वर्ग और नरक की यात्रा करते रहते हैं। अच्छी बस्ती में अच्छी वायु में विचरते हैं तो स्वर्ग और गन्दगी में हमें नरक का अनुभव होता है। सज्जन की संगति में स्वर्ग और कुसंग में नरक का अनुभव लेते हैं। तबीयत फुर्तीली होती है तो स्वर्ग का सुख अनुभव करते हैं और रोग में नरक का दुःख झेलते हैं। क्रोध या लोभ का भूत सवार हो गया तो समझिये कि नरक में पड़ गये और दया, उदारता की भावना उठती है तो स्वर्ग-सा लगता है।

व्यायाम करना, हित और मित भोजन करना, आहार-व्यवहार दुरुस्त रखना पुण्य है, क्योंकि इसके फलस्वरूप हमें तन्दुरुस्ती मिलती है। उद्योग करना, निरालस होना यह भी पुण्य की निशानी है, क्योंकि इसके कारण दरिद्रता भागती है और लक्ष्मी आती है।

पुण्य क्षीण होते ही हम स्वर्ग से गिर मृत्यु-लोक में आ पड़ते हैं। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति' अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर याने मिथ्या आहार-विहार, व्यायाम के छोड़ने से, गन्दी हवा और गन्दे वातावरण में रहने से, कुसंग करने से हमें दुःख और रोग-शोक का सामना करना पड़ता है। हम शुभ कर्म करके मरते हैं और लोग हमारी मृत्यु पर परिताप करते हैं तो हम स्वर्ग में गये हैं, ऐसा मानना चाहिए, अन्यथा नरक में। यदि स्वर्ग-नरक यहीं हैं तो फिर उन्हें दूर खोजने की आवश्यकता कहाँ ?

सभी धर्मों में स्वर्ग और नरक के बहाने लोगों को अच्छे सलूक से चलने का उपदेश दिया गया है। साधारण बुद्धि के लोगों को हम कहें, 'अच्छा करोगे तो स्वर्ग, और बुरा करोगे तो नरक पाओगे', तो उसका उनके मन पर असर होता है। इस जीवन में जिन्होंने ऐश-आराम, खाना-पीना और विषय को ही सुख माना हो, जिन्हें सुख में आकर्षण और दुःख का भय हो, उन्हें अवश्य ही स्वर्ग का लोभ दान-पुण्य और भलाई की ओर खींचता है और नरक का डर बुराई से हटाता है। पर यह लोभ या डर साधारण लोगों तक ही परिमित है। जो लोग गहरी कौड़ी लाते हैं उन्हें स्वर्ग और नरक में खोखलापन लगता है।

फिर भी, मनुष्य हानि-लाभ की सम्भावना से काफी प्रभावित होता रहता है। मनुष्य लोभ तथा डर का पुतला है। तो फिर मालूम होता है कि कुछ ऊँची सतह पर विचारने वालों के लिए स्वर्ग-नरक की जगह पुनर्जन्म की योजना रखी गयी।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

"यह न जन्मता है, न मरता है। यह शरीर के मरने पर भी मरेगा नहीं।" पर यह आत्मा के सम्बन्ध मे कहा गया है। हिन्दुओं ने सर्वसम्मति से आत्मा को अजर और अमर माना हैं। शरीर की तो यहीं राख हो जाती है। उसका जन्म कहाँ? पर कहा गया है कि जब तक आत्मा मोह-माया और कर्म-बन्धन में फँसी है तब तक शरीर धारण करती और छोड़ती रहती है:

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीणा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जैसे कपड़ा पुराना होने पर दूसरा कपड़ा पहन लिया जाता है, वैसे ही आत्मा भी पुराना चोला छोड़ कर दूसरा शरीर बदलती है। यही पुनर्जन्म है। पर इतने से ही तो गुत्थी नहीं सुलझती।

वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि रक्त के एक छींटे में करोड़ों जीव हैं। इस हिसाब से हमारे शरीर में असंख्य जीव हैं। उनका अपना-अपना कर्म रहता होगा। उनकी बुद्धि और अहंकार भी अलग-अलग होंगे। जब हमारा शरीर जल जाता है तो उसके साथ वे सब असंख्य जीव भी जल जाते हैं। तो क्या वे भी जुलूस बना कर सब-के-सब साथ ही एक ही शरीर में अपना अड्डा जमाते हैं? या अलग-अलग? यदि संयुक्त अड्डा एक ही शरीर में जमाते हैं तो क्या उन असंख्य जीवों का उनकी असंख्य मृत्युओं के बाद एक ही जन्म होता है? या अलग-अलग? यदि उनका अलग-अलग जन्म होता हैं तो किस हिसाब से? क्या उन सबके कर्म अलग-अलग थे?

यदि एक-एक शरीर में एक-एक आत्मा रहती है तो हमारे शरीर में असंख्य जीवों के असंख्य शरीर में असंख्य आत्माएँ हैं। फिर अपने इस शरीर को हम एक ही शरीर क्यों मानें? कर्म भी एक ही का किया हुआ कैसे माना जायगा, जब कि इसके भीतर असंख्य स्वामी बैठे हैं "राम का यह शरीर है" ऐसा न कह कर यह कहना होगा, "इन असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों के पुंज को लोग राम के नाम से पुकारते हैं।"

यदि सब जीवों के कर्म अलग-अलग नहीं हैं, एक ही हैं, यदि इस शरीर में रहने वाले असंख्य जीवों का ही सम्मिलित कुटुम्ब है तो फिर इस कुटुम्ब की सीमा एक शरीर तक ही क्यों सीमित हो? सारे विश्व के प्राणियों को भी हम एक ही सम्मिलित कुटुम्ब में क्यों न मानें? और यह भी क्यों न मानें कि अन्त में हमारे सबके पाप-पुण्य एक ही थैले में जमा हो कर साम्यवाद के सिद्धान्त पर विश्व के सभी जीवों को उसके बटवारे का अच्छा और बुरा हिस्सा मिलता है?

पाप हिटलर ने किया पर भुगता जर्मनी ने, इंग्लैंड ने, अमरीका और अन्य देशों ने भी। हाथ में फोड़ा होता है तो दर्द तो हाथ में होता है, पर कष्ट तो सारे शरीर को भुगतना पड़ता है। कोई आश्चर्य नहीं, यदि हमारे पड़ोसी की करनी का फल हमें भी चखना पड़े, चाहे पूरा नहीं तो अधूरा, या अधूरे का भी अधूरा ही सही।

यदि आत्मा अनेक नहीं, एक ही हो तो फिर पुनर्जन्म की सारी कल्पना को सुधारना पड़ता है। जो नया शरीर बनता है, उसमें वही व्यापक आत्मा है, जो अन्य शरीरों में पहले से ही थी। जिस तरह आकाश सब जगह है, न किसी पात्र के फूटने से लोप होता है और न नये पात्र बनने से नया बनता है—वैसे ही यदि आत्मा सदा और सर्वत्र है तो फिर जन्म किसका?

यह सही हो सकता है कि पुराने कपड़े की तरह जब शरीर जर्जर हो जाता है तो आत्मा नया चोला पहन लेती है। पर यह तो इतना हो हुआ कि जो व्यापक आत्मा पहले से ही असंख्य शरीरों में एकरस और सदा से व्याप्त थी, उसका अनेक शरीरों में से केवल एक शरीर जब जीर्ण हुआ तब उसकी जगह एक और नया शरीर धारण कर लिया—याने सहज अपनी सीमा का संकोच और विस्तार किया।

आकाश यदि असंख्य पात्रों में प्रविष्ट है और उनमें से एक पात्र पुराना होकर फूट जाता है और उसकी जगह नया पात्र आ जाता है तो इतना ही कह सकते हैं कि एक नया पात्र आया—पुनः एक पात्र आया। पर यह नहीं कह

सकते कि आकाश ने पुनर्जन्म लिया। सर्वव्यापी आकाश तो जैसा था वैसा ही है। एक पात्र फूटा और एक बना। एक पात्र मरा और दूसरा जन्मा। पर जो मरा, वही नहीं जन्मा, तो फिर आत्मा ने असंख्य शरीरों के रहते-रहते एक नया शरीर धारण किया तो इसमें पुनर्जन्म किसका हुआ?

गंगोत्री से गंगा चलती है तब उसमें थोड़ा-सा पानी होता है। फिर रास्ते में चलते-चलते अनेक नदी-नाले उसमें मिल जाते हैं। ज्यों-ज्यों गंगा आगे सरकती जाती है, त्यों-त्यों उसमें अनेक तरह का मैल, मिट्टी, भिन्न-भिन्न जाति के पत्ते, कूड़ा-कर्कट मिलता जाता है। शहरों के पास से गुजरती है तब उसमें मलमूत्र के गन्दे नाले भी मिल जाते हैं। वर्षा का पानी भी बीच-बीच में मिलता जाता है। जमुना, चंबल, गंडक, गोमती, घाघरा इत्यादि नदियाँ भी आगे चलकर मिल जाती हैं। सारा-का-सारा पानी हिमालय का ही नहीं होता। विन्ध्याचल का, आकाश का, मेघों का जल उसमें मिल जाता है। इस तरह अनेक तरह का मिश्रण होते हुए भी हम उसे गंगा के नाम से ही पुकारते जाते हैं। जिन नदियों का गंगा में लोप हो गया, उनके नाम और रूप दोनों मिट जाते हैं। इसी के साथ-साथ गंगा का कुछ पानी नहरों में बिखरकर गंगा में से निकल जाता है। वह पानी कौन-सा था, हिमालय का या विन्ध्य का, इसका कोई हिसाब नहीं। कई चीजें निकल गयीं। कई नई मिल गयीं। जो गंगा गंगोत्री से चली थी, वह समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते बदल गयी। गंगोत्री की गंगा और गंगासागर की गंगा में अन्त में इतना ही सादृश्य रह जाता है, जितना कि बैल और मगरमच्छ में। तब भी हम उसे कहते हैं गंगा ही, पर समुद्र में मिलते ही गंगा का नाम मिट जाता है। यहीं गंगा की मृत्यु हुई, यद्यपि गंगा का पानी तो समुद्र में पड़ा ही रहा।

फिर समुद्र में से पानी भाप बनकर आकाश में बादल होकर कई जगह बरस जाता है। जो पानी बरसा, उसमें गंगा का भी पानी था। चंबल, जमुना, गंडक, गोमती का भी था। हिमालय के भिन्न-भिन्न प्रदेशों का भी था और गन्दे नाले का भी था। वर्षा का यह पानी जो जगह-जगह से एकत्र हुआ था, वह अब कृष्णा, कावेरी, नर्मदा और अनेक जोहड़ों और पोखरियों में गिरा। तो क्या गंगासागर की वह गंगा वही थी जो गंगोत्री की थी? गंगा से हमारा क्या तात्पर्य था? और जब गंगा का पानी मरकर याने भाप बन कर ऊपर गया तो मृत्यु गंगा की हुई या सैकड़ों नालों और नदियों की? और फिर जब उन्हीं का पानी बरस कर गिरा तो जन्म किसका हुआ? गंगा का या मिश्रित नदी-नालों का या भिन्न-भिन्न पानियों का, गंडक और गोमती का? और जब एक ही गंगा का पानी कई नदियों में गिरा तो क्या एक ही गंगा के कई जन्म हुए? पर बात यह हुई कि न तो एक नदी की मृत्यु हुई, न एक नदी एक जगह जन्मी। कई पानियों का मिश्रण मरा जो कई जगह पुनः उद्भूत हुआ। न गंगा अकेली मरी, न उसने एक ही शरीर धारण किया। तो फिर किसका जन्म और किसकी मृत्यु? यह तो सारा-का-सारा साम्यवाद मालूम होता है।

विश्व एक था, एक है, एक रहेगा। इसमें कोई परिवर्तन नहीं है। इसलिए न मरता है, न जन्मता है। कहीं से एक टुकड़ा लोप होता है तो कहीं उदय होता है। पर जो लोप हुआ वही उदय हुआ, ऐसा नहीं कह सकते। पर यह भी कल्पना ही है।

पता नहीं, जब पुनर्जन्म कहते हैं तब इतना ही क्यों नहीं मानते कि कोई एक जन्म हुआ। किसका जन्म हुआ? जिसका हुआ उसी का। पुनर्जन्म हुआ इसका इतना ही तात्पर्य क्यों न मानें जितना यह कहने का कि पुनः वर्षा हुई, पुनः खांसी आई या पुनः छींक आई। पुनः खांसी से इतना ही निर्देश होता है कि खांसी फिर से आई, न कि कोई खांसी थी, वह मर कर फिर से वही अपने संस्कार लेकर आ धमकी। पर जब कहते हैं, पुनर्जन्म हुआ, तब उसी वाक्य का हम दूसरा अर्थ कर लेते हैं।

बच्चा जब जन्मता है, बिलकुल अबोध होता है। धीरे-धीरे उसका बदन बढ़ता जाता है। मस्तिष्क का विकास होता जाता है। फिर बुद्धि फैलती है। अच्छी संगत से उसमें अच्छे गुणों का समावेश होता है, बुरी से ऐब आते

हैं। फिर बाद में बदला-बदली चलती ही रहती है। कभी मोटा, कभी दुबला, कभी क्रोध, कभी दया। अनुभव के साथ ज्ञान बढ़ता है, या विकार में पड़कर ऐब बढ़ते हैं। इस तरह बाल, युवा और प्रौढ़ अवस्था आती है। बाल काले से सफेद हो जाते हैं। फिर वृद्धावस्था आती है।

अब जिसने इस पुरुष को बाल्यावस्था में देखा हो वह बुढ़ापे में कैसे पहचानेगा? नाम वही रहा हो, पर मनुष्य तो वह है ही नहीं। हर पल परिवर्तन होता है और हर परिवर्तन में मृत्यु और जन्म, धाराप्रवाह गति से चलते ही रहते हैं। जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह भी एक नया परिवर्तन-मात्र है।

मरे मनुष्य का पानी बन कर न मालूम किस आम के फल का रस बनता होगा। उसका पृथ्वी तत्त्व न मालूम किस कटहल के फल में समाविष्ट होता होगा। इस तरह न मालूम उसके शरीर के कितने विभाग बनकर कितनी जगह पुनः उद्भूत होते हैं या पुनर्जन्म लेते हैं। उसी तरह उनके आध्यात्मिक गुण-दुर्गुण भी क्या पता कितनों से उसे मिलते हैं और कितनी जगह उनका उद्भव होता है। उसके पाप-पुण्य या दुःख-सुख भी न जाने कितनों के हिस्से में आते हैं और न मालूम कितनों के पाप-पुण्य उसके हिस्से में आते हैं।

तो फिर उसकी आत्मा को सीमित मानना यह हमारी कूपमंडूकता ही तो है।

एक बात जंचती है। ज्ञानी के जन्म-मृत्यु छूट जाते हैं। वह मुक्त हो जाता है, यह सही है। जिसने यह जान लिया उसने शायद यह भी जान लिया कि इस ईश्वरीय साम्यवाद में जन्म-मृत्यु है ही नहीं। न कोई अपना है, न पराया।

पर कौन कहे, असलियत क्या है?

●

धूल पर धूल

रांका बांका पति पत्नी थे। बड़े ही भक्त व प्रभु-विश्वासी थे। भगवान ने इनकी परीक्षा लेने की ठानी। एक दिन वे दोनों लकड़ी लाने के लिए वने जंगल की ओर जा रहे थे, पति आगे-आगे चल रहे थे पत्नी उनके पीछे-पीछे चल रही थी। राह में रांका को किसी चीज की ठोकर लगी, उन्होंने देखा सोने की मोहरों से भरी एक थैली खुली पड़ी है। वे उसे देखकर जल्दी-जल्दी उस पर धूल डालने लगे। इतने में ही बांका भी वहां आ पहुँची। उन्होंने अपने पति से पूछा "क्या कर रहे हो?" पहले तो रांका ने कुछ नहीं बताया परंतु विशेष आग्रह करने पर बोले-"सोने की मोहरे थीं। मैंने सोचा इन्हें देखकर तुम्हें कहीं लोभ न हो जाय इसलिए धूल से ढक रहा था।" बांका ने हंस कर कहा-"वाह तुम भी खूब हो, व्यर्थ ही धूल पर धूल डाल रहे हो, इससे क्या लाभ होगा। स्वर्ण और धूल में भेद ही क्या है जो आप इन मोहरों को ढक रहे थे।"

रूपं देहि, जयं देहि, यशो देहि द्विषो जहि

श्री विश्वनाथ मुखर्जी

आदिमकाल में विश्व के सम्पूर्ण मानव-समाज में मातृ-मूलक व्यवस्था थी। आज भी संसार की अनेक अरण्य जातियों में यह प्रथा विद्यमान है। इस प्रथा के कारण जन्मदात्री को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। आगे चलकर जब सभ्यता का विकास हुआ तब मानव ने शस्यदाता पृथ्वी को भी माँ के रूप में स्वीकार किया। समय व्यतीत होता चला गया और मानव ज्ञान के सोपानों पर निरन्तर बढ़ता गया तब उसने माँ को अनेक रूपों में देखा। आदिकवि वाल्मीकि ने 'जननी जन्मभूमिश्च' स्वीकार किया तो महाकवि व्यास ने जावालि को बताया कि माँ के तो इक्कीस नाम हैं। जन्म देने वाली से लेकर शक्तिदायिनी तक।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से ऐसी अनेक मृण्मयी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो मातृका देवी की हैं। कुछ विद्वान इन्हें मात्र बच्चों का खिलौना समझते हैं, पर डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—'यह निश्चित मत है कि सिन्धुघाटी के लोगों ने अपने पीछे मातृका-पूजन की परम्परा छोड़ी जिसे भारतीय लोगों ने शक्ति, देवी, माता-भूमि (हिन्दी भूइयाँ) ग्राम देवता के रूप में स्वीकार किया और आज तक सर्वोपरि देवी या 'मही माँ' के रूप में चली आती हैं। उन्हें बालकों का खिलौना नहीं माना जा सकता।'

लगभग दो सहस्राब्दि पूर्व की प्राचीन सभ्यताओं में उसी प्रकार की महीमाता की पूजा प्रचलित थी। उसे सुमेर देश में 'इन्निनी' (स्वर्ग की देवी) और बाबेरु में 'इस्तर' कहते थे। वही आगे चलकर ईरान में रक्षासूत्र पहननेवाली अनाति देवी के रूप में मान्य हुई। उसे ही शक लोग 'नानी' या 'ननादेवी' के रूप में पूजते थे जैसा कि उनके सिक्कों से विदित होता है। इस प्रकार की मातृ-देवियों का विस्तार न केवल सिन्धु घाटी और बलूचिस्तान में था, बल्कि ईरान, मेसोपोटामियाँ, फारस (आधुनिक ईरान), शूषा, लघु एशिया, कीट, साइप्रस, मिस्र और भूमध्यसागर तक था। सभ्यताओं के इस विस्तृत क्षेत्र में मातृदेवी की पूजा का विशेष गौरव था। मातृदेवी की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ज्ञात होता है कि किसी प्रभावशाली कलाकार ने आभरणादि उपकरणों के माध्यम से ऊपर उठकर 'दिगम्बर देव' और 'महानग्नी देवी' की इस कल्पना को मूर्त रूप में ढाला है और इसमें उसे आशातीत सफलता मिली है।'

महानग्नी देवी का उल्लेख अथर्ववेद में आया है जिसमें कहा गया है जो विश्व की प्रकृति स्वरूपिणी शाश्वती स्त्री या मातृदेवी सूचक है। (२०।१३६।११) लोरियानन्दगढ़ से वैदिककालीन एक सोने का पत्तर प्राप्त हुआ है। उसमें एक नग्न स्त्री की आकृति बनी है। माना गया है कि वह धरती माता की मूर्ति तराशी गई है। माता की महिमा से तो संपूर्ण भारतीय वाङ्मय भरा है। क्योंकि हम 'द्यौः पिता पृथिवी माता' के अनुसार प्रत्येक महिला को माँ के रूप में देखते हैं (सम्पूर्ण बंगाल में आज भी यह प्रथा है)। भारत के बाहर विदेशों में भी मातृ-देवी की मूर्तियों की मान्यता और पूजा की परम्परा है। कांस्य युग में धरती को माता की संज्ञा देनेवालों में भारत, ग्रीस लगभग सम्पूर्ण यूरोप तथा मध्य एशिया था। इन देशों में भी मातृमूर्तियाँ तैयार होती थीं। 'इस्तर' के समश्रेणी बेबीलोन की 'नीर्थओ देवी' मातृका देवी थी।

स्काटलैंण्ड की 'फेइललिक', मिस्र की 'आइसिस हेॅथर' और 'सेखेथ हेथर', बेबिलोन की 'निनसाल', सुमेरु की 'इन्निनी', जापान की 'चनेष्ठी', तिब्बत को 'ला-मो', ग्रीक की 'दिमितारे' आदि सभी मूर्तियाँ मातृमूर्ति रही हैं। डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे स्वीकार किया है कि मातृदेवी का प्रचार सुदूर पश्चिम यूरोप तक था।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार संपूर्ण तन्त्रशास्त्र शक्ति-पूजा पर आधारित है। तन्त्रशास्त्र में

त्रिकोण और षट्कोण की महत्ता है। जिन त्रिकोणों का मुँह ऊपर उठा रहता है, वह शिव की प्रतीक हैं और जिनका मुँह नीचे की ओर झुका रहता है, वे शक्ति की प्रतीक हैं। तान्त्रिकों की आराध्या देवी शक्ति है जिसे दुर्गा, काली, छिन्नमस्ता आदि कहा जाता है। तान्त्रिकों की एक देवी का नाम मातृदेवी है। जैनधर्म में आगम-निगम का उल्लेख है। आगम शिव का उत्तर और निगम शक्ति के प्रश्न हैं।

मातृदेवी की पूजा से सम्बन्धित अनेक श्रीचक्र या खण्डित मण्डलाकार चक्रियाँ तक्षशिला, पाटलिपुत्र, मथुरा, कौशाम्बी, काशी से प्राप्त हुई हैं जो देश के विभिन्न संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं। इन्हीं श्रीचक्रों या चक्रियों को श्रीयन्त्र भी कहा गया।

ऋग्वेद के देवीसूक्त और रात्रिसूक्त तथा सामवेद के रात्रिसूक्त से प्रमाणित होता है कि वैदिक काल में शक्ति-पूजा की परम्परा रही। देवी ने स्वयं कहा है—'मैं स्वयं समग्र जगत की ईश्वरी हूँ। मैं ही धनदात्री हूँ। उपास्य तत्त्वों में मैं ही श्रेष्ठ हूँ। मैं ही एकमात्र उपास्य हूँ। मैं ही सम्पूर्ण जगत में हूँ। मुझे तुम सर्वरूप में देख रहे हो, पर पहचान नहीं पा रहे हो। मुझे तुम सब भूल गए हो, इसलिए संसार-चक्र में पतित होकर मरण-यातना भोग रहे हो।'

वास्तव में यही माता जगज्जननी के रूप में सर्वरूपमयी देवी हैं। यही विश्वशक्तिरूप है। देवी की आदि जननी अदिति थीं। इन्हीं को वैदिक काल में श्रीलक्ष्मी कहा गया है। ऋग्वेद में ही भुवनेश्वरी देवी का मन्त्र है जिसमें देवी के कई नाम हैं—विश्वदुर्गा, सिन्धुदुर्गा और अग्निदुर्गा। इस काल में मातृका देवी को अम्बिका, अम्बा, अम्बालिका, शतरूपा, विश्वनारीरूपा आदि कहा गया है। शक्ति सृजति ब्रह्माण्डम् के अनुसार समस्त संसार ही शक्ति की आराधना करता है। शक्ति एक के रूप में अनेक रूपों में है, जो महालक्ष्मी है, वही महासरस्वती, वही महाकाली। सांख्यायन के गृह्यसूत्र में देवी को भद्रकाली कहा गया है। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार ये अम्बिका रुद्र की पत्नी हैं। आरण्यक के नारायण उपनिषद में है—

तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टम्।
दुर्गां देवीं शरणामहं प्रपद्ये सुतरसितरसे नमः॥

अर्थात् मैं उसी वैरोचनी यानी परमात्माकर्तृक दृष्ट अग्निवर्णा स्वीयताप से शत्रुदग्धकारिणी कर्मफल-दात्री दुर्गा देवी की शरण में आया हूँ। हे सुतारिणी, हे संसार त्राणकारिणी देवी, तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

महाभारत काल में शक्ति की उपासना

महाभारत में देवी की उपासना का उल्लेख है। भीष्म पर्व के २३ वें अध्याय में कुरुक्षेत्र के युद्ध में विजयी होने के लिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दुर्गा देवी से प्रार्थना करने तथा प्रणाम करने को कहा है। महाभारत में ही दुर्गा के कई नाम मिलते हैं—कुमारी, काली, कपाली, महाकाली, चण्डी आदि। श्री चण्डी में तो देवी के सैकड़ों नाम हैं। देवी के नामों की सबसे बड़ी सूची श्रीचण्डी में है।

विराट पर्व में एक दुर्गास्तव है। बारह वर्ष वनवासकाल पूर्ण करने के बाद पाण्डव ऋषियों के परामर्श के अनुसार एक वर्ष अज्ञातवास करने की सफलता के लिए दुर्गास्तव करते रहे। इसी ग्रन्थ में श्रीकृष्ण की बहन को 'कृष्णवर्णा' कहा गया है। यशोदा की पुत्री जिसे कंस ने मार डाला था, उसे देवी का अवतार कहा गया है।

विन्ध्याचल में पहले-पहल जंगली जातियों द्वारा देवी कुमारी रूप में पूजित हुई हैं। हिमालय दुहिता होने या इन अरण्य जातियों के द्वारा पूजित होने के कारण देवी का नाम विन्ध्यवासिनी भी है। इसके बाद वे शिव की पत्नी बनीं और उमा नाम हुआ। विराट पर्व के छठे अध्याय में युधिष्ठिर कह रहे हैं—'हे यशोदानन्दिनी, नारायण-प्रणयिनी, कंसध्वंसकारिणी कृष्णे, हे बालार्क सदृशे चक्रवत्ते, विन्ध्याचल आपका शाश्वत स्थान है।' विन्ध्याचल को देवीपीठ स्थान माना जाता है। देवी का विन्ध्याचलवासिनी नाम श्रीचण्डी में भी है।

बौद्ध कला में

बौद्ध-युग में कला की काफी उन्नति हुई। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय इतिहास और संस्कृति बौद्ध कला-साहित्य का ऋणी है। बौद्ध धर्म की मारीचि देवी दस भुजावाली

हैं। तिब्बती लामा 'मारीचि देवी' को 'उषा देवी' के रूप में आह्वान करते हैं। महावस्तु में कहा गया है कि बुद्ध जब अपनी माँ के साथ कपिल वस्तु में आए थे तब उन्होंने अभयादेवी की चरण-वंदना की थी। स्वामी जगदीश्वरानन्द का मत है कि अभया देवी और कोई नहीं, दुर्गा देवी ही हैं। स्वामीजी का कहना है कि चीन के कैण्टन शहर में एक बौद्ध मन्दिर है जिसमें शतभुजावाली देवी की मूर्ति है।

डाक्टर विनय भट्टाचार्य के मतानुसार हिन्दू तन्त्र हमेशा बौद्ध तन्त्र का ऋणी रहेगा। कई प्रसिद्ध हिन्दू तन्त्रों में काली, तारा, षोड़शी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातङ्गी, कमला, आदि इन दस महा-विद्याओं का जो वर्णन है, वह सब बौद्ध तन्त्र से लिए गए हैं। उग्रा, महोग्रा, वज्रा, काली, सरस्वती, कामेश्वरी, भद्र काली, तारा नामक अष्ट देवियों के मन्त्रसमूह भी बौद्ध तन्त्र से लिए गए हैं। विनय बाबू तो यहाँ तक कहते हैं कि सरस्वती और काली देवियाँ बौद्ध तन्त्र की सृष्टि हैं।

महिषमर्दिनी की प्रतिमाएँ

अभी तक अनेक विद्वान यह स्वीकार नहीं करते कि सिंहवाहिनी महिष-मर्दिनी के रूप में देवी मूर्ति का निर्माण ई० पू० में हुआ था। सिंहवाहिनी महिष-मर्दिनी की मूर्तियाँ जो प्राप्त हुई हैं, वे सब ईसा सन् के बाद की हैं। इस सम्बन्ध में पालनरेश तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में निर्मित मूर्तियों का हवाला देते हैं। देवी के सिंहवाहिनी रूप की कल्पना ग्यारहवीं शताब्दी के बाद हुई है। यद्यपि बरेली से प्राप्त महिषमर्दिनी की एक प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में है जिसे सबसे प्राचीन प्रतिमा कहा जाता है। अनुमान किया गया है कि यह प्रतिमा प्रथम या द्वितीय शताब्दी की है। विन्ध्याचल में भी एक प्रतिमा है, वह कितनी प्राचीन है, इसकी जानकारी नहीं। शायद यह प्रतिमा पुराणों में वर्णित विन्ध्यवासिनी हैं। तीसरी और चौथी शताब्दी में उत्तर भारत में महिषमर्दिनी की पाषाण प्रतिमा की पूजा होती रही। मत्स्यपुराण में महिषमर्दिनी दस भुजावाली प्रतिमा का उल्लेख है जबकि अन्य पुराणों में नहीं। सच तो यह है कि हम मातृदेवी की नहीं, महिषमर्दिनी की पूजा करते हैं। आज भारत में अधिकतर जितनी प्रतिमाएँ दुर्गा के रूप में पूजित हैं, वह वस्तुतः महिषमर्दिनी की मूर्ति है।

डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार—'सिंह-वाहिनी चतुर्भुजी दुर्गा की मूर्ति कुषाण काल से बनने लगी थी। इससे स्पष्ट है कि उन दिनों के कलाकारों पर वैदिक काल का प्रभाव पड़ा था। इस काल की महिषमर्दिनी देवी का प्रचार उत्तर से दक्षिण तक हो गया था और वे सर्वत्र पूजी जाती थीं। यह महाबलिपुरम् में उत्कीर्ण पल्लवकालीन महिषमण्डप की कात्यायनी मूर्ति से प्रकट होता है जिसमें महिषासुर अपनी पूरी शक्ति के साथ युद्ध करता दिखाया गया है। कुषाण युग में सप्त मातृका पूजा के रूप में देवी के विविध अवतारों की मान्यता हुई है। सप्तमातृका की कल्पना वैदिककाल की देन है।

मत्स्यपुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा प्राचीन है। इस पुराण में अन्य देवियों के साथ दसभुजावाली दुर्गा का वर्णन है। यहाँ दुर्गा देवी के वर्ण के बारे में कहा गया है कि 'अतसी पुष्प वर्णाभा' यानी अलसी (तीसी) के फूल की की तरह हैं। कालिका पुराण में देवी का रंग तप्तकांचन वर्णाभा कहा गया है।

श्री राखालदास बनर्जी के अनुसार उत्तर भारत में जिन दुर्गा मूर्तियों की पूजा होती है, उनमें अष्टभुजा, दशभुजा, द्वादशभुजा की प्रतिमाएँ हैं। मध्यभारत के नागोद तथा बीजापुर में महिषमर्दिनी की दस भुजाएँ हैं। अब तक जितनी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें दस, छह, बारह भुजा की मूर्तियाँ हैं। काशी से राजशाही में जो मूर्तियाँ आई हैं, वह छह भुजावाली हैं।

अग्निपुराण में दस, सोलह, अट्ठारह, यहाँ तक कि बीस भुजावाली देवी-मूर्ति का उल्लेख है। प्रपंचसार तन्त्र और शारदातिलक तन्त्र में भी अष्टभुजा का उल्लेख है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर श्री सासीकुमार सरस्वती के निजी संग्राहालय में पालवंश की जो मूर्ति है, वह दस भुजावाली है और दूसरी मूर्ति पन्द्रहवीं शताब्दी की है। इस मूर्ति की भी दस भुजाएँ हैं।

स्वामी जगदीश्वरानन्दजी ने लिखा है—'देवी की महिषमर्दिनी वाली मूर्ति की पूजा बंग देश में होती है। यह मूर्ति सम्पूर्ण भारत के अलावा जावा में भी है। चौथी शताब्दी की एक मूर्ति मध्य प्रदेश की उदयगिरि गुफा में है। इस मूर्ति में बारह भुजाएँ हैं। महाबलिपुरम् में जो मूर्ति है, वह सातवीं शताब्दी की और अष्टभुजावाली है।'

शक्ति का प्रतीक

मार्कण्डेय पुराण और हरिवंश में देवी को शक्ति के रूप में माना गया है। हरिवंश के ५९वें तथा १६६वें अध्याय में तो देवी का शक्तिरूप स्पष्ट है।

भवभूति के 'मालती माधव' नाटक के ५वें अंक में कहा गया है कि चामुण्डा देवी बलिसहित पूजित थीं और उनका मन्दिर पद्मावती (उज्जैन) नगर के बाहर श्मशान के पास है। श्रीचण्डी के बाद मालतीमाधव की रचना हुई थी।

देवी-पूजन का अर्थ यह रहा है कि शक्ति की पूजा करना। हमारे पूर्वज शक्ति के उपासक थे। इस पूजा के अवसर पर कभी नर-बलि भी होती थी। कालिका पुराण में इसका उल्लेख है। देवी को प्रसन्न करने के लिए नर-बलि दी जाती थी। अगर इस अवसर पर शत्रुदेश का राजपुत्र मिल जाता तो लोग अधिक प्रसन्न होते थे, इसके अभाव में ब्राह्मण के अलावा उच्चवंश के किसी युवक को उत्तम भोजन कराकर उसकी बलि दी जाती थी। अब इस बलि-प्रथा ने आटे की लोई, खीर और मैदे से बनी शिशुमूर्ति का रूप ले लिया है जिसे शत्रु-बलि कहा जाता है। बड़े परिवारों की पूजा में भैंसे और बकरे की बलि दी जाती है। शायद इसीलिए अब भी कलकत्ता में जहाँ दुर्गा या काली का मन्दिर है, वहाँ बकरे की बलि देने की प्रथा है। जो लोग पशु-बलि को स्वीकार नहीं करते, वे पशु-बलि के स्थान पर खीर से बनी मूर्ति की बलि देते हैं। सामान्य परिवारों में कोंहड़े की बलि दी जाती है। बलि के लिए कोंहड़े का उपयोग होने के कारण पूर्वी बंगाल की महिलाएँ कोंहड़ा नहीं खातीं।

सिंहवाहिनी महिषासुरमर्दिनी का रणचण्डी के रूप में दस भुजावाली शक्ति की पूजा सम्पूर्ण रूप में थी जिसका उदाहरण बंकिम की रचनाओं तक में प्राप्य है। पशु-बलि देकर देवी को प्रसन्न किया जाता है और तब उनकी चरणों में पुष्पांजलि देते हुए कहा जाता है—

> आयुरारोग्यं विजयं देहि देवि नमोस्तुते।
> रूपं देहि यशो देहि भाग्यं भगवति देहि मे।
> पुत्रान् देहि धनं देहि सर्वकामांश्च देहि मे।

पशु-बलि देते समय कहा जाता है—'यज्ञार्थे पशवः सृष्टाः तस्मिन् यज्ञे वधोऽवधः।' यज्ञ के लिए पशु की सृष्टि हुई है। इस यज्ञ में जो वध है, वह अवध है। दुर्गा-पूजा के अलावा अन्य अवसरों पर बलि करने से उसे प्राणी-हिंसा माना जाता है।

पूजा का प्रारम्भिक काल

वर्त्तमान पूजा महिषमर्दिनी की प्रतिमा की होते हुए दुर्गा का नाम अधिक लिया जाता है जबकि एक धारणा यह भी है कि नदिया जिले के राजा कृष्णचन्द्र के शासनकाल से दुर्गा-पूजा प्रारम्भ हुई है, पर यह धारणा गलत है। बंगाल के सबसे प्राचीन निबन्धकार भवदेव भट्ट ग्यारहवीं शताब्दी में राजा हरिवर्मदेव के प्रधानमंत्री थे। आपने दुर्गा-पूजा के बारे में लिखा है। इनके बाद रामकृष्ण की 'दुर्गार्चन कौमुदी' नामक रचना प्राप्त हुई है, उसमें पूजा का उल्लेख है। लेकिन अधिकतर विद्वान इनकी चर्चा नहीं करते। वे शूलपाणि (१३७५-१४६० ई०) को मान्यता देते हैं। इनकी रचनाएँ रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय में सुरक्षित हैं। आपके 'दुर्गोत्सव विवेक', 'वासन्ती विवेक' तथा 'दुर्गोत्सव' नामक तीन निबन्ध मिले हैं। इसके पूर्व महिषमर्दिनी का दुर्गा नामकरण बंगाल में नहीं हुआ था। कविवर विद्यापति (१३७५-१४५०) ने अपनी पुस्तक 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' में मृण्मयी दुर्गा-पूजा का उल्लेख किया है। इन्हीं की बनाई पद्धति के अनुसार आज तक दुर्गा-पूजा होती है। मिथिला के प्रसिद्ध पण्डित श्री वाचस्पति मिश्र (१४२५-१४८०) ने 'क्रिया चिन्तामणि' और 'बासन्ती-पूजा' प्रकरण में दुर्गा देवी की मृण्मयी मूर्ति-पूजा का वर्णन किया है। श्री मिश्र पण्डित रघुनन्दन से उम्र में बड़े थे।

बंगाल के स्मृति-निबन्धकार पण्डित रघुनन्दनजी १६वीं शताब्दी क प्रकाण्ड पण्डितों में थे। दुर्गा-पूजा के बारे में इनकी सर्वाधिक मान्यता है। आपकी प्रसिद्ध कृति 'तिथि-तत्त्व' में 'दुर्गोत्सव तत्त्व' नामक प्रकरण है। उसमें दुर्गा-पूजा की विधि का विस्तार से उल्लेख है। आपने अपनी पुस्तक में यह स्वीकार किया है कि अपने पूर्ववर्त्ती लेखकों की रचनाओं से सहायता ली है।

बंगाल के प्रत्येक सम्पन्न घरानों में 'चण्डी–मण्डप' बनवाने की प्रथा है जहाँ पूजा-गोष्ठी आदि होती है। नवद्वीप में मुकुन्द संजय का चण्डो-मण्डप इतना विशाल था कि वहाँ महाप्रभु चैतन्य पूजा के दिनों के अलावा पाठशाला चलाते थे।

अकबर के शासनकाल में 'मनु संहिता' के टीकाकार कुल्लुक भट्ट के पुत्र राजा कंसनारायण ने नौ लाख रुपया खर्च करके दुर्गा की प्रतिमा बनवाई थी। उक्त पद्धति का नाम 'कंसनारायण पद्धति' है जो आज तक लागू है। ताहिरपुर के राजपुरोहित, जिन्होंने दुर्गा-पद्धति की रचना की थी, ने कुल्लुक भट्ट के पिता राजा उदयनारायण को दुर्गा-पूजा करने की प्रेरणा दी थी। इस घटना के बाद १६वी तथा १७वीं शताब्दी में अनेक विद्वानों ने देवी भागवत और मार्कण्डेय पुराण के आधार पर देवी-पूजा के बारे में अनेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। फलतः १६वीं शताब्दी से बंगाल शाक्त-धर्म में अनुप्राणित हो गया। राधाकान्त मिश्र (१६६७) से लेकर परमहंस रामकृष्ण देव तक देवी के उपासक रहे।

१५वीं शताब्दी तक महिषमर्दिनी की मूर्ति-पूजा होती रही। उन मूर्तियों में गणेश, कार्त्तिक, लक्ष्मी, सरस्वती की मूर्तियाँ नहीं होती थीं। दुर्गा देवी कुँआरी हैं, उनकी सन्तानें नहीं हो सकतीं। उमा शिव की पत्नी हैं, उनकी सन्तानें हैं। १६वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कविवर मुकुन्दराम की एक रचना कवि कंकन-चण्डी में इन देव-देवियों का उल्लेख है—

दक्षिणे जलधि-सुता बामे सरस्वती
इन्दीवर जिनी दुइ लोचनेर पाँति।
बामे शिशिवाहन दक्षिणे लम्बोदर
वृष आरोहण शिव माथार ऊपर॥

अर्थात् देवी के दक्षिण लक्ष्मी और बाईं ओर सरस्वती हैं। बाईं ओर कार्त्तिक और दाहिनी ओर गणेश हैं। ऊपर शिव वृष पर सवार हैं।

वर्त्तमान समय में देवी की इसी प्रकार की मूर्तियाँ बनती हैं। अब एक और पद्धति चल पड़ी है जो है तो प्राचीन, पर इसका प्रचलन भी बंगाल से ही प्रारंभ हुआ है। कंसनारायण पद्धति में लक्ष्मी और सरस्वती की मूर्तियाँ ऊपर रहती हैं। नीचे गणेश और कार्तिक की। लेकिन बीर-भूमि शैली में गणेश-कार्त्तिक की मूर्तियाँ ऊपर रहती हैं और लक्ष्मी सरस्वती की मूर्तियाँ नीचे रहती हैं। भारत के अधिकांश शहरों में 'कंसनारायण शैली' के अनुसार मूर्तियाँ बनती हैं। बीरभूमि शैली की मान्यता नहीं है।

अब एक सवाल यह उठता है कि शरद् ऋतु में ही इनकी पूजा क्यों होती है? इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि इन्हीं दिनों राम ने देवी का अकालबोधन किया था। हिन्दू देवी-देवता शयन एकादशी को सो जाते हैं और उत्थान एकादशी को जागते हैं। देवी को बीच में ही जगा दिया जाता है, इसलिए अकालबोधन कहा गया है।

दूसरा मत जो अधिक विश्वसनीय है, वह यह कि पूर्वकाल में बंगाल घने जंगलों से अच्छादित था। यहाँ 'किरात' तथा 'शबर' नामक दो जंगली जातियाँ रहती थीं। कादम्बरी, हरिवंश, दशकुमारचरित, भविष्योत्तर पुराण तथा कालिका पुराण से पता चलता है कि श्री चण्डी में वर्णित देवता के उपासक शबर और किरात थे जिस प्रकार विन्ध्याचल में कुमारी दुर्गा प्रथम बार जंगली जातियों से पूजित हुई थीं। सम्भवतया शिव की तरह दुर्गा भी अनार्यों की देवी थीं जिसे आगे चलकर आर्यों ने अपना लिया।

●

असन्तोष की कामना

श्री हरीन्द्र दवे

कृष्ण परिणाम पर ध्यान देने वाले व्यक्ति हैं। वे चाहते हैं कि या तो दुर्योधन आदि पांडवों की दुर्जेयता स्वीकार करके शान्त हो जायँ, अर्थात् धर्म दुर्जेय है यह समझकर धर्म का नाश करने की प्रवृत्ति बंद करें, अथवा वे दुर्जनता की सीमा तक जायँ। यदि खाण्डवप्रस्थ में इन्द्रप्रस्थ बसाकर पाण्डव शांत रहे होते तो महाभारत का युद्ध न हुआ होता; पर दुर्योधन, दुःशासन, शकुनी तथा कर्ण आदि द्वारा प्रवर्तित अधर्म फैलता रहता। इसी कारण कृष्ण परिस्थिति को पराकाष्ठा पर ले जाते हैं। इस पराकाष्ठा तक परिस्थिति पहुँचे इस हेतु वे दो घटनाओं की सर्जना करते हैं; एक तो जिसकी जोड़ी नहीं है ऐसी मय सभा के मालिकों के रूप में पाण्डवों को स्थापित करते हैं; दूसरे वे पाण्डवों को राजसूय यज्ञ करने की सलाह देते हैं।

कृष्ण के लिये पाण्डवों की प्रीति कितनी है इसकी प्रतीति सभापर्व के आरंभ में खाण्डदहन के बाद जब कृष्ण द्वारका जाने के लिये तत्पर होते हैं, तब कवि एक ही श्लोक में देते हैं—

लोचनैरनुजग्मुस्ते तमा दृष्टिपथात्तदा।
मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णप्रीतिसमन्वयात्॥
(सभा. २; २१)

पांडव, दृष्टि द्वारा जहाँ तक जाया जा सकता है वहाँ तक, कृष्ण के पीछे गये; और प्रीतिसमन्वय के कारण वे मन द्वारा भी कृष्ण के पीछे-पीछे गये। कृष्ण के साथ पांडवों के मन का अनुसंधान कितना दृढ़ और कितना भावपूर्ण था इसकी प्रतीति ही इसमें मिलती है। बिदा की बेला की यह हालत या तो परम मित्र की हो सकती है, या फिर प्रियतमा की।

कृष्ण जहाँ पांडवों के पास से दूर होते हैं कि तत्काल ही कोई न कोई प्रश्न पांडवों के समक्ष उठता ही रहता है। महाभारत के किसी अध्येता को कृष्ण की उपस्थिति और अनुपस्थिति में पांडवों की स्थिति का लेखा जोखा जाँचने योग्य है। जहाँ पांडवों ने कृष्ण की सलाह ली, वहाँ-वहाँ उनका इष्ट हुआ है। जब कृष्ण की सलाह नहीं ली तब अनिष्ट हुआ। कृष्ण गये कि तुरन्त ही देवर्षि नारद आकर राजसूय यज्ञ का विचार युधिष्ठिर के मन में रोपित कर गये। पर यह यज्ञ करने से पूर्व युधिष्ठिर ने कृष्ण की सलाह ली और यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। पर विदुर जब द्यूत सभा में आने के लिए महाराज धृतराष्ट्र का निमंत्रण लेकर आये तब किसी को भी कृष्ण की सलाह लेने की बात नहीं सूझी। अपार धन है; हार हार कर भी कितना हार सकेंगे, ऐसा गर्व शायद पांडवों को हुआ होगा। पर इस विषय में आगे चर्चा करेंगे।

राजसूय यज्ञ, उसकी महिमा, उसका प्रताप जब युधिष्ठिर को समझ में आ गया तब उसकी नींद हराम हो गयी। महत्त्वाकांक्षा कितनी बुरी चीज है यह बात कवि कदम-कदम पर स्पष्ट करते चलते हैं। इसी से कवि कहते हैं कि नारद के जाने के बाद—

चिन्तयन्राजसूयाप्तिं न लेभे शर्म भारत।
(सभा० १२; १)

राजसूय की चिंता करते-करते युधिष्ठिर को किसी भी बात में सुख नहीं रहा। सुख सापेक्ष अनुभव है। मय सभा के मालिक, इन्द्रप्रस्थ का शासन, कृष्ण जैसे सखा, द्रुपद जैसे श्वसुर, इन सबके बावजूद राजसूय के सुख की कल्पना जब एक बार आ गयी तब कोई भी और बात युधिष्ठिर को सुखी न कर सकी।

युधिष्ठिर धर्मराज के रूप में प्रकीर्तित हैं; पर उनकी मर्यादा को प्रकट करने में व्यास भगवान् चूक नहीं करते; इसीसे कृष्ण को सलाह के लिए बुलाते हैं, तब कृष्ण स्पष्ट

शब्दों में कहते हैं कि राजसूय यज्ञ की बात अच्छी है, पर जरासंघ जैसा सम्राट पृथ्वीतल पर रहेगा तब तक यह यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकेगा। राजसूय युधिष्ठिर की वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा है, और उसे परिपूर्ण करने के लिए अर्जुन तैयार होता है, पर वह सूचक शब्द कहता है :

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम्।
साम्राज्यं तुं तवेच्छन्तो वयं योत्स्यामहे परैः॥

(सभा० १५; १५)

पहले से शांति की इच्छा करते मुनियों को काषाय वस्त्र सुलभ होते हैं, शांति के लिए भगवा वस्त्र कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है, पर साम्राज्य चाहिये तो युद्ध ही करना पड़ेगा और हम युद्ध करने को तैयार हैं।

अर्जुन के इस युद्ध के संकल्प में कृष्ण बल देते हैं—

न मृत्योः समयं विद्मः रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरम युद्धेनापि सुश्रुमः॥

(सभा० १६; २)

गीता के कृष्ण की पूर्व भूमिका इस श्लोक में है; गीता में भी कर्म-युद्ध के हेतु प्रवृत्त करने की प्रेरणा है। यहाँ भी वही बात है। कृष्ण कहते हैं कि 'मृत्यु रात में आयेगी या दिन में इसका पता नहीं है, और न लड़ने से मृत्यु नहीं होगी ऐसा कहीं भी सुना नहीं। मृत्यु तो अपने निश्चित समय पर आनी ही है। लड़ना स्थगित रखा जायगा तो मृत्यु नहीं आवेगी ऐसा मान लेने की आवश्यकता नहीं है।'

जरासंघ जैसे शत्रु पर विजय पाना सरल है ऐसा भी कृष्ण नहीं कहते, वह तो—

प्राणयुद्धेन जेतव्यः

(सभा० १८; २)

प्राणों की बाजी लगाकर ही युद्ध में जीता जा सकता है ऐसा शत्रु है। प्राणयुद्ध इस अर्थ में द्वंद्व युद्ध की अपेक्षा अच्छा शब्द है। भीम और जरासंघ के बीच का युद्ध द्वंद्व नहीं था; वह प्राणयुद्ध था, इसका अंत दो में से एक का प्राण जाय तभी होना था।

पर कृष्ण साथ है, अतः किसी बात का भय नहीं है। ऐसी दृढ़ आस्था है युधिष्ठिर की। 'यतो कृष्णस्ततो जयः' की प्रतीति पांडवों को हो चुकी है, इसीसे कृष्ण की सलाह मिलती है कि भीम और अर्जुन को मेरे साथ गिरिव्रज भेजें और वहाँ प्राणयुद्ध द्वारा हम जरासंघ को जीतेंगे; तब युधिष्ठिर कृष्ण की आज्ञा को शिरोधार्य कर इतना ही कहते हैं;

निहतश्च जरासंधो मोचिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च में लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः॥

(सभा० १८; ११)

हे कृष्ण, आपके हम तावेदार हैं, अतः हमने जरासंघ को मार डाला है; राजाओं को मुक्त करा लिया है; और राजसूय यज्ञ भी कर डाला है।

कृष्ण जो निश्चय करते हैं, वही होता है। भले ही वह भविष्य में होने वाला हो तो भी वह हो ही चुका है ऐसा विश्वास भक्तों को रहता है। हमने पहले सात्यिकी का 'निमित्तमात्रं वयमत्र सूत' यह वाक्य देखा है, यहाँ भी वही भाव है। कृष्ण जो निश्चय करते हैं वह कार्य सम्पन्न हो ही चुका है, ऐसा दृढ़ संकल्प लिये भीम और अर्जुन कृष्ण के साथ चल पड़ते हैं, और जब वे गिरिव्रज में जरासंघ के घर की तरफ जाते हैं तो व्यास भगवान एक अच्छी उपमा का उपयोग करते हैं—'हिमालय के सिंह गाय के बाड़े की ओर जायँ इस तरह वे जरासंघ के घर की ओर अग्रसर हुए।'

कवि के रूप में व्यास प्रत्येक पात्र को यथार्थ न्याय प्रदान करते हैं। जरासंघ अपने ढंग से अधर्मी है, पर उसका अपना एक धर्म है। वह विचित्र ढंग से व्यवहार करते हुए ब्राह्मणों को देखकर उन पर टूट नहीं पड़ता था, उन्हे पकड़ नहीं लेता था। वह तो कहता है—

सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते

(सभा० १९; ४०)

आप सच कहें; आप ब्राह्मण नहीं हैं, राजवंशी लगते हैं और राजकुलवालों को तो सत्य बोलना ही शोभा देता है। सत्य ही जरासंघ का बल है। कृष्ण जरासंघ द्वारा बंदी बनाये राजसी पुरुषों का उल्लेख करते हैं, तब

जरासंध टालमटोल नहो करता; वह कहता है—'हाँ, मैंने उन पर विजय प्राप्त की है, और उन्हें बंदी बनाया है। भला कोई हारे बिना बंदी बन सकता है क्या ?'

प्राणयुद्ध का आह्वान मिलता है, तब भी जरासंध अन्यायी आचरण नहीं करता। उन तीनों में से अपने साथ लड़ने के लिए स्पष्ट दिखाई पड़ रहे, सबसे अधिक बलवान, भीम का चयन करता है। पुनः इस संदर्भ में कवि जरासंध में अहंकार नहीं स्थापित करता। 'मैं जीतूगा ही' जैसा भाव उसके अंदर नहीं है। 'वह हार भी सकता है' यह संभावना उसने अनगिनी नहीं रक्खी है। इसीसे वह कहता है:

'भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम्'
(सभा० २१; ७)

भीम, मैं तेरे साथ युद्ध करूँगा, क्योंकि श्रेष्ठ से हारने में भी गौरव है।

युधिष्ठिर ने जो कल्पना की थी, उसीके अनुरूप भीम जरासंध का वध करता है। बाद में प्रचलित कथाओं की कपट युक्तियाँ महाभारत में नहीं हैं। भीम-जरासंध के युद्ध के पंद्रहवें दिन कृष्ण भीम को प्रोत्साहित करते हैं और शत्रु को बहुत परेशान न करने को कहते हैं। तब भीम जरासंध को मृत्यु की शरण में पहुँचा देता है। इसी के साथ राजाओं की मुक्ति भी कृष्ण साध लेते हैं, और राजसूय यज्ञ भी होता है।

कृष्ण के विवादास्पद कार्यों में जरासंध का वध भी एक है। कृष्ण की जरासंध के साथ पुरानी दुश्मनी है। उस बैर का बदला लेने के लिये कृष्ण ने निमित्त खोजा ? पर यह संदेह उठने के साथ ही उत्तर मिलता है कि नहीं, यदि राजसूय यज्ञ होता है, तो अपने को सम्राट मानने वाला जरासंध उसमें विघ्न बने बिना नहीं रहता।

कृष्ण जरासंध के पास जाकर नरमेध बंद करने अन्यथा भीम के साथ प्राणयुद्ध करने को ललकारते हैं : 'धर्म की रक्षा करने में समर्थ हम (भीम, अर्जुन और कृष्ण) धर्मा-चारी हैं; यज्ञ में मनुष्य को बलि के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है; हम 'मुमुक्षमाणाः' हैं (सभा० २०, २३) (राजाओं को कारावास से मुक्त कराने के इच्छुक हैं।')

कृष्ण की निश्चय ही जरासंध से गहरी दुश्मनी है। पर जरासंध समाज का अपार अहित करने वाले कार्य—यज्ञ में राजाओं को नरबलि के लिये प्रस्तुत करने का कार्य करने के लिये तैयार हुआ है। तब उसके सामने आये कृष्ण पुराने बैर से प्रेरित नहीं होते।

राजसूय यज्ञ में उपस्थित आचार्य, ऋत्विज, सगे-संबन्धी, स्नातक, मित्र और नरेश ऐसे छ वर्गों की पूजा का अर्घ्य प्रदान करना है। इसमें अग्रपूजा (प्रथम पूजा) किसकी करनी चाहिये इस प्रश्न का उत्तर भीष्म देते हैं। वे कहते हैं–

असूर्यमिवसूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदोहिनः ॥
(सभा० ३३; २९)

कृष्ण के कारण ही यहाँ प्रकाश है, कृष्ण के कारण ही यहाँ सुवास है; कृष्ण की उपस्थिति से ही यह सभा प्रकाश-मान और आह्लादित लगती है। प्रकाशपुंज में जो स्थान सूर्य का है, वही स्थान पराक्रमी नरवीरों के बीच कृष्ण का है' ऐसा कहकर भीष्म कृष्ण की अग्रपूजा करने की सलाह देते हैं।

इस अग्रपूजा का शिशुपाल द्वारा विरोध, भीष्म द्वारा शिशुपाल को दिया जवाब आदि सुविदित हैं। पर शिशुपाल कृष्ण की अग्रपूजा से कितना कुपित हुआ था इसका एक संकेत देने के लिये उसने कृष्ण द्वारा किये सौ अपराधों में से एक बानगी अपराध—बानगी अपवचन से पहले सहज भाव से देख लें! शिशुपाल कहता है :—

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे ।
हविषः प्राप्य निष्यन्दं प्राशितुं श्वेव निर्जने ॥
(सभा० ३४; १९)

एकांत स्थल पर पड़े यज्ञ के हवि को खा जाते कुत्ते की भाँति तू पूजा के लिये आयोग्य होने केबावजूद पूजा का भाग प्राप्त करके अपने आपको बहुत बड़ा मानने लगा है।

कृष्ण ये सब बातें सुन लेते हैं—भीष्म के शब्दों में वृष्णि सिंह सो रहा है, तब तक भले ही कुत्ते भूँक लें।

शिशुपाल कृष्ण को श्वान कहता है, भीष्म शिशुपाल को श्वान कहते हैं, पर कृष्ण ऐसे किसी गाली-गलौज में नहीं उतरते। वे तो कार्य करने में विश्वास करते हैं, और वह क्षण जब आता है, तब शिशुपाल का मस्तक काट लेने में तनिक भी ऊहापोह का अनुभव नहीं करते।

कृष्ण न होते तो पाण्डवों का राजसूय यज्ञ सफल न होता। पाण्डव सभी अवसरों पर कृष्ण की सलाह लेते हैं, केवल जब विदुर द्यूत खेलने का निमन्त्रण लेकर आते हैं, उस समय उन्हें कृष्ण याद नहीं आते।

राजसूय यज्ञ में दुर्योधन राजाओं द्वारा लाये उपहार स्वीकार करने का कार्य कर रहा था। युधिष्ठिर की समृद्धि देखकर उसकी ईर्ष्या भभक उठी है। वह तो जैसे भी हो युधिष्ठिर की यह सम्पत्ति हरण करना चाहता है। इसी से अपने पिता धृतराष्ट्र के पास जाकर कहता है :

अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्तुमक्षवित्।
द्यूतेन पांडपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि॥

(सभा० ४५; ४०)

हे राजन्, मामा द्यूत खेलकर पांडु पुत्रों की सम्पत्ति का हरण करना चाहते हैं, इसके लिये आप आज्ञा प्रदान करें।

धृतराष्ट्र महाभारत का ही नहीं, सृष्टि के समग्र साहित्यों का उत्तम से भी अधिक उत्तम खलपात्र है। वह ऐसी स्पष्ट इच्छा के साथ खेले जाने वाले द्यूत के लिए सहमति प्रदान करता है, तब वह धर्माचरण नहीं करता।

धृतराष्ट्र दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न करता है; पर दुर्योधन तो किसी भी प्रकार से शत्रुनाश अर्थात् पाण्डवों का नाश चाहता है; वह कहता है कि जिससे शत्रु बस में आये उसे फिर वह गुप्त तरकीब हो या प्रकट, शास्त्र शस्त्र कहते हैं; जो काटता है वह शस्त्र नहीं है।

'न शस्त्रछेदनं स्मृतं' (सभा० ५०; १७) और फिर दुर्योधन एक परम संकल्प व्यक्त करता है। वह कहता है :

असंतोषः श्रियोमूलं तस्मात्तं कामयाम्यहम्।

(सभा० ५०; १८)

असंतोष ही 'श्री' का मूल है; इस हेतु मैं असंतोष की कामना करता हूं।

दुर्योधन ने अपने पास जो कुछ है उसी पर सन्तोष किया होता तो महाभारत का युद्ध हुआ ही न होता। पर वह तो असन्तोष की कामना करता है।

यह असन्तोष की इच्छा केवल दुर्योधन का ही लक्षण नहीं है। व्यास भगवान मानव के समस्त लक्षणों को इस ग्रन्थ में गिना देते हैं। यह असन्तोष क्या सत्ता और लक्ष्मी के पीछे भटकते मानव-मात्र में नहीं दिखता? मानव-मात्र में एक दुर्योधन बसता है जो कहता है कि नसन्तोष ही 'श्री' का मूल है, और इस कारण मैं असन्तोष की कामना करता हूं।

(अनु० भानुशंकर मेहता)

●

विश्वास—हातिम हाशिम परदेश जाने लगे, तो अपनी पत्नी से पूछा "तुम्हारे लिये खाने-पीने का सामान कितना रख जाऊं?"

"जितनी मेरी आयु हो।" यह कहकर उनकी पत्नी हंस दी।

"तुम्हारी आयु जानना मेरे बस की बात नहीं।" हातिम ने कहा।

"तो फिर मेरे खाने का प्रबंध भी आपके बस से बाहर है। यह काम जिसका है उसी को करने दें।"

पत्नी के विश्वास पर खुश होकर हातिम परदेश चले गये। पड़ोस की एक वृद्धा ने उसकी पत्नी से पूछा।

"बेटी, हातिम तुम्हारे लिये क्या प्रबंध कर गये हैं।"

हातिम की पत्नी हस दी; और बोली; "माँ, मेरे पति क्या प्रबंध करेंगे, वे तो खाने वाले थे। खाना देने वाला तो अब भी यहीं पर मौजूद है।" वृद्धा खामोश होकर चली गई।

●

शक्ति की महिमा

स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती

•

माँ परामबा आदिशक्ति की महिमा की चर्चा, टूटे-फूटे शब्दों में उन्हीं की प्रेरणा से कर रहा हूँ, त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। निखिल ब्रह्माण्ड उसी पराम्बा आदि-शक्ति पर आधारित है। वह अविनाशी, अजन्मा और अनन्त तेज:पुंज है। शक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए, सन्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने लिखा है—

जासु अंश उपजहिं गुण खानी,
अगनित उमा रमा ब्रह्माणी।

इसी शक्ति के अंश से अगणित पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती एवं शारदा का आविर्भाव हुआ है, फिर उस शक्ति की महिमा का विवेचन करना सम्भव नहीं। इसी से तो यहाँ उस महिमा की चर्चा मात्र कर हम अपने को धन्य मानते

स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती

हैं। जब-जब धर्म पर असुरों का आक्रमण होता है और धर्मप्राण व्यक्ति अपने को असहाय पाता है, तब आदि शक्ति विभिन्न रूपों में प्रकट होकर आसुरी शक्तियों का दमन करती है और धर्म की पुनर्स्थापना करती है—

इत्थं यदा यदा बाधा दावनोत्था भविष्यति।
तदा तदाऽवतीर्याहं करिष्यामरिसंक्षयम्।

जब धरा रावण के अत्याचारों से विकम्पित हो उठी, तब जगज्जननी जगदम्बा सीता के रूप में अवतरित हुई। कहा है—

भृकुटि विलास जासु लय होई,
राम बाम दिसि सीता सोई।

जनकपुर में पुराने शिवधनुष को उठाकर, माँ सीता ने उस स्थल पर एकत्र घास-पतवार को साफ किया, इसे देखकर राजा जनक स्तम्भित रह गये। शिवधनुष इतना भारी था कि कोई एक व्यक्ति उसे हिला नहीं सकता था। तत्काल राजा जनक ने प्रतिज्ञा की जो इस शिवधनुष को उठा कर इसकी प्रत्यंचा चढ़ा देगा, कुमारी जानकी उसी का वरण करेगी। यह शक्ति की ही महिमा थी कि स्वयं विष्णु भगवान् राम के रूप में अयोध्या में अवतरित हो चुके थे, देश-देशान्तर के योद्धा, राजे-महाराजे, असुर कोई भी उस धनुष को रंचमात्र भी हिला नहीं सका। धनुष धरती की शक्ति से बँधा था। यही कारण है—

भूप सहसदस एकहिं बारा,
लगे उठावन टरहि न टारा।
रह्यो चढ़ावन तोरन भाई,
तिल भर भूमि न सक्यो छुड़ाई।

किन्तु जब भगवान् राम धनुष के पास जाते हैं तब शेषावतार लक्ष्मण जी क्या कहते हैं—तुलसीदास जी के शब्दों में—

लखनं लखेउ रघुवंशमणि, ताकेउ हर कोदण्ड।
पुलकिगात बोले बचन, चरण चापि ब्रह्माण्ड।

दिसि कुंजरहु कमठ अहिकोला,
धरहु धरनि धरि धीर न डोला।
राम चहहिं शंकर धनु तोरा,
सजग होऊ सुनि आयसु मोरा।

सीता जी विनम्र प्रार्थना करती हैं—

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी,
होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी।

पृथ्वी की आकर्षण शक्ति पराम्बा माता भगवती के ही प्रसाद पर निर्भर है।

रावण की सभा में अंगद अपना पैर पृथ्वी पर जमा कर कहते हैं—

जौं मम चरन सकहिं सठ टारी,
फिरहिं राम सीता मैं हारी।

सारी आसुरी शक्ति मात खा जाती है। रावण जानता है कि यह पराम्बा शक्ति की महिमा है। वह सीता जी का हरण केवल राम के हाथों सद्गति पाने की कामना से ही करता है। तभी तो वह पराम्बा शक्तिसम्पन्न सीता जी के कृपा-कटाक्ष का आवाहन करता है,

तव अनुचरि करौं प्रण मोरा,
एक बार विलोक मम ओरा।

हनुमान की पूंछमें आग लगती है। पं० राधेश्याम जी ने अपनी रामायण में लिखा है—

बालों को खोले हुए सिया कहती थी, लज्जा जाय नहीं
हे अग्निदेव देखना जरा, अंजनीलाल पर कुछ आंच आये नहीं

रावण ही नहीं, कुम्भकर्ण भी परम्बा शक्ति का अनुभव कर रहा था, तभी तो उसने कहा—

सुनि दसकंधर वचन तब कुम्भकरन बिलखान,
जगदम्बा हरि आन अब सठ चाहसि कल्यान।

मेघनाद की पत्नी सुलोचना श्रीपराम्बा शक्ति की महिमा जानती है, तभी तो वह लक्ष्मण से कहती है कि मेरे पति के साथ तुम्हारी लड़ाई तो एक नाटक मात्र थी। तुम पराम्बा शक्ति की कृपा से मेरे पति को पराजित कर सके, अन्यथा मेरा पति तुमसे अधिक बलशाली था। पराम्बा शक्ति की महिमा उस समय देखने को मिलती है जब अंजनी के स्तन के एक बूंद दूध से पर्वत चूर-चूर हो जाता है। माँ सीता जब गर्भवती हुईं, तो उनके मन में विचार आया कि मेरा पुत्र राज-दरबार की बुराइयों से प्रभावित हो सकता है। राम ने इसे भाप लिया और उन्होंने माँ सीता को निष्कासित कर दिया। वाल्मीकि-आश्रम में लव-कुश का जन्म हुआ और पराम्बा शक्ति की कृपा से सम्पन्न बालक विश्वविजयी राम को पराभूत करने की शक्ति से मंडित हुए। कहा है—

हे शक्ति तेरी महिमा का पार कोई नहीं पाया है।
ऋषि मुनि आदि लोगों ने नेति-नेति कह गाया है।

राम जिस समय लव-कुश का सामना करने आये, लव-कुश ने कहा—

वह रावन वध वाली शक्ति अब चली गयी इन हाथों से,
सीता निष्कासन के साथ वह चली गयी इन हाथों से।

इसी समय माँ सीता वहाँ आती हैं और लव से कहती हैं कि क्या आज तुम्हारे ही हाथ से मुझे विधवा और प्रभाविहीन होना है। क्या पिता-पुत्र का युद्ध सृष्टि का विनाश करेगा। माँ परमशक्ति अपनी माया समेट कर पिता-पुत्र का मिलन कराती हैं।

कहा जाता है लंका-विजय के बाद राम के बाहु की पूजा की तैयारी होने लगी। सारी तैयारी पूरी की गयी। देश-देशान्तर के राजा-महाराजा और रण-बांकुरे एकत्र हुए। गुरु वशिष्ट पूजा के निमित्त आगे बढ़े। सीताजी मुस्करा दीं। राम सावधान हो गये। उन्होंने माँ सीता से मुस्कराहट का कारण पूछा। मां ने कहा—आप रावण को पराभूत कर बाहुपूजा करा रहे हैं जब कि अभी मणिपुर का राजा सहस्राक्ष रावण जिन्दा है। बाहुपूजा रुक जाती है। महावीर हनुमान को दूत बना कर मणिपुर भेजा जाता है। वे सहस्राक्ष से राम की अधीनता स्वीकार करने को कहते हैं। सहस्राक्ष अट्टहास करता है और कहता है कि राम से कहो मुझे युद्ध में पराजित करें। युद्ध प्रारम्भ होता है। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न सारी सेना के साथ धराशायी हो जाते हैं। माँ सीता को यह समाचार देने हनुमान जी जाते हैं, तभी माँ सीता वहाँ पहुँच कर सहस्राक्ष रावण का वध करती हैं। आकाश से अमृत की वर्षा होती है। राम और उनकी सेना जीवित हो उठती है। मां सीता सामने खड़ी देखती रहती हैं। राम अपने भाइयों और सेना को लेकर सीता जी के साथ

अयोध्या लौट आते हैं। भगवान् शंकर ने इस पराम्बा शक्ति की महिमा को समझा है तभी तो वे जगदम्बा पराम्बा शक्ति पार्वती को अपने में समाहित कर सर्वशक्तिमान् बन गये। दुर्गा सप्तशती के नवम अध्याय में अर्धनारीश्वर का ध्यान इसी का द्योतक है—

ॐ बन्धूककांचननिभं रुचिराक्षमालां
पाशांकुशौ च वरदां निजबाहुदण्डैः।
बिभ्राणमिन्दुशकला भरणं त्रिनेत्र
मर्धाम्बिकेशमनिशं वपुराश्रयामि॥

अध्यात्म रामयण के सर्ग १ के ३२,३३,३४ और ३५वें श्लोकों में सीता जी हनुमान से कहती हैं, 'तुम राम को अद्वितीय सच्चिदानन्द परब्रह्म समझो, वे, समस्त उपाधियों से रहित, सत्तामात्र, मन तथा इन्द्रियों से अविषय, आनन्दघन, निर्मल, शान्त, निर्विकार, निरंजन, सर्वव्यापक, स्वयंप्रकाश और पापहीन परमात्मा हैं।

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमव्ययम्।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्त सत्तामात्रगोचरम्॥ ३२॥
आनदं निर्मलं शान्तं निर्विकारनिरंजनम्।
सर्वव्यापिनमात्मानं स्वप्रकाशमकल्मषम्॥ ३३॥

अपनी पराम्बा शक्ति का परिचय देते हुए माँ सीता, हनुमान से कहती हैं, मुझे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करने वाली मूल प्रकृति जानो। मैं ही निरालस्य हो कर इनकी सन्निधिमात्र से इस विश्व की रचना किया करती हूँ। मेरी रचना को बुद्धिहीन लोग इनमें आरोपित कर लेते हैं, जो कि मात्र इसके सन्निधि मात्र से मेरे द्वारा की जाती है और इसी प्रकार अयोध्यापुरी में अत्यन्त पवित्र रघुकुल में इनका जन्म लेना भी है।

मां विद्धि मूलप्रकृतिं संर्गस्थित्यन्तकारिणीम्।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता॥ ३४॥
तत्सान्निध्यान्मया सृष्टं तस्मिन्नारोप्यते बुधैः।
अयोध्यानगरे जन्म रघुवंशेऽतिनिर्मले॥ ३५॥

कुम्भकर्ण और रावण का बध होने पर मन्दोदरी रावण से कहती है कि अब भी तुम सीता को लौटा कर मेरे सौभाग्य की रक्षा कर सकते हो। किन्तु रावण पराम्बा माँ भगवती सीता की शक्ति को जानता था। उसे विश्वास था कि राम माँ सीता के उद्धार हेतु लंका आयेंगे और तब उनके हाथों मारे जाने पर सारा राक्षस परिवार मोक्ष प्राप्त कर लेगा। वह मन्दोदरी से कहता है, "मैं राम को साक्षात् विष्णु और जानकी को भगवती लक्ष्मी जानता हूँ। यह जानते हुए कि राम के हाथ से मर कर परमपद प्राप्त करूंगा, मैंने माँ सीता का हरण किया। इस प्रकार मेरी भी वही गति होगी जो परमानन्दमयी विशुद्ध गति सुधी मुमुक्षुओं की होती है"—

जानामि राघवं विष्णुं लक्ष्मीं जानामि जानकीम्।
ज्ञात्वैव जानकी सीता मयानीता वनाद् बलात्॥ ५७॥
रामेण निधनं प्राप्य यास्यामोति परं पदम्।
विमुच्य त्वां तु संसाराद्गमिष्यमि सह प्रिये॥ ५८॥
परमानन्दमयी शुद्धा सेव्यते या मुमुक्षुभिः।
सा गतिं तु गमिष्यामि हतो रामेण संयुगे॥ ५९॥

निःस्वार्थ सेवा

हजरत मुहम्मद मस्जिद में नमाज पढ़ने के लिए जाया करते थे। रास्ते में एक बुढ़िया उनपर कूड़ा डालकर तंग किया करती थी। हजरत यह उपसर्ग शान्त भाव से सहकर खुदा से प्रार्थना करते कि वह उसे सद्बुद्धि दे। एक दिन मुहम्मद साहब ने देखा कि बुढ़िया ने कूड़ा नहीं डाला। वे उसके घर गये। मालूम हुआ कि वह बीमार है। वे अपना सब काम छोड़कर उसकी सेवा करने लगे। बुढ़िया ने जब उन्हे यूं सेवा करते देखा तो वह शर्म से पानी-पानी हो गयी और उनके धर्म में दीक्षित हो गई।

श्रमेव जयते

डॉ० वी० के० राव

भारतवासी अनादिकाल से श्रम के महत्व से परिचित रहे हैं। हमारे धर्म-ग्रन्थों ने भी श्रम के महत्व पर बल दिया है। मात्र आलोचना की दृष्टि से कुछ तथाकथित बुद्धिजीवी गान्धी जी को मशीन के उपयोग का विरोधी मान सकते हैं, पर बात ऐसी नहीं है। गान्धी जी, इस सत्य को मान्यता देते थे कि जगन्नियन्ता ने मानव की रचना इस उद्देश्य से की, कि वह अपनी जीविका के लिए श्रम पर निर्भर होगा। इसका कदापि यह अर्थ नहीं हो सकता कि गान्धी जी मशीनो उपकरणों के विरोधी थे। विज्ञान की प्रगति के साथ मानव ऐसे उपकरणों से युक्त हो सकता है जिनके द्वारा वह अपना भोज्य पदार्थ, केवल आदेश मात्र से एक कापालिक या जादूगर की तरह प्राप्त कर ले, पर उस समय वह सामान्य मानव जीवन की रंगीनियों से दूर हट कर कापालिक की दुनिया में प्रवेश कर लेगा।

गान्धी जी शारीरिक श्रम को मानव-जीवन का अभिशाप मानने को तैयार नहीं थे। वे तो कहते थे कि जगतीतल के रंगमंच पर यह श्रम ही मानव को वास्तविक अभिनेता की संज्ञा से विभूषित करने में सक्षम है। भगवद्‌गीता के तीसरे अध्याय में वर्णित यज्ञ गान्धी जी की श्रमेव ज़यते भावना का पोषक है। यों प्रथमतः गान्धी जी का श्रम की ओर झुकाव रस्किन, टालस्टाय और बाण्डरेफ की पुस्तकों के अध्ययन से प्रभावित हुआ। बाण्डरेफ ने रूसी कृषक समाज का सजीव चित्रण किया है और टालस्टाय ने उसकी इस विचारधारा की पुष्टि की है, कि मनुष्य को अपने श्रम से ही अपनी आजीविका का अर्जन करना चाहिए।

गान्धी जी ने तो श्रम की सामाजिक उपयोगिता को न केवल पुनर्स्थापित किया, प्रत्युत उन्होंने उसे आध्यात्मिक विकास के सहज साधन के रूप में आम जनता के सामने रखा। गान्धी जी के अनुसार वही व्यक्ति जीवित रहने का अधिकारी है जो सामाजोत्थान और भगवद् प्राप्ति की भावना से श्रम और नियमन करता हो। गान्धी जी के अनुसार शारीरिक श्रम अपने अन्तर के देवत्व को सन्तुष्ट रखकर मनुष्य को समाज-सेवा के लिए प्रेरित करता है। केवल श्रमशील व्यक्ति ही सच्चा अहिंसक हो सकता है। स्वभावतः ऐसा व्यक्ति सत्यनिष्ठ होगा और ब्रह्मचर्य का पालन करने का अधिकारी होगा।

गान्धीजी शारीरिक श्रम को कृषि-कार्यों तक ही सीमित न रखकर, इसकी परिधि में, सूत कातना, चर्खा-करघा चलाना, बढ़ईगिरी करना, प्रभृति कार्यों को भी रखना चाहते हैं। वे तो हर व्यक्ति को अपने कार्यों के लिए मेहतर का कार्य करने के हिमायती थे। वे मानव समाज को शारीरिक श्रम करने वालों और बुद्धिजीवियों को दो वर्गों में विभक्त करने वालों का खुला परिहास करते थे। वे तथाकथित बुद्धि-जीवियों द्वारा स्वास्थ्य ठीक रखने और अपच से मुक्ति पाने के लिए कृत्रिम व्यायाम का भी मखौल उड़ाते थे। वे स्वीकार करते थे कि कोई व्यक्ति मात्र अध्ययन करने, लेख लिखने और भाषण देने से अपने मस्तिष्क का विकास नहीं कर सकता।

गांधी जी प्रायः व्यंग्य के रूप में कहते थे, 'मैंने महीनों तक आठ-आठ घंटे प्रतिदिन के औसत से शारीरिक श्रम किया है, पर इसका कभी भी मेरे मानसिक सन्तुलन पर कुप्रभाव नहीं पड़ा। मैंने प्रायः एक दिन में चालीस मील की पदयात्रा की है, पर इससे न तो मैं थका, न ही किसी प्रकार के आलस्य का अनुभव किया।' फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। वास्तविकता तो यह है कि शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम दोनों एक-दूसरे के परिपूरक और पोषक हैं। इन दोनों प्रकार के श्रम-साधकों में निश्चय ही

गांधी जी अद्वितीय थे, क्योंकि वे जो कुछ कहते थे उसे स्वयं अपने जीवन में चरितार्थ करते थे। सम्भवतः गांधी जी द्वारा प्रतिपादित शारीरिक श्रम के कारण ही कुछ आलोचक उन्हें मध्यकालीन संन्यासी की संज्ञा देने लगे थे और यह प्रचार भी करने लगे थे कि गांधी जी प्रगति की गति को पीछे ढकेल रहे हैं।

निःसन्देह गांधी जी एक मध्यकालीन हिन्दू समाज में पैदा हुए थे, और अपने जीवन-काल के समाज की कुरीतियों और कुंठाओं से वे दुखी थे। उन्होंने सामाजिक रूढियों और कुरीतियों के विरुद्ध न केवल अपनी आवाज बुलन्द की, प्रत्युत एक सजग कार्यकर्ता के रूप में उन्होंने स्वयं मेहतर तक का काम करके समाज के सामने यह उदाहरण प्रस्तुत किया कि स्वच्छता, आराधना और समाज-सुधार की दिशा में किया गया हर श्रम पवित्र और अनुकरणीय है। इस प्रकार सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध खुले जेहाद की घोषणा करने वालों में गांधी जी अग्रणी थे। आज का भारतीय समाज और आने वाली पीढ़ियाँ गांधी जी के इस प्रेरणास्पद कार्य के लिए उनकी ऋणी रहेंगी।

तत्कालीन हिन्दू-समाज में शारीरिक श्रम वंश-परम्परा के अनुसार केवल शूद्रों के लिए था और मेहतर का घिनौना कार्य तो एक पाँचवी जाति के लोगों के जिम्मे दिया गया था, जो अन्त्यज, अछूत और असभ्य गिने जाते थे। इस प्रकार सारा हिन्दू-समाज मानव-सम्मान और संस्कृति का तिरस्कार कर मनुष्य-मनुष्य में भेद करने का दोषी बन गया था। गांधी जी की मानवता से ओतप्रोत भावना को इस आडम्बरपूर्ण सामाजिक बुराई से गहरी ठेस लगी। कभी-कभी तो भारतीय धर्मग्रन्थों द्वारा वर्णित हिन्दू धर्म से उनकी आस्था डिगने लगी थी, किन्तु उन्होंने बड़े ही धैर्यपूर्वक भारतीय समाज की इन विडम्बनाओं को झक्झोरा और उसे परिष्कृत करने में उन्हें सफलता भी मिली। आम जनता का झुकाव उनकी ओर बढ़ता गया और धीरे-धीरे लोग भारतीय संस्कृति की ओर पुनः आकृष्ट हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी ने श्रम की महत्ता पुनः स्थापित कर भारतीय समाज को एक नई दिशा दी। छूआछूत का अभिशाप दूर हुआ और भू-भारती की विशृंखलित कड़ियाँ पुनः एक जुट होकर देश के नवनिर्माण में लग गयीं। गांधी जी एक प्रखर समाज-सुधारक के रूप में आगे आये और उन्होंने भारतीय समाज को आधुनिकता की वह धरोहर दी जिससे भारतीय समाज मानवीय मूल्यों के प्रति आकृष्ट हुआ। गांधी जी ने श्रम की महत्ता को सामाजिक प्रतिष्ठा देने में सफलता प्राप्त की और इसी मंत्र 'श्रमेव जयते' के द्वारा ऊँच-नीच की भावना को समाज से बाहर निकाल कर, भारतीयों में ऐक्य की भावना का संचार किया।

•

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बड़े ही उदारमना व्यक्ति थे।
गरीबों की सहायता में उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लुटा दी।
यहां तक कि, इस मुक्त-हस्तता से उन पर काफी कर्ज भी हो गया था।
एक बार महाराजा बनारस ने सहज स्नेहवश कहा— 'बबुआ।
तुमने दौलत का सत्यानाश कर डाला।'
हाजिर जवाब भारतेन्दु के होठों की मुस्कान प्रखर हो उठी—'महाराज।
इस दौलत ने मेरे दादा को खाया, मेरे बाप को खा लिया और अब मुझे भी खा जाना चाहती थी।
मैंने सोचा—इससे तो अच्छा है कि, मैं ही इसे खा डालूं।'

—संस्मरण से

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

नवम्बर, १९८३

•

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल दाल, साग आदि १२५०) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के ब्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

स्थायी भण्डारा

श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता पक्का ४-११-८३

श्रीमती चन्द्रलेखा कटारुका, मधुपुर कच्चा ११-११-८३

श्रीमती हरदेई देवी, वाराणसी पक्का १४-११-८३

अस्थायी भण्डारा

श्री बद्रीशरण सिंह, बलिया कच्चा ९-११-८३

स्व० श्री स्वामी माधवानन्दतीर्थ आराधना (उत्तर काशी) कच्चा १७-११-८३

श्री रिखबदास बाहेती, बम्बई पक्का १८-११-८३

श्री स्वामी गोपेश्वरानन्दतीर्थ, मुमुक्षु भवन, वाराणसी कच्चा १९-११-८३

श्री श्यामस्वरूप ब्रह्मचारी मुमुक्षु भवन, वाराणसी कच्चा २०-११-८३

श्री रिखबदास बाहेती, बम्बई कच्चा २१-११-८३

श्री रामाबाबू, देवरिया कच्चा २२-११-८३

श्रीमती सम्पत्ति बाई, राजस्थान ,, २९-११-८३

श्री हनुमानप्रसाद मुरारका, वाराणसी पक्का ३०-११-८३

श्री मारवाड़ी सेवा संघ द्वारा फल वितरण

अन्न क्षेत्र

श्री गुरुदेव मानव ट्रस्ट, दिल्ली ३०००)

श्री सत्यनारायण रुँगटा, कलकत्ता ३००)

श्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, मुमुक्षु भवन, वाराणसी ४५०)

मेसर्स शालीमार वायर्स, कलकत्ता १५००)

श्री राधाकृष्ण झुनझुनवाला, कलकत्ता ९००)

भवन निर्माण

श्री हरनारायण कागजी ट्रस्ट, बम्बई २५,०००)

भण्डारा स्थायी कोष

श्रीमती सुमन बंका, बम्बई १२५०)

उत्तर काशी अन्नक्षेत्र

श्री कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता (अग०, सित०) २५०)

श्री जगन्नाथ रामनाथ कानोडिया, कलकत्ता ७५०)

होम्योपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
३०१	१५१५	१८१६

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
८९	४८१	५७०

•

भक्तिदर्शनामृत

प्रवचन—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती
संकलन : श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी
प्रकाशक—आर्यधर्म सेवा संघ, नई दिल्ली

मूल्य : बीस रुपया

आर्यधर्म के प्रबल समर्थक, धर्मप्राण श्री लक्ष्मीनिवास जी बिरला ने नई दिल्ली स्थित श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर की वाटिका में संवत् २०३९ के आश्विन मास के शुक्ल पक्ष में भक्तिदर्शन पर प्रवचन का आयोजन किया था। इसके पूर्व अनेक वर्षों से श्री बिरलाजी लोकहित की कामना से ऐसे धार्मिक प्रवचनों का आयोजन करते रहे हैं। प्रवचनकर्त्ता के रूप में अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती की ललितललाम पांडित्यपूर्ण वाणी में श्रोता धार्मिक ग्रंथों के विवेचन का रसास्वादन करते रहे हैं। स्वामी जी के प्रवचन 'गीता में मानव धर्म और भक्तिज्ञानसमन्वय', 'भागवतामृत', 'वाल्मीकि रामायणामृत' एवं 'प्रार्थना षट्पदी' प्रभृति अब तक प्रकाशित होकर सुधी पाठकों तक पहुँच चुके हैं और उन्हें पर्याप्त ख्याति मिली है। अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती की ओजस्विनी वाणी में ऐसी अलौकिक शक्ति है जो विषय के गूढ़ होते हुए भी उसे बोधगम्य और रुचिकर बना देती है।

प्रस्तुत प्रवचन 'भक्तिदर्शनामृत' जहाँ एक ओर शांडिल्य, अंगिरा, नारद, कपिल और शुकदेव आदि के भक्ति-दर्शनों का विशद विवेचन करता है, वहीं वह भक्ति के व्यावहारिक पक्ष को भी उजागर करता है। स्वामीजी के अनुसार भक्ति धर्म, सेवा, ज्ञान और योग सभी से विलक्षण है। भक्ति का रूप अमृतस्वरूप है, यह रसजन्य नहीं, स्वयं उल्लसित रस है। भक्ति के दो रूप 'अपराभक्ति' जिसमें सुखोपलब्धि होती है और 'पराभक्ति' जिसमें शान्ति होती है, अन्योन्याश्रित हैं। रस परमेश्वर है और रसात्मिका वृत्ति भक्ति है। भक्ति ही परम पुरुषार्थ है, यही कारण है कि भगवान की तरह वह स्वयंप्रकाश है।

स्वामी जी के शब्दों में 'ईश्वर को हृदय में अभिव्यक्ति देने वाली शक्ति का ही नाम भक्ति है। यह मानव जीवन का सम्बल है।' भक्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि 'आप एक बार अपने को भगवान् के सम्मुख कीजिए तो सही। फिर देखिये भगवान् का चमत्कार भक्ति का जादू। हमारे जीवन में, हमारी रग-रग में, हमारे रोम-रोम में, कण-कण में, क्षण-क्षण में, एक-एक कर्म में और सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच में व्याप्त परमेश्वर को बाहर निकाल कर प्रकट कर देने वाली जो शक्ति है, उसको 'भक्ति' कहते हैं। इसके अभाव में जीव निर्बल है, मृतप्राय है, असफल है, दुखी है, अज्ञानी है और भटक रहा है।' भक्ति की यही विशेषता है कि वह दृश्य दिखाने वाले को दिखा देती है।

एतस्मात् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

(मुण्डक)

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती की यह विशेषता है कि वे श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देते हैं। उनका कहना है कि प्रभु को पहचानने के लिए शरणागत होना होगा—'श्रीकृष्णः शरणं मम, श्री रामः शरणं मम' अथवा 'नारायणः शरणं मम' का उद्घोष करना होगा। स्वामी जी मानव जीवन में अनुशासन की महत्ता प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं। भगवान् की सच्ची भक्ति यही है कि वह जिस दृष्टि से सृष्टि को देखता है, उसी दृष्टि से हम भी सृष्टि को देखें। अस्तु, भगवान् ने कहा, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' स्वामी जी के ये पन्द्रह प्रवचन 'भक्तिदर्शनामृत' नाम से प्रकाशित होकर सुविज्ञ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत हैं। हमें विश्वास है कि पाठक इससे अपने ज्ञान और रुचि का संवर्द्धन और परिमार्जन तो करेंगे ही, साथ ही वे 'भक्ति' का सांगोपांग अवगाहन भी कर सकेंगे। क्योंकि भक्ति से अनन्यता आती है। भक्ति ही ऐसी रसात्मक वस्तु है, जो अविद्या की निवृत्ति के अनन्तर ब्रह्मात्मैक्यबोध और तत्वज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् भी भक्त का साथ नहीं छोड़ती।

Regd No. LRN 169 Reg. No. RN. 40196/82

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यता प्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२०१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी हैं। हर फ्लैट में तीन कमरे, रसोई, स्नान घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन बिताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

मुमुक्षु

दिसम्बर १९८३

आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ३ : अंक ३
मार्गशीर्ष सं० २०४०
दिसम्बर १९८३

●

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

●

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

यज्ञ, दान और तप	स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती	१
वेदान्त : एक परिचर्चा	स्वामी मुख्यानन्द	५
दु:ख परम सहायक	श्री मथुरा सिंह	९
संत एकनाथ		१०
भगवान राम के दर्शन	श्री रतनलाल जोशी	११
धर्म का अधिकार	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१३
रघुवंशियों की राजधानी अयोध्या	कम्बन 'कम्ब'	१६
आशीर्वाद के मोती	लोक-कथा	१७
तमिल वेद 'तिरुकुरल'	श्री रामलखन मिश्र	१९
चीर-हरण प्रसंग	श्री हरीन्द्र दवे	२२

●

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों की फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी हैं। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज कर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी
वाराणसी—५

●

मुमुक्षु

वर्ष : ३] दिसम्बर १९८३ [अंक : ३

यज्ञ, दान और तप

श्रीस्वामी अखण्डानन्दजी महाराज

●

गताङ्क से आगे

अपने अन्तःकरण में इसके लिए विवेक की, चिन्तन की आवश्यकता होती है। भारवि के शब्दों में—वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलब्धाः स्वयमेव सम्पदः। जो विचार करके काम करता है, उसके गुण पर लुभा कर सम्पति स्वयं उसकी सेवा में आती है।

तो आपका स्वार्थ कैसा है ? स्वार्थ भी केवल शारीरिक नहीं होता। स्वार्थ में भी पारिवारिक स्वार्थ होता है, जातीय स्वार्थ होता है, मजहबी-स्वार्थ होता है। ये सब स्वार्थ एक अंश में तो धर्म के अनुकूल होते हैं और एक अंश में धर्म को बिगाड़ने वाले होते हैं। जाति इसलिए बनायी गयी कि हम उसकी मर्यादा में रहेंगे। भगवान् की बनायी हुई जाति तो विलक्षण है। पशुओं में गाय अलग, भैंस अलग, घोड़ा अलग, हाथी अलग। पशुओं की जाति प्राकृतिक जाति है। पक्षियों में यह कौआ है, यह बगुला है, यह हंस है, यह कोयला है-यह प्राकृत जाति है। वृक्षों में यह आम है, यह इमली है, यह आँवला है-यह प्राकृत जाति है। प्राकृतिक जाति उसको बोलते हैं जो शक्ल देख कर पहचान में आ जाय। दूसरी होती है वार्णिक जाति। वर्णन से जिसका बोध होता है, वह वार्णिक जाति है। जैसे मानव-जाति। जिसमें वर्णनामूलक भेद हैं, वर्णन करके जो भेद पैदा होते हैं, वे दूसरे होते हैं।

हमें यह देखना चाहिए कि अपने सुख-स्वार्थ के लिए हम जो काम करते हैं, वे किसके लिए करते हैं ? मज़हब के लिए करते हैं ? जाति के लिए करते हैं ? गाँव के लिए करते हैं ? १०-२० वर्षों के लिए करते हैं ? ये सब बातें विचारणीय होती हैं। क्या हम काम प्रतिक्रियावश करते हैं, लोभवश करते हैं, भयवश करते हैं ? इन सब बातों पर भी विचार करना पड़ता है। यह कह देने मात्र
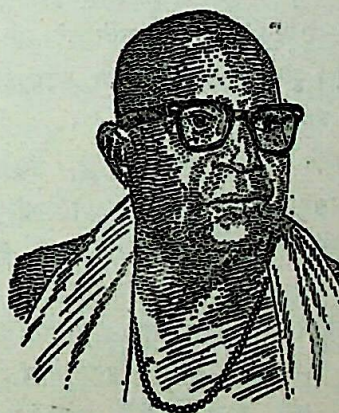
श्री स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज

से कर्म का निर्णय नहीं होता कि नहीं जी, हम सकाम नहीं, हम तो निष्काम कर्म करते हैं। यह एक विडम्बना ही है। जिन लोगों के हर साल बच्चे पैदा होते हैं और जो लोग जहाँ-तहाँ से पैसा इकट्ठा करके अपने घर भरते रहते हैं—वे लोग भी दावा करते हैं हम निष्काम कर्म करते हैं।

इसलिए पहले दूकान पर धर्म आने दो, घर में धर्म आने दो, समझ में धर्म आने दो। निष्कामता बहुत ईमानदारी से होनी चाहिए। जो लोग झूठ बोलनेवाले हैं, चोरी करनेवाले हैं, दूसरे को दुःख पहुँचाने वाले हैं, उनमें निष्काम भाव नहीं होता, निष्कामता की विडम्बना ही होती है। किसी से यह कहना कि आप हमारे यहाँ काम करना चाहते हैं तो निष्काम भाव से करना पड़ेगा। २४ घंटों में १२ घंटे काम करना पड़ेगा। वेतन भी कम से-कम लेना पड़ेगा। बोलिये कितना कम ले सकते हैं और अधिक से अधिक कितना काम कर सकते हैं? यह काम लेने वाले का स्वार्थ हुआ। वह काम करने वाले से अधिक काम लेना चाहता है, अधिक समय लेना चाहता है और उसको वेतन देना चाहता है कम-से-कम। ऐसे मालिक स्वार्थी हैं, भगवान् उनको सद्बुद्धि दें। उचित यो यह है कि चाहे कोई भी काम हो, भले ही लोक-कल्याण का काम करवाते हों, लेकिन उसके लिए भी किसी से बेगार मत लीजिए। यह मत कहिए कि हम परोपकार का काम करवा रहे हैं, इसलिए आओ कुछ लेना नहीं। यह अन्याय है। जो काम करे, उसे उसका हक देना चाहिए। दूसरे से परोपकार का काम भी जबरदस्ती नहीं कराया जाता।

काम करने में जो निष्कामता है, उसके कुछ प्रकार होते हैं। प्रथमतः करने वाले में ही कर्तव्य-बुद्धि होनी चाहिए कि यह मेरा कर्तव्य है। यदि काम करने वाले में कर्तव्य-बुद्धि नहीं है तो उसको यह समझाना कि भाई, यह तो लोक-कल्याण का काम है—तुम निष्काम भाव से करो, इससे कोई लाभ नहीं होगा। उसमें स्वयं होनी चाहिए कर्तव्य-बुद्धि और होना चाहिए अपने अन्तःकरण की शुद्धि का भाव कि यह काम करने से हमारा अन्तःकरण, हमारा हृदय शुद्ध होता है। वस्तुतः कर्म एक प्रक्षालन-क्रिया है। जैसे अपने कपड़े में कोई मैल लग गयी हो, शरीर में कोई मैल लग गयी हो तो उसको हम धोकर छुड़ाते हैं, वैसे ही कर्म से भी शुद्धि होती है। कभी-कभी तो संस्कार के जो कर्म हैं, वे ही मैल बन जाते हैं। यदि आप शास्त्रीय पद्धति को देखें तो मुण्डन-संस्कार होने पर चोटी रखवाते हैं और यज्ञोपवीत-संस्कार होने पर जनेऊ पहनाते हैं। यह क्या हुआ? बोले कि यह हमारी संस्कृति हुई। चोटी-जनेऊ रखने के बाद यह चीज खाना—यह मत खाना, यह काम करना—यह मत करना, इससे अपनी संस्कृति की प्रतिष्ठा हुई। परन्तु यह जो संस्कृति है, वह क्या आजीवन रहेगी? क्या मृत्यु-पर्यन्त आप चोटी और जनेऊ का धर्म पालन करते रहेंगे? एक न एक दिन संन्यास आयेगा, तब चोटी भी नहीं रहेगी, जनेऊ भी नहीं रहेगा और निवृत्ति-कर्म का पालन करना पड़ेगा। वह भी एक संस्कृति है। एक वह संस्कृति है, जिसने पहले अभक्ष्य-भक्षण से, अकर्म-दुष्कर्म से बचाया। दूसरी वह संस्कृति है, जिसने उस बन्धन से भी मुक्त करके अपवाद कर दिया। अब फिर वह स्वच्छन्द आचरण नहीं आयेगा, क्योंकि अभ्यास बिलकुल ठीक हो गया।

तो एक संस्कृति हुई विकृति को मिटाने के लिए और दूसरी संस्कृति हुई संस्कृति की मलिनता को मिटाने के लिए। संस्कृति माने यह नहीं कि जो चीज दो-चार सौ वर्षों से या हजार-दो हजार वर्षों से चली आई, वह संस्कृति बन गयी। जी नहीं, ऐसे संस्कृति नहीं बनती। हमारे अन्तःकरण में जो मलिनता है, उस मलिनता के निवारण के लिए जो क्रिया होती है, उसका नाम संस्कृति है। देखो, स्त्रियाँ अपने शरीर में स्नो लगाती हैं, पाउडर लगाती हैं—किसलिए? यह भी एक संस्कार है, एक शृङ्गार है। लेकिन बाद में उसको धो डालती हैं? क्यों? चाहें होंठ कितना भी रंगो, लेकिन यदि उसको धोवोगे नहीं तो वह स्वयं तुम्हारे होठ के लिए एक मलिनता बन जायगी। संस्कृति जड़-संस्कृति नहीं होती, चेतना के साक्षात्कार के लिए, चेतना के प्रकाश के लिए, अपने जीवन में उज्ज्वलता लाने के लिए संस्कृति होती है। उसको पकड़ कर जड़ हो जाने के लिए संस्कृति नहीं है। जैसे होठ पर लगाया हुआ लिपस्टिक तुम्हारे होठ को सफेद बना कर बिगाड़ देता है, स्नो-पाउडर तुम्हारे शरीर के साथ चिपक कर उसे गन्दा कर देता है। इसी प्रकार संस्कृतियाँ भी शाश्वत नहीं होतीं। जो केवल विकार के नाश के लिए हो, वह है संस्कृति। हमारे अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए ही संस्कृति होनी चाहिए।

अन्तःकरण की शुद्धि क्या है ? आप किसी भी वस्तु को शुद्ध कब कहते हैं ? मैंने किसी से कहा कि मुझे शुद्ध जल पिला दो। उसने कहा कि महाराज, इसमें थोड़ी शक्कर मिला दें ? नहीं, वह शुद्ध जल नहीं रहेगा। अच्छा इसमें नमक, नींबू डाल दें ? नहीं, वह भी शुद्ध जल नहीं रहेगा। मैं नमक-नींबू वाला जल नहीं चाहता, शक्कर वाला जल नहीं चाहता, मैं तो शुद्ध जल चाहता हूँ। कहने का मतलब यह कि जब कोई भी वस्तु अपने स्वरूप से शुद्ध होती है, खालिस होती है, तब उसको हम शुद्ध कहते हैं। शुद्ध का अर्थ होता है कि उसमें कोई मिश्रण न हो। जब हम अपने अन्तःकरण से संसार की किसी वस्तु को चाहने लगते हैं तो हमारे अन्तःकरण में वह वस्तु आ जाती है। उदाहरण के लिए जैसे स्त्री आती हैं पुरुष के मन में और पुरुष आता है स्त्री के मन में। लोभ की विकृति से धन का चिन्तन अधिक होता है। काम की विकृति से स्त्री-पुरुष का चिन्तन अधिक होता है। क्रोध की विकृति से शत्रु का चिन्तन अधिक होता है। जब काम-क्रोध-लोभ हमारे मन में होते हैं, तब स्त्री-पुरुष का, शत्रु का और धन का चिन्तन होने लगता है। मोह अधिक हो तो परिवार का चिन्तन बहुत होता है। अन्तःकरण शुद्धि का अर्थ यह होता है कि बाहर की जो वस्तुएँ आ-आकर हमारे अन्तःकरण में अपना आकार डालती रहती हैं, वे आकार न डालें। इसके लिए एक सालम्ब उपाय होता है और दूसरा निरालम्ब उपाय होता है। सालम्ब माने विवाह एक स्त्री से कर लिया तो विवाह-संस्कार हो गया। अब दूसरी स्त्री की ओर मन न जाय। धन के बारे में यह मर्यादा बना लो कि हम धर्मानुसार धन कमायेंगे तो यह आपका संस्कार हो गया। इसी तरह हम विद्याधन प्राप्त करेंगे, हम लौकिक धन प्राप्त करेंगे, हम वीर्य-धन प्राप्त करेंगे आदि-आदि। हम ये सब धन प्राप्त करेंगे तो यही हो गयी हमारी मर्यादा।

'यह मर्यादा क्या है ? जिसको मनुष्य स्वीकार करता है, उसका नाम है मर्यादा। जब मर्यादा आ गयी तो क्या हुआ ? दूसरे का सुख अलग हो गया, दूसरे का धन अलग हो गया, दूसरे का राज्य अलग हो गया। इसको हमने क्यों धारण किया ? हमारे मन में जो ये नाप-तौल के विकार आ गये थे, उन विकारों को मिटाने के लिए ही हमने संस्कार स्वीकार किया। संस्कार हमारे विकारों को तो मिटा देते हैं, पर ये स्वयं आकर हमारे हृदय में गड़ जाते हैं। इसलिए इनको भी निकल जाना चाहिए। जब विकार और संस्कार दोनों से हमारा अन्तःकरण शून्य हो जाता है, तब उस समय हमारा अन्तःकरण बिलकुल शुद्ध होता है। शुद्ध करने के लिए चाहिए कर्तव्यबुद्धि। वैसी ही कर्तव्यबुद्धि, जिससे हम माता की सेवा करते हैं, पिता की सेवा करते हैं, आदि-आदि।

माता जब अपने बच्चे की सेवा करती है, तब उस समय उसके मन में कामना का विकास नहीं होता। वह अपने बच्चे को अपने हृदय का टुकड़ा मान कर कर्तव्य-भाव से उसकी सेवा करती है। यह कर्तव्य पूर्ण सेवायज्ञ है। जो पति मर्यादा-अनुसार अपनी पत्नी के गर्भ में गर्भाधान करता है—वह यज्ञ है। इस सन्दर्भ में छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट रूप से वर्णन है कि गर्भाधान यज्ञ में कुण्ड क्या है, अग्नि क्या है, श्रुवा क्या है, यजमान क्या है। माता जो नौ महीनों तक अपने पेट में बच्चे का पालन-पोषण करती है, वह भी यज्ञ है। फिर बच्चे के पैदा होने पर वह जो उसे अपना दूध पिलाती है वह भी यज्ञ ही है। यदि उसको वह अपना दूध नहीं देगी तो उसके शरीर के साथ दूसरी वस्तु का तादात्म्य कैसे होगा। भला क्या गाय का दूध, बकरी का दूध ठीक बैठेगा ? डब्बे का दूध ठीक बैठेगा ? और तो और दूसरी माता का भी दूध ठीक बैठेगा--यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसलिए माता के द्वारा अपने शरीर के दूध से बच्चे के मुँह में जो आहुति दी जाती है और जिसे उसकी जठराग्नि पचाती है, उसका नाम भी यज्ञ ही होता है। यह यज्ञ जैसे माता अपने पुत्र के हित के लिए कर्तव्य-बुद्धि से और निष्काम भाव से करती है, जैसे एक पुत्र अपने माता-पिता की सेवा निःस्वार्थ हो कर, उनके वृद्ध होने पर भी अपनी कर्तव्य-बुद्धि से करता है—वही अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु होता है।

दूसरी बात यह है कि कोई किस उद्देश्य से अपना कर्म करता है ? क्या वह समझता है कि मैं जो कर रहा हूँ, उससे विश्वात्मा भगवान् तृप्त होंगे ? जैसे जब हम अग्नि में आहुति डालते हैं तब उस आहुति की सुगन्ध और उससे पवित्र हुई

वायु केवल हमारी ही नाक में प्रवेश करे--ऐसा संकल्प करके कोई हवन नहीं करता, वैसे ही आपका जो कर्म है, वह कर्म विश्वात्मा भगवान् की तृप्ति के लिए होना चाहिए। आप पृथ्वी को स्वच्छ रखें—यह यज्ञ है। जल को गन्दा न करें, उसकी पवित्रता की व्यवस्था करें– यह भी यज्ञ है। यह जो धुंआ उड़ता है—मोटर से, घर में रसोई बनाते समय और मशीनों द्वारा, और इससे जो वातावरण गन्दा होता है, इसकी शुद्धि के लिए भी आप प्रयास करें। वेदों में तो बहुत से मन्त्र हैं, जो वातावरण को शुद्ध करने के लिए हैं। उनमें कहा गया है कि पृथ्वी शुद्ध हो, जल शुद्ध हो, आकाश शुद्ध हो। इसी का नाम होता है यज्ञ। विश्वात्मा भगवान् जड़ में भी रहते हैं, चेतन में भी रहते हैं और चराचर में भी रहते हैं। उसकी तृप्ति के लिए जो कर्म होता है, उसका नाम होता है यज्ञ।

अब तीसरी बात देखिए। हमें सच्चा ज्ञान प्राप्त हो—इस जिज्ञासा से जो कर्म होता है, उससे भी अन्तःकरण की शुद्धि होती है। वह भी यज्ञ है। उसके द्वारा भी अपना अन्तःकरण शुद्ध किया जाता है, अपने मन में सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न की जाती है। उसके लिए मतभेद आवश्यक है। यदि भिन्न-भिन्न मत या विचार नहीं होंगे तो जिज्ञासा की उत्पत्ति ही नहीं होगी और हम सत्य को जानने का प्रयास ही नहीं करेंगे। यदि सब लोग एक ही बात कहें तो सत्य क्या है, इसका विवेक हमारे चित्त में पैदा नहीं होगा। अगर कम्प्यूटर ही आपको गिनती करके बता देगा तो आपकी बुद्धि को जो गणित का अभ्यास है; वह बिलकुल छूट जायेगा। फिर तो कोई पूछेगा कि दो और तीन कितना होता है, तो झट बटन दबाया और कम्प्यूटर ने बताया—पांच। फिर तो आपकी विवेकशक्ति का बिलकुल लोप हो जायेगा। अतः जीवन में विवेक बना रहे इसी के लिए इतने मत-मतान्तर हैं। एक मत कहता है कि ऐसे, दूसरा मत कहता है कि नहीं ऐसे और तीसरा मत कहता है कि नहीं-नहीं, ऐसे। इनमें से सच्चा क्या है, यह जिज्ञासु को जानना है। एक ने कहा—द्वैत, दूसरे ने कहा—अद्वैत; तीसरे ने कहा द्वैतविशिष्ट अद्वैत, चौथे ने कहा—अद्वैत विशिष्ट द्वैत और पाँचवे ने कहा—द्वैताद्वैत। फिर द्वैताद्वैत में औपाधिक द्वैताद्वैत, स्वाभाविक द्वैताद्वैत। इतने मत सामने रख दिये और बालक से कहा गया कि बताओ, इनमें शुद्ध हल क्या है? बालक की विवेक-शक्ति को जागृत करने के लिए ही नाना मत सामने रखे जाते हैं, जिससे कि वह मतातीत होकर अमृत पदार्थ को जान सके।

देखो, सम्प्रदायातीत में पहुँचने के लिए यदि सम्प्रदाय मदद करता है तो ठीक है, किन्तु यदि वह स्वयं में बाँध कर रखता है तो वह सम्प्रदाय बिलकुल गलत है। जाति यदि मानवता के साथ, ईश्वर के साथ मिलती तब तो ठीक है, अन्यथा यदि वह जाति में भेद पैदा करती हो तो बिलकुल गलत है। इस तरह सत्य के ज्ञान के लिए हमारे मन में आकांचा जागृत हो, उत्सुकता हो, व्याकुलता हो—इसके लिए हम जो कर्म करते हैं, वह कर्म हमारे जीवन के लिए धर्म होते हैं और वही यज्ञ बन जाते हैं। कर्तव्यपालन के लिए, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए, परमात्मा की सेवा के लिए, स्वयं कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए, ज्ञान-प्राप्त करने की जिज्ञासा के लिए और ज्ञान की प्राप्ति के लिए—ये सब प्रक्रियायें ब्रह्म-सिद्धि में कर्म के अनुष्ठान की बतायी गयी हैं।

यज्ञ केवल यज्ञशाला में ही नहीं होता। आपको मैंने कभी सुनाया होगा। एक बार मुझको मन्दिर के भगवान ने कहा कि तुम मुझे मन्दिर से बाहर निकाल लो और जन-जन में मेरी प्राण-प्रतिष्ठा कर दो। संसार के जितने भी प्राणी हैं, वे सब-के-सब मेरे मन्दिर हैं। इसीतरह यज्ञशाला के धर्म ने कहा कि मैं यज्ञशाला में रहकर बहुत धुंआ खा चुका हूँ। अब मुझको घर-घर में ले चलो। अब मैं परिवार में रहना चाहता हूँ। दूकान में रहना चाहता हूँ; मनुष्य के व्यवहार में चाहता हूँ। अब मैं यज्ञशाला में कैद हो कर नहीं रहूँगा। इसलिए भाई मेरे; इसका तात्पर्य समझिये। आपके भीतर जो जठराग्नि है, उसको प्रज्ज्वलित रखने के लिए जितना भोजन आवश्यक हो उतना ही पवित्र भोजन आप करते हैं तो यज्ञ करते हैं। यह हाथ आपका श्रुवा है। जठराग्नि आपके पेट में है। मुख द्वारा आप ग्रहण करते हैं।

(क्रमशः)

वेदान्त : एक परिचर्चा

स्वामी मुख्यानन्द

हिन्दू धर्म भारत में माने जानेवाले विभिन्न नामों से प्रचलित अनेक धर्मों का मूलाधार 'वेदान्त' में परिलक्षित होता है। जिस प्रकार विभिन्न भारतीय धर्म किसी न किसी प्रकार 'वेदान्त' से प्रेरणा लेते हैं उसी प्रकार विश्व के सभी धर्मों का मूलाधार 'वेदान्त' में पाया जाता है, क्योंकि वेदान्त साधारण भाषा में प्रचलित धर्म मात्र ही नहीं हैं, अपितु यह 'पूर्ण यथार्थ' की खोज का प्रेरणा-स्रोत भी है। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार यह एक आध्यात्मिक विज्ञान है जिसकी परिधि में सभी विज्ञान आते हैं। ब्रह्मविद्या; सर्वविद्या प्रतिष्ठा, आध्यात्मिक ज्ञान दर्शन, ब्रह्मविद्या, मूल्य-विज्ञान, भौतिक ज्ञान मीमांसा, संस्कृति विज्ञान, धर्मनीति शास्त्र विज्ञान एवं मनोविज्ञान सभी का मूलाधार है।

सामान्यतया 'वेदान्त' उस विचारधारा के लिए प्रयुक्त है जो वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद् से अनुप्राणित है। वेदों का प्रारम्भिक भाग कर्मकाण्डों एवं धर्मशास्त्र पर प्रकाश डालता है, किन्तु अन्तिम भाग मूलरूपता एवं तत्वार्थ पर प्रकाश डालता है जिसे 'ब्रह्म जिज्ञासा' की संज्ञा दी गयी है। वेदों का अन्तिम भाग 'वेदान्त' केवल दर्शनमात्र नहीं है, प्रत्युत यह ज्ञान की अन्तिम खोज प्रस्तुत करता है, जो आध्यात्मिक ज्ञान की उड़ान को परमतत्व तक पहुँचाने में सशक्त एवं सक्षम है। इसी परमतत्व से निखिल विश्व और इसके प्राणी जो हमारे वस्तुपरक अनुभव की परिधि में आते हैं तथा हमारी स्मृति और हमारा अभ्यन्तर अनुवेष्ठित है। वेदान्त कार्यकारण और वैयक्तिक अनुभूति के अतिरिक्त, केवल आध्यात्मिक ज्ञान को ही सत्वाधिकारी मानता है।

उपनिषदों में प्रश्न आता है कि वह कौन सी अलौकिक सत्ता है जिसका ज्ञान हो जाने से सारा भौतिक विश्व मनुष्य की ज्ञान-परिधि में आ जाता है। 'कस्मिन् न भगवो विज्ञाते, सर्वं इदं विज्ञातं भवति'—मुण्डक उपनिषद्। विज्ञान उस तत्व की खोज करता है जिससे विश्व का उद्भव हुआ है। अस्तु उसने पदार्थ का विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पदार्थ को शक्ति-कणों में परिवर्तित किया जा सकता है किन्तु वेदान्त केवल पदार्थ के विश्लेषण तक ही सीमित न रह कर सभी जीवधारी एवं बेजान तत्वों तथा हमारे बाह्य एवं आन्तरिक अनुभवों को अपने विश्लेषण की परिधि में लाया। इसने मानव-अनुभूति की समीक्षात्मक मीमांसा प्रस्तुत की। इसकी खोज की परिधि व्यापक थी और इसने उस तात्विक अनुभकर्त्ता की खोज में सफलता प्राप्त की, जो सर्वज्ञ है। उसने मूलतत्व और मूलप्रकृति का साक्षात्कार प्रस्तुत किया।

वेद एक विशिष्ट क्षेत्र में तर्क की महत्ता स्वीकार करते हुए भी ऋषियों द्वारा अनुभवातीत क्षणों में अमर तत्व के प्रत्यक्षीकरण को स्वीकार करते हैं। दैवी शक्ति स्फुरण अन्तर्ज्ञान से उद्भूत सत्य का निरूपण करता है किन्तु अन्तर्ज्ञान मात्र पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वैयक्तिक होने के कारण इसकी वास्तविकता संदिग्ध हो सकती है। यदि इसे सत्य मान भी लिया जाय तो इससे तर्क पर आधारित सत्य को नकारा नहीं जा सकता; क्योंकि तर्क का आधार विश्वप्रकृति है। आइन्स्टीन ने भौतिक शास्त्र के सभी उपलब्ध ज्ञान का अध्ययन कर अन्तर्ज्ञान से ही सापेक्षवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। किन्तु इसका तर्क और प्रयोग को वैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतरना आवश्यक था। अस्तु, वेद अथवा धर्मशास्त्र के निष्कर्ष को तर्क और प्रमाण के निकष पर खरा उतरना ही होगा। इसीलिए वेदान्त तीन प्रकार के प्रमाणों को स्वीकृति देता है—श्रुति (Scripture or revelation स्वानुभूति (Realization) और युक्ति (Reason)। वेद अमरतत्व की मूल कल्पना देता है, दार्शनिक तर्क इसे प्रमाणित करता है और योगियों और रहस्यवादियों ने इसका अनुभव किया है और

हम स्वयं इसका अनुभव कर सकते हैं, यदि हम आध्यात्मिक अनुशासन का पालन करें।

ब्रह्म ही यथार्थ है, जिसकी प्रकृति सत् चित् आनन्द है, जिसे तैत्तिरियोपनिषद् ने सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम् कहा है। यह स्वयं में सत्य है, ज्ञानमय है और आनन्द का स्रोत है। यही सभी वस्तुओं में व्याप्त है, सभी ज्ञान और सभी अनुभूतियाँ इसी से निर्गत हैं—सभी भावाभिव्यक्ति और आनन्द का वह उद्‌गम है। सभी उसी ब्रह्म से निर्गत होकर पुनः उसी में ऐसे विलीन हो जाते हैं, जैसे कि लहरें समुद्र से निकल कर पुनः समुद्र में ही मिल जाती हैं। उपनिषदों के अनुसार निखिल विश्व और जीव ब्रह्म से ही उत्पत्ति पाते हैं और उसी में जीते हैं तथा उसी में मिल जाते हैं। ब्रह्म ही हमें तत्वार्थ की खोज के लिए उत्प्रेरित करता है; क्योंकि तात्विक यथार्थ की खोज ही हमें ब्रह्म का ज्ञान कराती है। वह हमारी आत्मा के रूप में हमारे भीतर निवास करता है—ठीक उसी प्रकार जैसे कि लहरों में महासागर।

वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार ही वेदान्त भी हमें दृश्य से अदृश्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, पदार्थ से तत्व की ओर और प्रतीति से कर्त्ता की ओर ले जाता है। यह अन्तर और बाह्य जगत की अनुभूति का विश्लेषण कर विश्व एवं स्वयं अनुभव के उद्‌गम का बोध कराता है। इसके द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म ही आध्यात्मिक यथार्थ है, वही हमारे अनुभव का केन्द्र है और निखिल विश्व की उत्पत्ति का कारण है। वेदान्त, विज्ञान का अतिक्रमण कर भौतिक विकास, अन्तःशक्ति के विकास एवं जैविकीय विकास का अधिष्ठान करता है। साथ ही वेदान्त इस बात पर भी बल देता है कि उद्‌भव किसी पूर्वगामी प्रत्यावर्तन का परिणाम है जो आगामी उद्‌भव का जनक है। इससे स्पष्ट है कि विश्व सदा से ही कारण के रूप में ब्रह्म में विद्यमान है, अन्यथा शून्य से कुछ भी कैसे प्रकट हो सकता है।

तात्पर्य यह हुआ कि प्रतीति कार्य कारण अथवा कर्त्ता में निहित रहता है। इस प्रकार वेदान्त एक अविराम आदि और अन्तहीन चक्रीय प्रत्यावर्तन और उद्‌भव की ओर संकेत करता है। इस प्रकार सारे विश्व और जीवात्मा का उद्‌गम ब्रह्म ही है और इसकी प्रकृति भी ब्रह्ममूलक है।

ब्रह्म में सत्, चित् और आनन्द मिलकर समरस दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रह्म में ये तीनों गुण त्रिभुज के रूप में इस प्रकार परिलक्षित होते हैं, मानो त्रिभुज की प्रत्येक भुजा अन्य दो भुजाओं में विलीन हो गयी हो, इस प्रकार वे अविभेद्य बन जाती हैं। ये तीनों गुण अवियोज्य और समवायी हैं। फिर भी सूक्ष्म नैसर्गिक माया शक्ति से तमस् विविध रूपों में प्रक्षिप्त होकर सत् को, जो इससे अवियोज्य है और आनन्द के माध्यम से स्वाभाविक विश्व-रचना का प्राविधान करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अग्नि से प्रस्फुटित दाहक शक्ति अग्नि से अलग कोई अस्तित्व न रखते हुए भी अपनी संहार शक्ति का प्रदर्शन करती है। ब्रह्म अपनी वास्तविक असीम शक्ति को निर्बाध रखते हुए भी, स्वयं पुरुष और प्रकृति के रूप में सृष्टि का निर्माण करता है। इस प्रकार प्रकृति चित् के रूप में और पुरुष सत् के रूप में आनन्द के माध्यम से लीला करते हुए, सृष्टि का उद्‌भव करते हैं। इस प्रकार विश्व और विश्वात्मा दोनों ही इन्हीं तीन गुणों को प्रदर्शित करते हैं। तभी तो कहते हैं—

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमस्पृषे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे, त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥

अमर आत्मा जीव के रूप में विश्वजनीन पदार्थों को व्यक्तित्व प्रदान करती है, यही व्यक्तित्व सभी कार्यों, चेतनाओं और अनुभवों का जनक होता है।

वेदान्त, आधुनिक विज्ञान से इस अर्थ में भिन्न है कि आधुनिक विज्ञान पदार्थ को अणु और परमाणुओं के रूप में विश्रृंखलित करता है, किन्तु वेदान्त के अनुसार हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कान, नाक, आँख, जिह्वा और त्वचा से पाँच भिन्न प्रकार की अनुभूति प्राप्त होती है। इन पाँच प्रकार की संवेदनाओं से पाँच भिन्न-भिन्न प्रकार का उद्दीपन होता है जो निःसन्देह इन्द्रियजन्य है। नाद, दृश्य, स्वाद, गन्ध और स्पर्श से पाँच अदृश्य तत्वों का बोध होता है और ये ही तत्व इसके इकाई-मापक हैं। इन्हें हम आकाश, वायु, अग्नि, भाप और पृथ्वी के रूप में सूक्ष्मभूत की संज्ञा देते हैं। यही

पाँचों तत्व मानवशरीर और उसके अंग-प्रत्यंग की रचना करते हैं।

इसी प्रकार ये ही पाँचों मनस या मस्तिष्क के जनक हैं, क्योंकि मस्तिष्क ही अनुभूतियों को ग्रहण करता है। स्पष्टतः मनस् (मस्तिष्क) के अभाव में किसी भी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम मनस (मस्तिष्क) और पाँचों संवेदनाओं को महत् (प्रकृति) जन्य मानते हैं और पांचों तन्मात्राओं को पदार्थ (आकाश) जन्य कहते हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवियोज्य महत् (प्रज्ञा) स्वयमेव पांच वर्गों में बँटकर बुद्धि, मनस्, चित्, प्रज्ञा और अहंकार के द्वारा मस्तिष्क और स्नायु-मंडल की रचना करते हैं। ये ही ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपना बोध कराते हैं और प्राण और आकाश के माध्यम से जीव-रचना करते हैं। प्रकृतिजन्य प्राण और महत् जीवनधारा का सृजन करते हैं जो आकाश और तज्जन्य पाँचों तन्मात्राओं के प्रभाव से प्राण, व्यान, समान, उदान और अपान के रूप में शरीर और इसके आन्तरिक और बाह्य अंगों का सृजन कर जीवन-धारा का उपक्रम करते हैं। यहीं पर हम कर्मेन्द्रियों को सक्रिय पाते हैं। प्राण से श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया सक्रिय होती है, व्यान स्नायु-मण्डल को संचालित करता है, समान से परिपाची शक्ति मिलती है। उदान जीवाणुओं की रक्षा करता है और उन्हें ऊर्ध्वगति देता है। अपान, उत्सर्जन और मलोत्सर्ग के साथ-साथ अधोमुखी प्रक्रिया का परिचालन करता है। इसी प्रकार बाह्य कार्य-कलापों के लिए पाँच अंग बने हैं, जैसे हाथ, पैर, मुँह, गुदा और आमाशय।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न केवल मानव, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े, अपितु सभी पंच-महाभूत प्राण, आकाश के विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न अंशों के प्रतिवर्तन और संघात से महत् के प्रभाव से भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं और इस प्रकार सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। इन्हीं विभिन्न रूपों और आकृतियों को हम स्थूल-भूत की संज्ञा देते हैं। इनके रूप, रंग, कार्य सभी अलग-अलग होते हैं किन्तु मूल रूप से सभी में वे ही पाँच तत्व पाये जाते हैं।

यही कारण है कि हम कहते हैं कि आकाश, प्राण, जीवनधारा, इन्द्रियाँ तथा मानस सभी प्रकृति से उद्भूत होते हैं और इस प्रकार वे पुरुष से भिन्न हैं, गोकि इनका उद्भव पुरुष की लीला-शक्ति से होता है। यह प्रकृति उस प्रकृति से पूर्णतः भिन्न है जिसे आज के वैज्ञानिक जानते हैं, क्योंकि वेदान्त की प्रकृति और उससे उद्भूत पदार्थ ब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं, जो कार्य-कारण के नैसर्गिक संयोग से प्रबल प्रकम्प से समय का, और आकाश, स्थान अन्तराल और दूरी का बोध कराते हैं। इसी त्रिकोण जनन, समय और अन्तराल को विश्व में हम देखते हैं। प्रकृति के ये ही रूप सत्व, रजस और तमस के प्रतिवर्तन और संघात से दृश्यजगत में प्रकट होते हैं। कभी सूक्ष्म और कभी स्थूल रूप में अनन्तात्मा जीवों को व्यक्तित्व प्रदान करते हैं।

महत् बुद्धि के रूप में परिलक्षित होती है और मानव के अनुभव एवं भोक्ता और कर्त्ता के रूप में उसके मानसिक एवं भौतिक कार्यकलापों को शरीर और मनस के माध्यम से अनुबन्धित करती है। यथार्थतः जीव ही वास्तविक पुरुष है और लिंगभेद, शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ इसके साधन मात्र हैं। यही पुरुष हमारे अन्तःकरण में रहकर, शरीर के माध्यम से पृच्छा और अन्वेषण करता है और वस्तु की परख कर मूल्यांकन करता है। विश्व के सभी तत्वों में तथा मानव-व्यक्तित्व में निकट की समानता है चाहे वह अणु रूप में हो या संसृति के रूप में, हमें हर एक से विश्व के बारे में ज्ञान और अनुभव मिलता है और सभी में अनन्त आत्मा, परम ब्रह्म का ही प्रत्यक्षीकरण होता है।

अदृश्य एवं सूक्ष्म रूप में यही जीव सभी संस्कारों से परिबद्ध कर्म-फल के अनुसार बीजरूप में माँ के गर्भ में जा कर एक नये दृश्य स्थूल शरीर का सृजन करता है। यह क्रम अन्तिम ज्ञान की प्राप्ति तक चलता है और जीव इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आत्मा और पदार्थ दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं, अस्तु वह ब्रह्म में लीन हो जाता और इस प्रकार उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह अमरत्व प्राप्त कर सत् चित् आनन्द का सतत भागी बनता है।

इस प्रकार ब्रह्म स्वयं को दो विपरीत भागों, पुरुष और प्रकृति में विभाजित कर माया शक्ति के माध्यम से

विश्व और जीवधारियों की रचना करता है और जीवधारियों को विश्व के विस्तृत भाग मे जीवन-लीला करने का अवसर प्रदान करता है। जिस प्रकार पानी भाप, बर्फ, कुहरा आदि रूपों में पाया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म विश्व के अणु-अणु भाग से महतोमहीयान में व्याप्त रहता है। यही कारण है कि सभी जीव, निर्जीव एवं अन्य पदार्थों में ब्रह्म विद्यमान रहता है। सभी जीव उसी के प्रक्षेपण मात्र हैं। वैज्ञानिकों ने मात्र पदार्थ का विश्लेषण कर शक्ति प्राप्त करने में सफलता पाई है, किन्तु यदि वे समवेत रूप में इस विश्लेषण को आगे बढ़ाने में सफलता प्राप्त कर लें, तो निश्चय ही देखेंगे कि शक्ति को जीवन और मन आदि में परिवर्तित किया जा सकता है। यही नहीं, वैज्ञानिकों के प्रयासों की चरम सीमा तब होगी जब वे अपनी इस शोध-यात्रा में उस आध्यात्मिक ब्रह्म तक पहुँचने में सफल होंगे, जिसका वर्णन वेदान्त में पाया जाता है और जिसे अन्तर्ज्ञान से ही जाना जा सकता है। उस ब्रह्म का ज्ञान ही अपरोक्ष अनुभूति है। अस्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' का सिद्धान्त स्वयमेव प्रतिपादित होता है।

वेदान्त वैदिक चिन्तन परम्परा के अन्तिम चरण का सूचक है। वेद शब्द 'विद्यते इति वेदः', 'वेत्ति इति वेदः' 'विदन्ति इति वेदः' इन तीन प्रकारों से गृहीत हो सकता है। सत्तार्थक 'विद्' धातु से 'विद्यते', ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से 'वेत्ति', और लाभार्थक 'विद्' धातु से 'विदन्ति' शब्द व्युत्पन्न होते हैं। ये शब्द वैदिक ज्ञान की नित्यता, चैतन्य-सत्य और आनन्द स्वरूप का निरूपण करते हैं। इस प्रकार वेद शब्द एक दार्शनिक महत्ता का बोधक है। वेद के प्रायः दो अंग स्वीकृत हैं, मन्त्र और ब्राह्मण। मन्त्रों का समुच्चय संहिता कहलाता है और मन्त्रादि के विनियोग के प्रकाशक भाग को 'ब्राह्मण' कहते हैं। ब्राह्मणों के अन्तिम भाग को आरण्यक कहा जाता है। आरण्यकों का अन्तिम भाग 'उपनिषद' हैं। इन उपनिषदों को ही वेद का अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त कहते हैं।

वेदान्तदर्शन और वेदान्तसूत्र दोनों के स्वरूपों में सन्देह हो सकता है। अतः वेदान्तदर्शन का नाम ब्रह्मदर्शन अधिक उपयुक्त है। गीता में वेद को त्रैगुण्य विषय कहा है और उसको ही त्रयीधर्म भी कहते हैं। वाणी आदि क्रियाओं की समाप्ति पर अनुभवगम्य सत्य का प्रकाशन होता है। इसी प्रकार त्रयीधर्म अर्थात् कर्मकाण्ड की समाप्ति पर ज्ञानोदय की अवस्था का प्रतिपादन करना इन उपनिषदों का उद्देश्य है, अस्तु, उपनिषदों को वेदान्त की संज्ञा देना सार्थक है। वेदान्तसूत्र उत्तरमीमांसा के नाम से जाने जाते हैं। वेद का प्रतिपाद्य स्वर्ग है, जहाँ से आवागमन में पुनः पड़ने की सम्भावना रहती है, किन्तु वेदान्त का लक्ष्य 'कैवल्य', अर्थात् मोच है, जहाँ जीव ब्रह्म में उसी प्रकार मिल जाता है जिस प्रकार लहरें महासागर में। इस प्रकार जीव आवागमन से मुक्त हो जाता है। अस्तु, वेद के संबन्ध में 'वेदान्त' शब्द की सार्थकता प्रमाणित होती है।

●

आपकी सम्पत्ति कितनी

दूसरे गाँव से आये मेहमान ने पूछा कि सेठ साहब, सब चीजों के भाव आसमान को छू रहे हैं, सोना, चांदी, मकान, जमीन, जायदाद सबके भाव कई गुना हो गये हैं। अतः अब तो आपकी सम्पत्ति २५-५० करोड़ की तो हो गयी होगी? इस पर सेठ साहब बोले—२५ करोड़? अरे २५ लाख भी नहीं। इस पर मेहमान बोला—मैं कोई इनकमटैक्स का अधिकारी थोड़े ही हूँ जो आप मुझसे बात छिपा रहे हैं? मैंने तो सहज में ही आपसे पूछ लिया। सेठ साहब धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। बोले—भाई, मैंने जो अपने हाथ से दान दिया, वही मेरी सम्पत्ति है। बाकी सब तो पराया माल है। क्या यह बंगला, यह कोठी, हीरा-जवाहरात, जमीन-जायदाद मेरे साथ जायेगी? इस जवाब से मेहमान बड़ा शर्मिन्दा हुआ।

दुःख परम सहायक

श्री मथुरा सिंह

याद नहीं आता कहाँ हमने एक कथा पढ़ी थी। वही कथा सुनाना चाहता हूँ। स्थिति के देवता श्रीविष्णु एक बार भ्रम में पड़ कर कछुए का रूप धारण कर दलदल में प्रवेश कर गये। विश्व में चारों तरफ हाहाकार मच गया। सृष्टि के सभी प्राणी स्थिति के देवता को इस हालत को देखकर परेशान हो सृष्टि के देवता ब्रह्मा के पास पहुँचे और सारी बातें बतायीं। ब्रह्मा को बड़ा दुख हुआ। वे विष्णु के इस भ्रमजनित कछुआ रूप धारण की कथा सुनकर बहुत दुःखी हुए और तुरन्त कछुआ रूपधारी विष्णु के पास पहुँच कर नानाविधि से उन्हें समझाने लगे। मगर उनके समझाने का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्हें निराश होकर लौट जाना पड़ा। इधर वे और ज्यादा व्यथित हो गये और सृष्टि के प्राणी तो और ज्यादा व्याकुल हो गये। चारों तरफ हाहाकर मच गया। फिर सभी प्राणी ब्रह्मा के पास पहुँचे और ब्रह्मा सभी प्राणियों को लेकर संहार के देवता शंकर के पास पहुँचे। शंकर ने प्रारम्भ से सारी बातें सुनीं और तदुपरान्त वे त्रिशूल उठाकर चल दिये। विष्णु को जाकर उन्होंने ललकारा—अरे विष्णु! तू अपना असली स्वरूप और कर्तव्य भूलकर क्यों कछुए का रूप धारण कर दलदल में पड़ा है—तू कछुआ नहीं, विष्णु है। आ जाओ अपने असली स्वरूप में तथा अपने कर्तव्य का पालन करो। मगर विष्णु ने तो शायद न सुनने की ठान ली थी—वे सुनते भी क्यों? उन्हें तो दलदल में ही आनन्द आ रहा था—अन्त में शंकर जी ने अपने त्रिशूल का सहारा लिया और त्रिशूल को कछुआ रूपधारी विष्णु के शरीर में चुभोने लगे। अन्त में एक स्थिति ऐसी आयी कि त्रिशूल की चुभन ने उन्हें असली स्वरूप पहचनवा दिया और वे दलदल से वापस आये। पुनः उन्होंने विष्णु का रूप धारण कर लिया और शिव के चरणों पर गिर कर बोले—"हे महादेव—मैं आपका यह उपकार कभी नहीं भूलूंगा। में भ्रमवश अपना स्वरूप भूल कछुआ बन गया था और उसी रूप को अपना असली रूप मान बैठा था। ब्रह्मा जी के लाख समझाने पर भी मैं अपने असली स्वरूप को नहीं पहचान पाया। पर मैं आपके त्रिशूल की चुभन ने मुझे अपना असली स्वरूप पहचानने को बाध्य कर दिया। यह कहकर विष्णु जी पूर्ववत् अपने कर्तव्य-कार्य में लग गये और संसार में चारों ओर सुख-शांति आने लगी।

इस कहानी के गूढ़ अर्थों की तरफ जब चिन्तन करता हूँ तो निम्नलिखित विचार मन में आते हैं :—

जन्म (सृष्टि) के देव ब्रह्मा, जीवन (स्थिति) के देव विष्णु तथा मृत्यु (संहार) के देव शंकर तीनों ईश्वर के ही अंश हैं, जो स्थितिविशेष में विशेष प्रकार का कार्य करने के कारण पृथक दिखायी देते हैं। हम मानव जब जन्म लेते हैं तो हम ब्रह्मा के अधीन रहते हैं। सारा जीवन विष्णु के अधीन रहते हैं और मृत्यु और दुःख के समय शंकर के अधीन हो जाते हैं। मूलतः हम लोगों का स्वरूप ईश्वर से भिन्न नहीं है, मगर जिस तरह विष्णु भ्रम में अपना असली स्वरूप भूलकर स्वयं को कछुआ मान दलदल में खुशी से रह रहे थे उसी तरह हमलोग भी अपने सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप को भूलकर केवल शरीर को मान माया, व्यामोह में फँसकर खुद को दो हाथों, दो पैरों का असमर्थ निर्बल मानव मान कर असत्य और मायाजनित संसार में बड़ी प्रसन्नता से रहते हैं। जिस प्रकार विष्णु के कछुआ रूप धारण करने से पूरे विश्व में हाहाकर मच गया था, ठीक उसी प्रकार हमारे असली स्वरूप को भूल जाने से हमलोगों के नित्य जीवन के साथ परिवार, समाज, देश, विश्व चारों तरफ हाहाकार मच गया है—तबाही आ गयी है—वह तबाही ही हमारे ब्रह्मारूपी अन्तःकरण को व्यवस्थित करती है तो हमारा ब्रह्मरूपी अन्तःकरण हमें हमारा स्वरूप

(शेष पृष्ठ २४ पर)

संत एकनाथ

दक्षिण के संत श्री एकनाथजी महाराज—अक्रोध तो जैसे एकनाथ जी का स्वरूप ही था।

ये परम भागवत योगिराज—नित्य गोदावरी-स्नान करने जाया करते थे। बात पैठण की है, जो एकनाथ की पावन जन्मभूमि है। गोदावरी-स्नान के मार्ग में एक सराय पड़ती थी। उस सराय में एक पठान रहता था। वह उस मार्ग से आने-जाने वाले हिन्दुओं को बहुत तंग किया करता था। एकनाथ महाराज को भी उसने बहुत तंग किया। एकनाथ जी जब स्नान करके लौटते, वह पठान उनके ऊपर कुल्ला कर देता। एकनाथजी फिर स्नान करने नदी लौट जाते और जब स्नान करके आने लगते, वह फिर कुल्ला कर देता उनके ऊपर। कभी-कभी पाँच-पाँच बार यह कांड होता।

'यह काफिर गुस्सा क्यों नहीं करता' पठान एक दिन जिद पर आ गया। वह बार-बार कुल्ला करता गया और एकनाथजी बार-बार गोदावरी-स्नान करने लौटते गये। पूरे एक सौ आठ बार उसने कुल्ले किये और पूरे एक सौ आठ बार एकनाथजी ने नदी में स्नान किया।

"आप मुझे माफ कर दे। मैं 'तोबा' करता हूँ। अब किसीको तंग नहीं करूँगा। आप खुदा के सच्चे बंदे हैं—माफ कर दें मुझे।" अन्त में पठान को अपने कर्म पर लज्जा आयी। उसके भीतर की पशुता सन्त की क्षमा से पराजित हो गयी। वह एकनाथजी के चरणों पर गिरकर क्षमायाचना करने लगा।

'इसमें क्षमा करने की क्या बात है। आपकी कृपा से मुझे आज एक सौ आठ बार स्नान करने का सुअवसर मिला।' श्री एकनाथजी महाराज बड़े ही प्रसन्न मन से उस यवन को आशीर्वाद दे रहे थे।

त्रिवेणी की पैदल तीर्थयात्रा करके, काँवरों में गंगाजल लिये श्री रामेश्वर धाम की यात्रा कर रहे थे महाराष्ट्र के कुछ भक्त। श्री रामेश्वरजी को गंगाजल चढ़ाना—कितनी श्रद्धा, कितना श्रम था इस श्रद्धा के साथ। त्रिवेणी से रामेश्वर तक की पैदल यात्रा—जहाँ शरीर चलने में ही असमर्थता का अनुभव करे, वहाँ एक कावर, दो कलश जल और ढोते चलना। कितना श्रद्धापूत था वह जल।

मार्ग में मरुभूमि आयी। दोपहरी का समय, ग्रीष्म ऋतु, प्रचण्ड ताप—बेचारा एक गदहा तड़प रहा था जलती हुई रेत में। प्यास से उसके प्राण निकलने ही वाले थे। असमर्थ हो छटपटा रहा था वह।

तीर्थयात्री पास पहुँचे गधे के। वे दयालु थे, गधे पर उन्हें दया भी आयी, किन्तु उपाय क्या ? वहाँ आस-पास कहीं जल नहीं था कि वे गधे को वहाँ ले जायँ या जल वहाँ से लाकर गधे को पिलावें। उनके कंधे पर कांवरे हैं, प्रत्येक कांवर में आगे-पीछे एक-एक कलश है कलश में—छिः, छिः ! यह सोचने की क्या बात है। कलश में त्रिवेणी का पवित्र जल है और वह है रामेश्वर में भगवान् शंकर को अभिषिक्त करने के लिए। एक गधे को—वे स्वयं प्यास से प्राणत्याग करते हों तो भी उस जल के उपयोग की बात उनके मन में नहीं आयेगी।

तीर्थ यात्रीयों में एक अद्भुत तीर्थयात्री भी था। वह आगे बढ़ा गधे के पास उसने कांवर उतार कर रख दी। कांवर के कलश का पवित्र जल बिना हिचक गधे के मुख मे उड़लने लगा वह।

तीर्थयात्री ठक् से रह गये। किसी ने कहा—'यह श्रीरामेश्वर के अभिषेक के लिए आया जल आप गधे को ······ ··· ।'

बीच मे ही बोला वह महापुरुष—'कहा है गधा ? श्रीरामेश्वर ही तो यहां मुझसे जल मांग रहे है। मैं उनका ही अभिषेक कर रहा हूँ।'

वे तीर्थयात्री थे महाभागवत श्री एकनाथ जी महाराज।

●

एक अंग्रेज कलेक्टर को भगवान राम के दर्शन

श्री रतनलाल जोशी

●

बात कुछ पुरानी है, किन्तु मेरे मानस-पटल पर उसकी छाप वैसी ही नवीन है, जैसी १७ अक्तूबर, १९४९ की रात को थी। मैं राजाजी से मिलने के लिए मद्रास गया था। राजाजी उस समय 'रामायण' लिखने में व्यस्त थे।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित रामकथा-साहित्य का संक्षिप्त ब्यौरा मैंने उनके पास भेजा था और उसी समय मेरा एक लेख भी 'कल्कि' में छपा था, जिसमें मैंने स्वनाम-धन्य श्रीनिवास शास्त्री के रामायण व्याख्यानों—लेक्चर्स आन द 'रामायण'—पर टिप्पणी करने की 'धृष्टता' की थी। मेरे लेख का आशय था कि रामायण को तर्क की कसौटी पर कसना उसके ध्येय-तत्व को अस्वीकार करना है, जो उसकी मूल प्राणस्फूर्ति है। राजा जी (स्व० चक्रवर्ती राजगोपालाचारी) को मेरा यह निष्कर्ष पसन्द आया था। रामचरित पर काफी देर तक वार्तालाप के बाद राजाजी के अनुगामी सहृदय पत्रकार स्वामीनाथनजी ने प्रस्ताव रखा कि "मैं कल मदुरान्तकम् जा रहा हूँ, वहाँ रामोत्सव-सप्ताह चल रहा है। आप भी चलिए, तीर्थ-यात्रा के साथ-साथ रामायण पर विद्वानों के प्रवचन सुनने का भी लाभ मिलेगा।'

जब हम मदुरान्तकम् पहुँचे, तब वहाँ वर्षा हो रही थी, किन्तु फिर भी हजारों तीर्थ-यात्रियों का अनिरुद्ध तांता राम-मन्दिर में दर्शनार्थ उमड़ा पड़ रहा था। हम लोग एक मित्र के विश्राम-गृह में ठहरा दिये गये, जिसे कभी-कभी ही 'मानव-सहवास' का सौभाग्य मिलता था। लोगों का खयाल था कि उसमें कोई ब्रह्म राक्षस रहता है।

बारिश कुछ थमी, तो हम लोग भी दर्शन के लिए चल पड़े। रोग, दारिद्र्य, अन्याय, अनीति के निवारणार्थ आबाल-वृद्ध नर-नारी मदुरान्तकम् के कोदण्डपाणि राम की शरण आये थे। दुःख के विविध रूपों के इस क्रूर सम्मेलन को देखकर, मेरा अन्तःकरण कोदण्डपाणि के सम्बोधन में द्रवित हो उठा— हे धनुर्धारी राम, 'प्रान जाई बरु बचनु न जाई' कीतिवाले राम, क्या आप अपनी वह प्रतिज्ञा भूल गये, जो सीता के सम्मुख आपने एक बार दोहरायी थी—

'क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।'

(क्षत्रिय इसीलिए धनुष धारण करते हैं कि कहीं आर्त शब्द न सुनायी पड़े)।

भीड़ को चीरते हुए हम भी कोदण्डपाणि राम की मूर्ति के सम्मुख पहुँचे। देखकर आँखें ठगी-सी रह गयीं—अपने सम्पूर्ण शौर्य में ऊर्जस्वित व्रती राम अभयपाणि की आकृति! सारा वातावरण राममय था—एक मंडली जहाँ राम के बीजमंत्र 'रां रामाय नमः' का सस्वर पाठ कर रही थी, वहाँ दूसरी मंडली राम के तारक मन्त्र 'श्रीराम, जय राम, जय जय राम' का गद्‌गद् कंठ से उच्चारण कह रही थी।

परिक्रमा के बाद स्वामीनाथनजी ने हमें वह शिलालेख दिखलाया, जिसमें एक अंगरेज कलेक्टर कर्नल प्लेस और मदुरान्तकम् कोदण्डपाणि राम के भक्त-भगवान-सम्बन्ध की कहानी खुदी हुई थी। यह शिला-कथा ब्रिटिश सरकार के पुरातत्व-संग्रह में आज भी पढ़ी जा सकती है। मन्दिर के कथावाचक के शब्दों में यह कहानी इस प्रकार है—

एक बार मदुरान्तकम् में ऐसी भीषण वर्षा हुई कि मन्दिर से लगी झील ने तूफानी समुद्र का रूप धारण कर लिया। बरसात रुक नहीं रही थी और झील के तटबन्धों के टूटने का खतरा बढ़ रहा था। आसपास के गाँवों के लोग घबराकर कलेक्टर कर्नल प्लेस के पास पहुँचे। कलेक्टर स्वयं चिन्ताग्रस्त था कि उस क्षेत्र के सैकड़ों मकानों, मवेशियों और फसल से लदे खेतों को कैसे बचाया जाए? सबको निरुपाय देख कलेक्टर के बूढ़े हेड क्लर्क ने साहस करके कहा, 'हुजूर, मदुरान्तकम् का राममन्दिर बरसों से जीर्ण-शीर्ण है। धन की तंगी का बहाना लेकर इसकी मरम्मत को लगातार टाला जा रहा है। अपनी तीस बरस की

नौकरी में मुझे बार-बार स्वप्न आते रहे हैं कि कोदण्ड महाप्रभु मदुरान्तकम् छोड़कर अन्यत्र जाना चाहते हैं। मेरी तो ऐसी धारणा है कि यदि कलेक्टर साहब मन्दिर के पुनर्निर्माण का संकल्प भगवान के सामने करें, तो कोदण्डपाणि इस महाभय से हम सबको उबार लेंगे।'

कलेक्टर की कौंसिल ने बूढ़े हेडक्लर्क राघवन की इस युक्ति को ध्यान से सुना, किन्तु कोई कुछ बोला नहीं।

बारिश और तेज हो गयी। आँधी ने झील की स्थिति भयानक कर दी। संस्कृतज्ञाता और धार्मिक प्रवृत्ति के कर्नल प्लेस अपने प्रजाप्रेम के लिए इलाके में बड़े लोकप्रिय थे। लोग उनकी संकल्पशक्ति के भी कायल थे। छाता हाथ में लेकर कुछ कर्मचारियों के साथ वे कमरे से बाहर निकल पड़े। आँधी और वर्षा के थपेड़ों से जूझते हुए वे झील की सबसे ऊँची टेकरी पर जाकर खड़े हो गये। अपने चारों ओर नजर दौड़ायी, तो उनका दिल काँप उठा—ऊपर से बादल फट पड़ा था और नीचे झील क्रुद्ध कालसर्प की भाँति; सहस्रों फन ताने विकराल फुत्कार कर रही थी! 'क्या करें!' कर्नल ने अपने साथियों को सम्बोधित किया। किन्तु कोई क्या उत्तर देता—वहाँ तो उपाय-पंगुता, देहपंगुता तक पहुँच चुकी थी।

कर्नल प्लेस ने छत्री फेंक दी और मन्दिर की ओर घुटने टेककर, वे जमीन पर झुक गये। करबद्ध अंजलि को ऊपर उठाकर काँपते कण्ठ से बोले, 'हे कोदण्डधारी राम, आज आप ही हम सबके अन्तिम शरण्य हैं। हे समुद्र पर सेतु बाँधने वाले श्रीरामचन्द्र! आज आप इस झील को थाम लीजिए, मैं आपके मन्दिर के पुनर्निर्माण का संकल्प लेता हूँ। हे भवभयहारी रघुवंशनाथम्, हमारे भय का निवारण कीजिए—रक्षा कीजिए प्रभो.....।'

कर्नल प्लेस की प्रार्थना आर्तनाद में परिणत होने लगी। बारिश की एक तेज झड़ी के साथ आकाश में चार-पाँच बिजलियाँ कौंधी। पागलों की भाँति कर्नल प्लेस चिल्लाये, 'आ गये, देखो वे कोदण्डपाणि प्रभु आ गये! पाहि माम् प्रभो, पाहि माम्'—कहते-कहते कर्नल प्लेस अचेत होकर गिर पड़े। उनके साथियों ने उन्हें बंगले में लाकर लिटाया। तीन घण्टे बाद जब वे स्वस्थ हुए और आँखें खोलीं, तब यह सुनकर उनकी आँखें कृतज्ञता से डबडबा गयीं कि बारिश बन्द हो गयी है और झील के फटने का खतरा टल गया है।

अपने संकल्पानुसार कलेक्टर ने मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया और उसके संरक्षण एवं नियमित पूजा-अर्चना के वार्षिक खर्च की भी उन्होंने सरकार से सदैव के लिए व्यवस्था करवा दी।

रात को जब हम अपने निवास पर आये, तो इस चमत्कार-कथा पर सहचर-मण्डली में तर्क-वितर्क छिड़ गया। प्रोफेसर पार्थसारथीजी ने कहा कि यह सब मनोभ्रम के सिवाय और कुछ नहीं है। वास्तव में, कर्नल प्लेस के मानस-तन्तु इतने आक्रान्त थे कि उन्हें यथार्थ के बजाय दिवास्वप्न में ही परित्राण मिल सकता था। इस पर स्वामीनाथनजी ने प्रश्न किया, 'मगर प्रोफेसर, झील फटने से कैसे बच गयी?' पार्थसारथी सव्यंग्य बोले, 'कहाँ फटने जा रही थी झील! भावी अशुभ के भय से बस कर्नल साहब की बुद्धि के बाँध जरूर टूट गये थे।'

श्रद्धा-अश्रद्धा की इसी परिचर्चा के बीच हम लोगों को गहरी नींद आ गयी। किन्तु थोड़ी देर ही सोये होंगे कि किसी ने बाहर से दरवाजा खटखटाया। पार्थसारथीजी उठे और टार्च जलाकर दरवाजा खोला, देखा, तो एक बलिष्ठ आदमी पुलिस-वर्दी में बाहर खड़ा है और उसके साथ तीन सिपाही और हैं। वर्दीधारी पुलिस ने कहा, 'कमिश्नर साहब ने आपको बुलाने के लिए हमें भेजा है! कीर्तन शुरू हो गया है, सब आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। एकदम चल दीजिए।' फिर अपनी टार्च जलाकर उन लोगों ने ऐसी हड़बड़ी में हम लोगों को बाहर सड़क पर निकाला कि जैसे हम लोगों ने कोई भयंकर जुर्म किया हो।

भीषण बादल-गर्जना हो रही थी। आसमान पर बारिश से ज्यादा बिजलियों का आतंक था। हम लोग अपने निवास से कोई पचास-साठ गज ही दूर गये होंगे कि रौद्र गर्जन के साथ बिजली कड़की और हमारे निवास के आँगन में खड़े पेड़ पर ऐसी तीव्रता से गिरी कि ज्वाला की लहरें आकाश छूने लगीं। प्रचंड प्रकाश और घोर वज्रपात से हमारे आँख-कान कुछ देर के लिए तो काष्ठवत् जड़ हो गये।

(शेष पृष्ठ १५ पर)

धर्म का अधिकार

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जब कभी मनुष्य किसी बाधा के सामने आकर रुक जाता है और सोचता है कि इसके आगे बढ़ना असम्भव है, जब वह इसी स्थान पर अपने शास्त्र और अपनी प्रथाओं से एक पक्का घर बनाने की कोशिश करता है, तब महापुरुष आकर वेष्टन गिरा देते हैं, बाँध को तोड़ देते हैं। वे कहते हैं—पथ अभी बाकी है, पाथेय अभी शेष नहीं हुआ, जो अमृत-भवन तुम्हारा अपना घर है, तुम्हारा चरमलोक है, वह इन मिस्त्रियों के हाथ से बनाई हुई पत्थर की दीवारों से तैयार नहीं होता, वह परिवर्तित होता है लेकिन टूटता नहीं, वह आश्रय देता है लेकिन आबद्ध नहीं करता, वह निर्मित नहीं, बल्कि विकसित होता है, संचित नहीं, बल्कि संचारित होता है, उसमें कारीगर की कुशलता नहीं, बल्कि अक्षय जीवन की अक्लान्त सृष्टि है।

लेकिन महापुरुष यहीं पर नहीं रुकते—वे कहते हैं सबको अपने जैसा देखो। 'शरवत् तन्मयो भवेत्।' तीर जिस तरह लक्ष्य के बीच पूर्णतया निविष्ट हो जाता है उसी तरह तन्मय होकर ब्रह्म के बीच प्रवेश करो। ब्रह्म ही परिपूर्ण सत्य है और उसी को पूर्ण रूप से प्राप्त करना है, इस बात को वे हीन भाव से नहीं कहते। वे स्पष्ट कहते हैं कि जो मनुष्य ब्रह्म को न जान कर केवल जप-तप में समय काटता है, 'अन्तवदेवास्य तद्भवति'—उसका सारा जप-तप नष्ट हो जाता है। ब्रह्म को न जानकर जो व्यक्ति इहलोक से अपसृत होता है 'स कृपणः'—वह कृपण है। बाधाओं के पार जो सत्य है, उसे यदि वह महान् न समझे तो मनुष्य बाधाओं के साथ समझौता करके वहीं घर बसा लेता है, और सत्य को अपने अधिकार से बाहर मान कर उसे व्यवहार के क्षेत्र से निर्वासित कर देता है।

जिस परम लाभ की, जिस असाध्य साधन की, मानव-जाति के इन गुरुजनों ने चर्चा की है उसी को वे मनुष्य का धर्म कहते हैं। अर्थात्, वही है मनुष्य का परिपूर्ण स्वभाव। यह देखा जाता है कि जो सहज है उसी को अपना धर्म मान कर मनुष्य आराम नहीं करना चाहता। और यदि कोई दुर्बल-चित्त सहज को अपना धर्म कहता है या धर्म को अपनी सुविधा के अनुसार सहज बना लेता है, तो उसकी दुर्गति का अन्त नहीं रहता। अपने धर्म-पथ के विषय में मनुष्य ने कहा है: 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम् पथस्तत् कवयो वदन्ति'। दुःख को मनुष्य ने मनुष्यत्व का वाहन समझा है, और सुख को ही उसने सुख नहीं कहा—उसने कहा है, 'भूमैव सुखं' है।

बुद्ध देव ने अपने शिष्यों को उपदेश देते समय एक बार कहा था कि मनुष्य के मन में कामना अत्यन्त प्रबल है, लेकिन सौभाग्यवश उससे भी अधिक प्रबल एक वस्तु हमारे पास है। यदि सत्य की पिपासा हमारी प्रवृत्तियों से अधिक प्रबल न होती तो हममें से, कोई धर्म के मार्ग पर न चल सकता।

धर्म में ही मनुष्य का श्रेष्ठ परिचय मिलता है। धर्म का मनुष्य के ऊपर जिस मात्रा में अधिकार होता है उसी के अनुसार मनुष्य अपने आपको पहचानता है। सम्भव है कोई व्यक्ति राजपुत्र होने पर भी अपने-आपको भूल जाय। लेकिन देश के लोगों की ओर से बार-बार ताकीद दी जानी चाहिए। उसके पैतृक गौरव की याद दिलाना आवश्यक है, उसे लज्जित करना, यहाँ तक कि उसे दण्ड देना भी आवश्यक हो सकता है। लेकिन उसे मूर्ख कह कर समस्या को आसान करने की कोशिश वृथा है। यदि वह मूर्ख की तरह व्यवहार करे तो भी सत्य को उसके सामने स्थिर करके रखना है। इसी तरह धर्म मनुष्य से कहता है: 'तुम अमृत के पुत्र हो, यही सत्य है'।

लेकिन जिस परम दुर्दिन के समय धर्म के आदर्श पर विकृति का आक्रमण होता है, बाहर के नियम-संयम, आचार-अनुष्ठान, पुलिस और राष्ट्रविधि चाहे जितनी प्रबल हो

समाज-प्रकृति को दुर्गति से कोई बचा नहीं सकता। इसलिए दुर्बलता की दुहाई देकर इच्छापूर्वक धर्म को कमजोर करने के समान आत्म-घातकता दूसरी कोई नहीं है, क्योंकि दुर्बलता के समय समाज की रक्षा का एकमात्र उपाय धर्म का बल है। धर्म के सम्बन्ध में यदि एक व्यक्ति का बोध भी देश के अन्य लोगों के बोध से आगे बढ़ जाय तो समस्त देश के लिए वही धर्म है, क्योंकि वही देश के लिए सर्वोच्च सत्य है। सम्भव है दूसरे लोग उसे ग्रहण करने के लिए राजी न हों, उसे समझने में विलम्ब करें, लेकिन तुम यदि उसे समझ सकते हो तो तुम्हें सबके सामने खड़े होकर कहना होगा : 'यही सत्य है—और यह सत्य केवल मेरा नहीं, सब लोगों का है।' यदि कोई जड़भाव से कहे : 'मैं इसे समझ नहीं सकूँगा' तो तुम्हें जोर से कहना होगा : 'तुम अवश्य समझ सकोगे, क्योंकि यह सत्य है, और सत्य को ग्रहण करना मनुष्य का धर्म है।'

मनुष्य की शक्ति के दो पक्ष हैं : एक पक्ष का नाम है 'कर सकता है' और दूसरे का नाम है 'करेगा'। पहला पक्ष उसके लिए सहज है लेकिन उसकी तपस्या दूसरे पक्ष की ओर है। धर्म मनुष्य के 'करेगा' पक्ष के सर्वोच्च शिखर पर खड़ा होकर उसके समस्त 'कर सकता है' को पुकारता है, उसे विश्राम नहीं करने देता, उसे किसी सामान्य लाभ से ही सन्तुष्ट नहीं होने देता। जहाँ मनुष्य का समस्त 'कर सकता है' इसी 'करेगा' के निर्देशन में आगे बढ़ता जाता है वहीं मनुष्य की वीरता है—वहीं उसका सत्य-रूप से आत्म-लाभ है।

वस्तुतः धर्म जब मनुष्य को असाध्य-साधन के लिए प्रोत्साहित करता है तभी वह शिरोधार्य हो उठता है। जब वह प्रवृत्तियों के साथ समझौता करने के लिए मनुष्य के कान में यह सलाह देता है : 'तुम जो कर सकते हो वही तुम्हारे लिए श्रेय है' या 'जो दस लोग करते हैं, उसके साथ निर्विचार योगदान ही तुम्हारे लिए पुण्य है', तो धर्म हमारी प्रवृत्तियों से भी नीचे गिर जाता है। प्रवृत्ति के साथ सन्धि करके या लोकाचार के साथ मेल-जोल बढ़ाकर धर्म अपने-आपको उच्च स्थान पर नहीं रख पाता। उसकी 'जाति' पर धब्बा लग जाता है।

मैं फिर यही कहूँगा, धर्म मनुष्य की पूर्ण शक्ति की अकुण्ठित वाणी है। उसमें कोई द्विधा नहीं है। वह मनुष्य को मूर्ख कहकर स्वीकार नहीं करता, और न दुर्बल कह कर उसकी अवज्ञा करता है। वह मनुष्य को पुकार कर कहता है—'तुम अजेय हो, अभय हो,।' धर्म की शक्ति से ही मनुष्य असम्भव लगने वाले कर्मों में जुट जाता है, और ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है जिसकी वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता। इसी धर्म के मुख से यदि हम कहलायें : 'तुम मूढ़ हो, समझ न सकोगे' तो फिर मनुष्य की मूढ़ता को दूर कौन करेगा ? यदि धर्म से ही हम यह कहलायें : 'तुम अक्षम हो, कुछ न कर सकोगे', तो मनुष्य को शक्ति कौन देगा ?

वास्तव में हीन-से-हीन मनुष्य के लिए सम्मान का एकमात्र स्थान धर्म ही है। उसे यह जानना चाहिए कि धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जिस पर वह निःसंकोच अधिकार कर सकता है। राजा हो या पण्डित, संसार के क्षेत्र में ही उनका प्रभुत्व है, उनका प्रताप है। धर्म के क्षेत्र में किसी दीन, हीन, मूर्ख का अधिकार भी हम कृत्रिम शासन से संकीर्ण नहीं कर सकते। धर्म ही मनुष्य की सबसे बड़ी आशा है। वहीं उसकी मुक्ति है, क्योंकि वहीं उसका समस्त भविष्य है, वहीं उसकी अनन्त सम्भाव्यता है। क्षुद्र वर्तमान का सारा संकोच वहीं दूर हो जाता है। इसलिए संसार-क्षेत्र में जन्म या योग्यता के आधार पर मनुष्य के स्वत्व को चाहे कोई खण्डित करे, धर्म के क्षेत्र में किसी मनुष्य के लिए बाधा निर्माण करने का अधिकार न परमज्ञानी का है, न चक्रवर्ती सम्राट का।

विचार ही मनुष्य का धर्म है। ऊँच और नीच, श्रेय और प्रेय, धर्म और स्वभाव—इनके बीच उसे चुनाव करना ही होगा। वह सभी को नहीं ग्रहण कर सकता—यदि ऐसा यत्न किया गया तो उसकी अपनी रक्षा नहीं होगी। स्थूल तामसिकता ही यह कह सकती है कि 'जो जैसा है वह वैसा ही रहे।' जो विनाश के योग्य है उसे भी सनातन कह कर पकड़ रखना तामसिकता का ही काम है। जो हमसे कहता है : 'एक जगह पड़े रहो' 'उसे धर्म कह कर सम्मानित करना भी तामसिकता ही है।

मनुष्य की साधना का लक्ष्य है निरन्तर अपने 'सर्वश्रेष्ठ' को प्रकाशित करना। जो अपने-आप जमा होता रहा है, या हजारों वर्ष पहले हो चुका है, उसको व्यक्त करना मानव-साधना नहीं है। अपने सर्वश्रेष्ठ को नित्य प्रकाशित करने की शक्ति उसे धर्म से ही मिलती है। इसलिए मनुष्य अपने धर्म को बड़ी तपस्या के बाद अपनी श्रेष्ठता के चरम स्थान पर स्थापित करता है। लेकिन जब वह विपत्तिवश या मोहवश अपने धर्म को झुका देता है, तब धर्म की तरह विनाशकारी चीज दूसरी कोई नहीं हो सकती। उच्च स्थान से जो चीज हमें ऊपर उठाती है वही यदि निम्न स्थान पर हो तो हमें नीचे गिराती है। इसलिए यदि कोई देश धर्म को नीति के बदले रीति पर आधारित करे, बुद्धि के बदले संस्कार पर प्रतिष्ठित करे यदि धर्म को अन्तःकरण में आसन देने के बदले उसे बाह्य अनुष्ठानों में आबद्ध करे, धर्म के अनुसार परिवेश को गढ़ने के बदले परिवेश के ही हाथों धर्म को समर्पित करे, धर्म की दुहाई देकर मानव-मानव में पार्थक्य निर्माण करे, एक वर्ग के अहं को दूसर वर्ग के सिर पर लादे, मनुष्य की सर्वोच्च आशा और अधिकार को संकुचित तथा खण्डित करे--तो ऐसे देश को हीनता के अपमान से बचाना किसी कांग्रेस या कान्फ्रेंस के लिए सम्भव नहीं, और न ऐसे देश की रक्षा वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति से या राजनैतिक इन्द्रजाल से हो सकती है। ऐसे देश का यदि एक संकट से उद्धार हो तो वह दूसरे संकट से ग्रस्त होगा, यदि एक प्रबल पक्ष अनुग्रहपूर्वक उसका सम्मान करे, तो दूसरा प्रबल पक्ष उसकी लांछना करेगा। जो अपने सर्वश्रेष्ठ को सर्वोच्च सम्मान नहीं देता उसे कभी उच्चासन नहीं मिल सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म के विकार से ही ग्रीस और रोम का पतन हुआ, और हमारी दुर्गति का कारण भी हमारे धर्म में ही मिलेगा, और कहीं नहीं। इसमें भी कोई सन्देह नहीं, कि यदि हमें अपना उद्धार करना है तो बाहर की ओर ताकने से या किसी बाह्य सुविधा का सहारा लेने से कोई लाभ नहीं। रक्षा के उपाय को अपने बाहर ढूंढना दुर्बल आत्मा की मूढ़ता है—ध्रुव सत्य तो यही है: 'धर्मो रक्षति रक्षितः'।

●

(पृष्ठ १२ का शेष)

कृतज्ञता-विह्वल मानस के साथ जब हम सब मन्दिर पहुँचे, तब दूर से देखते ही कमिश्नर साहब बोले, अरे, नींद खराब करके इस समय यहाँ क्यों आ गये?' उन्हें आश्चर्यचकित देख हम लोगों ने अपने पक्ष का प्रसंग उनको बताया। कोदण्डपाणि को प्रणाम करके वे बोले, 'यह सब हमारे मदुरान्तकम् के परमेश्वर की महिमा है। अशुभ-निवारण के ऐसे साक्षात्कार यहाँ आये दिन होते ही रहते हैं। न मैंने आपको बुलाने के लिए किसी को भेजा था और न आधी रात को यहाँ कभी कीर्तन ही होता है! पुलिस-वेश में कोदण्डपाणि स्वयं आपको विपत्ति से बचाने के लिए आये थे। मदुरान्तकम् के राम 'एरीकातरामन्' (झील के संरक्षक राम) की कीर्ति विख्यात है, किन्तु भगवान की विभूति, करुणा, दया, क्या एक जड़ झील के संरक्षण तक ही सीमित है? ईश्वर के ईश्वरत्व का विस्तार तो सीमातीत है!'

कमिश्नर साहब के साथ जब हम लोग अपने निवास के निकट आये, तब वह ईंट-मिट्टी का खस्ता मकान क्षारशेष-सा बिखरा पड़ा था। कमिश्नर ने मानो राहत की साँस ली, बोले, 'लोगों में यह भय प्रचलित था कि इस मकान में एक ब्रह्मराक्षस साँप की योनि में रहता है। आज बिजली इसी साँप पर गिरी है। चलिए, अच्छा ही हुआ, भगवान् कोदण्डपाणि की कृपा आप लोगों पर बरसी तो सत्संग के पुण्य से उस ब्रह्मराक्षस को भी सर्प-योनि से मुक्ति मिल गई।'

●

रघुवंशियों की राजधानी अयोध्या

तमिल भाषा के वाल्मीकि 'कम्बन' कवि के 'कम्ब' रामायण के अनुसार

●

कौसल नाम का धन-धान्य से पूर्ण जनपद सरयू नदी के तट पर बसा हुआ था। उसकी प्रसिद्ध राजधानी का नाम अयोध्या था। उस नगरी का निर्माण स्वयं सम्राट् मनु ने किया था। वह पुरी बारह योजन लम्बी और तीन योजन चौड़ी थी। उसके मुख्य भागों का निर्माण सुन्दर योजना के अनुसार हुआ था।

अयोध्या में जो विशाल राजमार्ग था, वह उत्तम व्यवस्था के अनुसार बनाया गया था। उसके दोनों और कुन्द-पुष्प खिले हुए थे। राजधानी विशाल तोरणों और द्वारों से सुशोभित थी। उसमें दूकानें व्यवस्था के अनुसार श्रेणीबद्ध थीं। वह सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और सब कलाओं में निपुण शिल्पियों से युक्त थी। नगर के चारों ओर दुर्गम परिखा बनी हुई थी और चहारदीवारी पर सैकड़ों शतघ्नियां (तोपें) चढ़ी हुई थीं, जिनके कारण अयोध्या शत्रुओं के लिए दुर्भेद्य थी।

सजावट और आमोद-प्रमोद की भी पूरी सामग्री विद्यमान थी—संगीतशालाएँ थीं, सूत और मागध थे, नाटकघर थे और नर्तकियाँ थीं।

अयोध्या के बाजार बहुत सुन्दर थे। देश-देशान्तर के वणिक् उसमें व्यापार करते थे। सब प्रकार के रत्नों और आभूषणों ने उसे इन्द्र की अमरावती के समान जगमगा रखा था। दुन्दुभी, मृदंग, वीणा आदि वाद्य-यंत्रों के स्वर से वह पुरी सदा प्रतिध्वनित होती रही थी।

रघु के वंशजों की राजधानी में ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ आकाश को छूती थीं और उसके विस्तृत उद्यान पृथ्वी को सुशोभित करते थे। देश-देशान्तर से आये हुए सामन्त लोग राजधानी में सुखपूर्वक निवास करते थे और मुक्तकण्ठ से यहाँ की विभूति का गुणगान करते थे।

अयोध्या में निवास करनेवाले लोग स्वस्थ, धर्मात्मा, ज्ञानवान् और सत्यवादी थे; तथा सभी अपने-अपने वैभव में सन्तुष्ट थे। उस नगरी में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जो दरिद्र हो, ऐसा कोई कुटुम्बी नहीं था, जो सन्तानहीन हो या जिसके घर में गौ, अश्व, धन और धान्य न हों। वहाँ विषयासक्त, कंजूस या क्रूर मनुष्य नहीं मिल सकता था और न अविद्वान और नास्तिक ही दिखायी देते थे। सभी नर-नारी धर्मशील और सदाचारी थे। वहाँ ऐसा कोई पुरवासी नहीं था, जिनके कानों में कुण्डल, सिर पर मुकुट और गले में माला न हो। सब लोग स्निग्ध भोजन करने वाले, दानी, आभूषणों से शोभित और आत्मसम्मान से युक्त थे। ऐसे लोगों का अभाव था, जो यज्ञ न करते हों, क्षुद्र-हृदय हों, चोर हों, दुराचारी हों या वर्णसंकर हों।

मंत्री संख्या में आठ थे। वे मंत्रज्ञ तो थे ही, इंगित और चेष्टाओं से ही दूसरे के मन की बात जान जाते थे। प्रजा के हितैषी थे। आचार-विचार में सर्वथा शुद्ध थे और राज-काज में तत्पर रहते थे।

वहाँ वृद्धजन अपनी सन्तान का अंत्येष्टि संस्कार नहीं करते थे; क्योंकि सब पूरी आयु भोग कर ही मरते थे। मेघ समय पर वृष्टि करते थे। पृथ्वी ऋतु के अनुसार अन्न देती थी। वृक्ष और वनस्पति फूलों और फलों से लदे रहते थे।

●

आशीर्वाद के मोती

(प्राचीन मागधी की एक लोक-कथा)

वैशाख के हृदय में तो कुछ कोमलता भी थी, किन्तु जेठ बड़ा निष्ठुर निकला। उसके रौद्र रोष से धरती की छाती में असंख्य दरारें पड़ गयीं। आम्भिक राज्य की समस्त प्रजा चिल्ला उठी—"इन्द्रदेव। अब तो दया करो।"

कातर प्रजा के सुर-में-सुर मिला कर आम्भिक-नरेश देवलदेव भी इन्द्रदेव से वर्षा की याचना करने लगे—"देवता, अब तो पिघलो, अब तो तुम्हारा कुलिश-हृदय पसीजे। धरती झुलस रही है। पशु-पक्षी बेहाल हैं। —करुणा करो देवाधिदेव।"

राजा और प्रजा की समवेत प्रार्थना स्वीकृत हुई। संतप्त पहाड़ियाँ हुलस उठीं। वन-वनान्तर उल्लसित हो गये और प्यासे पशु-पक्षियों ने छक कर अमृत-पान किया।

राजा देवलदेव ने सोचा— चलूं, जरा अपनी प्रजा को तो देखूं। सभी अब तृप्त तो हैं। श्यामवर्ण घोड़े पर मखमली जीन कस गयी और महाराज मात्र एक अनुचर को साथ लेकर प्रजा के सुख-दुःख के सहभागी बनने के लिए चल पड़े।

जगह-जगह खेतों में हल चल रहे थे। जोताई-बोआई के साथ लोक-संगीत की धारा बह रही थी – सभी आनन्द-मग्न थे। महाराज अपनी प्रजा का श्रद्धा-अभिनन्दन ग्रहण करते हुए बढ़ते गये। मगर एक जगह वे ठिठके बिना नहीं रह सके। बड़ा ही मार्मिक दृश्य था। एक पुरुष हल जोत रहा था, पर उसके हल के एक जुए में एक मरियल बैल था और दूसरे जुए में एक स्त्री। बाँस के पैंने (बैल हाँकने वाली लकड़ी) वह निष्ठुर भाव से एक बार उस बैल की पीठ पर मारता और दूसरी बार उस स्त्री के कूल्हे पर। बैल मूक था, पर स्त्री के मुँह से एक दर्दभरी चीख निकले बिना न रहती। यह करुण दृश्य देख राजा अपने को नहीं रोक सके। जाकर हलवाहे से कहा—"भाई, जरा अपना हल रोको। मैं तुमसे कुछ बातें करना चाहता हूँ।"

"जाओ, जाओ। इस वक्त मुझे बात करने की फुर्सत नहीं। अभी मैं अपना खेत बो रहा हूँ—नहीं बोऊँगा, तो साल भर खाऊँगा क्या ?"

"मेरे भाई, मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ कि तुमने हल के एक जुए में एक स्त्री को क्यों जोत रखा है ? कैसे निर्दय व्यक्ति हो तुम भी....।"

"जाओ-जाओ। बड़ी दया करने वाले हुए स्त्री पर। यह मेरी स्त्री है—मैं इसे जुए में जोतूं या मार डालूं, किसी दूसरे का क्या आता-जाता है इसमें ? —एक बैल मेरा इस बार की गर्मियों में मर गया। रुपये हैं नहीं कि दूसरा बैल खरीदता—बताओ ऐसे में मैं क्या करूँ ?"

"भाई, मैं तुम्हारे लिए दूसरे बैल का इंतजाम कर देता हूँ। तुम यह निष्ठुर कृत्य बन्द करो। खोल दो इस बेचारी को इस जुए से।"

"चलो, हटो—अपनी बाट नापो। बड़े आये बैल का इन्तजाम करने वाले। बैल इस वक्त कहाँ मिलेगा ? सभी किसान अपने खेत जोत-बो रहे हैं।"

"अरे, थोड़ा रुक जाओ। मैं तुम्हारे लिए बैल खरीद देता हूँ। इस बहन को अलग कर दो।" राजा ने तत्काल ही अपने अनुचर को किसी भी कीमत पर बैल खरीद कर लाने को भेज दिया।

"पहले बैल मँगा दो तत्व इसे छोड़ूंगा—देर करने से मेरा खेत तड़क जायगा।"

कह कर उस किसान ने खड़ी हुई नारी की पीठ पर एक जोर का पैना दिया—"खड़ी मत रह, इन मीठी-मीठी बातों से पेट नहीं भरेगा।"

प्रहार से आहत नारी चीख उठी।

राजा अपने को और नहीं रोक सके। उन्होंने विनय-पूर्वक कहा—"मेरे भाई, मेरी इस बहन को तुम जुए से अलग करो। मैं उसके बदले वहाँ आता हूँ—तब तक नया बैल भी आता है।"

राजा स्वयं हल के जुए में जुत गये। मुक्त स्त्री के रोम-रोम से आशीर्वाणी फूट पड़ी—"जुगजुग जीयो अन्न-दाता। तुम्हारा राज अमर हो।"

थोड़ी देर में बैल लेकर अनुचर आ गया। यहाँ का दृश्य देखकर वह क्रोध से उबल उठा। उस मूर्ख किसान को उचित दण्ड देने ही वाला था कि, स्वयं राजा ने उसे रोक दिया।....

बीज अंकुरित हुए। पौधे बढ़ीं। खेतों में हरियाली का आँचल लहरा उठा। धीरे-धीरे पौधों में मोचे लगे।

घनहरे फूटे और मकई के दुधिया दाने के मोचों के पालने में पुष्ट होने लगे।.... किसान रोज-रोज आकर देखता और आकर खीझ उठता—जिन जगहों पर राजा ने धारी लगायी थी, उन जगहों पर पौधे तो अच्छे उगे, मोचे भी लगे, पर आश्चर्य कि उनमें घनहरा नहीं फूटा जब कि और पौधों में भुट्टे पकने लगे।

किसान ने अपने घर आकर गालियाँ देते हुए स्त्री से कहा—"देख। तू कहती थी कि राजा बड़ा धर्मात्मा है। अरी, इस पापी ने जहाँ-जहाँ पैर रखे हैं; उन पौधों में एक भी घनहरा नहीं फूटा है। मेरी तो तकदीर ही फूट गयी। सर्वनाश हो ऐसे राजा का।"

लेकिन स्त्री के हृदय को प्रतीति नहीं हुई। राजा की दयामयी मूर्ति उसकी आँखों के आगे नाच उठी। वह दौड़ी हुई खेत पर गयी तथा मोचा छील कर देखा—अरे! इसमें तो दानों के बदले मोतियों की धारियाँ हैं, चमकीले, पुष्ट और सुन्दर मोतियों की। दुगुनी तेजी से वह घर लौटी और पति से कहा—"तुम क्या जानो हमारे धर्मात्मा राजा को। उन्होंने जितनी दूर में धारी लगायी, उसमें मोती-ही-मोती फले हैं।" कहते हुए उसने उन दानों में से एक दाना पति के हाथ में दे दिया।

× × ×

सारा दरबार किसान के मुख से खेत में राजा के हल जोतने और मोतियों की उपज की चर्चा सुनकर चकित था। किसान ने राजा के चरणों पर लोटते हुए कहा—"धर्मावतार, मेरे अपराध क्षमा कर दीजिए। गरीबी ने मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी। आप सचमुच देवता हैं।"

किसान-पत्नी ने राजा के चरणों के पास मोतियों का ढेर रखते हुए कहा—"और यह है प्रजापालक के पुण्यों का पुनीत प्रसाद।..."

राजा ने किसान को सस्नेह बाहुओं में भरते हुए कहा—"मेरे भाई, तुम गलत समझते हो। ये मोती मेरे प्रभाव से नहीं, तुम्हारी इस साध्वी पत्नी के आशीर्वाद के हैं। मेरे अनुरोध पर तुमने जुए से उसे अलग किया, तो उस साध्वी के रोम-रोम से मेरे प्रति आशीर्वाद फूट निकले थे। वे ही इन मोतियों के रूप में प्रकट हुए हैं। तुम मेरे बदले मेरी इस पुनीत-चरित्रा बहन से क्षमा माँगो, जिसका तुम हमेशा अनादर करते रहे हो।"

शर्मायी हुई किसान-पत्नी ने हाथ जोड़कर कहा—"नहीं, महाराज! इन्होंने कोई अपराध नहीं किया। मैं इनकी सहधर्मिणी हूँ। जीवन-यात्रा में साथ-साथ समरस भाव से, दुःख-सुख झेलकर चलना मेरा कर्त्तव्य है। बैल के अभाव में ये मुझे जुए में न जोतते तो और क्या करते?" ●

संत तुकाराम

श्री तुकाराम के माता-पिता परलोकवासी हो चुके थे। बड़े भाई विरक्त होकर तीर्थयात्रा करने चले गये थे। परिवार का पूरा भार तुकारामजी पर था और तुकारामजी थे कि उन्हें माया-मोह सिर पटककर थक गया, पर स्पर्श कर नहीं पाया।

पैतृक सम्पत्ति अस्त-व्यस्त हो गयी। साहूकारों ने कर्ज देना बन्द कर दिया। घर में जो कुछ था, साधुओं और दीन-दुखियों की सेवा में समाप्त हो चुका। दुकान का काम ठप हो गया। परिवार में उपवास करने की नौबत आ गयी। परिवार भी कितना बड़ा—दो स्त्रियाँ, एक बच्चा, छोटा भाई और और बहिनें। सब निर्भर थे तुकारामजी पर। पर तुकाराम—वे तो सांसारिक प्राणी थे ही नहीं।

एक बार खेत में गन्ने तैयार हुए। तुकारामजी ने गन्ने काटे और बोझा बांधकर सिर पर रक्खा। गन्ने बिकें तो घर के लोगों के मुख में अन्न जाय। लेकिन मार्ग में बच्चे इनके पीछे लग गये। वे गन्ने मांग रहे थे। जो सर्वत्र अपने गोपाल के दर्शन करते हों, कैसे अस्वीकार कर दे। बच्चों को गन्ने मिले। वे प्रसन्न होकर उन्हें तोड़ते, चूसते चले गये।

तुकारामजी जब घर पहुँचे, उनके पास केवल एक गन्ना था। उनकी पहली स्त्री रखमाई चिड़चिड़े स्वभाव की थी। भूखी पत्नी ने देखा कि उसके पतिदेव तो केवल एक गन्ना छड़ी की भाँति लिये चले आ रहे हैं। क्रोध आ गया उसे। उसने तुकारामजी के हाथ से गन्ना छीनकर उनकी पीठ पर दे मारा। गन्ना टूट गया। उसके दो टुकड़े हो गये। तुकाराम के मुख पर क्रोध के बदले हँसी आ गयी। वे बोले—'हम दोनों के लिये गन्ने के दो टुकड़े मुझे करने ही पड़ते। तुमने बिना कहे ही यह काम कर दिया। बड़ी साध्वी हो तुम।'

तमिळ वेद 'तिरुकुरल'

श्री रामलखन मिश्र

जब मानव ने आखें खोली और माँ वसुंधरा का दर्शन किया तो उसने देखा कि सुनहले परिवेश में ऊषा मुस्करा रही थी; उसके स्वागत में, लहलहाती डालियों में पंछी गा रहे थे, लताओं-टहनियों में रंग-बिरंगे पुष्पदल झूम रहे थे। मानव को कुछ आहट मिली, वह आश्चर्य चकित आँखों को यहाँ-वहाँ घुमाते हुए चल पड़ा। कुछ दूर जाने पर वह देखता हैं, एक रुपहला झरना, छलछल-कलकल की ताल में थिरकता चला जा रहा था। झरने के किनारे के पेड़ पर कोयल कूक उठी। यह सब देखकर उस आदि मानव के मुँह से, "यह क्या ?" अचानक निकल गया।

आदिमानव के इसी प्रश्न 'क्या ?' के भीतर मानव संस्कृति, अध्यात्म, धर्म, एवं सभ्यता का बीज छिपा था। वह बीज प्रस्फुटित हो, कालान्तर में विशाल बट वृक्ष बन मानवता को शीतल छाँव दे रहा है, और भविष्य में देता रहेगा।

इस वट वृक्ष के संवर्धन में भारत का योगदान निश्चय ही सर्वोपरि रहा है। हमारे वेद प्राचीनतम हैं, ये कब लिखे गये, इनके रचयिता कौन थे, यह आज भी रहस्य की बात है। उपनिषद और पुराणों ने वेदों की व्याख्या कर उन्हें अधिक बोधगम्य बनाने का प्रयास किया। शंकराचार्य, स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस एवं विवेकानन्द प्रभृति महापुरुषों ने भारत भूमि में अवतरित हो, इसके विकास में अमूल्य योगदान किया।

हमारे मनीषियों और तत्वचिंतकों का उदय भारत के चाहे जिस कोने में हुआ हो, काश्मीर से कन्याकुमारी और द्वारिका से गंगासागर तक इनका स्वागत पूरे मन और श्रद्धा से किया गया। आज ये सम्पूर्ण भारत के हृदय के हार हैं।

इन्हीं महापुरुषों में एक थे, तमिल धरती पर जन्म पाने वाले तिरुवल्लुवर। प्रथम शब्द 'तिरु' ठीक वैसा ही है जैसे 'श्री' अथवा 'श्रीमद्'। तिरुवल्लुवर का आविर्भाव किस काल में हुआ था, इस पर विद्वानों में आज भी मतभेद बना हुआ है, किन्तु अधिकांश विद्वानों के मत से इनका समय ईसा की दूसरी शताब्दी निश्चित किया गया है।

तिरुवल्लुवर का ग्रंथ है 'तिरुकुरल।' 'कुरल' तमिल का दो पंक्तियों का छंद विशेष है।

हमारे अधिकांश प्राचीन ग्रंथों में, आत्मा, परमात्मा, जीवात्मा जैसे गूढ़ और सूक्ष्म तत्वों का विवेचन कर मोक्ष-प्राप्ति के मार्गदर्शन को प्रमुखता दी गई है। यह सूक्ष्मतत्व-विवेचन जन साधारण की समझ के बाहर की वस्तु थी, यही कारण था कि समय-समय पर, हमारे यहां ऐसे विचारक भी हुए जिन्होंने मानवजीवन की व्यावहारिकता को परखा और अपने विचार, जनता की समझ में आनेवाली भाषा में, इस प्रकार व्यक्त किया, जिससे मानव जीवन सुखमय, शांतिमय और सफल बन सके। तिरुवल्लुवर इन्हीं विचारकों में हैं। वल्लुवर ने जीवन के हर क्षेत्र की भलीभांति समझ कर, जीवन की व्यावहारिकता को अपना लक्ष्य मान कर, हमें जीवन-व्याकरण दिया है। यह व्याकरण, निश्चय ही अद्वितीय, अनुपम और अनूठा है, और यही कारण है कि 'तिरुकुरल' तमिल वेद माना जाता है, और इसका अनुवाद देश-विदेश की अनेक भाषाओं में किया जा चुका है।

एक बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि 'कुरल' किसी धर्म विशेष का पक्षधर नहीं है, वह मानव-धर्म का पक्षधर है। विश्व के हर देश, व प्रत्येक जाति व संप्रदाय का अपना ग्रंथ है।

'कुरल' तीन सर्गों में विभक्त है—(१) अरत्तुप्पाल, (२) पोरुट्पाल, और (३) कामत्तुप्पाल। प्रथम है धर्म विवेचन; दूसरे में अर्थ और तीसरे में 'काम' की विवेचना की गई है। इसमें कुल एक हजार तीन सौ तीस छंद हैं।

भारतीय संस्कृति की परम्परानुसार 'कुरल' का आरंभ ईश्वराधना से होता है—

अकरम् मुदल् एळुत्तेल्लाम्; आदि
भगवन् मुदट्रे, उलक।

जिस तरह भाषा में सर्वप्रथम स्थान 'अ' वर्ण का हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम स्थान आदि परमेश्वर का है। यही परमेश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता और आदि, मूल कारण है। इस परमेश्वर को हम चाहे जिस नाम से पुकारें, वह एक है।

इसी आदि परमेश्वर का चिंतन करते हुए जीवन यापन करना ही वास्तविक जीवन है। अपने ज्ञान के दम्भ के कारण परमपिता परमेश्वर की उपेक्षा करना मनुष्य में अज्ञान का ही प्रदर्शक है। परमेश्वर को आदर्श मान कर, उसीके अनुरूप अपने जीवन को ढालना ही सच्चा ज्ञान है—

कट्रदनाल् आय पयन् एन् कोल्, वाल् अरिवन्
नट्राल् तीळा अर् एनिन् ?

सर्वज्ञ, परमेश्वर के चरणों में ध्यान न लगानेवाले व्यक्ति की शिक्षा का क्या फल ? ज्ञान के दंभ में परमेश्वर की उपेक्षा करने से हमारे ज्ञान का हमें कोई फल नहीं मिल सकता।

इस 'कुरल' का आशय है कि ज्ञान के दंभ में लोग दूसरों को हेय दृष्टि से देखने लगते हैं; हमें ज्ञान-वृद्धि निरंतर करते रहना चाहिये किंतु झूठे दंभ में आकर जगत की उपेक्षा न करनी चाहिये। जग की उपेक्षा करना ईश्वर की उपेक्षा करना है—

मलर्मिसै एहिनान् माण् अडि सेन्दार्
निलमिसै नीडु नाळ वाळवार्

परमपिता परमेश्वर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय-सुमन में विचरण करता है; उसी परमात्मा के पुनीत चरणों में शरण लेनेवाला व्यक्ति संसार में चिरकाल तक रहेगा। 'कुरळ' संस्सार को निसार, दुखमय नहीं मानता; इस संसार को ही शाश्वत घर मानता है। तत्पर्य यह है कि मानवता की सेवा ही परमधर्म है और वह सेवा संसार में रह कर ही की जा सकती है। यह सेवा-भाव उत्पन्न होने की स्थिति में—

वेण्डुदल वेण्डामै इलान् आदि सेन्दर्कु
याण्डुम् इडुम्बै इल।

सब प्रकार के राग-विरागों से मुक्त होकर, पूर्ण निष्काम भाव से कर्तव्य करनेवाले को जीवन में कभी भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं भोगना पड़ता। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि 'कुरळ' संसार से विरक्त होकर अकर्मण्य बन जाने की बात करता है, तात्पर्य यह है कि हमारे मन में स्वार्थ की भावना और अपने किये हुए कार्य के प्रतिफल के ऊपर किंचित् मात्र कामना नहीं होनी चाहिये। गीता का कर्मयोग ही 'कुरळ' का भी कर्मयोग है। कर्तव्य-फल की चाह अज्ञान का प्रतीक है। अज्ञानरूपी अंधकार को हटा कर धर्म पालन करना ही मानव जीवन का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। धर्म के विषय में 'कुरळ' कहता है—

अरन्तिनूङ्गु आक्कमुम् इल्लै अदनै
मस्तलिन् ऊङ्गु इल्लै केडु

संसार में मनुष्य के लिये धर्म से बढ़कर कोई दूसरी सम्पत्ति नहीं है और धर्म को भुला देने के समान कोई दूसरा दुर्भाग्य नहीं है। जीवन-पर्यन्त, प्रत्येक पारिस्थिति में धर्म-मार्ग से विलग न होना ही मानव जीवन की सार्थकता है। 'कुरळ' का धर्म कोई धर्म विशेष—सम्प्रदाय धर्म—नहीं है, वह सार्वकालिक और सार्वदेशिक धर्म है। 'कुरळ' कहता है—

मनन्तुक्कण् मासिलन् आदल् अनैन्तु अरन्
आकुल नीर पिर।

मन का पूर्ण पवित्र होना ही धर्म है शेष सभी चीजें मात्र आडंबर है। मन पवित्र हो तो बाह्य धार्मिक आडंबर करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'कुरळ' आगे स्पष्ट कहता है—

अळुक्कारु[1] अवा[2] वेकुली[3] इन्नाच्चोल्[4] नन्कुम्
इळुक्का इयण्ड्रदु अरम्।

ईर्ष्या[1], लालच[2], क्रोध[3] और कठोर वचन[4], इन चारों का पूर्ण त्याग ही सच्चा धर्म है। यहाँ स्पष्ट है कि 'कुरळ' का धर्म साम्प्रदायिकता से परे, मानव धर्म है। पवित्रता, श्रेष्ठ आचरण, मानव सेवा और प्रेम भाव ही धर्म के अंग हैं। संसार के सभी भौतिक सुख धर्म-सुख के सामने तुच्छ हैं—

अस्तान् वरुवदे इन्बम् मट्र एल्लाम्
पुरन्त पुकळुम् इल।

धर्म-मार्ग से प्राप्त होनेवाला सुख ही सच्चा सुख है, धर्म-मार्ग से रहित, इतर मार्गों से प्राप्त होनेवाले सभी

प्रकार के सुख, जीवन में नाना प्रकार के कष्टों के साधन मात्र हैं, उन सुखों के कारण हमें संसार में लज्जित होने के अलावा कोई दूसरी चीज प्राप्त नहीं होती।

यह स्पष्ट है कि 'कुरळ' का धर्म, शास्त्रार्थों की भूल-भूलैया में उलझी हुई कोई ऐसी सूक्ष्म वस्तु नहीं है जिसको शुद्ध मन से न समझा जा सके। पचेन्द्रियों के वशीभूत न हो, उनको अपने वश में कर, समस्त प्राणीजगत को निष्काम भाव से सेवा करना, सबके प्रति प्रेमभाव रखना ही वास्तविक धर्म है। समाज में व्याप्त धारणा के अनुसार धर्म-पालन हेतु, मनुष्य को संसार का त्याग कर संन्यास लेने अथवा जंगल में धूनी रमाने की आवश्यकता नहीं है।

'कुरळ' के अनुसार वह प्रत्येक व्यक्ति महात्मा होता है—

अन्दणन्[४] एन्बोट अरवोर[3], मट्र एव्वुयिर्क्कुम्[1]
सेन्दण्मै[२] पूण्डु ओळुकलान्।

सब प्राणियों[1] के प्रति करुणा[२] भाव रखनेवाला व्यक्ति, धर्मकर्त्ता[3] महात्मा होता है।

किसी भी धार्मिक स्थल में नाना प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों—पूजा, आराधना, प्रार्थना आदि—के माध्यम से ईश्वरीय वरदान प्राप्त करने पर कुरळ का विश्वास नहीं है, परमेश्वर स्वरूप मानव की सेवा करना, उसके प्रति निष्काम प्रेमभाव रखना ही सच्चा धर्म है।

अरन्तु आट्रिन् इल्वाळ्कै आट्रिन्, पुरन्तु आट्रिल्
पोओयि पेरुवदु एवन ?

संसार में रहकर, जो व्यक्ति धर्म-मार्ग से कौटुम्बिक जीवन यापन करता है, उसके लिए संन्यास-मार्ग से प्राप्त करने के लिये कुछ भी नहीं है। जिस व्यक्ति की आत्मा और मन पवित्र नहीं है, जिसके कार्यों से लोक-कल्याण नहीं होता, जिसके मन में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम भाव नहीं है, वह चाहे भले संन्यासी का वेश धारण कर ले, वह सच्चा महात्मा कदापि नहीं हो सकता, उसका वेश, मात्र दिखावा है, धोखा है। वह संसार के साथ साथ स्वयं को भी धोखा देता है।

मनन्तु मासु आक... "

पानी की सतह में कोई कमी रहने से उसमें परछाईं नहीं दिखती, उसी प्रकार मन में कलुष होने से कोई भी व्यक्ति परमात्मा के दर्शन नहीं कर सकता। शुद्ध और पवित्र मन के लक्षण क्या हैं ? कुरळ कहता है—

'यान[१]' 'यनदु[२]' एन्नुम् सेरुक्कु अरुप्पान् वानीर्क्कु[3]
उयर्न्द[४] उलकम् पुकुम्।

'मैं[१]' और 'मेरा[२]', इस अज्ञान से मुक्त होनेवाला व्यक्ति उस लोक को प्राप्त करेगा जो देवलोक[3] से भी श्रेष्ठ है। सच्चे महात्मा का लक्षण इस अज्ञान से दूर होना ही है, फिर वह चाहे संसार में रहे या विरक्त रहे। यह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना ही 'कुरळ' का धर्म है।

अन्बु[1] ईनुम् आर्वम्[२] उडैमै अदु ईनुम्
नन्बु एन्नुम् नाडाच्चिरप्पु।

प्राणिमात्र के प्रति प्रेम भाव[1] से भक्ति[२] उत्पन्न होती है, और भक्ति से सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है, जो सभी धार्मिक क्रियाओं का लक्ष्य है।

प्रेम-विहीन हृदय के संबंध में 'कुरळ' कहता है—

अन्बु इलदनै वेयिल पोल कायुमे
अन्बु इलदनै अरन्।

मेरुदंड मानव शरीर का सहारा है, मेरुदंड के बिना शरीरकी गतिकी कल्पनाकी नहीं जा सकती है, उसी प्रकार आत्मा के लिए प्रेम भाव आवश्यक है; प्रेम रहित आत्मा मेरुदंड रहित कीड़े की तरह है जिसे प्रखर सूर्य की किरणें सहज में ही भस्म कर देती हैं। प्राणिमात्र के प्रति प्रेम भाव न होने से मानवता का विकास संभव नहीं है।

संसार में यदि सभी लोग संन्यास ले लेंगे तो ऐसी स्थिति आ जायगी कि आदमी का जीवन ही असंभव हो जायगा। भरण-पोषण एवं अन्य शारीरिक एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति दुर्लभ हो जायगी, इसीलिये 'कुरळ' संन्यास से अधिक महत्व गृहस्थ-जीवन को देता है।

दुर्लभ मानव जन्म पाकर, हम सच्चे मानव बनें, आदि भगवान् को आदर्श मान उसी के अनुरूप अपने जीवन का निर्माण करें, प्राणिमात्र के प्रति हमारे मन में प्रेम भाव हो, अपने इन्द्रियों को वश में कर पवित्र मन और सच्ची लगन से मानवता की सेवा करें, यही 'कुरळ' का धर्म है। ●

चीर-हरण प्रसंग

श्री हरीन्द्र दवे

द्यूत क्रीड़ा, अंधी आँखों को सिकोड़कर पासों की खड़खड़ सुनते धृतराष्ट्र का कूट प्रश्न : 'संजय, क्या हुआ, कौन जीता ?' आदि तो सुविदित हैं; फिर भी जहाँ कृष्ण उपस्थित नहीं हैं, फिर भी कृष्णा—द्रौपदी जिसमें जीतती है उस द्रौपदी के चीर-हरण का प्रसंग जरा देख लें। युधिष्ठिर सब कुछ हार जाने के बाद अपने आप को दाँव पर लगाते हैं; अपने आपको भी हार गये तब वे शून्य मनस्क बन गये हैं तब शकुनि कहता है :

अस्ति वै ते प्रिया देवी ग्लह एकोपराजितः
(सभा. ५८; ३१)

अभी तुम्हारी प्रिय पत्नी बची है; वह अपराजित है। उसे दाँव पर लगाओ!

युधिष्ठिर जिस वस्तु को दाँव पर लगाते थे उसका वर्णन करते थे; इस समय भी वे द्रौपदी स्त्री या मानवी है यह भूल जाते हैं, और अपनी मिल्कियत हो इस प्रकार उसका वर्णन करते हैं। इसीसे यह वर्णन रूपसुन्दरी स्त्री का होने के बावजूद युधिष्ठिर के मुख से इस संयोग में जब सुनने में आते हैं, तब मन को आघात पहुँचता है। वे कहते हैं :

नैव ह्रस्वा न महती नाति कृष्णा न रोहिणी
सरागरक्तनेत्रा च तथा दिव्याम्यहं त्वया।
शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पल गंधया,
शारदोत्पल सेविन्या रूपेण श्री समानया॥
(सभा. ५८; ३२-३३)

वह न नाटी है, न लम्बी, न बहुत काली है, न बहुत गोरी, सुन्दर लाल नेत्रोंवाली, शरद ऋतु के कमल जैसी आँखोंवाली, शरद ऋतु के कमल जैसी गंधवाली और रूप में कमल पर विराजमान लक्ष्मी जैसी पांचाली.........

यह वर्णन आगे चलता है; बेले के फूलों जैसे शोभायमान मुख मण्डलवाली, वेदी जैसी पतली कमरवाली, अल्प-रोमावलीवाली, चारु अंगोंवाली—ऐसी द्रौपदी (ग्लहः) को दाँव पर लगाता है युधिष्ठिर!

और हारता है!

रजस्वला, शृङ्गारविहीन, एक वस्त्र पहने हुए द्रौपदी को दुःशासन राज सभा में घसीट लाता है, उस समय द्रौपदी के इन शब्दों की गरुवाई देखने लायक है! उसे खींचकर लाते समय दुःशासन कहता है :

कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोश नयामि हि त्वाम्
(सभा. ५०; २६)

कृष्ण, अर्जुन हरि या नर जिसे चाहे तू अपनी रक्षा के लिये पुकार ले। मैं तुझे घसीट कर ले जा रहा हूँ।

कृष्ण का नाम यहाँ लिया जाता है। इससे पूर्व इस समूची कपट-सभा में कृष्ण कहीं नहीं थे। कृष्ण के नाम का सर्व प्रथम उच्चार दुःशासन करता है। कभी-कभी शत्रु ही हमारे स्वजन को नजदीक ला देते हैं, ऐसी ही यह घटना है। द्रौपदी कहती है :

'स्वयंवर के समय रंग मंडप में एकत्र हुए राजाओं की दृष्टि जिस पर पड़ी थी, इससे पूर्व जिसे उन्होंने देखा नहीं था, ऐसी मैं आज सभा के बीच खड़ी हूँ। इससे पहले घर के अन्दर वायु और सूर्य ने भी जिसे नहीं देखा था, ऐसी मैं याज्ञसेनी द्रौपदी जनसम्मेलन में अर्धवस्त्र में खड़ी हूँ। जिसे वायु भी स्पर्श करे इतना भी सहन न करनेवाले पाण्डवगण, आज दुरात्मा दुःशासन मेरा स्पर्श कर रहा है यह देख रहे हैं।

कृष्णा को भी कृष्ण विलम्ब से याद आते हैं; वह पहले तो भीष्म आदि धुरंधरों का मुँह बन्द कर देनेवाले प्रश्न पूछती है : 'धर्मराज मुझे हारे तब अपने आपको हार चुके थे या नहीं ? अपने आप को हार चुका मनुष्य

मुझे दाँव पर लगा सकता है क्या ? मैं उत्तर चाहती हूँ कि इस द्यूत में जीती हुई हूँ या बिन जीती ?'

भीष्म तो 'युधिष्ठिर जैसे धर्मराज कुछ भी करें उस पर टीका-टिप्पणी करनेवाला मैं कौन हूँ' कहकर बच निकलते हैं। पर दुर्योधन का भाई विकर्ण कहता है :

मृगया पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवाति सक्तताम्

(सभा. ६१; २०)

शिकार, मद्यपान, जुआ और वासना विवशता : इन चार में से किसी भी व्यसन से घिरा हुआ पुरुष कोई भी आचरण करे वह अधर्म ही होगा। ऐसे अयोग्य पुरुष द्वारा किये गये 'अयुक्त' कार्य को लोग प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करते ।

ये शब्द विकर्ण कहता है ? कि अब तक कृष्णा सहित किसी को भी जिनकी याद नहीं आयी है वे कृष्ण ही विकर्ण के मुख से बोल रहे हैं ? आरण्यक पर्व में कृष्ण वनवासी पाण्डवों से मिलने आते हैं तब वे कहते हैं : मैं द्वारका में नहीं था, नहीं तो अवश्य ही बिना बुलाये भी द्यूत सभा में आता और कहता—

'स्त्रियोक्षा मृगया पानमेतत्काम समुत्थितम्'

(आरण्यक. १४; ७)

स्त्रियों में असक्ति, जुआ, शिकार, तथा मद्यपान ये चार दोष मनुष्य को श्रीहीन कर डालनेवाले हैं ।

कृष्ण के मुख से बाद में कहे जानेवाले शब्द द्यूत सभा में दुर्योधन का भाई विकर्ण बोलता है, यह सूचक घटना है। कृष्ण उपस्थित न रहकर भी द्यूत सभा में अपना मत व्यक्त कर रहे थे ।

द्रौपदी को भी कृष्ण की याद विलम्ब से आती है :

वासुदेवस्य च सखी (सभा. ६२; १०)

इन शब्दों के रूप में ही यह स्मरण आता है। और फिर तत्काल ही धृतराष्ट्र को जो कुछ हो रहा है उसकी विषमता समझ में आती है। और वे द्रौपदी से वरदान माँगने को कहते हैं जिसके द्वारा द्रौपदी अपने पतियों को और स्वयं को मुक्त कराती है ।

पाण्डवों से वनवास के दरमियान जब कृष्ण मिलते हैं तब द्रौपदी अपने अपमान और यातना का वर्णन करती है। आरण्यक पर्व का तेरहवाँ अध्याय द्रौपदी की आर्त पुकार का ही अध्याय है। वह कहती है :

कथ नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो,
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत यादशी ।

(आरण्यक. १३; ५३)

पाण्डवों की भार्या, आपकी सखी, धृष्टद्युम्न की बहन को दुःशासन किस प्रकार सभा में घसीट लाया था इसकी आपको खबर है, कृष्ण ?

और ऐसा कहकर द्रौपदी आगे कहती हैं :

नैव मे पतयः सन्ति, न पुत्रा मधुसूदन,
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं च बांधवाः ।

(आरण्यक. १३; ११२)

न मेरे पति हैं, न पुत्र हैं, न भाई हैं, न पिता; अरे मधुसूदन, आप भी नहीं हैं ।

"नैव त्वं"—'आप भी नहीं हैं' इन शब्दों में छिपा रोष समझ में आता है। तब कृष्ण और कुछ नहीं कहते। केवल इतना वचन देते हैं कि जिस प्रकार आज तू रो रही है। इसी प्रकार एक बार तेरी यह हालत करनेवालों की पत्नियाँ भी रोयेंगी। और फिर कृष्ण यदा कदा ही बोलते हैं ऐसी गर्वोक्ति आती है, : 'न मे मोघं वचो भवेत' (आरण्यक. १३; ११३) मेरा वचन मिथ्या नहीं होगा।

इस वनवास के दौरान पाँच वर्ष इन्द्र के साथ स्वर्ग में रह आता है। यहाँ कृष्ण द्वारा अर्जुन की वासना नियंत्रित कर देने के बाद उसमें हुए परिवर्तन की बात नोट करने लायक है। वह वापस आकर कहता है :

पश्यंश्चाप्स रसः श्रेष्ठा नृत्यमानाः परंतप ।

(आरण्यक. १६५; ५६)

मैंने वहाँ श्रेष्ठ अप्सराओं को नृत्य करते देखा, पर वह आगे कहता है : 'तत्सर्वं मनव ज्ञाय' (आरण्यक. १६५; ५६) इन सबकी अनदेखी करके मैं तो शस्त्रविद्या में निपुणता हासिल करने में मशगूल रहा। अर्जुन का पिछला बारह बरस का वनवास निरर्थक था। पर इस बार उसने तपश्चर्या की, साधना की, शिव को प्रसन्न किया, इन्द्रासन पर बैठा और दिव्य शस्त्र प्राप्त किये।

अर्जुन और कृष्ण के सम्बन्धों के अनुसन्धान में आरण्यक पर्व में की एक दूसरी घटना भी नोट करने लायक है। पाण्डव काम्यक वन में वास करते थे तब द्रौपदी पर कुदृष्टि डालकर उसका हरण करने का प्रयत्न करनेवाला जयद्रथ, पाण्डवों के हाथों अपमानित होता है। युधिष्ठिर उसे 'अदासो गच्छ मुक्तोसि' कहकर दासभाव में से मुक्त कर देते हैं: ऐसा अपमान सहने के बाद जयद्रथ दुख से व्याकुल होकर गंगाद्वार जाता है, और वहाँ विरुपाक्ष उमापति (शिव) की घोर आराधना करने लगता है। शिव प्रसन्न होकर वरदान माँगने को कहते हैं तब जयद्रथ माँगता है:

समस्तान्सरथान्पंच जयेयं पांडवान्

(आरण्यक. २५६; २७)

"पाँचों पांडवों को उनके रथ के साथ मैं युद्ध में जीतूँ" ऐसा वर जयद्रथ माँगता है।

वर माँगने को कहकर मुकर जाने के उदाहरण हमारे पुराणों में नहीं हैं; पर यहाँ तो शिव 'नेति' कहकर ही जवाब दे देते हैं।

'यह वरदान नहीं मिल सकता' ऐसा स्पष्ट उत्तर देने के बाद शिव इतना आश्वासन देते हैं कि पांडव अजेय और अवध्य हैं। इसके बावजूद एकमात्र अर्जुन को छोड़कर बाकी चारों को तूं युद्ध में रोक सकेगा! अर्जुन को छोड़कर क्यों? शिव इसका स्पष्टीकरण करते हैं:

यमाहुरजितं देवं शंख चक्र गदाधरम्,
प्रधानः सोस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते।

(आरण्यक. २५६; २९)

एक तो अर्जुन शस्त्रविदुषां—शस्त्र विद्या के जानकारों में अग्रणी है, मुख्य है; और शंख, चक्र, गदा आदि धारण करनेवाले अजेय श्री कृष्ण उसकी रक्षा करते हैं।

अर्जुन की महान् सिद्धि उसके शस्त्रविद् होने में नहीं है, उसे कृष्ण की रक्षा प्राप्त है इसमें है। और इसीसे तो 'माँग, माँग, जो माँगेगा वह दूँगा' यह कहने के बाद आशुतोष और उदारचित्त शिव 'नेति' कहकर वरदान देने से इनकार कर देते हैं; ऐसा अनन्य प्रसंग सर्जित होता है। वरदानों की कथा में जयद्रथ का तप और शिव के इस वरदान की कथा कृष्ण-अर्जुन के संबंधों के कारण चिरस्मरणीय है। (क्रमशः)

अनु० : डॉ० भानुशंकर मेहता

●

(पृष्ठ ९ का शेषांश)

समझाने का प्रयत्न करता है। मगर हम उनकी बात मानते नहीं और दलदल में ही खुशी से निवास करते हैं। अन्त में अपनी व्यथा से व्यथित होकर ब्रह्मरूपी अन्तःकरण संहार (दुःख, मृत्यु, विनाश) के देव शंकर का सहारा लेता है। दुःख रूपी शंकर हमें हमारा स्वरूप पहचनवाने का प्रयत्न करते हैं मगर हम पहचानना नहीं चाहते, तब दुःखरूपी शंकर आघातरूपी त्रिशूल से हमें बोध कराते हैं। आघात पर आघात सहते-सहते हमलोग अपना स्वरूप पहचाने को बाध्य होते है। इस छोटी-सी प्रतीकात्मक कहानी में हमारे ऋषियों ने कितना बड़ा तथ्य छिपा रखा है। ऐसे रहस्यमय प्रतीकात्मक ज्ञानी उन सुधियों को मेरा कोटिशः प्रणाम।

इस प्रकार हमें यह दुःख नहीं होना चाहिये कि हमारे जीवन में आघात, दुःख आ रहे हैं—ये तो वरदानस्वरूप हमारे जीवन में, हमारे असली स्वरूप को पहचानने का सुनहरा मौका लिये आ रहे है—अतः स्वागत करें आने वाले दुःखों और आघातों का।

●

दीक्षा

कहानी क्या है, संतों के मणिमय कोष का एक अनमोल मोती है। ईसाई धर्म सारे यूरोप की मानस-तरंगों को उद्वेलित कर रहा था। सदियों की आध्यात्मिक जड़ता ईसा के अमृत वचनों के स्पर्श से नया चैतन्य प्राप्त कर रही थी। संत आगस्टीन की प्रेरित वाणी इन वचनों को घर-घर का स्तवगान बना चुकी थी। किन्तु आगस्टीन का अन्तःकरण तन-मन को ज्योतित कर देने वाली ईश्वरानुभूति के अभाव में संताप-विजडित था। चिन्तन में लीन एक दिन वह समुद्र-तट पर निकल गये। टहलते-टहलते वे एक बालक के समीप जा कर रुके, जो रेत में बने एक गड्ढे में सीपियां भर-भर कर पानी डाल रहा था। दोनों हाथों में सीपियां लिये वह तेजी से किनारे दौड़ता, पानी लाता और लाकर उसे गड्ढे में उड़ेलता। आश्चर्य-स्तब्ध आगस्टीन लगभग आधे घंटे तक बालक की यह दौड़-धूप देखते रहे, किन्तु तन्मय बालक को भान भी नहीं हुआ कि, कोई अजनबी उसके पास खड़ा उसे देख रहा है। अन्ततः आगस्टीन ने बांह पकड़ कर बालक को रोका और पूछा, तो उत्तर मिला—"क्या आप नहीं देख रहे हैं, मैं इस महासागर को इस गड्ढे में उड़ेल रहा हूं।"

बालक फिर अपनी क्रीड़ा में लीन हो गया। आगस्टीन ने बालक की कोमल केशराशि को सस्नेह सहलाया और कहा—"वत्स, यह कैसे सम्भव हो सकता है? गड्ढे में सागर कैसे समायेगा?" उत्तर में बालक खिलखिला कर हँस पड़ा—'वाह! समायेगा क्यों नहीं, अगर मैं कुछ दिन इसी प्रकार इसमें पानी डालता रहा, तो एक दिन गड्ढा इस महासागर से भी ज्यादा बड़ा हो जायगा। क्या आपको ईशू के ये शब्द मालूम नहीं—

"यह सही है कि, शुरू में हमारा हृदय एक गड्ढे की तरह संकीर्ण होता है, किन्तु एकाग्र साधना के द्वारा एक दिन उसे ऐसा विस्तृत बनाया जा सकता है कि, विराट परमात्मा भी आकर उसमें निवास करने लगे।"

अबोध बालक की इस निर्मल वाणी ने संत आगस्टीन के सारे आध्यात्मिक अवसाद को छिन्न-भिन्न कर दिया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानो स्वयं करुणामूर्ति ईसा ही बालक के रूप में उन्हें आत्मा का मार्ग दिखा रहा है। अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति भाव के साथ घुटने टेक कर उन्होंने यह गुरु-दीक्षा शिरोधार्य की।

—संत आगस्टीन की एक बोधकथा के आधार पर

गांधीजी द्वारा कुष्ठरोगी की सेवा

सत्य और अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी—भारत के राष्ट्रपिता। उनको ठीक ही तो राष्ट्र 'बापू' कहता है। भारत के अर्धनग्न दीनों का वह प्रतिनिधि—वह लँगोटीधारी तपस्वी।

महात्माजी का जीवन ही त्याग और सेवा का जीवन है। अपना सम्पूर्ण-जीवन उन्होंने दरिद्र-नारायण की सेवा में समर्पित कर दिया था। पीड़ितों की, दुखियों की, अभावग्रस्त दलितों की, रोगियों की—प्रत्येक कष्ट में पड़े प्राणी की सेवा का सदा समुद्यत और सावधान वह महा-पुरुष। सेवा में उन्हें आनन्द आता था। सेवा उनकी आराधना थी।

सन् १७३९ की बात है। सेवाग्राम के आश्रम के अध्यापक श्री परचुरे शास्त्री रुग्ण हो गये थे। बड़ा भयंकर था उनका रोग। उन्हें गलित कुष्ठ हो गया था।

गलित कुष्ठ—छूत का महारोग कुष्ठ—राजरोग कुष्ठ। कुष्ठ के रोगी की भला परिचर्या कौन करेगा? रोगी को वायु न लगे—यहां तक तो लोग बचाव रखते हैं

परचुरे शास्त्री किसी चिकित्सा-भवन में नहीं भेजे गये। स्वयं महात्माजी ने उनकी परिचर्या का भार लिया तो आश्रम के लोगों को भी उसे लेना पड़ा। महात्माजी ने किसी को नहीं कहा, किसी पर दबाव नहीं डाला।

पूरे अक्टूबर और नवम्बर—जब तक कि रोगी स्वस्थ नहीं हो गया नियमपूर्वक प्रतिदिन महात्माजी स्वयं सेवा का अपना भाग उत्साह से पूर्ण करते थे।

गलित कुष्ठ के घाव—लेकिन महात्माजी में भय या घृणा आ कैसे सकती थी। वे स्वयं रोगी के घाव धोते थे, घाव से पट्टी बाँधते थे। घाव धोकर अणुवीक्षण यन्त्र से घाव की स्थिति एवं कुष्ठ के कीटाणुओं का सावधानी से निरीक्षण से देखते थे कि किस अंगकी स्पर्श-शक्ति और क्रिया-शक्ति कैसी है।

श्री परचुरे शास्त्री नहीं चाहते थे कि स्वयं बापू उनका स्पर्श करें, किन्तु बापू थे कि वे रोगी के पास देर तक बैठे रहते और आश्वासन दिया करते।

●

Regd No. LRN 189' Reg. No. RN. 40196/82

दिसम्बर १९८३ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यता प्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२०१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी हैं। हर फ्लैट में तीन कमरे, रसोई, स्नान घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन विताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

मुमुक्षु

जनवरी १९८४

आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ३ : अंक ४
पौष सं० २०४०
जनवरी १९८४

•

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

•

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

यज्ञ, दान और तप — स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती १

श्री कृष्ण शरणं मम ४

श्री बृजमोहन बिरला ७

मैं कौन हूँ — डा० बाबूलाल मिश्र ९

गांधी और पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा — डा० वी० के० आर० वी० रांव ११

शरणागत की रक्षा — श्री के० प्रेम १३

जीवेम शरदः शतम् — आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी १५

यशस्वी विजय — श्री हरीन्द्र दवे १९

दशरथ जी धनुष-यज्ञ में क्यों नहीं बुलाये गये — नारायणप्रसाद सिन्हा २२

•

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

•

मुमुक्षु

वर्ष : ३] जनवरी १९८४ [अंक : ४

यज्ञ, दान और तप

श्रीस्वामी अखण्डानन्दजी महाराज

●

गताङ्क से आगे

इस प्रकार भोजन की प्रक्रिया भी यज्ञ है। यदि जीवन-निर्वाह मात्र के लिए ही आप भोजन करते हैं और उस जीवन के द्वारा दूसरों की सेवा करना चाहते हैं तो यह यज्ञ है। जैसे कर्म एक यज्ञ है, वैसे ही भोग भी एक यज्ञ है। भोग के द्वारा भी यज्ञ सम्पन्न होता है। इसके बाद ज्ञान भी एक यज्ञ है। गीता कहती है—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ गीता ४।३३

इसी तरह भक्ति भी भाव-यज्ञ है। देखो, भगवान् को पृथ्वी ने अपना सार खींच कर सुगन्ध अर्पित की। जल का सार खींच कर रस अर्पित किया। तेजस का सार खीचकर रूप अर्पित किया। वायु का सार खींचकर स्पर्श अर्पित किया। और आकाश का सार खींच कर शब्द अर्पित किया। यह भक्ति-यज्ञ हैं।

तो कर्म-यज्ञ पृथक है, भोग-यज्ञ पृथक है और भाव-यज्ञ पृथक है। कर्म की पवित्रता से भी अन्तःकरण की शुद्धि होती है, भोग की पवित्रता से भी अन्तःकरण की शुद्धि होती है, भाव की पवित्रता से भी अन्त.करण की शुद्धि होती है, स्थिति की पवित्रता से भी अन्तःकरण की शुद्धि होती है और ज्ञान की पवित्रता से भी अन्तःकरण की शुद्धि होती है। यह जो अन्तःकरण की शुद्धि की प्रक्रिया है, इसे भी यज्ञ कहते है।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्म शुद्धये। गीता ५।११

गीता कहती है कि योगी कर्म करते हैं आसक्ति को छोड़कर और भगवान् के साथ अपने को जोड़कर। योग होता ही तब है, जब हम पूर्णता के साथ अपने को जोड़ते हैं। जहाँ हम अपने को परिच्छिन्न के साथ जोड़ते हैं, वहाँ पूर्णता से हमारा वियोग हो जाता है। जब हम स्वयं को परमात्मा के साथ जोड़कर और यह समझकर कि वह सब की आत्मा है, सब का अन्तर्यामी है, सबका प्रकाशक है, घट-घटवासी है—उस पर दृष्टि रखकर कर्म करते हैं, तब उससे हमारे अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

अब एक प्रश्न यह था कि जब आप अनुशासन के अनुसार कर्म करते हैं तो उस अनुशासन के कर्म में निष्कामता है कि नहीं? यदि उत्तर है कि हाँ निष्कामता है तो निष्काम होने पर आप समाधि लगाते हैं या व्यवहार में रहते हैं—यह प्रश्न उठता है। जो समाधि में चले गए उनका क्षेत्र ही दूसरा हो गया। वे तो निवृत्त हो गये, योग-यज्ञ, तपोयज्ञ में चले गये। वे योग रूप यज्ञ करते हैं। परन्तु योग का अर्थ भी केवल समाधि में जाना नहीं है। गीता कहती है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥गीता६।३२

जो व्यवहार जगत में हैं, काम कर रहे हैं और अपने सुख-दुख के समान ही दूसरे के सुख-दुख का अनुभव करते

हैं, वे तो परम योगी हैं। पर जो समाधि में नहीं गए, व्यवहार में आ गए उन्हें व्यवहार में आने पर यह देखना चाहिए कि उनका जो कर्त्तव्य है, वह हो रहा है कि नहीं। यदि निष्काम कर्म करने वाला यज्ञ करता है तो उसमें उसका कर्त्तव्यपालन हो रहा है कि नहीं? यदि कर्तव्य पालन में कर्तापन है तो वह गलत है। यदि बल्ब को यह अभिमान हो जाए कि मैं इस विश्व सृष्टि को रोशनी देता हूं और वह बिजली को भूल जाए, यदि एक गिलास पानी को अभिमान हो जाए कि मैं विश्व-सृष्टि को तृप्त कर रहा हूं तो यह कितना गलत होगा?
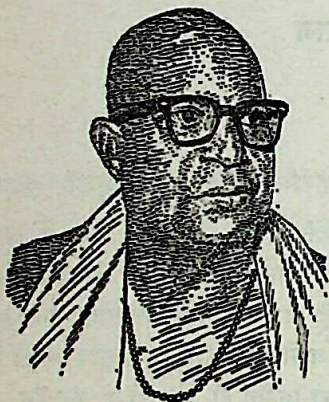
श्री स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज

व्यक्ति में जो कर्तापन है कि मैंने यह किया, मैंने वह किया—इसके मूल में अज्ञान है। यही अहंता मनुष्य को परिच्छिन्न बनाती है। भिन्न और छिन्न ये दोनों भाव कैसे होते हैं? भाव टूट कर भिन्न और छिन्न कैसे होते हैं? कोई टूटता तब है, जब उसके ऊपर हथौड़े पड़ते हैं। हथौड़े पड़े बगैर कोई टूटता नहीं। और छिन्न कैसे होता है? जब उसके ऊपर तलवार पड़ती है, तलवार से छिन्न होता है और हथौड़े से भिन्न होता है। संसार में जो छिन्न-भिन्न हो रहे हैं, कट रहे हैं, फूट रहे हैं वे क्यों कट-फट रहे हैं? बात यह है कि जब इनके कर्तापन पर चोट पड़ती है तब ये छिन्न भिन्न हो जाते हैं। जितनी चोट संसार में पड़ती है, वह सब कर्ता और भोक्ता पर ही पड़ती है। यदि अपने भीतर कर्तापन का अभिमान न हो तो चोट न पड़े।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गीता १८।६१

असल में महाकर्ता, महाभोक्ता, महात्यागी जो परमेश्वर है, उसके कर्म पर, उसके भोग पर, उसके त्याग पर दृष्टि रहे तो मनुष्य कभी अभिमान के वश में न हो। यह जो अपना कर्तृत्व है, इसी में आकर जब पाप जुड़ता है तब दुख होता है और इसी में आकर जब पुण्य जुड़ता है तब सुख होता है। सुखी-दुखी कर्ता ही होता है। जो कर्ता है, वही भोक्ता होता है। पाप-पुण्य का होना कर्तापन है, सुख-दुख का होना भोक्तापन है और राग-द्वेष है वही बन्धन है। रागद्वेष क्या है? किसी की मुहब्बत में फँस जाना या किसी से नफरत करने लग जाना। यही बन्धन है। पाप और पुण्य, बन्धन, के बाद सुख-दुख का भोग का भोग और सुख-दुख के भोग का संस्कार होने से फिर कर्म, फिर बन्धत—इस प्रकार संस्कार का चक्र चलता है। कर्तृत्व की शिथिलता होती है, भगवान की शरणागति से। यदि आप एक निकम्मे आदमी को कहें कि वह निकम्मा है तो भगवान् की इच्छा से है या कोई आदमी निषिद्ध कर्म कर रहा है तो भगवान् की इच्छा से कर रहा है—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ भगवान् है ही नहीं। वहाँ तो इतना सुख और स्वार्थ है कि उसके सामने अन्य कुछ है ही नहीं। इसीलिए जब तक अपना कर्तापन है, तब तक जीवन में ईश्वर का अविर्भाव नहीं होता।

देखो, यहाँ अधिकारी का भेद है। यदि एक निकम्मा अधिकारी है तो उसके लिए कहा गया कि 'कुरू कर्मेव'—काम करो। जब वह काम करने लगा तब धर्म का अधिकारी हो गया और कहा गया कि तुम निषिद्ध कर्म मत करो। जब वह सकाम विहित कर्म करने लगा तब वह निष्कामता का अधिकारी हुआ और कहा गया कि अब तुम निष्काम कर्म करो। जब वह निष्काम कर्म करने लगा, तब इस उपदेश का अधिकारी हुआ कि तुम कर्तापन का अभिमान मत रखो। कर्तृत्वाभिमानी के कर्तापन को तोड़ने के लिए ही शरणागति का उपदेश किया जाता है और कहा जाता है कि 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'। असल में सब काम भगवान् की सत्ता और महत्ता से हो रहे हैं। यदि

सकाम को भी कहें कि भगवान् करा रहे हैं, बुरा काम करने वाले को भी कहें कि भगवान् रख रहे हैं तो यह जो अध्यारोप हुआ वह बिल्कुल गलत स्थान पर हो गया। वस्तुतः भगवान् किसी को निकम्मा नहीं रखते। निकम्मा तो मुर्दा रहता है। निषिद्ध कर्म भगवान् नहीं कराते, अपना स्वार्थ कराता है। इसी तरह हमारे अन्दर जो कर्तापन का अभिमान है, वह भगवान् नहीं देते, हमारी मूर्खता देती है। इसलिए जो जिसका अधिकारी होता है, उसके लिए उसी प्रकार का उपदेश शास्त्र में आता है। वहां सब धान बाईस पसेरी वाली कहावत चरितार्थ नहीं होती। यदि चोर से कह दिया कि ईश्वर तुमसे व्यभिचार करा रहे हैं तो ये सब बातें अविवेकमूलक हैं, मूर्खजन्य हैं, मनुष्य को ईश्वर से पृथक् करने वाली हैं।

अब मूल प्रसंग पर आइए। कर्त्तापन को मिटाने के लिए ईश्वर के कर्तृत्व पर विचार कीजिए। फिर आप अनुभव करेंगे कि अरे हमने क्या अच्छा काम किया, यह तो ईश्वर की प्रेरणा से, ईश्वर की शक्ति से, ईश्वर की इच्छा से, ईश्वर की कृपा से मेरे द्वारा अच्छा काम हो गया। लेकिन हमसे जो बुरा काम हुआ, वह हमारी भूल से हुआ। इसी दृष्टि से तुलसीदास जी ने कहा है—

गुण तुम्हार समुझहिं निज दोसा।
जेहि सब भांति तुम्हार भरोसा॥

इसलिए कोई अच्छा काम हो तो अभिमान् मत करो और समझो कि वह ईश्वर की प्रेरणा से हुआ है और बुरा काम हो तो मान लो कि अपनी त्रुटि से, अपनी गलती से हुआ है। अब यदि कहो कि भाई, हम तो कर्त्ता नहीं रहे, ईश्वर कर्त्ता रहा तो यह ठीक है। भक्त के मन में ऐसा ही आता है। शरणागत कहता है कि—भगवन्, मैंने तो कुछ नहीं किया। तुमने किया, इसलिए तुम जानो।—

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मयाकृतम्।
त्वा याकृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन॥

अपने अद्वैत सिद्धि नामक ग्रंथ में श्री मधुसूदन सरस्वती जी महाराज कहते हैं कि इस ग्रंथ का जो कर्ता है, उसकी चाहे निन्दा करो, चाहे स्तुति करो। मयि नास्त्येव कर्तृत्वमभेदानुभावात्मति—मुझमें तो किसी प्रकार का कर्तृत्व है ही नहीं। इसी तरह अपने कर्तृत्व को उठा कर पूर्णतः परमेश्वर के ऊपर डाल देना, देखना और शरणागत हो जाना—मामेकं शरणं व्रज—यह अभिमान को तोड़ने की युक्ति है। लेकिन भाई, अभी तो सत्य का, यथार्थ का ज्ञान हुआ नहीं। यह तो एक विश्वास है, एक श्रद्धा है कि मैं नहीं कर रहा हूँ, वह कर रहा है। फिर अज्ञान का निवारण कैसे हो? इसका उत्तर है कि अज्ञान को तोड़ने के लिए तत्वज्ञान का अर्थात् आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है।

इस तरह से हम निकम्मेपन से लेकर अद्वितीय ब्रह्म-तत्व की अनुभूति तक पहुँचते हैं। इसमें यज्ञ शब्द का अर्थ कहां से प्रारम्भ होता है? निकम्मेपन से उत्थान होते ही यज्ञ आकर हमारे सामने खड़ा हो जाता है। यदि आप क्रम से अपने अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए ऊपर उठते जाएंगे तभी आपकी उन्नति होगी। अन्यथा यदि बीच में ही कहीं पकड़कर बैठ जायेंगे तो और कहेंगे कि भई, अच्छा-बुरा तो सबसे ही होता है, कामना तो सबके ही हृदय में रहती है, कर्तापन तो सब में ही रहता है, गलत काम तो सबसे ही होते हैं तब क्या होगा? यह होगा कि उन्नति की जो प्रक्रिया अपने जीवन में शुरू होनी थी, प्रगति का जो रसायन बनना था, उसका द्वार बन्द हो जायेगा। इसलिए अपनी-अपनी कक्षा में सब ठीक रहते हुए भी, अन्त में सब कक्षाओं से ऊपर पहुँचना पड़ता है। वहाँ न भाषा का विवाद है, न दल का विवाद है, न जाति का विवाद है, न मजहब का विवाद है और न अपने पराये का विवाद है। वहां तो केवल शुद्ध ब्रह्म है, ऐसा शुद्ध ब्रह्म है, जैसी अपनी आत्मा है, बल्कि वह अपनी आत्मा ही है जो लोग इस अध्यारोप के क्रम को, उसके अपवाद को ठीक-ठीक नहीं समझते, वे यज्ञ का अर्थ भी ठीक नहीं समझते हैं—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते। गीता ४।२३

जो यज्ञ के लिए कर्म करता है, उसका कर्म उसके साथ जुड़ता नहीं। जहाँ ऐसा यज्ञ-कर्म है, वहाँ न पाप है, न पुण्य है, न नरक है, न स्वर्ग है, न सुख है, न दुख है। वह न संसारी बनाता है और न परिच्छिन्न बनाता है। इसलिए कर्मारम्भ से लेकर परिपूर्ण ब्रह्म पर्यन्त यज्ञ की ही गति है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्री जुगलकिशोर बिरला की पुण्य स्मृति

श्री कृष्णं शरणं मम

सात्विक और आध्यात्मिक संस्कार जुगलकिशोर जी को जन्म से ही मिले थे। अपने पार्थिव शरीर को देखते और समझते रहे। देह में अदेही और भी कोई है इसका आभास उन्हें प्रारम्भ से ही था। इसकी आवाज वे सुनते थे, भले ही बचपन में स्पष्ट नहीं समझ पाये। उस अदेही का प्रयोजन क्या है, वह क्या चाहता है शायद इसकी जिज्ञासा भी उनमें शैशव से वर्तमान थी। यही कारण था कि साधु-सन्तों की संगत उन्हें सदैव खींचती रही।

ज्यों-ज्यों वे वयस्क होते गये, जीवात्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध का आभास उन्हें होता गया। यह भी स्पष्ट हो गया कि संसार में देह धारण के पीछे परमात्मा का कोई उद्देश्य रहता है। अतएव स्वयं अथवा स्वयं के अस्तित्व का अभिमान निरर्थक सा है। सत्कर्म करते हुए देह धारण के उद्देश्य को पूरा करना ही श्रेय है। परम योगेश्वर श्रीकृष्ण को ही इन्हीं कारणों से अपना आदर्श जाना। वे श्रीकृष्ण के ही शरणापन्न आजीवन रहे।

भारतीय धर्मग्रन्थों में श्रीमद्भगवद्गीता युगलशिकोर जी को सबसे अधिक प्रिय थी। गीता का मर्म समझने में उन्हें महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी से प्रेरणा मिली। फलतः गीता के प्रति उनमें अटूट श्रद्धा थी। जब भी जुगलकिशोर जी आचार्य, विद्वान, दार्शनिक अथवा गीता प्रेमियों से मिलते तो गीता के श्लोकों की व्याख्यायें पूछते। वे स्वयं भी गीता का नियमित पाठ करते थे। केवल पाठ मात्र नहीं, उस पर मनन-चिन्तन भी किया करते। गीता के श्लोकों की व्याख्या भी बड़ी सरल और स्पष्ट किया करते थे।

गीता केवल उनकी वाणी तक सीमित नहीं थीं। आनन्दस्वरूप योगेश्वर कृष्ण की वाणी उनके अन्तस् में अहरह गुंजती रहती थी। यही कारण था कि आचार-विचार और व्यवहार से वे गीतोक्त मार्ग का अनुसरण करते। राग-द्वेष रहित, आकांक्षा-इच्छा से परे रह कर और हर्षामर्ष, शोक, दुख, मर्म का उद्वेग किसी भी अवसर पर उनमें नहीं होता। ऐसे व्यक्ति सबके हो जाते हैं और सब ऐसे व्यक्ति के ही होते थे। उन्हें अजातशत्रु कहा जा सकता है। परोपकार में वे ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेद नहीं मानते थे। केवल हिन्दुओं को ही नहीं, ईसाइयों, मुसलमानों अथवा अन्य धर्मावलम्बियों की सहायता में वे कभी चूकते नहीं थे।

नदिया का एक प्रसङ्ग है। वहाँ एक ब्राह्मण श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ करते हुए अत्यन्त आत्मविभोर हो उठता था। आनन्दातिरेक से निमग्न हो जाता था। गौराङ्ग महाप्रभु ने एक दिन उसे देखा। पाठ सुनने पर पाया कि वह अशुद्ध पाठ कर रहा है। ब्राह्मण इतना मग्न था कि उसे पता नहीं कि अन्य कोई वहाँ है और उसका पाठ सुन रहा है। पाठ समाप्त हुआ। चैतन्य देव ने पूछा, "गीता पाठ से तुम्हें इतना आनन्द कैसे मिलता है? तुम तो उसे शुद्ध बाँच भी नहीं सकते। अतएव अर्थ भी सही नहीं समझ सकते।"

ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "महाराज, मैं गुरु के आदेश से गीता पाठ करता हूँ। उस समय मुझे ऐसा लगता है कि मेरे सामने भगवान् श्रीकृष्ण रथ पर बैठे हुए मोहाविष्ट अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं। बस इसी की अनुभूति से आनन्द में खो जाता हूँ। शुद्धाशुद्ध का विचार रहता ही नहीं।"

महाप्रभु गौरांग ने उसे गले लगाते हुए कहा, "भाई गीता का वास्तविक मर्म तो तुमने समझा है।"

जुगलकिशोर ने आजीवन श्रीकृष्ण के शरणापन्न रहे। दैहिक, भौतिक और दैविक सुख-दुख से उनका अन्तर प्रभावित नहीं होता था। सदैव अपने में वे आनन्दानुभूति को चैतन्य रखते थे। मृत्यु से कुछ दिन पूर्व संयोगवश वे फिसल गये और उनके कूल्हे की हड्डी चटख गयी। चिकित्सक ने उपचार किया। पैर सीधा कर उस पर पट्टी चढ़ा दी

और भार लगा कर लटका दिया था। उन्हें इससे बहुत दर्द महसूस हो रहा था। फिर भी उन्होंने मानसिक सन्तुलन कायम रखा, श्रीकृष्ण का ध्यान करते रहते। कुछ दिनों बाद हड्डी की अवस्था की जाँच के लिए एक्सरे किया गया। डाक्टरों का निश्चय हुआ कि सर्जरी की जाय। बिड़ला जी शल्योपचार के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने उसी रात सोने से पहले भगवान् से प्रार्थना की कि हे प्रभो हड्डी के कारण देह को अत्यन्त पीड़ा पहुँच रही है। यदि मेरे शरीर का प्रयोजन नहीं तो मुझे देहमुक्त करो अन्यथा देह को पीड़ा मुक्त करो।

उसी रात तीसरे पहर उन्होंने किंचित तन्द्रित अवस्था में देखा कि तीन वर्ष का एक सुन्दर-सांवला तेजस्वी बालक बाहर से उछलता-कूदता आ खड़ा हुआ और पूछता है, "क्यों दादा जी, बहुत दर्द हो रहा है? लाओ मैं ठीक किये देता हूँ।" उस बालक ने वंशी जैसी अपनी कोई चीज से उन जगहों पर फेर दी जहाँ-जहाँ हड्डी की चटख बताई गयी थी और दर्द भी तेज हो रहा था। जुगलकिशोर जी को तीन बार 'चट, चट, चट' की आवाज सुनाई दी। दर्द गायब हो गया।

असहनीय पीड़ा के कारण जुगलकिशोर जी बेसुध से थे। उन्हें उस अवस्था में यह तो आभास हुआ कि कोई बालक आया किन्तु उन्होंने समझा कि घर का ही कोई बालक होगा। तन्द्रा टूटने पर उन्हें लगा कि वास्तव में पीड़ा बिलकुल नहीं रह गयी। आँखें खोलने पर देखा कमरे में कोई नहीं—कहीं भी नहीं। 'कौन है! कौन है!' पुकारने पर भी कोई बोला नहीं। तब अत्यन्त कृतज्ञ भाव से पीड़ा मुक्त होने को भगवद्कृपा उन्होंने माना और पुनः ध्यान-मग्न हो गये।

अगले दिन डाक्टरों ने जब एक्सरे लिया तो उन्हें यह देखकर भारी अचरज हुआ कि हड्डियाँ तो सभी जुड़ी हुई हैं। जुगलकिशोर जी ने किसी को पिछली रात का अपना रहस्यपूर्ण अनुभव नहीं बताया। इस घटना के बहुत दिनों बाद मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्मस्थान पर उन्होंने यह रहस्य पण्डित देवधर शर्मा को बताया और उनसे कहा कि वे बालकृष्ण का ठीक वैसा ही विग्रह बनवायें जैसा कि उन्होंने उस रात तन्द्रिल अवस्था में देखा था। दिल्ली में यह विग्रह बना, स्वयं जुगलकिशोर जी की देखरेख में। फिर भी वह वैसा न बन पाया जैसा कि जुगलकिशोर जी ने दर्शन किया था। फिर भी यह बहुत ही सुन्दर बना और मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्मस्थान पर प्रतिष्ठित है।

एक दिन जेठ की दुपहरी में वे दिल्ली से मथुरा जा रहे थे। कार से मथुरा में उतरते ही उन्होंने देखा कि गीता मन्दिर के पट खुले हुए हैं और दर्शन हो रहे हैं। वहाँ प्रणाम करते हुए उन्होंने पण्डित देवधर जी से कहा, उत्तरी द्वार की ओर धूप नहीं है अतएव उधर ही चला जाय। वहीं जूते उतार देंगे और भीतर चलेंगे। किन्तु भीतर जाने पर देखा कि पट बन्द है। नियमानुसार दोपहर को १२ बजे से २ बजे तक मन्दिर के पट बन्द रहते हैं। जुगलकिशोर जी को लगा कि शायद असावधानी से मन्दिर का पट पहले खुला रह गया था और उन्हें देख कर नियम पालन में त्रुटि सुधारने के लिए बाद में बन्द कर दिया गया। उन्होंने इस मामले की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल की तो पता चला कि मन्दिर का पट तो १२ बजे ही बन्द कर दिया गया। श्रीकृष्ण के चमत्कार को उन्होंने स्वयं के प्रति प्रभु की कृपा मानी और चुपचाप रह गये। श्रद्धा से पुष्पांजलि अर्पण कर शर्मा जी से कहा कि भगवान् की मूर्ति का एक चित्र उतरवा कर उनके पास भेज दिया जाय। तभी से गीता मन्दिर के उस शंख चक्रधारी भगवान् के विग्रह का चित्र उनके दैनिक उपासना के कक्ष में प्रतिष्ठित हो गया।

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उनकी कितनी तन्मयता और निष्ठा थी इसका एक और दृष्टान्त है। एक बार संयोग से मथुरा के गीता मन्दिर में प्रत्येक पूर्णिमा को आयोजित सत्यनारायण कथा के प्रसाद वितरण में पंजीरी कम पड़ गयी। व्यवस्थापक ने तत्काल केले और बताशे मँगवा कर पंजीरी की जगह बँटवा दिये। उन दिनों जुगलकिशोर जी काशी में थे। किन्तु उसी रात उन्हें स्वप्न हुआ कि मथुरा के मन्दिर में भोग कम लगा है। तुरन्त मथुरा के गीता मन्दिर के पुजारी श्री मदनमोहन जी को पत्र लिखा गया कि भोग कैसे कम लग पाया। पत्र पाते ही पुजारी जी

स्तब्ध रह गये। उन्होंने उत्तर में लिखा कि भगवान् के भोग में तो कोई कमी नहीं की गयी है। जुगलकिशोर जी को इससे सन्तोष नहीं हुआ। दिल्ली पहुँचते ही उन्होंने श्री मदनमोहन जी को बुलावा भेजा। उनके आने पर स्वयं पूछताछ की। तब पुजारी जी ने बताया कि भोग तो कभी कम नहीं लगा, किन्तु पिछली पूर्णिमा के दिन प्रसाद वितरण में पंजीरी में संयोगवश कमी पड़ गयी थी। बिड़ला जी उत्तर से कुछ गम्भीर से हो गये और उन्होंने कहा, "भविष्य में ध्यान रखा जाय कि ऐसी कमी न आये, प्रसाद अधिक बनवा लिया करें।"

जुगलकिशोर जी का समर्पित जीवन था। श्रीकृष्ण उनके आराध्य थे, उन्हीं के प्रति उनकी आस्था अन्त तक बनी रही। देहत्याग के एक वर्ष पूर्व उनके शरीर में पीड़ा बनी रहती थी। फिर भी अशान्त, उद्विग्न और विचलित नहीं रहते। शायद उन्होंने अच्छी तरह जाना था कि "देह धरे का दण्ड है सब काहु के होय। ज्ञानी भोगें ज्ञान से, मूरख भुगते रोय। परमहंस स्वामी रामकृष्ण भी कैंसर से पीड़ित रहे। स्वामी विवेकानन्द ने भी शरीर के दुर्भाग्य से ही देहत्याग किया। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने भी पैर में लगे व्याध के बाण को निमित्त बना कर संसार में अपनी अवतार लीला समाप्त की। देह के मोह को जीवात्मा से छुड़ाने के लिए शायद शारीरिक पीड़ा एक आवश्यक निमित्त है। जुगलकिशोर जी ने इसे सही समझा था। पीड़ा और कष्ट के कारण उनका नित्य-नैमित्तिक कार्यक्रम टूटता नहीं। वे श्रीकृष्ण के ध्यान में तन्मय रहा करते। विशेषतः जब भगवत् चर्चा हो अथवा गीता का पाठ होता रहता। वे प्रायः कहा करते, मैंने सदा भगवान् को अपना सर्वस्व समझने का प्रयत्न किया है। माता, पिता, स्वामी, कर्ता-धर्ता, सखा जो कुछ भी हैं सब वे ही हैं। और मैं, जैसा भी हूँ, उन्हीं का हूँ। इसलिए वे मुझे जैसा चाहें, वैसा रखें। शरीर का मोह क्या करता? इसका साथ तो एक दिन छूटना ही है। किन्तु शरीर के अन्दर बसे जीवात्मा का साथ परमात्मा से कभी नहीं छूटना चाहिए इसलिए उसका स्मरण सदैव बनाये रखना चाहिए। उस पर अखण्ड विश्वास रखना ही विहित और श्रेय है। एक बार कुन्ती ने भगवान् श्री कृष्ण से कहा,

विपदः सन्तु नः शश्वत् यत्र-यत्र जगद्गुरो

भवतो दर्शनं यस्माद् पुनर्भवदर्शनम्।

— हे जगत्गुरु कृष्ण, जहाँ-तहाँ हमें विपत्तियाँ ही विपत्तियाँ मिलती रहें जिससे कि हमें आपका यह मुक्ति देने वाला दर्शन तो मिलता रहे। क्योंकि—

विपदा नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।

विपद्विस्मरणं विष्णो सम्पन्नारायण स्मृति ॥

— सांसारिक विपत्तियों को विपत्तियाँ और सांसारिक सम्पत्तियों को सम्पत्तियां नहीं समझना चाहिए। वास्तव में भगवान् को भूल जाना ही विपत्ति है और उन्हें स्मरण रखना ही सम्पत्ति।

मर्त्यलोक में मृत्यु ध्रुव निश्चित है। बड़े-बड़े सन्त-महात्मा मृत्युभीत नहीं होते किन्तु इतना अवश्य चाहते हैं कि अन्तिम श्वास अच्छी तरह निकले। गोविन्द नाम स्मरण करते रहें। गोविन्द के प्रति चेतना बिन्दु टिकी रहे। जुगलकिशोर जी ने आजीवन चेतना बिन्दु को श्रीकृष्ण के प्रति केन्द्रित रखा। वंशीधर की वंशी के नाद स्वर में उनका ध्यान टिका रहा। आलोकित चित्त आलोक पुंज में स्वतः समा गया। देहावसान के दो-तीन घंटे पहले ही उनकी समस्त शक्ति, प्रवृत्ति केवल एक केन्द्र बिन्दु पर जा टिकी। वह थी श्री कृष्ण की मूर्ति। उन्हीं को हाथ जोड़ते हुए उन्होंने इहलीला से मुक्ति ली। आत्मा की ज्योति परमज्योतिपुंज से जा मिली।

फिर भी जो प्रकाश की रेखा वे छोड़ गये उसमें ब्रह्म और जीव, ब्रह्म और माया, नर-नारायण का यह युगल, इसका सत्य और तथ्य आज भी भासित और प्रकाशित हो रहा है।

●

निधन १७ जनवरी मध्याह्न २ बजे, सन् १९८२

बृजमोहन बिरला

(एक श्रद्धांजलि)

आज से लगभग ७९ वर्ष पूर्व राजा बलदेवदास के चतुर्थ पुत्र के रूप में एक ज्योतिर्मय नक्षत्र का उदय हुआ, जिसने न केवल बिरला परिवार की गरिमा और समाज सेवी परम्परा को नई गति दी, वरन् जिसने अपने अथक प्रयास और अनवरत श्रम के प्रकाश से देश के असंख्य निराश युवकों का मार्ग प्रशस्त किया। यह ज्योतिर्मय नक्षत्र देखते-देखते सारे देश और सम्पूर्ण जगत में अपनी औद्योगिक सूझबूझ तथा नये उद्योगों की स्थापना में अपना स्थान अक्षुण्ण बना लिया। यह जाज्वल्यमान नक्षत्र, जिसे हम बृजमोहन बिरला के नाम से जानते हैं, रानी जोगेश्वरी देवी की कोख में जन्म पाकर, मां की कोख के साथ ही भारत मां की भी एकमेव सन्तान कहलाने का गौरव प्राप्त किया। बृजमोहन बिरला, अपने तीन ज्येष्ठ भाइयों श्री जुगलकिशोर बिरला, श्री रामेश्वर प्रसाद बिरला और श्री घनश्यामदास बिरला, सभी से छोटे थे।

बृजमोहन बिरला का जन्म १९ नवम्बर १९०५ में हुआ, जब देशवासी ब्रिटिश दासता की बेड़ियां काट कर स्वतन्त्र होने के लिए अधीर हो रहे थे। 'बंग-भंग' आंदोलन देशवासियों के हृदय को आलोड़ित और उद्विग्न कर रहा था। बिरला परिवार अपनी दूरदर्शिता एवं व्यावसायिक निपुणता के लिए सारे देश में ख्याति अर्जित कर रहा था। देशवासियों को इस परिवार पर पूरा भरोसा था, यही कारण है कि हर वर्ग के राजनेता इस परिवार के पास आते थे और यथासम्भव उन्हें इस परिवार में शरण और सहायता मिलती थी।

बृजमोहन बिरला का शैशव और बालकाल परिवार की इन्हीं गतिविधियों के बीच बीता। मां रानी जोगेश्वरी देवी स्वयं स्वतन्त्र विचारधारा की पोषक और स्पष्ट विचारों की महिला थीं, उन्हीं से सम्भवतः बृजमोहन बिरला को स्पष्टवादिता एवं स्वतन्त्र्य प्रेम को विरासत मिली। बृजमोहन बिरला, सच पूछिये तो, परिवार की पुरानी और नयी पीढ़ी के बीच एक प्रकार के सेतु थे। जहां मां से स्पष्टवादिता मिली वहीं उनमें मां जोगेश्वरी देवी से ही सदाशयता धर्मभीरुता और दानशीलता भी मिली।

बड़े भाई श्रद्धेय घनश्यामदास बिरला के सम्पर्क से बृजमोहन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ और उन्हीं के सानिध्य से उनमें अदम्य उत्साह और मानव प्रेम की भावना जागृत हुई। बड़े भाई के प्रोत्साहन और आशीष को शिरोधार्य कर बृजमोहन व्यवसाय और उद्योग के उन क्षेत्रों की ओर अग्रसर हुए, जो परिवार के पुराने व्यवसायिक सम्बन्धों की परिधि के बाहर थे और जिनकी स्थापना से केवल पारिवारिक समृद्धि को बढावा मिला, बल्कि उनसे देश और देशवासियों की प्रगति का मार्ग भी प्रशस्त हुआ।

अपनी निष्ठा और लगन द्वारा बृजमोहन बिरला ने पारिवारिक गद्दी में बैठ कर न केवल लेखा और बही खाता का ही ज्ञान प्राप्त किया, प्रत्युत वे अपने को पैतृक व्यवसाय के अतिरिक्त नये व्यवसाय चलाने के लिए भी तैयार कर सके। बिरला काटन मिल्स एवं अन्य मिलों का परिभ्रमण कर बृजमोहन ने काटन मिल चलाने का पूरा प्रशिक्षण प्राप्त कर, केशोराम काटन मिल्स कलकत्ता का पूरा दायित्व अपने ऊपर ले लिया। बड़े भाई श्री घनश्यामदास बिरला की खुशी का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि केशोराम काटन मिल्स, जो लगभग टूट चुकी थी, अब बृजमोहन के संरक्षण में वांछित लाभ देने लगी।

अपनी सफलता से उत्साहित बृजमोहन ने उत्तर प्रदेश और बिहार में दो तीनो मिलों का सूत्रपात किया, इससे पूर्व यह उद्योग पूर्णतः अंग्रेजों के नियन्त्रण में था। अब वे भारत को औद्योगिक राष्ट्रों की श्रेणी में लाने के लिए उद्विग्न हो उठे। १९२७-२८ तक बृजमोहन के सद्प्रयासों से 'कार' के रूप में पहली गाड़ी सड़कों पर आ गयी। पत्रकारों ने उन्हें

घेर लिया। भारत में बनी पहली 'कार' के लिए वे बृजमोहन बिरला को धन्यवाद देने लगे तो चट उन्होंने कहा, 'भाई धन्यवाद के पात्र हैं भारतीय इन्जीनियर जिन्होंने 'कार' की डिजायन तैयार की और उसे सड़क पर लाने में सफलता प्राप्त की', पत्रकारों ने 'कहा फिर भी आप धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि आपने इन इंजीनियरों को प्रोत्साहित किया और अवसर दिया।' इस पर बृजमोहन ने कहा, 'नहीं, इसके पीछे मेरे बड़े भाई का मस्तिष्क कार्य कर रहा था, मैं तो केवल भाई के आदेश का पालन करता रहा।'

बृजमोहन बिरला कितने सरल, कितने विनम्र और कितने महामना थे यह उनकी पत्रकारों से बातचीत से स्पष्ट है। श्रीमती रुक्मिणी देवी से विवाह के बाद बृजमोहन दोहरे दायित्वों का बोझ बड़ी सुगमता से ढोते रहे। उनका पारिवारिक जीवन शान्त, सुखी और सरस था, और वे एक व्यवसायी के नाते देश के प्रति अपने दायित्वों के प्रति भी सजग थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व उन्होंने सोच लिया कि निकट भविष्य में देश में कागज की कमी होगी। इसकी आपूर्ति हेतु वे स्वयं उड़ीसा के जंगलों का परिभ्रमण कर, वहीं बांसो की बहुलता से अवगत हुए और चट ओरियेन्ट पेपर मिल्स की स्थापना कर दी।

वास्तविक्ता तो यह है कि यदि बृजमोहन बिरला को भारत में उद्योग धन्धे का जनक कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। यही नहीं, व्यवसाय और उद्योग धन्धों का संचालन करने वाले व्यक्तियों के लिए अपनी आवाज बुलन्द करने तथा अपनी कठिनाइयों और सीमाओं को सरकार के सामने रखने की प्रेरणा से बृजमोहन ने कलकत्ते में भारतीय चेम्बर आफ कामर्स की स्थापना की और ३२ वर्ष की अल्पायु में वे इसके अध्यक्ष भी बने।

कुछ ही दिनों में बृजमोहन कुछ प्रमुख व्यवसायों जैसे जूट, काटन, इंजीनियरिंग, चीनी और कागज में एक विशेषज्ञ की दृष्टि से देखे जाने लगे। देश के सुदूर भागों के व्यवसायी और उद्योगी प्रायः उनके पास सलाह लेने आते और लाभान्वित होते। बृजमोहन को इस बात की हावी थी कि वे नवयुवकों को व्यवसाय और उद्योग चलाने का प्रशिक्षण दें। इस निमित्त उन्होंने रांची के निकट बिरला-इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालोजी की स्थापना की। नवयुवकों के प्रशिक्षण के साथ-साथ १९७१ में बंगलादेश की आजादी की लड़ाई के समय इस इंस्टीट्यूट ने हमारी सुरक्षा सेनाओं को न केवल राकेटों को आपूर्ति की प्रत्युत इनके रखरखाव और प्रयोग के लिए प्रशिक्षित नौजवानों को भी भेजा। सारे देश में बृजमोहन बिरला को भारतीय 'फोर्ड' के सम्मानित नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

बृजमोहन बिरला, बढ़ते हुए व्यवसाय और उद्योग धन्धों में धन को सतत आपूर्ति के साधन के रूप में 'रूबी जनरल इन्श्योरेन्स' एवं 'यूनाइटेड कमर्शियल बैंक' की स्थापना की। यही नहीं, बहुमुखी प्रतिभा के धनी बृजमोहन ने देखा कि कहीं औद्योगिक प्रगति के साथ ही हमारी धार्मिक, आध्यात्मिक निष्ठाओं में ह्रास न आ जाये। अस्तु, उन्होंने जीर्ण-शीर्ण मन्दिरों का जीर्णोद्धार अपने हाथों में लिया और उनके इस कार्य में उनके ज्येष्ठतम भाई जुगलकिशोर बिरला द्वारा निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहा। बृजमोहन बिरला ने भारतीय सांस्कृतिक धरोहर और पांडित्य को अक्षुण्ण रखने के सद्‌प्रयास में देश के ख्याति लब्ध संस्कृत विद्वानों को एकत्र किया और हर तरह से उनकी सहायता की।

बृजमोहन के हृदय में कलकत्ता और वहां के निवासियों के लिए प्रगाढ़ प्यार था। उन्होंने डाक्टर बी० सी० राय के मन्त्रित्व काल में कलकत्ता मेट्रोपोलिटन प्लानिंग कमीशन की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। गरीबों, दलितों और पिछड़े वर्ग के उत्थान के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। जीवन के अन्तिम दिनों में वे व्यवसाय का कार्यभार अपने एकमात्र पुत्र श्रीगंगाप्रसाद पर छोड़ कर, स्वयं केवल सलाहकार मात्र रह गये। किन्तु उन्होंने गतिशील जीवन से संन्यास नहीं लिया। जीवन के अन्तिम दिनों तक लोग उनसे व्यावसायिक प्रशिक्षण लेते रहे।

इस प्रकार अत्यधिक व्यस्त जीवन व्यतीत करने के बावजूद, यह नहीं कहा जा सकता कि बृजमोहन बिरला में पारिवारिक जीवन अथवा राष्ट्र हितों की कभी भी अनदेखी की।

यह विधि की विडम्बना ही थी कि बृजमोहन बिरला ने ७७ वर्ष की आयु तक परिवार एवं राष्ट्र के एक सजग

[शेष पृष्ठ १० पर]

'मैं' कौन हूँ

डा० बाबूलाल मिश्र

"मैं अपनी आत्म-कहानी कैसे सुनाऊँ। 'मैं' कौन हूँ इस विषय में विद्वान् लोग भी कई प्रकार की कल्पनायें करते हैं, किन्तु मेरा सही परिचय नहीं देते। 'मैं' दुर्बल हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, इत्यादि व्यवहारों के अनुसार दुर्बल, बलवान्, काला, गोरा, ये सब शरीर के गुण हैं, इसलिए कुछ विद्वान् ऐसा समझते हैं, कि 'मैं' शरीर हूँ"। अन्य विद्वान् इस मान्यता को उचित नहीं समझते हैं। उनका कहना है, कि शरीर अपने आप स्वयं किसी विषय को नहीं जान सकता हैं। विषयों को जानने के लिए उसको पाँच ज्ञानेन्द्रियों की शरण लेनी पड़ती है। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। काले, पीले, लाल आदि रूपों का ज्ञान आँख के बिना नहीं हो सकता। शरीर आँख के बिना किसी भी वस्तु को नहीं देख सकता। कानों के बिना सुन नहीं सकता, जीभ के बिना किसी भी खाद्य पदार्थ के स्वाद को नहीं जान सकता, त्वचा के बिना ठण्डे, गर्म का ज्ञान नहीं कर सकता, इसीलिए शरीर की अपेक्षा इन्द्रियों का महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिए वे यह मानते हैं, कि "मैं इन्द्रियाँ हूँ।" इनकी भी मान्यता को अन्य विद्वान् उचित नहीं मानते, वे यह कहते हैं, कि इन्द्रियाँ भी मन के बिना अपने-अपने विषयों को नहीं समझ पाती।

जब आँख का सम्बन्ध मन के साथ नहीं रहता तो वह देखते हुए भी किसी वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं कर पाती। कभी-कभी ऐसा होता है, कि आप रास्ते में जाते हैं, तो आप को 'देवदत्त' नाम का कोई व्यक्ति मिलता है। आगे जाने पर एक दूसरा व्यक्ति मिलता है। वह आपसे देवदत्त के विषय में पूछता है। क्या आपको देवदत्त मार्ग में मिला था! आप उत्तर देते हैं, कि देवदत्त मिला कि नहीं, इसका हमको ध्यान नहीं है। इसका मतलब यह है कि जब आप मार्ग में जा रहे थे, तो आप का मन कहीं दूसरी जगह घूम रहा था। इसलिए आप मार्ग में मिलने वाले देवदत्त को देखते हुए भी नहीं देख सके। यही स्थिति अन्य इन्द्रियों की भी है। जब कान, नाक, जीभ, त्वचा आदि का संबंध भी मन के साथ नहीं रहता तो, वे इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय को नहीं जान पातीं। इसलिए इन्द्रियों की अपेक्षा मन की भूमिका महत्वपूर्ण है, अतः कुछ विद्वान् यह कहते हैं, कि 'मैं' मन हूँ। अन्य मत को माननेवालों के अनुसार इन विद्वानों का कथन भी उचित नहीं है। वे यह कहते हैं, कि मन जब किसी काम को करने का संकल्प करता है, तो उस काम को करने का निश्चय करना, तथा उसकी अच्छाई या बुराई समझना बुद्धि का काम है, अतः इन सबसे महत्वपूर्ण काम बुद्धि का हैं, इसलिये वे लोग यह कहते हैं, कि 'मैं' बुद्धि हूँ।

ये सब लोग अपनी-अपनी बात करते हैं। मेरी बात आपको कोई नहीं बतलाता। अब मैं आपको अपनी बात बताता हूँ। मैं, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इनमें से कुछ भी नहीं हूँ। मैं इन सबसे अलग हूँ। मैं कैसे इन सबसे अलग हूँ, यह बतलाता हूँ। हो सकता है, आपका भी मेरे विषय में कुछ अपना विचार हो, किन्तु आप मेरा विचार सुनिये। जब किसी हथियार से किसी का हाथ कट जाता है, तो वह कहता है, कि मेरा हाथ कट गया। इस कहने का अर्थ यह है, कि हाथ अलग है, और हाथ को अपना समझने वाला 'मैं' हाथ से अलग हूँ। यदि मैं ही शरीर होता, तो हाथ भी मैं ही होता, उस स्थिति में हाथ कटने पर मैं यह नहीं कहता कि मेरा हाथ कट गया, अपितु यह कहता कि मैं कट गया, क्योंकि हाथ से तथा मुझमें कोई भेद नहीं था, दोनों एक ही थे, किन्तु ऐसा होता नहीं है।

इसलिए यह सिद्ध होता है, कि मैं शरीर नहीं हूँ। यही स्थिति इन्द्रियों के साथ भी है। जब इन्द्रियों में भी कोई दोष आ जाता है, या मन में कोई दोष आ जाता है, यही कहा जाता है, कि मेरी आँख में दोष है, मेरा मन इस समय खराब है, मेरी बुद्धि में इस समय गड़बड़ी है, इन

सभी व्यवहारों से यह सिद्ध होता है, कि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि ये सब अलग हैं, और इनको अपना समझनेवाला 'मैं' इन सबसे अलग हूँ। इसलिये मैं कहता हूँ, कि मुझको सही रूप में जानने वालों की संख्या कम है। मैं शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि से अलग हूँ।

इससे भी मजे की बात यह है, कि जब मैं शरीर को छोड़कर चला जाता हूँ, तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सब यहीं रहते हुए भी मेरे बिना कोई काम नहीं कर सकते इसलिए मैं इन सब का शासक भी हूँ। मेरे ही प्रकाश से ये सब प्रकाशित होते हैं। अब खूब गहरी नींद आती है, और किसी भी प्रकार का कोई स्वप्न भी नहीं दिखाई पड़ता, शरीर शिथिल रहता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि की गति समाप्त सी हो जाती है। उस समय गहरी नींद में सोने पर किसी भी वस्तु का या किसी भी प्रकार का कोई ज्ञान नहीं होता। निद्रा से उठने के बाद जब मैं यह कहता हूँ, कि "आज सोने में बड़ा आनन्द आया, कुछ भी मालूम नहीं पड़ा, बड़ा आनन्द आया" इस आनन्द का अनुभव करनेवाला कौन है!

क्या शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इनमें से कोई है। नहीं ये नहीं हो सकते, क्योंकि ये सभी इस समय शिथिल थे। तो आप को भी यह मानना पड़ेगा कि इन सब के अलावा कोई अन्य है, जिसको यह अनुभव हो रहा है। मैं आपसे सत्य कहता हूँ। इन सबके अतिरिक्त इस अनुभव को करने वाला कोई दूसरा नहीं हैं, अपितु 'मैं' ही हूँ। आप मेरा नाम अपनी इच्छा से चाहे जो भी रख लें, मुझको चाहे, आप आत्मा कहें या, जीव कहें! यह तो आप की इच्छा पर निर्भर है। किन्तु मेरा सही परिचय यही है कि 'मैं' शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सबसे अलग हूँ। 'मैं' इनका शासक हूँ। 'मैं' इनका प्रकाशक हूँ। 'मैं' तो मैं ही हूँ। मेरा भान भी आपको 'मैं' कहने पर ही होगा तू या तुम कहने से नही, इसलिए मैं सबसे अलग हूँ 'मैं' मैं ही हूँ।

●

[पृष्ठ ८ का शेषांश]

प्रहरी की भांति जीवित रह कर १० जनवरी १९८२ को उसी कलकत्ता मेडिकल हास्पिटल एण्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट में इहलीला समाप्त की, जिसके वे स्वयं संस्थापक थे। वृजमोहन जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए श्री लक्ष्मीनिवास बिरला ने कहा, काका (वृजमोहन बिरला) का स्वप्न था कि किसी दिन भारत उद्योगों की दृष्टि से अमेरिका की तरह समृद्ध हो जायगा। मेरे लिए तो उनका पद केवल काका का था, पर थे बड़े भाई के समान। मुझसे वे केवल साढ़े-तीन वर्ष बड़े थे। कभी-कभी हम लोग अकेले में मिल जाते तो पेट खोल कर बचपन की मीठी यादों की चर्चा कर लेते थे। फूल सूख जाता है पर सुगन्ध छोड़ जाता है। मनुष्य चला जाता है, पर अपनी यादें छोड़ जाता है। कई तो ऐसी होती है जो कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। वृजमोहन काका तो चले गये, पर कम से कम मुझ पर, शायद मेरे जैसे और भी कुछ लोगों पर, ऐसा जादू वे कर गये कि जब कोई बात आती हैं तो उनकी याद एकदम ताजा हो जाती हैं। उन्हें भूलना उतना ही कठिन है जितना कि अपने आपको भूलना।' ऐसे थे वृजमोहन बिरला, जिनके निधन से न केवल बिरला परिवार का एक चमचमाता नक्षत्र डूब गया है, प्रत्युत भारत मां ने अपना एक निष्ठावान् लाल खो दिया है। ईश्वर उनकी आत्मा को चिरशांति दें। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

●

गांधीजी और पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा

डा० वी० के० आर० वी० राव

गांधी जी अत्यन्त सीधे सादे पर सम्पूर्ण व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति थे। जीवन का शायद ही कोई क्षेत्र रहा हो, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, धार्मिक अथवा अन्तराष्ट्रीय जिस पर गांधी जी की छाप न पड़ी हो, और जिस पर उनके लेखों, भाषणों और कार्यों से प्रकाश न पड़ा हो। वे शान्ति के पुजारी थे। उनका हृदय प्यार और सहानुभूति तथा करुणा से भरा हुआ था। मनुष्य की असीम शक्ति और उसकी सच्चाई में उनका अडिग विश्वास था। अजेय और अपरिमित इच्छा शक्ति सम्पन्न गांधी जी आजीवन अनुशासन के प्रति समर्पित थे। वे सचमुच मानव समाज में देवत्व के प्रतीक थे। उनका भारत की परम्परागत सत्यनिष्ठा और अहिंसा के सिद्धान्तों में अडिग विश्वास था और वे जीवन काल के प्रत्येक कार्य में सत्य और अहिंसा का पालन करते रहे। उन्होंने सत्य और अहिंसा का पाठ आम जनता को पढ़ाने में अद्भुत सफलता प्राप्त की। सत्य और अहिंसा की नीव पर खड़ा उनका सत्याग्रह-आन्दोलन एक सशक्त साधन के रूप में जनमानस को अलोड़ित कर भारतीयों के मौलिक विचारों को एक नीति परक मोड़ दिया और इस प्रकार भारतीय जीवन पद्धति में परिवर्तन लाने में उन्होंने सफलता प्राप्त की।

गांधी जी की आर्थिक विचारधारा अर्थशास्त्र की तत्कालीन पुस्तकों का अंग तो नहीं बन पाई, किन्तु कालान्तर में इससे पूर्व और पश्चिम दोनों के अर्थशास्त्रियों को लाभप्रद प्रेरणा मिली। १९१६ ई० में एक अर्थ शास्त्रीय समाजवादी कालेज को सम्बोधित करते हुए, गांधी जी ने कहा था, "मेरी समझ में" विश्व के पुरातन धर्म-ग्रंथ, वर्तमान अर्थशास्त्र की पुस्तकों की अपेक्षा अर्थशास्त्रीय पद्धति पर अधिक प्रभावशाली प्रकाश डालने में समर्थ है और साथ ही वे तार्किक विवादों से मुक्त है।" उनके अनुसार अर्थशास्त्र और आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, क्योंकि १९२१ ई० में उन्होंने लिखा, "वह अर्थशास्त्र या पद्धति जो किसी व्यक्ति या राष्ट्र के भौतिक उत्थान से बाधक है, स्वयं अनैतिक है। वह अर्थशास्त्रीय पद्धति भ्रामक है, जो भौतिक मूल्यों की उपेक्षा करती हो।

सन् १९३७ में गांधीजी ने अपनो आर्थिक विचारधारा को और स्पष्ट करते हुए, लिखा, सच्ची अर्थशास्त्रीय पद्धति कभी भी उच्च नैतिक भावनाओं से टकराने का दुस्साहस नहीं कर सकती, क्योंकि सच्ची नैतिक विचारधारा निश्चित रूप से समुचित अर्थशास्त्रीय पद्धति पर आधारित होगी वह आर्थिक पद्धति जो मनुष्य को कुबेर का पुजारी बनाने की चेष्टा करती है और सबल व्यक्ति को निर्बल पर नियन्त्रण करने की प्रेरणा देती है, न तो ग्रहणीय है और न ही विज्ञान सम्मत। ऐसी पद्धति मनुष्य के मौत का पैगाम लाती है। सच्ची आर्थिक पद्धति या प्रणाली तो वह है जो सामाजिक न्याय का मार्ग प्रशस्त करती है, और समान रूप से मानव मात्र का कल्याण करती है, चाहे कोई निर्बल हो या सबल। उत्तम जीवन के लिए ऐसी ही आर्थिक प्रणाली की सार्थकता है।

गांधीजी नैतिकता पर आधारित अर्थव्यवस्था के इतने कट्टर पक्षधर थे, कि वे बहुत सी परम्परागत मान्यताओं को छोड़कर भी अपने पक्ष का प्रचार करते रहे। निश्चित रूप से उनका जीवन नैतिकता और सार्वभौम शक्ति के प्रति निष्ठा पर आधारित था और उनका हर कार्य ईश्वरीय इच्छा से अनुप्राणित होता था। इसी से तो उन्होंने अहिंसा का व्रत लिया और अहिंसा को ही मानवीय कार्य-कलापों का आधार बनाया। फलस्वरूप शारीरिक श्रम उनके जीवन

और शिक्षा का अभिन्न अंग बन गया। इससे मानव मानव की समानता का सिद्धान्त प्रकाशित होता है। यही कारण है कि गांधी जी ने अर्थशास्त्र की पुस्तकों में वर्णित इस सिद्धान्त का खुलकर विरोध किया कि मनुष्य की आवश्यकता अनगिनत हैं और आर्थिक कार्यकलाप उन्हीं पर आधारित है। इस आवश्यकता की अधिक से अधिक पूर्ति ही आर्थिक प्रगति का मापदण्ड है।

गांधीजी का कहना है, "मैं नहीं मानता कि आवश्यकताओं की बहुलता और उनकी आपूर्ति निमित्त मशीन का प्रयोग विश्व को लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है। मुझे विज्ञान और मशीन के उपयोग से समय और दूरी की समस्या के निराकरण में विश्वास नहीं। मैं नहीं मानता कि मनुष्य की आवश्यताओं को निरन्तर बढ़ाकर उनकी आपूर्ति के लिए विश्व के कोने-कोने को छाना जाय। यदि आधुनिक सभ्यता इसी भूख और अनवरत जिज्ञासा का प्रतीक है, जैसा कि मैं समझ सका हूँ, तो मैं इसे शैतान की संज्ञा दूँगा।"

गांधीजी स्वीकार करते थे कि मशीन द्वारा संचालित आधुनिक उद्योग-धन्धे जो मनुष्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की सम्पूर्ति में संलग्न हैं, निश्चित रूप से भौतिक साधनों को उपलब्ध कराने में सफल होंगे। मानव समाज के अधिकांश लोग जिनको भौतिक आवश्यकताओं की अंशतः आपूर्ति भी नहीं हो पा रही है, वे इस मशीनीकरण से क्षण-भर के लिए सन्तोष भले ही कर लें, पर वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। इस मशीनीकरण से धनी और धनी तथा गरीब और गरीब होता जा रहा है। गांधी जी उस आर्थिक प्रणाली के हिमायती थे जिसके द्वारा हर मनुष्य को मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। अर्थशास्त्र का मूल उद्देश्य मानव की न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होना चाहिए। वे इस तर्क से सहमत नहीं थे कि बढ़ती हुई मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति नगरों के विकास, मशीनीकरण एवं औद्योगीकरण से सम्भव हैं।

गांधीजी कहते थे, "मानव मन एक फड़फड़ाती हुई अधीर चिड़िया की तरह है। इसे जितना अधिक प्राप्त होता है, उतना ही अधिक वह और प्राप्त करने के लिए अधीर हो उठता है और कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता। मनुष्य की आवश्यकताओं को उत्तरोत्तर बढ़ाते रहने की साजिश करना और उनकी आपूर्ति के साधन की खोज करना निरा धोखा और जाल है। उच्चकोटि की सभ्यता और सामाजिक व्यवस्था तो वह होगी जिसमें लोगों की इच्छायें सीमित होंगी और जिसमें लोग स्वयमेव अपनी आवश्यकताओं को स्वेच्छया कम करने का प्रयत्न करेंगे।"

●

पद-चिह्न

श्री कुसुमाग्रज

(एक कविता का हिन्दी भाषान्तर)

मैंने एक रात आकाश में उगे हुए उन नक्षत्रों से कहा—"मेरे मन में तो यह आस्था दृढ़ हो गयीं है कि, परमेश्वर नहीं है, लेकिन तुम लोग तो सर्वदा इस विश्व में भ्रमण किया करते हो—तुम्हीं बताओ न, क्या कभी तुमने उस परमेश्वर के चरण देखे हैं ?

"वह है कि नहीं, यह किसी को पता नहीं लगता, प्रज्ञा भी उसे ढूँढते-ढूँढते लंगड़ी हो जाती है, सैकड़ों वर्षों तक भव-सागर में चक्कर लगाने के बाद भी न कोई किनारा मिलता है और न उस 'भवसागर की नाव' (कहे जाने वाले ईश्वर) का मस्तूल तक दीखता है।"

—मेरे प्रश्न पर मुस्कराते हुए उनमें से कुछ नक्षत्रों ने कहा—"वह तो मुक्त प्रवासी है, सदा घूमता ही रहता है, अन्धकार में उसके पद-चिह्न अंकित हैं—और उसी के बारे में तुम पूछ रहे हो कि, वह है कि नहीं ?"

●

शरणागत की रक्षा

श्री के० प्रेम

व्यास मुनि महाभारत का प्रारम्भ गंगा की कहानी से करते हैं। वे गंगा को जीवात्मा की संज्ञा देते हैं, गंगा जो भारत की सबसे बड़ी और पवित्रतम नदी है। गंगा ऐसी पर्वतीय कन्दराओं से प्रवाहित होती है जो अब तक मनुष्य की पहुँच से परे हैं। इसका पर्वतीय मार्ग तिमिराच्छन्न जंगलों से होकर आगे बढ़ता है। ठीक इसी प्रकार महाभारत की गाथा ऐसे दृश्यों से भरी पड़ी है, जिसके रहस्यमय क्षणों और अद्‌भुत शौर्य के कार्य-कलाप साधारण लेखनी से परे हैं। इस पौराणिक गाथा से स्पष्ट है कि जिस प्रकार गंगा मार्ग की सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर अपना मार्ग प्रशस्त करती हुई महासागर में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार सदाचारी और पुण्यात्मा व्यक्ति सभी भौतिक विघ्न-बाधाओं पर नियंत्रण प्राप्तकर मोक्ष का मार्ग लेता है।

महाभारत की कथा से एक सूत्र जो प्रारम्भ से अन्त तक दृष्टिगोचर होता है, वह है अभिमानी और दुष्ट लोगों का पराभव तथा धर्मनिष्ठ लोगों की विजय। जब युद्ध अवश्य-भावी हो गया तो अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही श्री कृष्ण का सहयोग प्राप्त करने की उत्कण्ठा से द्वारका पधारे। दोनों हाथ जोड़े हुए अर्जुन ने कृष्ण के पांव के पास बैठकर युद्ध में उनके सहयोग की प्रार्थना की। दुर्योधन, श्रीकृष्ण के सिरहाने बैठकर उनसे उनकी सेवा और आयुधों की माँग प्रस्तुत की। दोनों की प्रार्थना स्वीकृत हो गयी—पर अर्जुन के पक्ष में असीमित देवी सहयोग आया, क्योंकि श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ रहे।

इस कथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवद्‌कृपा ठीक समय पर उन सभी लोगों को प्राप्त हुई, जो शरणागत हुए, क्योंकि उन्हें पुर्णरूप से शरणागत होना आवश्यक था। द्रौपदी अपनी साड़ी से सिमटकर चारों ओर कातर दृष्टि से देख रही थी कि क्या कोई भी रण बांकुरा उसकी सहायता को तत्पर है। उसने पाया कि उसके परमवीर पति लोग भी असहाय एवं अधीर हो रहे हैं। सारी आशायें छोड़, वह दोनों हाथ ऊपर उठाकर श्रीकृष्ण के चरणों से शरणागत हो गयी और वह शीघ्र समाधि की अवस्था में दृष्टिगोचर होने लगी। फिर क्या था, उसके शरीर के ऊपर से उतारे गये कपड़ों का ढेर लग गया, पर वह निर्वस्त्र न हो सकी। सारा दरबार स्तब्ध था। प्रभु ने शरणागत की रक्षा की।

इसी प्रकार की कथा "सारंग पक्षी", की भी है। खाण्डव-वन में भयंकर दावाग्नि प्रज्जवलित हुई। सारा जंगल धू धू कर जलने लगा। 'सारंग' के चारों छोटे-छोटे बच्चे, जिन्हें अभी पंख नहीं जमे थे, पड़े-पड़े फड़फड़ा रहे थे। मादा सारंग किंकर्तव्य विमूढ़ थी, वह उन्हें किसी सुर-क्षित स्थान तक ले जाने में असमर्थ थी। नर पक्षी तो पहले ही उन्हें छोड़कर अन्यत्र चला गया था! मादा पक्षी ने बच्चों को एक चूहे के बिल में जाकर शरण लेने के लिए कहा, पर बच्चे इससे इनकार कर गये। बच्चों ने मादा पक्षी से निवेदन किया कि वह स्वयं वहाँ से चली जाय और अपनी रक्षा करले। जीवित रहकर वह वंश की सर्वनाश से बचा सकेगी। वह कालान्तर में और बच्चे पैदा कर सकती है। माँ पक्षी बच्चों की बात मान कर अन्यत्र चली गयी। अब वे चारों पंख विहीन बच्चे निरालम्ब बैठकर 'आरक्षण शरण' का आवाहन करने लगे, वे जानते थे कि वही उनकी रक्षा कर सकते थे। सारा जंगल जलकर राख हो गया। पर धन्य है प्रभु की कृपा। उन चारों बच्चों को आँच तक न आई।

इस कथा में ऐसे प्रसंग भी आये हैं जब धर्मनिष्ठ श्रद्धालु अपने को असमंजस की स्थिति में पाकर सोचने लगे है कि कौन से मार्ग का अनुसरण करें कि सन्मार्ग से विचलित भी न होना पड़े और अपने प्रण की रक्षा भी हो जाये। ऐसी ही असमंजस की स्थिति भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य और विदुर के

सन्मुख तब उपस्थित हुई, जब अपने ही चचेरे भाइयों में युद्ध की घोषणा हुई। वे किसके पक्ष में जाँय यह एक प्रश्न-चिन्ह के रूप में उनके सामने आया। वे जानते थे कि कौरवों का पक्ष औचित्य का उलंघन है और पाण्डवों का दावा उचित है। वे कौरवों के ऋणी थे अस्तु कौरवों का साथ देना ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा, यद्यपि वे अच्छी तरह जानते थे कि युद्ध में कौरवों का विनाश होगा और धर्मप्राण पाण्डव विजयी होंगे। सभी प्रबुद्ध लोग अपनी अन्तिम स्वांस तक सन्धि के लिए प्रयत्नशील रहे, किन्तु असफलता ही मिली। यही नहीं उनका मखौल उड़ाया गया और उन्हें अपमानित किया गया। यह भी सम्भव है कि वे लोग परि-णाम जानते हुए भी दुनियावालों को यह शिक्षा देना चाहते थे कि दुष्टों का विनाश अवश्यम्भावी है।

युद्ध के दौरान, अर्जुन स्वयं एक बार ऐसी ही असमंजस की स्थिति में पड़ गये। वह जयद्रथ का वध कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में तल्लीन था, जब श्रीकृष्ण ने उसका ध्यान दूसरी ओर खींचा। सात्यकी और भूरिश्रवा मल्ल-युद्ध कर रहे थे। भूरिश्रवा ने सात्यकी को धर दबोचा और उसे समाप्त करने ही वाला था। अर्जुन को त्वरित प्रयास करना आवश्यक हो गया। वह अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति की बात भूलकर सात्यकी की रक्षा के लिए दौड़ पड़ा, क्योंकि सात्यकी ने एक बार अर्जुन की रक्षा की थी। अर्जुन इसे भूल नहीं सकता था। उसने ऐसा बाण मारा जो भूरिश्रवा के दाहिने हाथ को उससे उस समय अलग कर दिया, जब भुरिश्रवा इसी हाथ से सात्यकी पर प्राणघातक प्रहार करने ही वाला था।

भूरिश्रवा पर इस प्रकार आक्रमण करना, युद्ध के प्रारम्भ में निश्चित किये गये आचरण कें विपरीत था। भूरिश्रवा अर्जुन की ओर देख भी नहीं रहा था। अर्जुन ने अपने बचाव में कहा कि उसने युद्ध के पूर्व निश्चित किसी भी नियम और आचरण का उल्लंघन नहीं किया है, क्योंकि भूरिश्रवा ने सुनिश्चित युद्ध के नियम और आचरण का खुला उल्लंघन कर सात्यकी के चित्त शरीर को पैरों से रौंदा था और जब वह हथियार-विहीन होकर धरती पर पड़ा था तो भूरिश्रवा उसकी हत्या करने जा रहा था। यही नहीं, अर्जुन ने कहा कि उसने प्रण किया था कि जो कोई भी उसके बाणों की पहुँच के भीतर आयेगा, मारा जायेगा। भूरिश्रवा अर्जुन के इस अकाट्य तर्क पर मौन रह गया।

पाण्डवों के ज्येष्ठ भाई युधिष्ठर को जुआ खेलने की लत थी वे जानते थे कि जुआ खेलना बुरा है और इसके बुरे परिणाम हो सकते हैं, गो कि मात्र शतरंज खेलना कोई बुराई नहीं है। फिर भी जुआ खेलने के लिए तैयार हो गए। ऐसा करने के लिए वे बाध्य थे, क्योंकि किसी द्वारा किये गये चैलेंज से मुकर जाना क्षत्रिय धर्म की अवहेलना है। साथ ही उन्हें अपने चाचा धृतराष्ट्र का आदेश भी था, और वे बड़े के आदेश की अवमानना करने के दोषी भी नहीं बनना चाहते थे। किन्तु सामान्य विवेक यही कहता है कि युधिष्ठिर का यह निर्णय स्पष्टतः अनुचित था। यही निर्णय, आने वाली सभी उलझनों का मूल कारण बना। सम्भवतः युधिष्ठिर द्वारा यह निर्णय हंसी-हंसी में लिया गया था, इसके पीछे कोई ठोस कारण नहीं था, न ही यह निर्णय किसी विनीत भावना से किया गया। कहा जा सकता है कि ऐसा निर्णय लेने के पीछे कोई प्रेरणा-शक्ति काम कर रही थी, जो आम आदमी को यह बताना चाहती थी कि ईश्वर प्रेरणा के अभाव में, मानव-प्रयास व्यर्थ है।" इस प्रकार महाभारत इस तथ्य को प्रतिपादित करता है कि "जब मनुष्य शरणा-गत हुआ, ईश्वर ने रक्षा की।"

स्मरणीय

—हम अन्न का एक भी ग्रास खायें, तो हमें यह याद रखगा चाहिए कि, उस पर आस-पास रहने वाले सारे मानव-समाज की वासना चिपकी रहती है। इसलिए सबको खिला कर खाओगे, तभी हजम होगा।

—छांदोग्य-उपनिषद् से

जीवेम शरदः शतम्

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज आपको 'जीवेम शरदः शतम्' अर्थात् हम सौ वर्ष तक जीवित रहें, इस विषय पर अपना विचार सुनाने जा रहा हूँ। आज की इस बातचीत का नाम संस्कृत में दिया गया है। यह इसलिए किया गया है कि हमारे श्रोता शुरू में ही समझ लें कि यह प्रार्थना नयी नहीं है, बहुत पुरानी है। नित्य ही धार्मिक हिन्दू अपनी सन्ध्या-पूजा के समय भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह अदीन होकर सौ वर्ष तक जीता रहे। केवल जीने की प्रार्थना नहीं की गयी है। यदि कर्म करने की शक्ति शिथिल हो गयी हो, विचार-विवेक का सामर्थ्य जाता रहा हो, दूसरों का मुहताज बनकर ही जीवित रहना पड़े तो उस जीवन से क्या लाभ ? इसी-लिए उपनिषद् में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखे—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजि विषेच्छतं शतंसमाः।' किसी-किसी टीकाकार ने सौ वर्ष तक जीने का अर्थ कम-से-कम १२५ वर्ष किया है, क्योंकि यदि कर्म करते हुए जीवित रहना ही मनुष्य को वांछनीय हो तो उसकी शरीर यात्रा के लिए कुछ विश्राम का समय अलग से देना चाहिए। यदि प्रतिदिन औसत ६ घंटे विश्राम के लिए हों तो इस हिसाब से १०० वर्ष के कर्ममय जीवन के लिए कम-से-कम २५ वर्ष विश्राम के अलग से चाहिए। इस प्रकार सौ वर्ष के कर्ममय जीवन के लिए कम-से-कम १२५ वर्ष की आयु होनी चाहिए।

परन्तु इस प्रकार की व्याख्या मन्त्र के अक्षरार्थ पर बहुत अधिक जोर देने के कारण की गयी है। हमें मन्त्र के अन्तर्निहित अर्थ पर अधिक ध्यान देना चाहिए। मध्ययुग के अनेक संस्कृत और भाषा-कवियों ने अपने जीवन के अधिकांश भाग को नींद में, लड़कपन में, वृद्धावस्था में और युवावस्था के भोग-विलास में नष्ट होते देख खेद प्रकट किया है। एक सुन्दर उदाहरण विद्यापति के इस भजन में मिलता है :

माधव हम परिनाम निरासा
आध जनम हम नींद गमायतु जरा सिसुकत दिन गेला
निधुवन रहसि पुवनि परिरंभन तोहे भजन कौन बेला
माधव ....

और इसी प्रकार के अन्य भजनों में भगवद्भक्ति को ही मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना गया है और उस महान् लक्ष्य से एक क्षण के लिए भी च्युत होने को खेदजनक समझा गया है।

लक्ष्यभ्रष्ट जीवन केवल दयनीय ही नहीं होता, वह समाज के लिए हानिकर भी होता है। इसीलिए इस देश के विचारशील लोगों ने केवल सौ वर्ष तक जीवन की ही प्रार्थना नहीं की है, उसके साथ यह भी जोड़ दिया है कि उस जीवन के साथ जीवन का लक्ष्य सदा जुड़ा रहे, क्योंकि 'कर्म करता हुआ ही मनुष्य जीवित रहने की इच्छा करे'—इस वाक्य का अर्थ यह नहीं हो सकता कि जो जी में आये वही कर्म करता हुआ मनुष्य जीवनयापन करे। यह जीवन मनुष्य के उत्तम लक्ष्यों के अनुकूल होना चाहिए। ऐसा कर्म जो दूसरों के लिए कष्टदायक हो, समाज के यथार्थ मंगल का बाधक और मनुष्यता के प्रतिकूल हो, कभी शास्त्र द्वारा समर्थित नहीं हो सकता। इसलिए कर्म तो ऐसा ही होना चाहिए जो मनुष्य जीवन के उच्चतर लक्ष्य के अनुकूल हो। साथ ही उसमें दैन्य का भाव नहीं आना चाहिए। दीनता उस मानसिक दुर्बलता को कहते हैं जो मनुष्य को दूसरे की दया पर जीने का प्रलोभन देती है, जो मुहताज बन कर किसी की कृपा प्राप्त करने को सुविधाजनक मार्ग समझती है। भारतवर्ष के श्रेष्ठ वीर अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं : दैन्य न दिखाना और भागना नहीं। वीरत्व के ये ही दो नाभि केन्द्र हैं—'अर्जुनस्य प्रतीज्ञे द्वे, न दैन्यं न च पलायनम्।' दैन्य और पलायन मनुष्य के कर्ममय जीवन के विरुद्ध जाते हैं। वीरत्वपूर्ण मन से, धर्मानुकूल कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए।

भारतवर्ष नित्य ही इस प्रकार प्रार्थना करता आ रहा है। पर उसकी प्रार्थना फलवती नहीं हुई है। साधारण जनता धर्मानुकूल कर्म करते-करते सौ वर्ष जीने की अभि-लाषा का मन में चाहे पोषण करती हो, पर वह न तो दैन्य से मुक्त हो सकी है, न कर्म के प्रति उत्साह ही जिलाये रख

सकी है और न सौ या सवा सौ-वर्ष की औसत आयु ही पा सकी है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक कविता में भारतीय किसान को देखकर कहा है :

"यह जो खड़ा है सिर झुकाये, मुँह बन्द किये—जिसके म्लान मुख पर सौ-सौ शताब्दियों की वेदना की करुण कहानी लिखी हुई है, कन्धे पर जितना भी बोझ लाद दो, मन्द गति से तब तक ढोये जाता है, जब तक उसमें प्राण बचे रहते हैं—उसके बाद सन्तान को दे जाता है वह बोझ। पीढ़ियों तक यही क्रम चलता है। अदृष्ट को दोष नहीं देता, देवता को स्मरण करता है, पर निन्दा नहीं करता, किसी मनुष्य को भी दोष नहीं देता, मान-अभिमान करना जानता ही नहीं, सिर्फ अन्न के दो दाने खोट कर किसी प्रकार अपने कष्ट-क्लिष्ट प्राणों को जिलाये रखता है। वह अन्न भी जब कोई छीनने लगता है, उस थके-थकाये प्राण को भी जब गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचार चोट पहुँचाता है, तो नहीं जानता कि न्याय पाने की आशा से किसके द्वार पर जाये, केवल दरिद्रों के भगवान् को उसासें भर कर एक बार पुकारता है और चुपचाप मर जाता है।"

रवीन्द्रनाथ ने कविजनोचित भाषा में इस अत्यन्त दयनीय अवस्था का जो मर्मभेदक चित्र खींचा है, वह सत्य है। क्यों ऐसा हुआ? देश के जिन मनीषियों ने सहस्रों वर्ष पूर्व से वीरत्वपूर्ण चित्त से कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने का पुनीत संकल्प घोषित किया, उनके उत्तराधिकारी आज इस हीन अवस्था को कैसे पहुँच गये? इतना महान् संकल्प और उसकी ऐसी मर्म-विदारक अवस्था—इन दोनों का सामंजस्य कहाँ है!

बात यह है कि केवल प्रार्थना या संकल्प के महान् होने से ही काम नहीं बनता, उस संकल्प के पीछे दृढ़ कर्मशक्ति चाहिए। यदि हम केवल बड़ी इच्छाएँ ही मन में पोसते रहें तो उससे कुछ बड़ी सिद्धि नहीं मिल पायेगी। संस्कृत के पुराने सुभाषित में कहा गया है कि सोये सिंह के मुँह में मृग स्वयं नहीं घुस जाया करते, इसके लिए उसे हाथ-पैर मारना होता है, घात लगाये रहना पड़ता है, जुगत बाँधनी होती है। सिंह की इच्छा भी बड़ी हो सकती है, उसमें पराक्रम की मात्रा भी बहुत हो सकती है, पर हाथ-पैर तो उसे हिलाना ही होगा—'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।' केवल संकल्प से काम नहीं चलता। उस संकल्प के अनुसार प्रयत्न भी चाहिए। दाम सबका चुकाना पड़ता है। बड़ी वस्तु का दाम भी बड़ा होता है। और वीरत्वपूर्ण चित्त से कर्म करते हुए सौ वर्ष तक अदीन जीवन निस्सन्देह बहुत बड़ी वस्तु है। उसे पाने के लिए उतना ही महान् त्याग और तप आवश्यक है। दुनिया में बड़ी-बड़ी बातों की महिमा किससे छिपी है? कौन नहीं जानता कि तप बड़ी चीज है, त्याग बड़ी वस्तु है, ब्रह्मचर्य अच्छी चीज है? यह भी नहीं कि लोग यह नहीं चाहते हों कि उनमें ये गुण आ जायें। सब चाहते हैं कि लोग उन्हें त्यागी, तपी और विवेकी समझें, पर कोई ऐसी बड़ी बाधा हमारा रास्त रोक लेती है कि हम कुछ कर ही नहीं पाते। भागवत में प्रह्लाद ने भगवान् से कहा था कि हे भगवान्, मौन, व्रत शास्त्रज्ञान, अध्ययन, धर्माचरण, पाप, तप, समाधि और मुक्ति तत्व, ये सारी बड़ी बातें उन लोगों के लिए केवल बहस की चीज बन जाती हैं, जिन्होंने अपने इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया। फिर जो लोग दम्भी हैं उनके लिए तो ये बहस की भी बात नहीं होती।

मौन व्रत श्रुतपो अध्ययन स्वधर्म
व्याख्यारहोजमसमाध्याय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियपारां
वार्ता भवन्त्युतन वात्रतु दांभिकान्तं।

यह ठीक है। जो अपने समस्त इन्द्रिय-समूह को वश में नहीं कर लेता उस असंयमी पुरुष या स्त्री के सब बड़े संकल्प उसी प्रकार व्यर्थ होते हैं जिस प्रकार फूटे बर्तन में पानी सुरक्षित रखने का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इसलिए किसी भी महान् संकल्प के लिए दृढ़ संयम और निष्ठा सबसे पहली शर्त है। सौ वर्ष तक जीवित रहने के महान् संकल्प के लिए भी दृढ़ संयम आवश्यक है। जितेन्द्रियता चरित्रबल की कुंजी है। वस्तुतः आजकल जिसे चरित्रबल कहा जाने लगा है, उसे ही पुराना भारतवासी जितेन्द्रियता कहता था। अपने आदर्शों के प्रति अविचल निष्ठा इसी गुण से आती है। महाभारत में कहा है कि कामवश, भयवश, लोभवश यहाँ तक कि प्राण के लिए भी धर्म नहीं छोड़ना चाहिए :

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

यह अविचल निष्ठा तभी सम्भव है जब मनुष्य के अपने इन्द्रिय अपने, वश में हों। यह गुण अभ्यास से प्राप्त होता है।

दुर्भाग्यवश हमारे देश के शिक्षितों में भी इस गुण का अभाव ही बढ़ता जा रहा है। जितना भ्रष्टाचार इस समय देश में फैला हुआ है, उतना शायद ही कभी रहा हो। प्रह्लाद ने जो कहा था कि अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिए सब बड़ी-बड़ी बातें केवल बहस की बात रह जाती हैं, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारा शिक्षित वर्ग है। आप घंटों सत्य और अहिंसा पर, धर्म और संस्कृति पर नित्य व्याख्यान सुन सकते हैं, समाचार पत्रों में साहस और निष्ठा पर लेख पढ़ सकते हैं, पर 'कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न सा मतिः।' हमारे देश की सामूहिक समस्या इस समय चरित्र की कमजोरी है। नीचे से ऊपर तक लोभ और भय का वीभत्स नृत्य देख कर हृदय काँप उठता है। चरित्रबल न रहे तो आदमी अपने संकल्प का अर्थ भी नहीं समझना चाहता। जो व्यक्ति यह प्रार्थना करेगा कि मैं दैन्यहीन होकर सौ वर्ष जीवन व्यतीत करूँ, उसमें निस्सन्देह स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक होगी। आदमी, जो स्वयं दीनता-प्रकाशन को मनुष्य-जीवन का अभिशाप समझता हो, दूसरे को दीन बना कैसे सकता है? यदि हम शुद्ध चित्त से अपनी इसी महती प्रार्थना के मर्मार्थ पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि जिस ऋषि ने इस महान् संकल्प को नित्य दुहराने की व्यवस्था की थी, उसने यह भी सोचा था कि जो लोग ऐसी प्रार्थना करेंगे वे दूसरे को दीन नहीं बनायेंगे। शोषण और परपीड़न के पाप की ओर उनकी दृष्टि नहीं जायेगी।

पर हुआ उल्टा। लोग प्रार्थना भी करते रहे, और शोषण और पर-पीड़न का चक्कर भी चलता रहा। प्रार्थना अपने रास्ते चलती गयी और दुनिया का व्यवहार अपने रास्ते चलता गया। अन्तर बढ़ता गया, बढ़ता गया, बढ़ता गया। और अब यह अवस्था हो गयी कि हमारे इस मौखिक संकल्प का कोई मूल्य ही नहीं रहा। हमारे देश की औसत आयु घटते-घटते अब बीस वर्ष के आस-पास रह गयी है। विचार करने पर मन क्षोभ से भर जाता है। इतने बड़े संकल्प की क्या यही गति होनी चाहिए थी? पर क्षोभ चाहे जितना हो, वस्तु स्थिति यही है।

बड़ी-बड़ी बातों के घोखने से हम अपने दोषों को नहीं ढँक सकते। हमें सचाई—अनावृत सचाई—का साहसपूर्वक सामना करना चाहिए: जिस प्रकार भी हो, हमें अपने नैतिक धरातल को ऊपर उठाना ही पड़ेगा। भारतवर्ष को अगर सम्मानपूर्वक जीवित रहना है तो उसे अपने काले धब्बों को धो देना पड़ेगा। गाल के जोर से दीवार नहीं ढहती, निहुरे-निहुरे ऊँट नहीं चुराया जाता। चारों ओर भीतर और बाहर के शत्रु हमारी ओर आँख लगाये हुए हैं, दूसरे निश्चिन्त होना चाहें तो होवें, हम निश्चित नहीं सो सकते:

जाका घर है गैल में सो कत सोय निचिन्त।

यहाँ मैं अपनी बात जरा और भी स्पष्ट रूप में ही आपके सामने रखना चाहता हूँ। मैं जितनी दूर तक अपने देश का इतिहास समझ सका हूँ, मुझे ऐसा लगा है कि अनेक बड़े-बड़े आध्यात्मिक साधक, सम्प्रदाय और धार्मिक आन्दोलन महान् आदर्शों को लेकर चले हैं, पर देर तक वे शुद्ध अनाविल रूप में नहीं रह सके हैं। घर जोड़ने की माया ने सबको अभिभूत कर लिया है। जिन लोगों ने शोषण और परपीड़न का विरोध किया था, उन्हीं के नाम पर स्थापित गद्दियों की ओर से शोषण का कारबार तेजी से चल पड़ा है। व्यक्तियों की बातें मैं नहीं कहता। हमारे देश में ऐसे-ऐसे दृढ़ निश्चयी और त्यागी वीर हुए हैं कि जिनके नाम लेने से भी हृदय और मन पवित्र हो जाता है। वे काम-क्रोधादि से विचलित नहीं हुए हैं, यह सत्य है, पर जब उनका सन्देश समूह का सेवनीय बना है तभी जड़-भार-संग्रह करने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी है, माया जोड़ने का नशा उन्हें अभिभूत कर गया है। और देश क्रमशः चरित्र-बल से हीन होता गया है।

इस यंत्र युग में समूह की शक्ति बढ़ी है। हमें कोई ऐसी व्यवस्था सोचनी पड़ेगी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जरूरत-भर अन्न, वस्त्र और शिक्षा मिल जाय और उसे जितने की जरूरत है उससे अधिक संग्रह करने का अवसर

ही नहीं मिले। जब सामूहिक रूप से ऐसी कोई व्यवस्था हो जायेगी तभी ये छोटी-छोटी चीजें बड़ी-बड़ी बातों से मनुष्य का ध्यान हटा कर अपनी ओर खींच नहीं सकेंगी। हमें उन बातों को समाज में ठहरने ही नहीं देना चाहिए जो औसत व्यक्ति की चरित्र-शक्ति को हीन और दुर्बल बनाती हैं। अब हमारी साधना केवल व्यक्तिगत उपदेश तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, हमें सामूहिक रूप से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि मनुष्य को लोभ-मोह की ओर खींचने वाली शक्तियाँ क्षीणबल हो जायें।

कहने का मतलब यह है कि इन दिनों केवल व्यक्ति को लोभ-मोह से विरत होने का उपदेश ही काफी नहीं है, लोभ-मोह को प्रश्रय देनेवाली शक्तियों को ही निःशक्त कर देने की आवश्यकता है। आज जब हम सामूहिक शिक्षा, सामूहिक सुरक्षा आदि की ओर अग्रसर होने को बाध्य हो गये हैं, तो हमें सामूहिक रूप से जनता के चरित्रबल को सुरक्षित करने की व्यवस्था भी प्रयत्नपूर्वक करनी होगी।

जब हमारी सम्पूर्ण जनता साहसपूर्वक धर्मानुकूल कर्म करती हुई सौ वर्ष का जीवन पाने की इच्छा करेगी और उसके चरित्रबल को दुर्बल बनाने वाली सामाजिक शक्तियाँ क्षीण हो जायेंगी तब हमारा नैतिक धरातल ऊँचा होगा। तभी समग्र देश का मंगल होगा और हमारे देशवासी केवल कर्ममय जीवन ही नहीं यापन करेंगे, वे सारे जगत् को इस प्रकार के जीवन की ओर उद्बुद्ध करेंगे। तभी वैदिक ऋषि की सिखाई हुई यह प्रार्थना फलवती होगी :

ओं तच्चक्षुर्देव हितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः
स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

●

कृत्रिम और स्वाभाविक वस्तु में भिन्नता है। जैसे कृष्ण का कृत्रिम चित्र और किसी आदमी का जीवन्त चेहरा। मनोभूमि में दोनों को ही लिया जा सकता है। किन्तु परिणाम भिन्न होता है। मनोभूमि में स्वाभाविक वस्तु का जो अभाव होता है, उससे बीज निकाला जा सकता है—अवश्य कारण तक लेने से। परन्तु, कृत्रिम के आभास से बीज नहीं निकलता। अर्थात् वह कारण-भूमि में नहीं जाता—इसलिए कि वह कारण-भूमि से बाहर नहीं निकला है। उसे कारण में ले जाने से विलीन हो जाता है। (उसे सूक्ष्म स्तर में भी तोड़ दिया जा सकता है। तोड़ नहीं देने से भी वह क्रमशः धीरे-धीरे Disintegrated हो जाता है)। ये मात्र Thonght form हैं।.......

देवता आदि की देह भी स्थूल देह है—व्यावहारिक देह। स्वर्ग, बैकुण्ठ, कैलास आदि सारे ही लोक स्थूल हैं। सूक्ष्म नहीं, कारण भी नहीं, सब पाँच-भौतिक, किन्तु उनमें पृथ्वी का अंश कम है। किसी में आकाश प्रधान है, किसी में वायु या तेज प्रधान है। इसी प्रकार; परन्तु, सर्वत्र ही सत्वगुण की अधिकता है। पार्थिव प्रधान देवता भी है। किन्तु उनमें सत्वगुण प्रधान है, आपेक्षिक भाव से यही वैशिष्ट्य है। हमारी देह और लोक में पृथ्वी की प्रधानता है—उनमें तमोगुण का प्राधान्य है। —म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ●

यशस्वी विजय

– श्री हरीन्द्र दवे –

कृष्ण जैसी बड़ी हस्ती विद्यमान हो, फिर भी महाभारत युद्ध होता है, यह घटना ही 'जो नियत होता है उसे टाला नहीं जा सकता' ऐसी श्रद्धा प्रेरित करती है। कृष्ण हों इस कारण युद्ध होना रुकता नहीं; कृष्ण हों तब भी युद्ध तो होता ही है, केवल युद्ध न हो इस बाबत चिंता और लड़ा जाय तो धर्म के पक्ष की विजय हो, इसकी सावधानी—बस इतना ही कृष्ण में दिखता है। इसी से कभी भी यदि युद्ध हो तब किसी भी पक्ष की ओर कृष्ण या धर्म है या नहीं इसी दृष्टि से देखा जा सकता है; कौनसा पक्ष युयुत्सु–युद्ध के लिये आतुर है और कौन सा पक्ष युद्ध के निवारण के लिये मंथन कर रहा है! युद्ध निवारण के तमाम प्रयत्नों के बाद भी युद्ध तो आता ही है। पर युद्ध उनके लिये प्रकृतिगत आवश्यकता नहीं है, आ पड़े तभी अंजाम देने का कर्त्तव्य है। जो युद्ध के निवारण हेतु भगीरथ प्रयत्न कर सकता है, उसे ही गीता का उच्चारण करने का अधिकार प्राप्त होता है।

पांडवों के बारह बरस के बनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के बाद, विराटनगर में अभिमन्यु-उत्तरा के विवाह के अवसरपर पांडव, कृष्ण, विराट, द्रुपद आदि मित्र-राष्ट्र मिलते हैं तब कृष्ण इन सबके बीच कम से कम युद्ध-खोर दिखायी पड़ते हैं। वे कहते हैं :

> दुर्योधनस्यापि मतं यथावत्
> न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति,
> अज्ञायमाने च मते परस्य
> किं स्यात् समारम्य तमं मतं वः।
>
> (उद्योग, १; २३)

युद्ध का निर्णय तो हम कैसे कर सकते है? कारण यह कि दुर्योधन क्या करेगा—उसका मत क्या है, इसकी हमें जानकारी नहीं है। शत्रु पक्ष के विचार जाने बिना आप सब ऐसा कोई निर्णय किस तरह कर सकते हैं?

कृष्ण शत्रु के प्रति न्याय करने का विचार करते हैं, संभव है शत्रु का विचार बदले, वह पांडवों को उनका अधिकार, उनका राज्य वापस देने को सहमत हो जाय इस शक्यता को वे नकारते नहीं है!

बलराम इसमें सहमति प्रकट करते हैं तब उनका कौरवो के प्रति अनुराग प्रगट हुए बिना नहीं रहता। वे तो दूत को विवेक और विनय से तथा हिम्मत से काम लेना चाहिये, ऐसा कहते हैं। कारण यह कि उनके मत से पांडवों की दुर्दशा के मूल में शकुनि नहीं, युधिष्ठिर हैं। वे तो साफ साफ कहते हैं कि अन्य इतने सारे द्यूत खेलने वालों के मौजूद रहने पर भी वे शकुनि के साथ क्यों भिड़े और फिर—

> स दीव्यमानः प्रतिदेवतेन
> अक्षेषु नित्यं सुपरांग्मुखेषु
> संरम्भमाणो विनितः प्रसह्य
> तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित्।
>
> (उद्योग. २ ; ११)

युधिष्ठिर खेलने लगे और प्रतिपक्षी के पासे बराबर उनके प्रतिकूल पड़ने लगे, तब भी उन्होंने हठपूर्वक खेल चालू रक्खा और अपने को हराया। इसमें शकुनि का कोई दोष नहीं है।

कृष्ण एक बित्ता ऊँचे मानव हैं, पर तटस्थ नहीं हैं। वे पांडवों के साथ हैं। वे पांडवों के साथ इसलिये हैं कि धर्म पांडवों के पक्ष में है। पर उन्हीं के भाई बलराम उनसे अलग दूसरे छोर पर खड़े हैं। वे तटस्थ भाव से सारी परिस्थिति को देखते हैं, इसी से इस तरह की बात कह सकते हैं।

किन्तु परिस्थिति को इस एक ही दृष्टिकोण से देखा जा सकता है, ऐसा नहीं है। महाभारतकार परिस्थिति को

कभी भी एक ही बिंदु से प्रस्तुत करके खसक नहीं जाते; कृष्ण ने समूची परिस्थिति को एक दृष्टि से देखा; बलराम का दृष्टिकोण भिन्न था, तो सात्यकि एक तीसरे ही कोण से समूची परिस्थिति का अवलोकन करते हैं। वे कहते हैं कि भरी सभा में कोई भी धर्मराज पर यों ही भी दोषारोपण कर सके ऐसा है क्या ? एक तो कौरवों ने द्यूत में छल करके धर्मराज को हराया, फिर भी पांडवों ने उनकी शर्तें पूरी की। वे बारह बरस वन में रहे, एक वर्ष अज्ञातवास किया। अब वे क्यों किसी के पास भीख माँगने जायं ? और इन कौरवों की बेशरमी का पार नहीं है। वे अब मिथ्या प्रचार करने लगे हैं कि पांडवों के बनवास की मुद्दत पूरी होने से पहले हमने उन्हें पकड़ लिया है। सात्यिकि उग्र शब्दों में कहते हैं :

ना धर्मो विद्यते कश्चित शत्रून् हत्वाततायिनः,
अधर्म्यमपयश्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम्।
(उद्योग. ३, ११)

आततायी शत्रुओं का वध करने में कोई पाप नहीं है। शत्रु के समक्ष याचना करना ही अधर्म है, अपयश है।

तिस पर भी कृष्ण का आग्रह स्वीकृत होता है। द्रुपद राजा अपने पुरोहित को दूत के रूप में हस्तिनापुर भेजने का निश्चय करते हैं।

युद्ध की विशेषता यह होती है कि शांति के प्रयत्न चलते रहते हैं उनकी पृष्ठभूमि में ही युद्ध का पलीता भी सुलगता रहता है। इसी से एक तरफ से शांति के प्रयत्न शुरू होते हैं तो दूसरी तरफ से युद्ध की तैयारियाँ भी शुरू होती हैं।

युद्ध हो तो कृष्ण किसके पक्ष में रहें यह प्रश्न बहुत महत्त्व का बन जाता है। कृष्ण का अपना व्यक्तित्व तो है ही, पर इन यदुश्रेष्ठ के पास उनके जैसे ही बलशाली एक अर्बुद—अर्थात् दस करोड़ यादवों की सेना है। इस सेना को नारायणी सेना के नाम से जाना जाता है। यदि युद्ध हो तो यह दस करोड़ की सेना किस पक्ष से लड़ेगी यह प्रश्न भी महत्त्व का बन जाता है।

अब दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही की दृष्टि युद्ध पर थी। अतः दोनों ही ने कृष्ण की सहायता मांगने का निश्चय किया। कथा बहुत प्रसिद्ध है। दुर्योधन कमरे में सबसे पहले प्रवेश करता है। कृष्ण सो रहे हैं। उनके मस्तक के पास रखे वरासन पर जाकर वह बैठ जाता है। अर्जुन बाद में आते हैं। और वह तो 'कृतांजलि'—हाथ जोड़कर कृष्ण के पैरों के पास खड़ा रहता है। कृष्ण ने आँखें खोलीं। उनकी दृष्टि सर्व प्रथम अर्जुन पर पड़ी। फिर उन्होंने दुर्योधन को ओर भी देखा। अर्जुन चुप है, पर दुर्योधन कहीं चूक न जाय इस वास्ते जल्दी से अपना दावा पेश करता है। 'आप मुझे युद्ध में सहायता दे सकने में समर्थ हैं, इसी से मैं आया हूं।' और फिर इस सहायता हेतु वह दो दलीलें पेश करता है। सर्व प्रथम तो कहता है :

समं हि भवतः सख्यं मम चैवार्जुनेऽपि च,
तथा सम्बन्धकं तुल्यं अस्माकं त्वयि माधव।
(उद्योग. ७; १०)

मेरा और अर्जुन का आपके साथ का सख्य बराबर का ही है। और आपके साथ का हमारा संबंध भी तुल्य है—समान है।

समूचे महाभारत के विनोदी वाक्यों की सूची बनायी जाय तो इस श्लोक के प्रथम चरण को उसमें शामिल करना ही होगा। फिर यह करुण वाक्य भी है। कारण यह कि वह गंभीरता से कहा गया है। अपनी और कृष्ण की मैत्री, अर्जुन की और कृष्ण की मैत्री जैसी ही है, ऐसा विधान ही जबरदस्त असत्य है। ऐसा विराट असत्य कृष्ण मान लेंगे यह मानकर ही दुर्योधन बोला है। यह वाक्य दुर्योधन ने किसी और से कहा होता तो भी इतना ही हास्यास्पद लगता। पर यह तो वह स्वयं कृष्ण से कहता है। सख्य के बाद कुटुम्ब के सम्बन्धों—रिश्तों के मामलों में भी अर्जुन का समकक्ष है यह भी कहता है। पर अर्जुन कृष्ण की बुआ का लड़का है और वह स्वयं उस बुआ का भतीजा है यह बात दुर्योधन भूला तो नहीं ही है। अतः बोलने को तो वह यह बात कह जाता है, पर जो विधान अपने गले न उतरे वह कृष्ण के गले कैसे उतरेगा, ऐसी कल्पना तो वह कहाँ कर सकता है ? कृष्ण सख्य की या सम्बन्ध की बात हँसी में उड़ा देंगे यह सूझते ही, उसी साँस में वह आगे कहता है :

अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन,
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्व सारिणः।

(उद्योग. ९; ११)

मधुसूदन, आज आपके पास मैं पहले आया हूँ। पूर्वाचार्यों की परम्परा का अनुसरण करने वाले श्रेष्ठ पुरुष प्रथम आने वाले याचक को ही सहायता करते हैं।

कृष्ण इन दोनों में से एक भी दलील में नहीं आते। वह सख्य वाली बात तो इतनी हास्यपूर्ण और इतनी करुण है कि उसका जबाव देना भी कृष्ण को उचित नहीं लगता। कृष्ण अपने उत्तर में इस बात का उल्लेख नहीं करते, यही कृष्ण का बड़ा उत्तर है। पर पूर्व आचार्यों की परम्परा से सम्बद्ध प्रश्न का उत्तर तो कृष्ण को देना ही है, अतः वे कहते हैं : आपकी इस बात में मुझे संदेह नहीं है कि आप पहले आये होंगे। कृष्ण और दुर्योधन के बोलने की रीति में कवि ने अन्तर किया। दुर्योधन 'अहंचाभिगतः पूर्वं' ऐसा कहकर 'अहं' शब्द से शुरू करता है, कृष्ण 'भवानभिगतः पूर्वं" (आप पहले आये हो) इन शब्दों से, अर्थात 'भवान्'–'आप' शब्द से शुरू करते हैं, पर तत्काल ही कृष्ण कहते हैं कि आपकी बात झूठ है यह मैं नहीं कहता; पर मैंने तो सबसे पहले पार्थ धनंजय को देखा है।

तिस पर भी कृष्ण छटक नहीं जाना चाहते। वे तो कहते हैं 'साहाय्यमुभयोरेव'—मैं दोनों की सहायता करूँगा।

अर्जुन को उन्होंने पहले देखा यह पहला कारण है, अर्जुन दुर्योधन से छोटा है, और दुर्योधन ने पूर्वाचार्यों की परम्परा का सहारा लिया है तो कृष्ण श्रुति का हवाला देकर कहते हैं :

प्रवारणं तु बालानाम् पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः

(उद्योग. ७; १५)

बालकों को अभीष्ट वस्तु सबसे पहले देनी चाहिये ऐसा श्रुति वचन है।

कृष्ण दोनों की सहायता करने के निमित्त और उसमें भी अर्जुन को प्रथम पसंदगी देकर एक प्रकार से अर्जुन को कसौटी पर कसते भी हैं। वे कहते हैं कि एक तरफ मेरे जैसे ही बलवाले दस करोड़ यादवों की सेना है; वह सब 'नारायण' के रूप में ही जाने जाते हैं, यह पूरे के पूरे दस करोड़ सैनिक एक पक्ष की ओर से लड़ेंगे। युद्ध में प्रवृत्त रहेंगे। तब दूसरे पक्ष में मैं रहूँगा, पर कैसा ?

अयुध्य मानः संग्रामे न्यस्त शस्त्रोऽहमेकतः

(उद्योग. ७; १७)

'अयुध्यमानः' अर्थात युद्ध में भाग न लेने वाला, और 'न्यस्तशस्त्रो' अर्थात शस्त्र हाथ में न उठाने का संकल्प लिये मैं—

और ये दो पसंदगियाँ आमने-सामने रखकर, सबसे पहला चयन करने का अवसर अर्जुन को देते हैं। अर्जुन से कहते हैं कि इसमें से तुझे जो पसंद आवे वह चयन कर ले।

अर्जुन अपना 'सखा' है या कि 'सम्बन्धी' है इस आधार पर नहीं, धर्म के अनुसार उसे पहले चयन करने का अधिकार है, इस हेतु वे अर्जुन से पहले पसन्द करने को कहते हैं।

अर्जुन की पसन्द (वरयामास केशवम्) हम जानते हैं। इस पसन्दगी में कृष्ण के प्रति उसका प्रेम है; कृष्ण 'नरश्चैव नरोत्तम' हैं, ऐसी श्रद्धा है। पर इस पसन्दगी का एक दूसरा परिणाम भी निकलता है। इस परिणाम पर ध्यान दें तो विचक्षण अर्जुन के मन में यह गणना नहीं रही होगी यह मानने का कारण नहीं रह जाता। अर्जुन ने सेना माँगी होती तो कृष्ण दुर्योधन के पक्ष में जाते, मान लें कि दुर्योधन के सारथी न हुए होते, मात्र सलाहकार ही रहते। पर बलराम निश्चय ही दुर्योधन की ओर से लड़ने गये होते। बलराम के मनमें दुर्योधन के लिये कोमल लगाव है। यदि अर्जुन ने चयन करने में भूल की होती तो कृष्ण, सात्यकि और बलराम तीनों ही दुर्योधन के पक्ष में गये होते। और "यत; कृष्णस्ततो जयः" के न्याय के अनुसार पांडवों की पराजय हुई होती। अर्जुन की पसन्दगी सुनकर, वह और कृष्ण दोनों धोखा खा गये हैं, ऐसे विश्वास के साथ (कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा) वह बलराम के पास जाता है। तब बलराम उससे कहते हैं :

न चाहमुत्सहे कृष्णं विना स्थातुमपि क्षणम्।

(उद्योग. ७; २५)

कृष्ण के बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकूंगा। इसी से वे युद्ध में तटस्थ रहने का निर्णय करते हैं और दुर्योधन से 'क्षात्र-धर्म' के अनुसार युद्ध करने की प्रेरणा देते हैं। अर्जुन के पक्ष से दुर्योधन के सामने बलराम लड़ नहीं सकते, और कृष्ण जिसके पक्ष में हैं ऐसे अर्जुन के सामने हलधर कैसे लड़ सकता है? अस्तु अर्जुन की पसन्दगी का सीधा परिणाम यह होता है कि बलराम प्रतिपक्ष में जाते हुए रुक जाते हैं।

कृष्ण भी यह बात जानते हैं। इसी से तो वे अर्जुन से प्रश्न करते हैं: 'पार्थ, तूने युद्ध न करने के संकल्पवाले और शस्त्रहीन मुझ जैसे को क्यों पसन्द किया?'

अर्जुन का उत्तर बहुत ही सुन्दर है। वह कहता है। 'भगवान् आप अकेले ही उन सबका नाश करने में समर्थ हैं, यह मैं जानता हूं। मैं अकेला भी उन सबका नाश करने में समर्थ हूं, यह भी मैं जानता हूं।'

अर्जुन ये शब्द अहंकारवश नहीं कहता, अपनी शक्ति और भगवान की शक्ति की बराबरी करने की भी उसकी वृत्ति नहीं है। उसे अपनी शक्तियों का ख्याल है, इतना ही नहीं अपनी मर्यादाओं का भी ख्याल है। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का भी ख्याल है। इसीसे वह कहता है:

भवांस्तु कीर्तिमान् लोके तद्यशस्त्वाम् गमिष्यति,
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः।
(उद्योग. ७, ३३)

आप इस संसार में कीर्तिमान् हैं। आप जहां जाते हैं, यश भी वहीं जाते हैं। मुझे भी यश की अभिलाषा है, इसीसे मैंने आपको पसन्द किया।

अर्जुन अपने स्वार्थ, अपनी महत्त्वाकांक्षा को छिपाकर नहीं रखता। कृष्ण बिना विजय यशपूर्ण नहीं होती, यह बात वह अच्छी तरह से जानता है। जरासंध ने निन्यानबे राजाओं का हराकर बन्दी बनाया था, यही नहीं मथुरा के यादवों पर भी सफल हमले किये थे। कर्ण या दुर्योधन का पराक्रम भी कुछ कम होगा ऐसा नहीं था। पर कृष्ण हों, वहीं यश भी होता है। अर्जुन को केवल विजय नहीं चाहिये, उसे यशस्वी विजय चाहिये। ●

(अनु० डा० भानुशंकर मेहता)

दशरथ जी धनुष-यज्ञ में क्यों नहीं बुलाये गये

(एक मागधी श्रुतिकथा)

—नारायणप्रसाद सिन्हा

●

एक ब्राह्मण देवता खूब बन-ठन कर ससुराल चले जा रहे थे। मार्ग में एक स्थान पर दलदल मिला। ब्राह्मण देवता को उस पार जाना था। सोचने लगे कि, इस दलदल के मार्ग से जाने में मेरे सारे नये वस्त्र कीचड़ में गंदे हो जायेंगे। किन्तु जाना भी जरूरी है।

इसी सोच-विचार में पड़े थे कि, कुछ दूर पर एक गाय दलदल के बीच में फंसी दिखायी पड़ी। गाय को देखकर ब्राह्मण देवता प्रसन्नता से फूल उठे। तुरत ही उस गाय पर एक पैर रखकर, वे बड़ी आसानी से दलदल पार हो गये। किन्तु ससुराल पहुँचने के बाद, जैसे ही वे अपनी पत्नी के पास गये, वैसे ही उनकी शक्ल इंसान से बदल कर गधे की हो गयी। बेचारी ब्राह्मणी ठगी-सी खड़ी रह गयी। किन्तु क्या करती? रो-कलप कर उस गधे को साथ ले देश-देशान्तर का भ्रमण करने लगी।

ब्राह्मणी घुमते-घुमते जनकपुर पहुँची। राजा जनक को एक गधे के साथ ब्राह्मणी को देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पण्डितों से इसका रहस्य पूछा। पण्डितों ने बताया—"यह गधा इसी ब्राह्मणी का पति है। इसने पण्डित हो कर भी घोर अधर्म का कार्य किया है। जब यह ससुराल जा रहा था, तब एक दलदल में इसे एक गाय फंसी दीख पड़ी। इसे चाहिए था कि, उस फंसी हुई गाय को दलदल से निकाल देता, किन्तु उसे निकालना तो दूर, उल्टे यह अधम उसी गाय पर पैर रख कर स्वयं दलदल पार कर गया। इसी पाप के कारण यह गधा हो गया है।"

राजा जनक ने पूछा—"क्या यह ब्राह्मण किसी उपाय से फिर मनुष्य बन सकता है?"

पण्डितों ने बताया—"यदि कोई पतिव्रता नारी अपने हाथ से जल भर कर इसके शरीर पर छिड़क दे, तो यह ब्राह्मण अपना पूर्व-शरीर प्राप्त कर लेगा।"

राजा जनक मुस्कराये—यह कौन-सी बड़ी बात है। ब्राह्मणी के ठहरने की उचित व्यवस्था करवा दी गयी। रात्रि में राजा जनक जब रनिवास में गये. तो उन्होंने अपनी रानियों से सारी घटना कह सुनायी और उस ब्राह्मणी के पति को फिर से मनुष्य बना देने का आग्रह किया। किन्तु एक-एक कर सभी रानियों ने सिर हिला दिया। आँखें जमीन पर गड़ा, शर्म के साथ उन्होंने स्वीकार कर लिया कि, उनमें इतनी शक्ति नहीं है।

खिन्न मन राजा जनक वहाँ से उठ गये। दूसरे दिन सबेरे से ही पतिव्रता नारी की खोज होने लगी। किन्तु सारे राज्य में एक भी नारी ऐसी नहीं मिली।

अन्त में राजा जनक ने एक पत्र अयोध्या के राजा दशरथ के पास भेजा कि, अपने राज्य से एक पतिव्रता नारी भेज दें। राजा दशरथ तत्काल समझ गये—कोई विशेष बात अवश्य है। अतः उन्होंने रानी कौशल्या से जनकपुर जाने का अनुरोध किया। कौशल्य तैयार हो गयीं। रथ पर सवार होकर वह प्रस्थान करने ही वाली थी कि, कैकेई पहुँच कर बोली—"मेरी उपस्थिति में आपको इस बात के लिए कष्ट उठाना शोभा नहीं देता, दीदी।"

कैकेई के अनुरोध पर कौशल्या रुक गयी। किन्तु अभी कैकेई रथ पर बैठ रही थी कि, सुमित्रा आकर बोली—"दीदी, आप जनकपुर जा रही हैं? मेरी उपस्थिति में आपका जाना उचित नहीं प्रतीत होता। संसार क्या कहेगा?"

कैकेई ने भी जाने का विचार त्याग दिया। परन्तु सुमित्रा भी जनकपुर न जा पायी। उसके रथ पर सवार होते ही उसकी बांदी आकर बोली—"रानी जी। बाँदी की उपस्थिति में आपको जनकपुर जाना शोभा नहीं देता। आप मत जाइये और मुझे ही जाने की अनुमति दीजिये।"

होते-होते अन्त में, ऐसा हुआ कि, अयोध्या से एक चमारिन पतिव्रता नारी के रूप में जनकपुर पहूँची। जनकजी तो उसे देखकर घबड़ा गये, कि, एक चमारिन भला किस प्रकार ब्राह्मण पर जल छिड़क सकती है।

किन्तु अयोध्या की वह प्रतिव्रता नारी बोली—"महाराज। मैं इस कूप से जल निकाल देती हूँ। फिर कोई ब्राह्मण इस जल को ले कर छिड़क दे।"

अन्ततः यही किया गया। चमारिन ने जल भर दिया और एक ब्राह्मण ने उसको गधा-रूपी ब्राह्मण पर छिड़क दिया। तुरन्त ही ब्राह्मण देवता अपने असली रूप में आ गये। ब्राह्मणी जनकजी को धन्यवाद दे पति के साथ अपने देश लौट गयी।

राजा जनक ने सोचा—"जिस अयोध्या में एक मामुली चमारिन में इतनी शक्ति है, वहाँ न जाने कितने वीर भरे पड़े होंगे। निश्चय ही, महाराज दशरथ को कभी कुछ नहीं करना पड़ता होगा।" और, इसी डर से उन्होंने धनुष-यज्ञ में राजा दसरथ को निमन्त्रण नही भेजा—क्या ठिकाना, महाराज दशरथ के स्थान पर, अयोध्या का कोई चमार ही आकर धनुष उठा ले।

●

निकुञ्ज में जब राधा-कृष्ण का मिलन होता है, तब कोई उसे नहीं देख पाता। साक्षी या सखी वहाँ नहीं रहतो। उसी तरह, मिलन कैसे भंग होता है, यह भी कोई नहीं देखता। अर्थात् युगल-तत्व मूल में एक ही है—शिव-शक्ति, राधा-कृष्ण एक ही। फिर भी कैसे एक दो हुआ, दो नहीं होते हुए भी दो जैसा हुआ—यह कोई नहीं जान सकता। इसके बाद लीला। उसका द्रष्टा है, योजक है। वही सखी है। अर्थात् राधा-कृष्ण एक हो जाने से सखी अलग नहीं रहती—वह भी एक हो जाती है। राधा-कृष्ण अलग होने से सखी भी जगती है। —**म० म० पं० गोपीनाथ कविराज**

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

दिसम्बर, १९८३

●

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल दाल, साग आदि १२५०) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के ब्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

स्थायी भण्डारा

श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	कच्चा	४-१२-८३
श्री लखीराम ओमप्रकाश, संभलपुर	कच्चा	६-१२-८३
श्री राधेश्याम पसारी, कलकत्ता	कच्चा	७-१२-८३
श्री चिरंजीलाल बोहरा, दुमका	पक्का (फलाहार)	१६-१२-८३
श्री मानाराम गुप्ता, कलकत्ता	कच्चा	२१-१२-८३
श्री जगन्नाथ गुप्ता, कलकत्ता	पक्का	२२-१२-८३

अस्थायी भण्डारा

श्री स्वामी पूर्णानन्दजी तीर्थ, गंगोत्री	कच्चा	१-१२-८३
स्व० स्वामी बलभद्रानन्द जी तीर्थ, मुमुक्षु भवन, वाराणसी	कच्चा	५-१२-८३
श्रीमती कलावती देवी भौतिका, बाँसफाटक, वाराणसी,	पक्का	८-१२-८३
श्रीमती अनारा देवी चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता	पक्का	१८-१२-८३
श्री स्वामी सच्चिदानन्द तीर्थ, उत्तरकाशी	कच्चा	२०-१२-८३
श्री रामअवतार सिंह, चूरू,	कच्चा	२४-१२-८३
श्रीमती सूर्या देवी मुरारका, वाराणसी	पक्का (फलाहार	३०-१२-८३
श्री गुरुप्रसाद एवं रुक्मिणी बाई, राजस्थान	कच्चा	३१-१२-८३

अन्न क्षेत्र

डा० प्रियालाल एवं श्रीमती नर्वदा देवी, वाराणसी १०००)

श्री सत्यनारायण रूँगटा, कलकत्ता (मासिक) दिसम्बर '८३ ३००)

श्री सीताराम जिन्दल, एस० जे० जिन्दल, चैरिटी ट्रस्ट, दिल्ली, वार्षिक ६०००)

श्री भूपाल सिंह सैनी, राजस्थान वार्षिक १०१)

उत्तरकाशी अन्नक्षेत्र

श्री कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता (अक्टू०, नव०) २५०)

होम्योपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
३६७	१७८५	२१५२

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
१५५	६८८	८४३

(कवर पृष्ठ ३ का शेषांश)

करती ? श्रद्धा से अर्पित पुष्पों के लिए किसी भी रूप में कुछ लेने से उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया।

"उस रात व्याध दम्पत्ति ने भी उस वेश्या के साथ निराहार रह भगवान् की पूजा की और जीवनभर निरीह पक्षियों की हत्या करने पर भी, उस क्षण उत्पन्न हुई भक्ति की भावना ने उनका सारा जीवन पलट दिया। विशुद्ध अन्तःकरण से निकली पवित्र भावना से उनके अब तक के समस्त पाप नष्ट हो गये।

"राजन् ! पूर्वजन्म में तुम ही वह व्याध थे और रानी लावण्यवती तुम्हारी पत्नी। निष्काम भाव से तुम अपना कर्त्तव्य निभाते रहे, इसी से भगवान् ने प्रसन्न हो तुम्हारे हृदय में भक्ति का संचार किया और उसी पुण्य के फलस्वरूप तुम्हें इस जन्म में यह सब-कुछ प्राप्त हुआ है।

"पुंण्पवाहन ! कर्म ही सर्वोपरि पुण्य है—कर्म ही यश-वैभव का स्रोत है और इसी से मनुष्य को फलाफल की तनिक चिन्ता किये बिना निष्काम भाव से कर्म करते रहना चाहिए। (श्री रतनलाल जोशी द्वारा प्रस्तुत)

कर्म

प्राचीनकाल में पुष्पवाहन नामक एक राजा थे। वे अत्यन्त धर्मपरायण और प्रजावत्सल थे। उनके शासनकाल में प्रजा को कमी किसी वस्तु का अभाव नहीं रहा। उनके सामने की, उनकी पत्नी लावण्यवती भी बड़ी धर्मपरायण थीं। प्रजा के हित का उन्हें भी सदैव ध्यान बना रहता था।

महाराजा पुष्पवाहन ने एक बार बड़ी कठिन तपस्या की थी। प्रसन्न हो ब्रह्मा प्रकट हुए और उन्हें एक स्वर्ण-कमल देते हुए बोले—"राजन! मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि, धर्म में तुम्हारी आस्था इसी प्रकार बनी रहे। तुम्हारा यश-सौरभ दिक्-दिगन्तर में व्याप्त हो। इस स्वर्ण-कमल को सम्भाल कर रखना। यह, इच्छा करते ही, तुम्हें स्वर्ग-धरती-पाताल कहीं ले जा सकता है।"

ऐसे सुयाग शासन को पा, प्रजा ने कभी किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं किया। महाराज पुष्पवाहन की कीर्ति-गाथा सर्वत्र फैल गयी, उसका यश दिन-दूना, रात-चौगुना बढ़ने लगा।

एक दिन महाराज विद्वत्-समाज के साथ ज्ञान-चर्चा कर रहे थे कि, प्रतिहारी ने मुनिवर प्रचेता के आगमन की सूचना दी। महाराज ने उनकी सादर अभ्यर्थना की और उनके यथोचित् आसन ग्रहण कर लेने के पश्चात् विनम्र शब्दों में कहा—'मुनिश्रेष्ठ! मेरे हृदय में बहुधा एक शंका उठा करती है। यह यश-वैभव मुझे क्यों प्राप्त हुआ है? किस पुण्य के फल से मनुष्य को यह सब मिलता है?'

प्रचेता मुस्कराये—"राजन्! मैं तुम्हें एक कथा सुनाता हूँ। वर्षों पूर्व इसी धरती पर एक व्याध रहता था। वह देखने में अत्यन्त कुरूप था, उसका अंग-अंग टेढ़ा था। सब उसका तिरस्कार करते—माँ-बाप, भाई-बहन, स्वजन-परिजन किसी का भी स्नेह उसे प्राप्त नहीं था।

व्याध की पत्नी भी उसके समान ही कुरूप थी, पर पति के लिए उसके हृदय में बड़ी श्रद्धा थी। दोनों पति-पत्नी आपस में बहुत प्रेम करते थे और एक-दूसरे की मंगल कामना करते रहते थे।"

"उसी समय एक बार भयंकर अकाल पड़ा। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। व्याध और उसकी पत्नी भी, जब क्षुधा अति प्रबल हो उठी तो भोजन की खोज में घर त्याग कर निकल पड़े। किन्तु दिन-भर भटकने के पश्चात् भी उन्हें अन्न, फल अथवा मांस, कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। चलते-चलते जब वे एक तालाब के किनारे पहुँचे तो कुछ देर विश्राम के विचार से वहाँ रुक गये। तालाब में खिले कमल-पुष्पों को देखकर व्याध के मन में सहसा एक विचार उत्पन्न हुआ—'क्यों न इन पुष्पों को तोड़ लिया जाए।' पत्नी के साथ फिर वह पास के वैदिश नामक नगर की ओर बढ़ा। किन्तु दुर्भिक्ष के दिनों में कौन कमल-पुष्प खरीदे? व्याध को एक भी खरीदार नहीं मिला। क्षुधा से व्याकुल, नगर के एक अति विशाल भवन के निकट पति-पत्नी बैठ गये। दुर्बलता और थकावट से उन्हें आपस में बात करने की भी इच्छा नहीं हो रही थी।

"रात्रि के आकाश का प्रकाश जब नगर पर छाने लगा, तो सहसा ही उनके कानों ने मांगलिक शब्दों का उच्चारण सुना। कदाचित् वहाँ भोजन प्राप्त हो जाए। इस आशा में दोनों पति-पत्नी चल पड़े।

"नगर की अनंगवती नामक एक वेश्या विभूति-द्वादशी व्रत का अनुष्ठान कर रही थी और उसी प्रसंग में उसके यहाँ विष्णु-पूजा का आयोजन था। भगवान् विष्णु की पाप-प्रक्षालिनी मूर्ति और वहाँ के पवित्र वातावरण को देख व्याध के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। तत्काल ही, उसके हृदय में यह विचार आया—'इन कमल-पुष्पों से भगवान का शृंगार किया जाए तो कितना अच्छा होगा!'

'अपने अब तक के जीवन में व्याध ने कभी भगवान् की पूजा नहीं की थी। कभी अवसर भी नहीं आया था। दिन भर वह निर्लिप्त भाव से अपना काम किया करता था। किन्तु इस क्षण जो उसके हृदय में भक्ति का संचार हुआ, उससे प्रेरित हो, उसने अनंगवती से अपनी इच्छा प्रकट की।'

'अनंगवती, अपने आराध्य विष्णु के परमप्रिय पुष्पों को देख, अत्यन्त प्रसन्न हुई। बड़े चाव से उसने व्याध द्वारा लाये पुष्पों से भगवान् का श्रृङ्गार किया। व्याध को उसने इसके लिए तीन सहस्र मुद्राएँ भी दीं, किन्तु व्याध ने इन्कार कर दिया। सुस्वादु पकवान के थाल मँगवाये—व्याध दम्पति ने उन्हें भी ग्रहण नहीं किया। उनके हृदय में तो उस वक्त भावना प्रबल थी—क्षुधा उन्हें क्या पीड़ित

(शेष पृष्ठ २४ पर)

Regd No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82 जनवरी १९८४ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यता प्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२०१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी हैं। हर फ्लैट में तीन कमरे, रसोई, स्नान घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन विताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

•

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

मुमुक्षु

फरवरी १९५४

आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ३ : अंक ५
माघ सं० २०४०
फरवरी १९८४

●

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

●

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दोसौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

राष्ट्रीय एकता के प्रतीक । शिव
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी १
जी. डी : अनुश्रुति, एक सेतु, एक उद्योग-विश्व
श्री श्रीकान्त जोशी ३
धर्म का बल
श्री हरीन्द्र दवे ८
लोकमर्यादा के प्रतिपालक बलरामजी
डा० त्रिवेणीदत्त शुक्ल ११
पुस्तक समीक्षा १२
आत्मतत्व और ब्रह्मतत्व
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज १३
गुरुदक्षिणा धर्मकीर्ति १५
सत्यमेव जयते श्री रतनलाल जोशी १७
प्रकृति के स्वर
अनाम २१
राष्ट्रीय एकता के उद्बोधक दक्षिण भारत के मन्दिर
डा० श्यामबहादुर वर्मा २३
काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

●

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों की फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी हैं। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज कर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी
वाराणसी—५

●

मुमुक्षु

वर्ष : ३] फरवरी १९८४ [अंक : ५

राष्ट्रीय एकता के प्रतीक : शिव

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

•

न जाने कब से भारतवर्ष सांस्कृतिक दृष्टि से एक और अखण्ड देश बना हुआ है। राजनीतिक उथल-पुथल और विदेशी आक्रमणों के संकट केवल इसके ऊपरी सतह को विक्षुब्ध करते हैं। इन हलचलों के नीचे यह देश अविक्षुब्ध, अप्रतिहत भाव से एक रहा है। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक जिन बातों ने और जिन विश्वासों ने इसे अविभाज्य बना रखा है, उनमें प्रमुख स्थान 'शिव' जैसे सर्वजनोपास्य महान् देवता का है। इतिहास हमें जहाँ तक ले जा सकता है वहाँ तक शिव की उपासना का अस्तित्व मिलता है। ऋग्वेद में 'शिव' नाम तो एक-दो बार ही आया है, पर उसी का वाचक 'रुद्र' कई बार आया है। यजुर्वेद में शिव के उन सभी नामों और विशेषणों का सन्धान मिलता है जो परवर्ती साहित्य में बराबर मिलते चले जाते हैं। वे महापिनाकी हैं (शु० य० १६-५१), कपर्दी हैं (शु० य० १६-१०), नीलग्रीव या नीलकण्ठ हैं (शु० य० १६।१।६६।८), त्र्यम्बक या त्रिलोचन हैं (कृ० य० १।८।६)। कहने का अभिप्राय यह है कि वे पुरानी संहिताओं में उन सब नामों और रूपों के साथ मिल जाते हैं जो रामायण और महाभारत, पुराणों और आगमों में मिलते हैं। जिन लोगों ने सिन्धु घाटी को पुरानी सभ्यता का अनुशीनल किया है, वे उस विस्मृत प्राचीन काल में भी शिव की उपासना और योग तथा समाधि की बातों के प्रमाण पाते हैं। पुराणों में असुर जाति के अनेक शक्तिशाली नेताओं को शैव बताया गया है। भारतवर्ष के इतिहास का ऐसा कोई पन्ना नहीं है, जिसमें देवाधिदेव महादेव की महिमा न लिखी हो। उनका यह 'महादेव' नाम भी अथर्ववेद (१५-१-४) से ही मिलने लगता है।

जिन विद्वानों ने शिवजी के स्वरूप के क्रमविकास का अध्ययन किया है, वे बताते हैं कि इस देश में बसने वाली प्रायः सभी स्तरों की मानव-मण्डलियों के कुछ-न-कुछ विश्वास शिव के वर्तमान रूप के निर्माण में सहायक रहे हैं। इस रूप में आर्यों, द्रविड़ों, किरातों और शबर-निषादों के विश्वास सम्मिलित हैं। इस देश के महान्-से-महान् तत्वदर्शी ने शिव के रूप को दार्शनिक मान्यता के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित किया है और निम्नतर स्तर के साधारण-से-साधारण स्त्री-पुरुष ने उसे भाव के आगाध समुद्र में स्नान कराया है। शिव को किसी-न-किसी रूप में देश की मिट्टी के प्रत्येक कण से सम्बद्ध बताया गया है। हिमालय से लेकर महाराधि और रत्नाकर—बंगाल की खाड़ी और अरब समुद्र—तक सर्वत्र वे व्याप्त हैं। भारतवर्ष की वर्तमान सीमाओं के पार भी उनका प्रभाव है। हर श्रेणी के लोगों में वे मान्य हैं। यहाँ तक कि मुसलमान लोगों में भी शैव योगियों का सन्धान पाया गया है। सन् १९२१ ई० की मनुष्य-गणना में अकेले पंजाब में ३१५८ नाथपंथी मुसलमान योगी थे। क्रिग्स ने लिखा है (पृ० ४—६) कि १८९१ ई० में पंजाब में मुसलमान नाथयोगियों की संख्या ३८१३७ थी। गोरखनाथी योगियों के कई सिद्ध मुसलमान नामधारी हैं। शिव की पूजा उत्तर में हिमालय-गिरिशृंखला

से लेकर दक्षिण में कुमारिका अन्तरीप तक अबाध गति से चलती आई है। देश और काल में इतनी व्यापकता कम ही मिलेगी। शिव सही अर्थों में राष्ट्रीय देवता हैं। इस महादेवता के रूप में समूचे भारतवर्ष का विश्वास मूर्तिमन्त हुआ है। दर्शन, काव्य, नाटक, नृत्य, मूर्ति, चित्र, वास्तु, संगीत—जो कुछ भी भारतवर्ष की श्रेष्ठ देन हैं, उन सब पर ही इस महादेवता का प्रभाव है। शिव नाम भारतवर्ष के उस सब कुछ को हमारे सामने खड़ा कर देता है जो महान् है, जो उदात्त है, जो ओजस्वी है, जो ज्वलन्त है, जो महिमान्वित है। इस नाम के इर्दगिर्द भारतीय मानव-मण्डली की जीवन्त चेतना चक्कर मारती रहती है।

शिवपूजा की जो पद्धति आजकल विद्यमान है, उसमें पण्डितों ने अत्यन्त आदिम समझे जाने वाले विश्वासों का सन्धान पाया है। साथ ही, भारतीय चिन्तन की सर्वोत्तम देन अद्वैतवाद भी शिव को केन्द्र करके विकसित बताया जाता है। योगशास्त्र और योगसाधना का आरम्भ शैव मत में अविच्छेद्य रूप से मिला हुआ है। एक तरफ़ ताण्डव, लास्य, कामशास्त्र और तन्त्र-मन्त्र का आरम्भ शिव, पार्वती, नन्दिकेश्वर और हिमालय से सम्बद्ध बताया गया है और लौकिक मनोरंजन, ऐहिक सुख और सामयिक संसिद्धियों से उनका सम्बन्ध जोड़ा गया है, तो दूसरी ओर भोग, वैराग्य, भक्ति, अध्यात्म, कैवल्य आदि लोकोत्तर सुखों के वे आशुतोष अवढ़रदानी माने गये हैं। मनुष्य की बहुमुखी आकांक्षाओं की पूर्ति का ऐसा केन्द्र संसार के इतिहास में मिलना कठिन है।

और शिवत्व का आदर्श क्या है? बमभोलानाथ! स्वयं विष पीकर औरों को अमृत का भागी बनाते हैं, भूत-प्रेत-पिशाचों से घिरे रह कर भक्तों को देवत्व प्रदान करते हैं, स्वयं दिगम्बर रह कर सेवकों को दिव्याम्बरधारी बनाते हैं। वे विश्वमूर्ति हैं, उनका वेश अशिव है, पर वह स्वयं शिव हैं.... 'विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा, गजाजिनालंबि दुकूलधारि वा। कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः'—इस प्रकार कालिदास कहते हैं। संसार जब असुर-अत्याचार से त्राहि-त्राहि कर उठा था, तो उन्होंने त्रिपुरासुर का संहार किया, पर जब आनन्दोल्लास में स्वयं उन्मत्त हो कर ताण्डव किया तो त्रैलोक्य काँप उठा। वे नटराज हैं। उनके विराट् उद्दाम ताण्डव का प्रचार तण्डु मुनि नामक उनके शिष्य ने किया। पार्वती ने उन्मत्त धूर्जटि को प्रसन्न करने के लिए जो सुकुमार नृत्य किया वही लास्य है। आनन्दोद्दीप्त शिव ने नृत्यावसान के समय डमरू को जो गड़गड़ाया तो उसमें से चौदह आवाजें निकलीं जो व्याकरणशास्त्र के मूल चौदह सूत्र हैं। भारतवर्ष आज जिन बातों पर गर्व करता है, उनमें की अधिकांश देवाधिदेव महादेव शिव से सम्बद्ध हैं। आधुनिक पण्डितों का कहना है कि आर्य-देवता-मण्डली में शिव का प्रवेश बहुत बाद में हुआ है। दक्ष-यज्ञ में उन्हें यज्ञभाग नहीं दिया गया था। उस यज्ञ का विध्वंस हुआ। सती उस समय जल मरी थीं। बताया जाता है कि इस कहानी में शिव के आर्य-देवता-मण्डली में स्थान पाने के आरम्भिक इतिहास की ओर इंगित है।

जो हो, शिव ने सती के शव को लेकर जो ताण्डव किया उसके परिणामस्वरूप इस देश का चप्पा-चप्पा एक सूत्र में ग्रथित हो गया, ऐसा पुराणों का संकेत है। वह शव खण्ड-खण्ड होकर सारे देश में गिरा और चौरासी शक्ति-पीठों की स्थापना का हेतु बना। ये पीठ या साधना-केन्द्र असम से सिन्ध तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। भारतवर्ष की धार्मिक और आध्यात्मिक एकता को जीवित बनाये रखने में इनका योग बहुत महत्वपूर्ण है।

इस देवता की महिमा अपरम्पार है। हमारा सारा राष्ट्र अपने सम्पूर्ण विश्वासों के साथ इस नाम से जुड़ा हुआ है। शिव शब्द के साथ हमारे राष्ट्र का इतिहास निरन्तर जुड़ा रहा है। यह देवता सब प्रकार से हमारी राष्ट्रीय एकता का उत्तम प्रतीक है।

शिव का परिवार भी बहुत महत्वपूर्ण है। कैलास उनकी वासभूमि है, पार्वती और गंगा उनकी प्रिया हैं। देवताओं के सेनापति स्कन्द और सर्वमंगल के अधिष्ठाता गजानन गणेश उनके पुत्र हैं, नगाधिराज हिमालय उनके श्वसुर हैं। इन सबने हमारे देश को अत्यधिक प्रभावित किया है। शिव के परिवार की पूजा हर मंगल कार्य के अवसर पर होती है।

[शेष पृष्ठ १२ पर]

जी. डी. : एक अनुश्रुति, एक सेतु, एक उद्योग-विश्व

श्री श्रीकान्त जोशी

•

[प्रतिवर्ष रामनवमी को हम श्री घनश्यामदासजी बिड़ला की जन्मतिथि मनाते थे। इस वर्ष की रामनवमी उनके जन्म की स्मृति मात्र रह गई है। उनकी स्मृतिस्वरूप यह विनम्र श्रद्धा-स्मरण।]

राष्ट्र के अप्रतिम उद्योग-पुरुष श्री घनश्यामदास बिड़ला एक ऐसे व्यक्तित्व थे जो अपने जीते जी ही एक अन्तर्राष्ट्रीय लेजन्ड (अनुश्रुति) बन चुके थे, यद्यपि घनश्यामदासजी के निधन पर अनेक लेख, अनेक संदेश, अनेक संस्मरण और अनेक आकलन विश्व भर में लिखे, दिये, सुनाये और प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु मैं जानता हूँ उनका तात्कालिक आकूतन (ऐससमेंट) सहज नहीं है। अनेक वर्षों तक यह क्रम चलता रहेगा और जगह-जगह से कुछ अछूते तथ्य अनवरत उद्घाटित होते रहेंगे और वे लोग भी आश्चर्यचकित होते रहेंगे जिनका जाने-अनजाने यह दावा रहा है कि वे उन्हें (जी० डी० को) पहचानते रहे हैं।

आज विश्व वादों के दायरों में बँट कर टूक-टूक है। वाद-दृष्टि हमारे समय की करुण पहचान है। वाद-दृष्टि और आचरण ने हमें जो निर्मम असहिष्णुता प्रदान की है उसका यह परिणाम है कि धर्मान्धता और रूढ़ि का निरन्तर विरोध करनेवाली हमारी आधुनिकता ने हमें वादान्ध बना दिया है, एक खण्ड-दृष्टि ने हमारे सम्पूर्ण आकलन को अविश्वस्त बना दिया है। जिस क्रूरता से एक पक्ष दूसरे पक्ष पर अपनी सत्ता और अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए आरोपों-प्रत्यारोपों का आणुविक आक्रमण कर रहा है उसका एक चिन्तनीय दुष्परिणाम यह भी है कि हम सम्पूर्ण दृष्टि से वंचित हो चुके हैं और हमारे निष्कर्ष अधूरे, पक्षाक्रान्त और हमारे ही मनों में अविश्वास पैदा करने वाले होते जा रहे हैं। ऐसे बँटे समय में भी जब मैं पाता हूँ कि प्रजातांत्रिक और एकतंत्रीय, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के उपासकों और साम्यवाद के प्रचण्ड समर्थकों ने, सभी ने कभी न कभी घनश्यामदास बिड़ला के महत्व को स्वीकार किया है तो मुझे अधिक आश्चर्य नहीं होता। मुझे ज्ञात हुआ है कि मार्क्सवादी कम्युनिस्टों ने जैसी श्रद्धांजलि जी० डी० को दी है वैसी उन्हें गांधीवादियों से भी प्राप्त न हो सकी। जी० डी० का व्यक्तित्व ही ऐसा था। उन्हें दायरों में नहीं बाँटा जा सकता था।

श्री घनश्यामदास बिड़ला

ब्लिट्ज सम्पादक आर० के० करंजिया ने अपने ब्लिट्ज में (दो जुलाई ८३ के अंक के पृष्ठ २४ में) स्पष्ट घोषणा की कि 'जी० डी० ने ब्लिट्ज की दो बार रक्षा की थी, इसी पृष्ठ पर के० ए० अब्बास के लेख से एक चौंकाने वाली जानकारी मिलती है कि रूस के (१९५६-५७) के समय के प्रधान मन्त्री श्री ख्रुश्चेव के आमन्त्रण पर जी० डी० रूस पहुँचे थे और भारत के तत्कालीन राजदूत के० पी० एस० मेनन के निमन्त्रण पर जी० डी० और अब्बास ने साथ-साथ रात्रि-भोज में हिस्सा लिया था। दोनों में तब जो दिलचस्प बातचीत हुई उसे दोहराने में कोई हर्ज नहीं।

अब्बास—आप यहाँ कैसे ?

जी० डी०—आपका मतलब मास्को में ? मैं यहाँ प्रधान मन्त्री श्री ख्रुश्चेव के निमन्त्रण पर आया हूँ, फिर मैं यह भी देखना चाहता था कि सोवियत तंत्र कैसे कार्य करता है ?

अब्बास—आप इस तंत्र के प्रकार्य की बाबत क्या सोचते हैं ?

जी० डी०—बहुत अच्छा ही कहना चाहिए। लोग-बाग पूरी तरह प्रसन्न दिखाई देते हैं, अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं।

अब्बास—तो आप भी साम्यवाद में दीक्षित हो गये हैं ?

जी० डी०—नहीं, मेरे दोस्त, नहीं, मैं अभी भी गांधीवादी हूँ। पर मैं यह विश्वास करने लगा हूँ कि लोगों के लिए एक से सामाजिक आर्थिक तन्त्र हों, यह जरूरी नहीं है। यदि रूसी लोग साम्यवाद से खुश हैं तो यह पूरी तरह उनकी अपनी चीज है।

श्री अब्बास अपने लेख का समापन इन शब्दों में करते हैं........'क्या गांधी का यह विश्वास सही था कि प्रत्येक मनुष्य चाहे वह पूँजीवादी हो अथवा साम्यवादी हो, टायकून (उद्योगपति) हो अथवा भिखारी, सभी अनिवार्यतः सुहृद हैं, मित्र हैं।"

अब्बास के मस्तिष्क में जो द्वन्द्व, जो गांधी जागा है उसका उत्तर है कि "हाँ, गांधी का यह विश्वास सही था। जी० डी० जैसे अप्रतिम व्यक्ति "मैं-मैं—तू-तू" के खानों नहीं बाँटे जा सकते। जीवन के प्रति अखण्ड दृष्टि ही गांधी की वास्तविक पहचान थी, उसी दृष्टि से हम ख्रुश्चेव और जी० डी० दोनों तक एक साथ पहुँच सकते हैं।

गांधी के जी० डी० तक और जी० डी० के गांधी तक पहुँचने की भी यही वजह थी। टायनबी ने अपने विश्व-ग्रन्थ में जब गांधी को शामिल किया तब यही लिखा था कि वह ऐसा व्यक्ति था जिसमें विभाजन नहीं था। जिन सिद्धांतों को उसने व्यक्ति के लिए अनिवार्य समझा था उन्हीं को राष्ट्र और समृद्धि के लिए भी स्वीकार किया था। व्यक्ति-दृष्टि और राजनैतिक-दृष्टि का भेद उसमें नहीं था। इसलिए उसमें गुह्यता नहीं थी। गांधीजी को "अस्वीकार" करने वाले व्यक्ति छोटे और सस्ती ख्याति के रास्तों पर चलना चाहते हैं, वे अपने शब्दों का मूल्य नहीं चुकाना चाहते। इसके विपरीत कथन और आचरण के फासलों को निरन्तर लांघते चले जाना ही गांधीजी की प्रकृत जीवन-यात्रा थी, यह सुविधाजीवी यात्रा न थी, न सत्ताजीवी थी। यह मनुष्य के उत्सर्ग के, उसमें प्रसुप्त मनुष्यत्व के जागरण के लिए की गई अश्वमेधता थी। कितना कठिन है ऐसा जीवन व्यतीत करना जिसमें प्रत्येक शब्द, प्रत्येक उच्चारण कर्म में, देहाकृति में ढलता रहे और निराकार आकार पाता रहे।

महात्माजी ने जी० डी० में अपने ट्रस्टीशिप की अवधारणा को मूर्तता प्राप्त कर ली थी। जी० डी० और जमनालाल बजाज दोनों उनके व्यक्तित्व में निहित अर्थशास्त्र की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति थे। महात्मा गांधी की मृत्यु को पैंतीस वर्ष के लगभग हो चुके हैं, उनके विश्वभर के आकलन प्रकाशित होते रहे हैं किन्तु उन्हें सम्पूर्णतः समझने लिए यह अनिवार्य है कि उनके और जी० डी० की १९१६ से मृत्यु पर्यन्त जो रिश्तेदारी रही उसकी परख और पड़ताल हो।

जी० डी० में व्यक्ति को पहचानने की अद्भुत क्षमता थी। १९५१-५२ में जब मैं बिरला कालेज पिलानी का छात्र था वहाँ के इंजीनियरिंग कालेज के प्रशाल में उनका एक अविस्मरणीय भाषण हुआ था। समय बहुत हो चुका पर मुझे याद आता है कि वे गहरे नीले सूट में थे। नीला रंग शायद उन्हें बहुत पसन्द था। प्रशाल पिलानी की सभी संस्थाओं के छात्रों से खचाखच भरा था। पहले उन्होंने पूछा कि किस भाषा में भाषण दूँ ? मारवाड़ी में, हिन्दी में या अंग्रेजी में ? श्रोताओं ने चिल्लाकर कहा "अंग्रेजी में।" इस पर वे कुछ देर तक धाराप्रवाह अंग्रेजी में बोलते रहे, बाद में उन्होंने हिन्दी में बोलना शुरू किया। अपने इस भाषण में उन्होंने उस युग के भारत की आर्थिक समस्याओं का जिस राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विश्लेषण किया था उससे हम सभी अभिभूत थे। उनके शब्द-शब्द से प्रामाणिकता का बोध होता था। कला संकाय, विज्ञान

संकाय, वाणिज्य संकाय, फार्मेसी, इंजीनियरिंग के हजारों छात्रों ने एक जटिल भाषण को हार्दिकता के साथ डूब कर सुना था। जी. डी. ने कहा था—"दुनिया में ऐसा कोई महान पुरुष नहीं है जिससे मैं नहीं मिला हूँ। प्रतिभा और श्रेष्ठता जहाँ भी होती है वहाँ मैं पहुँच जाता हूँ, योग्यतम व्यक्ति के लिए कहीं कोई कमी नहीं है, इस देश में भी नहीं है। बस एक ही शर्त है, उसमें अपेक्षित योग्यता होनी चाहिए। मैंने २८-३-१९८१ को उनको प्लेटीनम जुबली पर एक विस्तृत बधाई-पत्र उन्हें लिखा था जिसमें अनेक बातों के साथ इस भाषण की भी चर्चा की थी। और उनकी अंतिम उक्ति का उल्लेख करते हुए लिखा था "आपकी तीसरी बात से मैं ज्यादातर सहमत रहा हूँ, पर मैंने ऐसे योग्य व्यक्ति देखे हैं जो भयानक दरिद्रता में जीते रहे और मर भी गये। यह हमारे देश का उजला पक्ष नहीं है अभी तक। दो अप्रैल को जी. डी. ने इस पत्र की प्राप्ति अपने हस्ताक्षरों से स्वीकार की। जी डी. ज्यादातर पत्रों को "एकनालेज" करते थे। उनका यही "स्वीकार"—महत्वपूर्ण होता था जिसमें वे अपनी शुभकामनाएँ अवश्य भेजते थे (I send you all my good wishes)। मेरे ३०-३-८२ के पत्र का भी उनका ऐसा ही उत्तर व्यक्तिगत हस्ताक्षरों सहित प्राप्त हुआ था। मेरी दृष्टि में यह पत्र बहुत महत्वपूर्ण है। मैंने उन्हें उनके जन्म-दिन की बधाईयाँ देते हुए ये पंक्तियाँ भी लिखी थीं—"आपकी डायरी" मैं पढ़ चुका हूँ "In the shadow of the Mahatma" भी मेरे पास है, आपको पढ़ते हुए निरन्तर श्रम के महत्व को समझा भी है····पर क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि पं० नेहरू और शास्त्री के बाद का युग श्रम-निष्ठता का अवमूल्यन करनेवाला बनता जा रहा है। वर्तमान राजनीति ने शार्टकट और आदर्शहीनता को पुरस्कृत किया है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संकल्पशील व कर्मशील लोग अपने पैरों के नीचे की जमीन को हिलता हुआ पा रहे हैं। पैसा व्यक्ति से उसके गुणों और योग्यता से अधिक मूल्यवान हो गया है और प्रतिभा और योग्यता के दमन में हिस्सा बँटा रहा है। ८९ वर्ष की अवस्था में आपको क्षण भर भी कष्ट देना अक्षम्य अपराध है, पर व्यापक हित में मेरा यह अनुरोध है कि आप कोई संकेत दें। मेरा यह अनुरोध पूँजीपति घनश्यामदासजी बिड़ला से नहीं है, इसके विपरीत एक अन्तर्राष्ट्रीय आस्थावान धार्मिक और प्रज्ञावान भारतीय से है जिसे किसी भी सीमित दायरे में निबद्ध नहीं किया जा सकता। इस राष्ट्र को आपके गतिशील जीवन का निचोड़ मिलना चाहिए। समय आ गया है··· वादों की खंडित दृष्टि से हटकर अखंड जीवन-चेतना का साक्षात्कार करने का कोई सार्थक उपक्रम प्रारम्भ हो·····"

अपने से संबंधित एक कुछ पुराना संस्मरण भी मैं देना चाहता हूँ। १९७७ में मेरा एक काव्य संग्रह "शब्द से आगे" प्रकाशित हुआ था। वर्षों से जी. डी. को हिन्दी और अंग्रेजी में पढ़ने का जो प्रभाव मुझ पर था उसी से प्रेरणा लेकर मैंने अपना यह संग्रह उन्हें भी भेज दिया था। १०-८-१९७७ को उन्होंने मुझे मंगलम (बम्बई) से लिखा—

प्रिय जोशीजी,

आपका पत्र मिला, धन्यवाद ! मैंने आपकी पुस्तिका पढ़ी है, कविताएँ अच्छी हैं। आप पिलानी में रह चुके हैं इसका भी मुझे पक्षपात है। इसलिए आपकी कृति मुझे और भी पसन्द आयी।

आपको मेरी अनेक शुभकामनाएँ। प्रसन्न रहिए और आगे बढ़ते जाइये। ईश्वर आपका मंगल करे।

अपका

घनश्यामदास

भारत के अद्वितीय उद्योगपतियों में भी जो अद्वितीय था उस व्यक्ति के लिए मेरे जैसे अर्थ-साधारण नागरिक के लिए समय था यह बात मैं कभी नहीं भूलता। वे जानते थे बहुत कुछ है पर पैसा सब कुछ नहीं है। प्रत्येक पत्र पर मुझे आश्वस्ति अनुभव होती थी। मैं महसूस करता था इस पत्र को अपेक्षित सम्मान जरूर मिला है। यह बात प्रमाणित भी होती रहती थी।

निश्चय ही महात्मा गांधी के प्रदीर्घ सम्पर्क ने जी. डी. की इस विशिष्ट मानवीय दृष्टि को निखारा होगा, पर मैं यह भी दृढ़ता से कहना चाहता हूँ कि स्वयं जी. डी. भी एक विशिष्ट अर्न्तदृष्टि से सम्पन्न थे।

१९३५ में जी. डी. की ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल से भेंट हुई थी। चर्चिल ने उन्हें अपने निवास चार्टवेल पर दिन के भोजन पर निमंत्रित किया था। जी. डी. ने बातचीत पर जो टीप ली थी उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—चर्चिल के बारे में वे लिखते हैं "एक अत्यन्त विलक्षण व्यक्ति। निजी बातचीत में भी उतना ही वाक्पटु जितना सार्वजनिक व्याख्यानों में। बातचीत की लिखित रूप में प्रतिकृति तैयार करना असम्भव। मैं दो घंटे उनके साथ रहा""जब मैं पहुँचा चर्चिल अपने बगीचे में थे। उनकी धर्मपत्नी ने उन्हें बुलवाया। उन्होंने कारीगरों वाला एप्रन (पेटबन्द) पहन रखा था जो भोज के समय भी नहीं बदला गया। मध्याह्न भोज (लंच) के बाद उन्होंने मुझे अपना बगीचा दिखाया और उन भवनों को भी दिखाया जो उन्होंने स्वयं बनाये थे। जिनकी ईंटे उन्होंने खुद अपने हाथों से रखी थी। उन्होंने अपने हाथ से बनाये गये रंगचित्र (पेंटिंग्ज) भी दिखलाये। घर, परिवेश, उनका स्वीमिंगपूल, हर वस्तु बहुत आकर्षक थी। स्वीमिंग पूल का जल एक ब्वायलर द्वारा गर्म रखा जाता है। जल को एक पम्प बाहर निकालता, उसे गर्म करता, स्वच्छ करता फिर दुबारा पूल में छोड़ देता। श्री चर्चिल ने बताया कि वे पुस्तकें लिखकर अपनी आजीविका जुटाते हैं, मुझे लगा इस पूल-लक्झरी का व्यय बहुत भारी होता होगा पर चर्चिल ने बताया इसमें केवल तीन पौंड प्रति सप्ताह का व्यय आता है।

बातचीत में चर्चिल का भाग ७५ प्रतिशत था। शेष २५ प्रतिशत मेरा व श्रीमती चर्चिल का। मुझे केवल शुद्ध करने (करेक्ट करने) अथवा एक आध प्रश्न पूछने के लिए बीच में बोलना पड़ता। वार्तालाप में मुझे बहुत आनन्द आया। चर्चिल कभी-कभी अत्यन्त भावुक से प्रतीत हुए। पर भारत के बारे में उनकी जानकारी बहुत खराब थी। इस दिलचस्प बातचीत के मध्य जी. डी. व चर्चिल के मध्य गांधीजी पर भी चर्चा हुई, उसका भी कुछ अंश पठनीय है :—

चर्चिल—जी. डी. से—"आप श्री गांधी से कहें कि जो शक्ति (पावर) उन्हें दी जा रही है (गांधी इरविन पेक्ट के द्वारा) वे उसका उपयोग उसे सफल बनाने में करें। जब गांधी इंग्लैण्ड में थे उनसे मैं मिला नहीं; क्योंकि उस समय वह बहुत कुछ बेढंगा (Awkward) होता। यद्यपि मेरे पुत्र ने उनसे भेंट की थी पर मैं अब उनसे मिलना चाहूँगा। मैं अपनी मृत्यु के पूर्व भारत जाना पसन्द करूँगा। अगर मैं वहाँ गया तो छः माह तक रहूँगा" क्या गांधी संविधान को नष्ट करना चाहते हैं ?

जी. डी.—गांधीजी उदासीन (Indifferent) हैं। उनका विश्वास है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता हमारे अपने प्रयत्नों से ही संभव है और हमारी राजनैतिक उन्नति संपूर्णतः हम पर ही निर्भर है। इसलिए वे लोगों को उठाने में (जागृत करने में) लगे हैं। संविधान में उनकी ज्यादा रुचि नहीं है।

चर्चिल—(सहमत होते हुए) यदि मैं भारत आऊँ तो क्या मुझे अच्छा स्वागत प्राप्त होगा ?

जी. डी.—इस बारे में मैं आपको आश्वस्त कर सकता हूँ।

चर्चिल—मैं लार्ड विलिंगडन के जाने के बाद ही जाना चाहूँगा""मैं भारत के प्रति निष्कपट सहानुभूति रखता हूँ। उसके भविष्य के बारे में सचमुच आशंकित हूँ। भारत हम पर एक बोझ है। हमें उसकी रक्षा के लिए सेना रखनी पड़ती है और सिंगापुर व निकटपूर्व को शक्तिशाली रखना पड़ता है। यदि भारत अपनी देखरेख स्वयं कर सके तो हमें हर्ष होगा। अन्ततः जीवन की अवधि अधिक नहीं है और मैं अधिक स्वार्थी नहीं होना चाहूँगा।

यह दिलचस्प वार्तालाप जी. डी. के सेतु व्यक्तित्व को प्रकट करता है। आज से ५४ वर्ष पूर्व के भारत में विश्व के बड़े से बड़े सत्ताधीशों से मिलना और महात्मा गांधी के वास्तविक स्वरूप की पहचान प्रभावपूर्ण ढंग से अंकित करते चलना छोटे-मोटे व्यक्ति के बस की बात न थी। उद्योग-क्षेत्र के कई करोड़पति हमारे देश में रहे हैं, पर कितने हैं जिनमें यह व्यक्तित्व, यह आकांक्षा और यह निष्ठा हम पा सके हैं ?

नारेबाजी वैचारिकता ने हमें पंगु और खोखला, संकुचित और स्वार्थी बना दिया है। हम अपनी आकलन-

क्षमता खो बैठे हैं, श्री अभ्यास का मस्तिष्क अनाविल है तथा उनके मस्तिष्क में प्रश्न उठा है, "क्या गांधी यह विश्वास करने में सही थे कि प्रत्येक मनुष्य चाहे वह पूंजीपति हो या भिखारी सब मूलतः मित्र ही हैं।"

गांधी और जी. डी. की यह अनूठी परस्परता हमें अपनी वास्तविकता को परखने का आह्वान करती है। एक तरफ विराट उद्योग-उद्यम, दूसरी तरफ अगणित सामान्य व्यक्तियों की जिज्ञासाओं और कृतित्व में आत्मीय रुचि, तीसरी तरफ गांधी जैसे विश्वपुरुष की आस्थाओं का संवहन और दूतत्व और चौथी तरफ मानवीय मूल्यों के प्रति सतत आत्मसमर्पण और इन सबके साथ-साथ अपने ग्रामीण जन्म-स्थान "पिपलानी" को बेहद प्यार करने वाला अनूठी राजस्थानी उद्वेग। इन सबकी मिलीजुली अभिव्यक्ति का नाम था घनश्यामदास बिड़ला। उनका विश्वास था कि प्रभु मनुष्य को तबतक जीवित रखता है जब तक वह उससे कुछ न कुछ काम लेते रहना चाहता है। यही गांधीजी का भी विश्वास था। भले ही यह विश्वास उन सहस्रों लोगों को रुचिकर न हो जिनका अवलम्ब जी. डी. थे।

मेरे मित्र श्री रामनिवास जाजू ने जी. डी. के विचारों को प्रसादमय अभिव्यक्ति में बांधा है।

भविष्य का निर्माण हो,
देह का उपकार है,
संकट तो रहेंगे,
पर विकार को हरना है,
मृत्यु मिलने से पूर्व
मुझे नहीं मरना है,
निर्माण का अमृत-घट,
बूंद-बूंद भरना है।

मेरा ख्याल है जी. डी. इतना तो स्वयं भी जानते रहे होंगे कि जो निर्माण-घट भरने में लगे रहते हैं मृत्यु उनसे पराजित रहती है।

●

नामदेव जी कुत्ते में

परमभक्त श्री नामदेवजी ने भी उस सचराचरव्यापी की झाकी की थी ....

भगवान को नैवेद्य अर्पित करने के लिए ही भक्त भोजन बनाता है। वह खाना नहीं पकाता और न खाना खाता है। वह तो प्रभु के प्रसाद का भूखा रहता है। उसका जीवन, उसके जीवन के समस्त कार्य भगवत्सेवा के लिए ही होते हैं।

प्रभु को नैवेद्य अर्पित करना था। श्री नामदेव जी ने भोजन बनाया। रोटियां सेक कर वे किसी वस्तु को लेने बाहर गये। लौटे तो देखते हैं कि एक कुत्ता चौके से सारी रोटियां मुंह में लेकर बाहर निकल रहा है। नामदेवजी को आते देखकर कुत्ता रोटियां लिये भागा!

भगवान के भोग के लिए बनाई रोटियां कुत्ता ले गया। कोई साधारण पुरुष यह सोचकर दुखी होता। कदाचित् कुत्ते को मारने दौड़ता।

"भगवान स्वयं इस रूप में मेरी रोटियां स्वीकार करने पधारे। कितने दयामय हैं प्रभु!' नामदेव जी तो अपने आराध्य का कुत्ते में ही दर्शन कर रहे थे। लेकिन रोटियां रूखी हैं। उनमें घी नहीं लगा है। रूखी रोटियां प्रभु कैसे खायेंगे। देर करने का समय नहीं था। झपट कर घी का पात्र उठाया उस संत ने और कुत्ते के पीछे यह पुकारते हुए कि "प्रभो! भगवन्! जरा रुकिये। मुझे रोटियों में घी चुपड़ लेने दीजिए!"

ये भाव के भूखे भगवान ऐसे भक्तों की रोटियां नहीं खायेंगे यह भी कभी सम्भव है?

●

धर्म का बल

-श्री हरीन्द्र दवे-

•

कृष्ण युद्ध के पक्ष में नहीं थे ; वे युद्ध करने का, रणक्षेत्र में हथियार उठाने का संकल्प करते तो शायद भीष्म, द्रोण, कर्ण और यहाँ तक कि दुर्योधन भी युद्ध का विचार टाल देते। कृष्ण का प्रताप और प्रभाव सभी जानते थे। कृष्ण इस प्रकार युद्ध का निवारण कर सके होते, फिर भी कृष्ण ने ऐसा क्यों नहीं किया ? वे चाहते थे 'अधर्म का नाश हो।' यदि दुर्योधन आधा राज्य भी देने को तैयार न हो, तो उसका नाश होना ही चाहिये। भीष्म; द्रोण या कर्ण कैसे भी महान वीर क्यों न हों, पर वे अधर्म के पक्ष में थे।

तिस पर से किसी व्यक्ति को वह गलत कार्य कर रहा है, कभी-कभी इस बात की प्रतीति ही नहीं होती। द्रुपद का दूत जब दुर्योधन की राज्यसभा में संधिवार्ता करने जाता है तब कर्ण कहता है : शकुनि ने पांडुपुत्र युधिष्ठिर को द्यूतक्रीड़ा में पराजित किया था, और द्यूत की शर्त के अनुसार वे वन में गये। वे उस शर्त के अनुसार राज्य वापस माँगते होते तो बात दूसरी थी, पर युधिष्ठिर तो मत्स्य और पांचाल देश की सेना के बल का आश्रय लेकर राज्य माँग रहे हैं। कर्ण आगे कहता है :

दुर्योधनो भयाद्विद्वन् न दद्यात्पादमन्ततः।
धर्मस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेपि मे ॥
(उद्योग० २१, १२.)

हे विद्वन् ! (यह कथन कर्ण द्रुपद के दूत को उद्देश्य कर कहता है) दुर्योधन डर के मारे तो किसी को पैर रखने लायक भूमि भी नहीं देगा, पर हाँ यदि कोई धर्म से माँगे तो शत्रु को भी सारी पृथ्वी देने को तैयार है।

इससे पूर्व हमने दुर्योधन के मुख से एक मजेदार वाक्य सुना था। उसने कृष्ण से कहा था कि आपका और हमारा सख्य, आपके और अर्जुन के सख्य के समान है। उस वक्त इस कथन पर हँसना या रोना यह समझ में नहीं आया था, अब धर्मशास्त्र के सूक्ष्म मर्म का जानकार जब इस संदर्भ में धर्म की बात करता है, तब हँसें या रोयें यह समझ में नहीं आता।

धृतराष्ट्र समूचे महाभारत का सबसे महान खलपात्र है। पिता यदि अपने लड़कों को गलत मार्ग पर चलने से नहीं रोकता तो यह एक अपराध है; किंतु गलत मार्ग पर चलने हेतु प्रोत्साहित करे तो यह दूसरा और ज्यादा बड़ा अपराध है। भीष्म कर्ण को रोककर युद्ध की भयंकरता बताते हैं। यही नहीं, पर विराटनगर में अभी हाल में अकेले अर्जुन ने भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि महारथियों को हराया था इसका भी स्मरण दिलाते हैं। धृतराष्ट्र बात को यहीं लपेट रखना चाहते हैं। वे युद्ध द्वारा पांडवों का विनाश चाहते हैं, अथवा यह चाहते हैं कि पांडव युद्ध न करें और रास्ते पर भटकते भिखारी बने रहें। इसीसे वे दूत से कहते हैं : 'ब्रह्मदेव, आप जाइये। यह तो युद्ध-समाधान की गंभीर बात है। मुझे गहरा विचार करना पड़ेगा। बाद में मैं संजय को पांडवों के पास भेजूंगा !'

संजय पांडवों के पास जाकर धृतराष्ट्र का सूफियाना संदेश सुनाता है। धृतराष्ट्र पांडवों को उनका राज्य तो देना नहीं चाहते, उल्टे संजय से कहलवाते हैं;

न चेद् भागं कुरवोन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छन्ते तुभ्यमजातशत्रो,
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम्।
(उद्योग० २७; २)

हे अजातशत्रु, यदि कौरव युद्ध किये बिना आपको आपके राज्य का हिस्सा नहीं देते तो अन्धक तथा वृष्णिवंश के क्षत्रियों के राज्य में भिक्षा माँग कर आप निर्वाह करें

यही आपके लिये अच्छा है, पर युद्ध करके राज्य प्राप्त करें इसमें आपका श्रेय नहीं है।

इतना ही नहीं, संजय कहता है: 'यों तो आपने चाहा होता तो द्यूत में हारे थे तभी वनवास न जाते, कारण यह कि आपके पास विशाल सेना थी, कृष्ण, सात्यकि और पांचाल के वीर आपके सहायक थे; इन सबके बल से आपने राज्य बनाये रक्खा होता। अब यदि आप राज्य के लिये चिरस्थायी विद्वेष रूपी युद्ध जैसा पाप करने के इच्छुक हैं, तो मैं यही कहूँगा कि आप कुछ और वर्षों तक दुखमय वनवास के कष्ट भोगें यही अच्छा है।'

संजय की ये दलीलें आज भी युनाइटेड नेशन्स में कभी-कभी आचरित राजनीति जैसी हैं! तृण मात्र जमीन लिये बिना पांडव अन्य राज्यों के आश्रय में जाकर रहें यही धृतराष्ट्र चाहते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर कुछ भोले नहीं हैं; वे कहते हैं:

यत्राधर्मो धर्मरूपाणि बिभ्रद्
कृत्स्नो धर्मः दृश्यतेऽधर्मरूपः।
तथा धर्मो धारयन्धर्मरूपं
विद्वांसस्तं सम्प्रपश्यन्ति बुद्धाः॥

(उद्योग० २८; २)

कहीं तो अधर्म ही धर्म का रूप धारण कर लेता है, कहीं पूर्णतया धर्म अधर्म जैसा दिखाई पड़ता है; तथा कहीं धर्म अत्यन्त वास्तविक स्वरूप धारण करके रहता है; विद्वान पुरुष अपनी बुद्धि से विचार करके उसके असल रूप को देख लेते हैं, समझ लेते हैं।

खलिल जिब्रान की वह सत्य और असत्य की कथा याद आती है। सत्य और असत्य दोनों बहनें अपने वस्त्र किनारे पर उतारकर नदी में नहाने गयीं। असत्य ने पहले नहा लिया, वह किनारे आयी और सत्य के कपड़े पहन कर चलती बनी। सत्य किनारे आयी तो उसके कपड़े नहीं थे, अतः असत्य के वस्त्र उसे पहनने पड़े। तभी से लोग असत्य-सत्य के बीच भ्रम में पड़ते रहते हैं।

युधिष्ठिर के इस श्लोक के आधार पर जिब्रान ने यह कथा रची होगी ऐसा चुटीला यह श्लोक है, यह कहता है कि कभी धर्म अधर्म जैसा लगता है और अधर्म धर्म रूप धारण करता है।

युधिष्ठिर भी इस भ्रम में पड़े हैं; अतः वे आखिरी निर्णय स्वयं नहीं लेते। वे कृष्ण की सलाह माँगते हैं। हमने पहले भी देखा है कि युधिष्ठिर केवल द्यूतक्रीड़ा छोड़कर बाकी प्रत्येक अवसर पर कृष्ण की सलाह माँगते हैं। द्यूत खेलने के लिये कृष्ण की सलाह नहीं माँगी गयी है, कृष्ण इस बाबत इतना ही कहते हैं: मैं होता तो मैंने यह खेल खेलने ही न दिया होता।

संजय जब कौरवों की स्वार्थसिद्धि के लिये बातों का जाल बिछाते हैं, तब कृष्ण उपस्थित हैं। अतः कृष्ण बोलना शुरू करते हैं, इन शब्दों द्वारा:

अविनाशं संजय पांडवाना-
मिच्छाम्यहं भूमिमेषां प्रियं च।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
सदाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम्।

(उद्योग० २९;१)

संजय, मैं पांडवों के वास्ते अविनाश (उनका विनाश न हो) चाहता हूँ, उन्हें ऐश्वर्य मिले, उनका प्रिय हो यह भी हृदय से चाहता हूँ। इसके साथ ही, इसी प्रकार से, अनेक पुत्रों वाले धृतराष्ट्र की भी मैं वृद्धि अर्थात् अभ्युदय चाहता हूँ।

कृष्ण स्पष्ट वक्ता हैं; वे कहते हैं: मैं पांडवों का श्रेय चाहता हूँ, पर कौरवों का मुझे अहित नहीं करना है। किन्तु कौरवों ने एक अपराध किया है, वे 'परभूमि'—पराई भूमि पचा जाना चाहते हैं। पराया धन प्रगट रूप से या चोरी-छुपे हरण करने वाले चोर, लुटेरे और दुर्योधन के बीच कोई अन्तर है क्या?—कृष्ण यह प्रश्न पूछते हैं!

महाभारत की राज्य-व्यवस्थाओं में राजाओं को झुकाने की बात थी, पर कहीं भी किसी का राज्य ले लेने की बात नहीं है। जरासंध का वध करने के बाद उसका साम्राज्य ले लेने की बात लोगों के मन में नहीं आती, उस गद्दी पर तो जरासंध के पुत्र का ही अभिषेक होता है। आज अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति में जिसे विस्तारवाद कहते हैं वह महा-

भारत में कहीं नहीं है, इस बात की जानकारी इरावती कर्वे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'युगांत' में सोदाहरण दी है।

कृष्ण जब संजय का जवाब देते हैं, तब उसमें सत्य का बल है। कृष्ण के सत्य के समक्ष संजय का तर्क टिकता नहीं। यहाँ महाभारतकार एक सरस उपमा कृष्ण के मुख में रखते हैं।

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रा वने संजय पांडवेयाः।
मा वनं छिन्धि स व्याघ्रं,
मा व्याघ्रान्नीनशो वनात्॥

(उद्योग॰ २९; ४७)

पुत्रों सहित धृतराष्ट्र एक वन हैं और पांडव उस वन के सिंह हैं। अतः न तो इस सिंहयुक्त वन को काटो, न वन के सिंहों का नाश करो।

और कृष्ण इसका कारण भी कैसा प्रस्तुत करते हैं। वे कहते है :

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्।
तस्मात् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत्॥

(उद्योग॰ २९; ४८)

यदि वनविहीन सिंह होते हैं तो उनका वध होता है और सिंहविहीन वन हो तो लकड़हारे बिना किसी भय के उसे काट डालते हैं। इससे बेहतर यही है कि सिंह वन की रक्षा करें और वन सिंहों का पालन करें।

कृष्ण धृतराष्ट्र के कुल का नाश नहीं चाहते थे, इसी से तो इस अध्याय में वे संजय से बात करते हुए तरह-तरह की उपमाएँ देते हैं; धृतराष्ट्र के पुत्र लता जैसे हैं और पांडव शाल वृक्ष जैसे हैं, कोई भी लता बड़े वृक्ष के आश्रय के बिना आगे नहीं बढ़ सकती। यह सब संजय से कहने के बाद कृष्ण अंत में शांति की भीख नहीं माँगते और युद्ध की दुँदुभी भी नहीं बजाते। वे तो केवल इतना ही कहते हैं;

धर्माचारी पांडव शांति के लिये स्थित (तैयार) हैं और युद्ध के लिये समर्थ हैं। (उद्योग॰ १९; ५१)। अतः तुझे जाकर राजा से जो कहना हो सो कहना।

संजय के द्वारा युधिष्ठिर जो कुशल-समाचार पुछवाते हैं उसे महाभारत के मानव-संबन्धों का छोटा-मोटा काव्य ही कहा जा सकता है। उद्योग पर्व के तीसवें अध्याय में युधिष्ठिर सबको यानी भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि की तो निश्चय ही, पर दुर्योधन, दुःशासन, शकुनी, कर्ण सहित सभी लोगों की कुशल पुछवाते हैं; वे राजरानियों की, राजकुमारियों की 'वेशस्त्रीयां' अर्थात् रूपजीवाओं की, दास-दासियों की, वृद्धों की, अंधे लोगों की—इस प्रकार समस्त लोगों की कुशल अपनी ओर से पूछने को कहते हैं। अंत में अपना संकल्प भी कह ही देते हैं:—

न ही दशा सन्त्यपरे पृथिव्यां
ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धा॥
धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव
महाबलः शत्रुनिबर्हणाय॥

(उद्योग॰ ३०; ४२)

धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने पृथ्वी पर जिनकी जोड़ नहीं है ऐसे योद्धा एकत्र किये होंगे। पर धर्म ही नित्य है। मेरे पास इन सब शत्रुओं को नष्ट कर सके ऐसा महाबल है। वह है मेरा धर्म ! इसी से वे दुर्योधन से कहते हैं :

ददस्व वा शक्रपुरं ममैव—
मेरा इन्द्रप्रस्थ मुझे वापस लौटा दो नहीं तो
युध्यस्व वा भारतमुख्यवीर।
अथवा भारत वंश के प्रमुखवीर, तुम युद्ध करो।

(उद्योग॰ ३०; ४७)

युधिष्ठिर की यह धर्मनिष्ठा है कि वे प्रतिपक्ष का बल कम नहीं आँकते। भारतमुख्यवीर विरुद वे दुर्योधन को देते हैं। पर सब बल की अपेक्षा धर्म का बल अधिक है,—"धर्मस्तु नित्यो" यह हकीकत जानते हैं।

गुजराती पुस्तक 'कृष्ण अने मानव-संबंधो' से अनूदित

अनुवादक : डॉ॰ भानु शंकर मेहता

●

लोकमर्यादा के प्रतिपालक बलरामजी

– डा० त्रिवेणीदत्त शुक्ल –

बलदेव, बलभद्र, सीरायुध, ये बलराम के ही कुछ नाम हैं। इनके जन्म के विषय में बताया जाता है कि योगमाया ने इन्हें देवकी के गर्भ से रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर बदल दिया था। इसी से इन्हें 'संकर्षण' कहते हैं। सुन्दर स्वरूप के कारण इन्हें 'राम' तथा अपार शक्ति के कारण 'बल' कहते थे। मल्लयुद्ध में इन्होंने कंस के अनेक शूरवीरों सहित आठ भाइयों का वध कर डाला था। हल और मूसल इनका प्रधान अस्त्र था। रेवती इनकी पत्नी थीं। निशठ और उल्मुक नाम की दो सन्तानें भी थीं। संदीपनि गुरु के यहाँ श्री कृष्ण के साथ इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी और कृष्ण के प्रायः सभी कार्यों में ये उनकी सहायता करते रहे।

महाभारत के युद्ध की तैयारी हो रही थी। बलराम जो कौरवों और पाण्डवों के आपसी कलह को देखकर अत्यन्त क्षुब्ध और उदासीन हो तीर्थाटन के लिए चल पड़े। गंगा और यमुना के तटवर्ती तीर्थों का पर्यटन करते हुए वे नैमिषारण्य पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा कि सहस्रों ऋषि-महर्षि यज्ञानुष्ठान में संलग्न हैं। बलराम जी को देख सभी ऋषि-महर्षियों ने श्रद्धावनत हो प्रणाम किया और उनके अर्चन-पूजन में लग गये। किन्तु वहीं पर विराजमान व्यास जीके शिष्य लोमहर्षण, उनके आगमन पर स्वागत-सत्कार की बात कौन कहे, आसन से उठे तक नहीं। इस प्रकार की अनपेक्षित अवहेलनापूर्ण स्थिति को देखकर बलराम अत्यन्त कुपित हुए और उन्होंने हाथ में लिये हुए एक कुश को लोमहर्षण पर फेंक दिया। परिणाम यह हुआ कि लोमहर्षण की तत्क्षण मृत्यु हो गयी। लोमहर्षण की मृत्यु से सभी ऋषि-महर्षि व्यग्र हो उठे और हाथ जोड़कर कहने लगे कि हे देव! 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' ब्राह्मण अवध्य होता है। लोमहर्षण की हत्या से आप ब्राह्मण-हत्याजनित पाप के भागी हुए हैं और निश्चय ही इससे हमारे यज्ञ में बाधा पहुँची है। ऐसी स्थिति में यदि आप इसका प्रायश्चित्त नहीं करेंगे, तो लोकमर्यादा नष्ट होगी।

ऋषियों की यह वाणी सुनकर बलराम जी को अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने कहा कि पुत्र साक्षात् पिता की आत्मा हुआ करता है। इसलिए लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा ही पुराणवक्ता तथा आयुरादि सर्वगुणसम्पन्न होंगे। इससे उनके स्वतः न जीवित होने से अस्त्र और मृत्यु की सत्यता सिद्ध होगी तथा आयुरादि सम्पन्न होने से आपके यज्ञ-कार्य में भी बाधा नहीं पहुँचेगी। आप लोग उन्हीं से कथा सुनें और हमें भी ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होने की युक्ति बतायें। मुनियों ने कहा—देव! इल्वल पुत्र बल्वल नाम का एक दैत्य है जो प्रत्येक अमावस्या एवं पूर्णिमा को यहाँ आकर यज्ञ-विध्वंस कर देता है और अनेक अपवित्र वस्तुओं को यज्ञस्थल में फेंक जाता है। उसे मारकर आप हमारे यज्ञ-कार्य को निरापद बनायें और एक वर्ष तक आप भारत के समस्त तीर्थों का भ्रमण करें तो ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जायेंगे। ऋषियों के कष्ट को देखकर बलराम जी ने बल्वल नामक उस विशालकाय दानव का यथासमय वध किया; तत्पश्चात् ऋषियों से आशीर्वाद प्राप्त करके तीर्थाटन के लिए चल पड़े।

बलराम जी ब्राह्मणों सहित सर्वप्रथम कौशिकी नदी के तट पर गये। वहाँ स्नान, दर्शन तथा तर्पण करके मानसरोवर के लिए प्रस्थान किया। तदनन्तर सरयू, प्रयाग, पुलहाश्रम, गण्डकी, गोमती, विपाशा एवं शोणनद में स्नान करके गया जी के लिए प्रस्थान किया। 'अमाश्राद्धं गयाश्राद्धं न कुर्यात् सपिता पुमान्।'—धर्मशास्त्र के अनुसार पिता के रहते हुए पुत्र को गया-श्राद्ध करने का विधान नहीं है। किन्तु सामान्यतः गया जाया जा सकता है। वस्तुतः श्राद्ध के उद्देश्य से वहाँ जाना वर्जित है। अस्तु, बलरामजी ने वहाँ

जाकर पितरों का यजन किया और अनन्तर वहाँ से अपनी तीर्थयात्रा प्रारम्भ कर गंगासागर, सप्तगोदावरी, पम्पा, वेंकटाद्रि, कांची, कावेरी, श्रीरंगम्, दक्षिण मथुरा होते हुए ब्रह्महत्यानाशक तीर्थ केदार तथा सेतुबन्ध रामेश्वर पहुँच गये। कहा गया है कि केदार और रामेश्वर का दर्शन, महाभारत का श्रवण तथा एक करोड़ गायत्री का जप ब्रह्म-हत्या के पाप को नष्ट करता है।

'केदारं रामसेतुं च दृष्ट्वा भारतसंहिताम्।
श्रुत्वा कोटिश्च गायत्र्या ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥'

बलराम जी ने अपनी यात्रा प्रभास क्षेत्र से प्रारम्भ की थी, वहीं पुनः लौट आये। अपनी यात्रा के बीच दीर्घा-वधि तक उन्होंने भारतवर्ष के प्रायः सभी तीर्थस्थानों का भ्रमण किया। बहुत से ऐसे स्थल थे जहाँ की मान्यता एवं प्रतिष्ठा में कुछ कमी आ गयी थी। बलराम जी ने उन तीर्थस्थानों की मान्यता एवं गुरुता को पुनः प्रतिष्ठापित किया। उन्होंने अनन्य अभिशप्त ऋषि-मुनियों का उद्धार कर उन्हें सुखी बनाया। इस प्रकार ब्रह्महत्या के प्रसंग में समस्त तीर्थों का भ्रमण कर उन्होंने स्वतः लोक-मर्यादा की रक्षा की।

●

[पृष्ठ २ का शेषांश]

भारतवर्ष के गाँव-गाँव में शिव के एक या अधिक मन्दिर मिल जाते हैं। महावीर हनुमान को भी उनका अवतार माना जाता है। तुलसीदास जी ने हनुमान जी की स्तुति करते हुए कहा है—'जयति रणधीर रघुबीर हित देवमणि, रुद्र अवतार संसारपते।' इस प्रकार आज का भारतवर्ष नाना रूपों में शिव का स्मरण करता है। रामायण, महा-भारत और पुराण उनकी महिमा से भरे पड़े हैं। आगमों के तो वे मूल ही हैं। हमारा काव्य, कथा, आख्यायिका, नाटक और निजन्धरी कथाओं का साहित्य शिव की महिमा से उद्भासित है। सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने वाले इस विषपायी नीलकण्ठ, अवढरदानी देवता ने कितना कुछ दिया है, इसका हिसाब बताना कठिन है। ●

पुस्तक समीक्षा—

सुखी जीवन

लेखक डा० कपिलदेव द्विवेदी, कुलपति
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (हरिद्वार)

पृष्ठ संख्या १६० + १६

मूल्य अजिल्द— ७.५० (सात रुपये पचास पैसे)
सजिल्द १५.०० (पन्द्रह रुपये मात्र)

प्रकाशक विश्व भारती अनुसंधान परिषद्
शान्ति निकेतन, ज्ञानपुर (वाराणसी)

वेदों को विश्व के प्राचीनतम ज्ञानग्रंथ की निर्विवाद प्रतिष्ठा प्राप्त है। भारतीय अध्यात्म, धर्म, दर्शन-रूपी भव्य भवन वेदों की दृढ़ नींव और भित्ति पर ही आधारित हैं। आवश्यकतानुसार वेदों से रस ग्रहण कर, भारतीय संस्कृति घनघोर झंझावातों के समक्ष भी अविचल रही है तथा विरोधी तत्वों को आत्मसात् कर सकने में समर्थ रही है।

यह पुस्तक सुखी जीवन वेदप्रेमी आर्य सज्जनों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई है। इसमें जीवन को सुखी बनाने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उनको बताने के लिए १०० मंत्रों का संकलन किया गया है। लेखक ने विषय को सरल और सुबोध बनाने के लिए अन्वय, प्रत्येक शब्द का अर्थ और हिन्दी अनुवाद दिया है। अंग्रेजी जानने वालों की सुविधा के लिए अंग्रेजी में भी अनुवाद दिया गया है। प्रत्येक मन्त्र का सबसे महत्वपूर्ण अंश अनुशीलन है। इसमें मन्त्र का विस्तृत विवेचन किया गया है। अनुशीलन लेखक की वेद-विषयक गहरी पहुँच का सूचक है। अनुशीलन में विषय से सम्बद्ध सुभाषित आदि भी दिये गये हैं। प्रत्येक मंत्र को सूक्ष्मता से जानने के लिए आवश्यक व्याकरण आदि टिप्पणी में दिया गया है। यह पुस्तक प्रत्येक परिवार में अनिवार्य रूप से रखने योग्य है।

डा० द्विवेदी की 'वेदामृतम्-ग्रन्थ माला' विभिन्न विषयों पर ४० भागों में प्रकाशित करने की योजना है। जिसमें १०० मंत्र शब्दार्थ, हिन्दी अनुवाद, अंग्रेजी अनुवाद तथा अनुशीलन आदि होंगे। ●

आत्मतत्व और ब्रह्मतत्व

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

आत्मतत्व और ब्रह्मतत्व स्वरूपतः अभिन्न है। जिस प्रकार अग्नि में दाहिका शक्ति है, उसी प्रकार आत्मा में भी स्वरूप प्रभुत आत्मशक्ति है। शक्ति और शक्तिमान या शक्ति का आश्रय वास्तव में अभिन्न है। जिस प्रकार आत्मा स्वरूपतः एक है, उसी प्रकार शक्ति भी स्वरूपतः एक है। आत्मा का स्वभाव जो है, उसकी शक्ति का स्वभाव भी वही है। वास्तव में शक्ति के द्वारा ही आत्मा का प्रकाश होता है। आत्मा को स्वप्रकाश कहा गया है। इसका कारण यह है कि आत्मा अपने प्रकाश से स्वत. ही प्रकाशमान है। बाह्य प्रकाश उसे स्पर्श नहीं कर पाता। जड़ वस्तु निरपेक्ष रूप से प्रकाशित नहीं हो पाती, इसलिए उसके प्रकाश को तद्भिन्न अन्य किसी प्रकाश की अपेक्षा रहती है। वह स्वतन्त्र नहीं है, पर आत्मा स्वतन्त्र है। आत्मा चित् स्वरूप है इसलिए उसकी शक्ति को चित्शक्ति कहा है। यह नामकरण केवल तत्व को समझाने के लिए कहा गया है।

इस चित्शक्ति का अपर नाम है परावाक्। गोकि यह अद्वैत दृष्टि की बात है। द्वैत दृष्टि में जरा अन्तर है। आवश्यक होने पर फिर कभी बताऊँगा। आचार्यों ने परा-वाक् को स्वातंत्र्य-शक्ति या स्वभाव कहा है। अगर आत्मा को परब्रह्म समझा जाय तो इस परावाक् को शब्दब्रह्म कहा जा सकता है। सृष्टि के प्रारम्भ में इसी महाशक्ति से विश्व का स्फुरण होता है। आत्मा भी इसी महाशक्ति में अभिन्न होकर समरस रूप में मौजूद है। यही आत्मा का परम शिवत्व या परमेश्वर तत्व है। सामरस्य रहने के कारण ही आत्मा में मैं बोध जागरूक रहता है। यह खण्ड है, मैं का रूप नहीं, जो अनात्मा में आत्मभ्रमवश उदित है तथा जो अवस्थाभेद के अनुसार अस्मिता, अहंकार आदि के रूपों में प्रकट होता है। यही अखण्ड है, अप्रति-द्वन्द्वी, अप्रतियोगी विराट में है जो मैं सब कुछ हूं, उसी मैं की जड़ है। एक मात्र यही मैं हूं। इसका प्रतियोगी द्वितीय सत्ता नहीं है। "एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।' इसी अपरिच्छिन्न अहंता के कारण ही आत्मा वास्तव में महेश्वर है। परिपूर्ण अहंता ही परावाक् या आत्मा की स्वातन्त्र्यरूपा महाशक्ति है।

स्वतन्त्रता के कारण जब आत्मा अपने को संकुचित कर लीला या अभिनय के द्वारा अणु बनती है, उस वक्त यह महाशक्ति विभक्त होकर विचित्र खण्डशक्ति के रूप में परि-णत हो जाती है। इन शक्तियों के स्तरभेद के अनुसार नाना प्रकार के नाम और कार्य हैं। अनन्त शक्ति अनन्त प्रकार। मूल में शक्ति शब्दात्मक है, इसीलिए सम खण्ड शक्तियाँ मूलतः ध्वनिरूप या वर्णात्मक हैं। पहले परनाद, फिर महानाद आदि विभिन्न अवस्थाओं में से वर्णरूप या मातृकारूप में उक्त शक्ति का अवतरण होता है। आत्मा या शिव जब अणु बनकर, महामाया के आवरण से आवृत होकर मातृगर्भ में प्रवेश करता है, उस वक्त सभी वर्णरूपा शक्ति मूल मायाशक्ति को किरण बनाकर चित-अनुरूपी आत्मा को मोहित करती है, और नाना प्रकार के विकल्प-जाल में फँसा लेती है। वर्णों का समूह विभिन्न समष्टि में सम्मिलित होकर नाना प्रकार के भाव या वृत्ति का उत्पादन करते हैं। इन्हें हम वासना, कर्म-संस्कार, अविद्याबीज, विक्षेपरेणु आदि कहते हैं। अत्यन्त उच्चकोटि के योगी के अलावा अन्य कोई इनके स्वरूपों को समझ नहीं पाता। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ, भक्ति, प्रेम, क्षमा आदि या वृत्ति वास्तव में वर्ण-समूह के सामूहिक क्रिया से चित्त में उद्भूत होता है। चित्त के चंचल होने का यही कारण है। लय; विक्षेप आदि स्थिति में सभी मातृकाएँ कारण बन जाती हैं। यही वजह है कि मनुष्य मात्र विकल्प के अधीन होता है, निर्विकल्प ज्ञान लाभ करना कठिन होता है। विकल्प की शुद्धि के बिना ज्ञान की निर्मलता का सम्पादन असंभव है।

सृष्टि की धारा में परावाक् से पश्यन्ती और इसके बाद मध्यमा वाक् का आविर्भाव होता है। सबके अन्त में वैखरी वाक् प्रकट होता है। हम लोग जिस वाक् का प्रयोग करते हैं, जो मुँह से उच्चारित होता है, जो कण्ठ, तालु आदि स्थानों से वायु के द्वारा संघर्ष उत्पन्न करता है, वही वैखरी वाक् है। इन्द्रियकालीन है। शब्द और अर्थ या वाक् और अर्थ परस्पर संसृष्ट होते हैं। पदार्थ जब इन्द्रियग्राह्य होता है तभी वाक् वैखरी होता है। समस्त विश्व वैखरी वाक् के स्तरों में विद्यमान है। योग-शक्ति के प्रभाव से हम लोगों को वैखरी के स्तर से उठकर मध्यमा के स्तर में प्रवेश करना पड़ता है, पर चित्शक्ति के उन्मेष हुए बिना मध्यमा के स्तर में प्रवेश करना कठिन होता है।

गुरु-शक्ति के प्रभाव से अथवा तीव्र अभ्यास के कारण वैखरी शब्द क्रमशः संस्कृत या शोधित होता है। हमलोग जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वह मलिन होता है, उसमें आगुन्तक मल विद्यमान रहता है। जब तक यह मल दूर नहीं होता तब तक मध्यमा में प्रवेश नहीं किया जा सकता। शब्दों के पुनः-पुनः आवर्तन के फलस्वरूप धीरे-धीरे शब्दगत मल क्षीण होता है। उस वक्त श्वास वायु इड़ा-पिंगला के बीच से हटकर सुषुम्ना में प्रवेश करता है। सुषुम्ना मध्यमार्ग है, निर्विकल्प ज्ञान की ओर जाने का राजमार्ग। पर यह गुप्त मार्ग है। यह मार्ग नीचे की ओर काफी निरुद्ध है। अगर ऐसा न होता तो साधारण मानव जागतिक या व्यावहारिक कार्य न कर पाता। ऐसा न कर पाने पर कर्म के द्वारा कर्मक्षय का सौकर्य न होता। कर्म देह की सार्थकता तथा प्रारब्ध कर्मफल के भोग के लिए, सुषुम्ना को ढककर रखने की प्रक्रिया प्रकृति की एक चाल मात्र है। योगी इस चाल को समझ लेता है और कौशल से ढकने को खोल लेता है। जप-साधना इस कौशल का एक प्रकार का भेद है। वैखरी में जप करते-करते (यथाविधि) क्रमशः कण्ठरोध हो जाता है, इधर सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है तब वायु और मन सूक्ष्म होकर सुषुम्ना के मार्ग में प्रविष्ट होता है। साथ ही नाद का अभ्युत्थान होता है।

नाद का उदय होना ही मंत्र-चैतन्य का पूर्वाभास है। वर्ण गलकर नाद रूप में प्रवाहित होता रहता है। यदि ऐसा न हो तो बीच ही में ऊर्ध्व की ओर उत्थित होना मन के लिए सहज न होता। यह सच है कि ध्यान के मार्ग में उत्थान हो सकता है, पर नादविरहित ध्यान कष्टसाध्य होता है और अधिकतर अनुरूप फल प्राप्त नहीं होता।

●

एक चोर आधी रात को किसी राजा के महल में घुसा और राजा को रानी से यह कहते सुना कि 'अपनी कन्या का विवाह उस साधु से करूँगा जो गंगा के किनारे रहता है।' चोर ने सोचा कि, 'यह अच्छा अवसर है। कल मैं भगवा वस्त्र पहन कर साधुओं के बीच जा बैठूँगा। सम्भव है राजकन्या का विवाह मेरे ही साथ हो जाय।'' दूसरे दिन उसने ऐसा ही किया। राजा के कर्मचारी सब साधुओं से राजकन्या के साथ विवाह कर लेने की प्रार्थना करने लगे, लेकिन किसी ने स्वीकार नहीं किया, तब वे उस चोर संन्यासी के पास गये और वही प्रार्थना उन्होंने उससे भी की, तब उसने कोई उत्तर नहीं दिया। कर्मचारी लौटकर राजा के पास गये और कहा कि ''महाराज! एक कोई साधु राजकन्या के साथ विवाह करने के लिये अनुरोध करने लगा। राजा के स्वयं आने से चोर का हृदय बदल गया। उसने सोचा, अभी तो केवल संन्यासियों के कपड़े पहनने का यह परिणाम हुआ है कि इतना बड़ा राजा मुझसे मिलने के लिए स्वयं आया है। यदि मैं वास्तव में सच्चा संन्यासी बन जाऊं तो न मालूम आगे अभी और कैसे अच्छे-अच्छे परिणाम देखने में आयें।' इन विचारों का उस पर ऐसा अच्छा प्रभाव पढ़ा कि उसने विवाह करना एकदम अस्वीकार कर दिया और उस दिन से वह एक अच्छा साधु बनने के प्रयत्न में लगा। उसने जन्मभर विवाह नहीं कया और अपनी साधनाओं से एक पहुँचा हुआ संन्यासी हुआ। अच्छी बात की नकल से भी कभी-कभी अनपेक्षित और अपूर्व फल की प्राप्ति होती है।

●

गुरुदक्षिणा

धर्मकीर्ति

रजत धवल और नीलाभ रंग की जलधार से उमड़ती, नाचती, इठलाती, गंगा अबाध गति से महासागर से मिलने जा रही थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो उसके मन में किसी भी प्रकार की उलझन या हिचक न रह गयी हो। पत्थरों से टकराती, पेड़ों और झाड़ियों में अठखेलियाँ खेलती, कलकल करती वह आगे बढ़ती जा रही थी। कहा जाता है कि बासुरी की ध्वनि सुनकर राधा सब सुध-बुध खोकर बाँसुरी वाले की खोज में पागल-सी होकर दौड़ पड़ती थी, उसे ध्यान भी नहीं रहता था कि उसकी साड़ी उड़ रही है, बाल बिखर रहे हैं अथवा पाँव में काँटे चुभ रहे हैं। ऐसी ही गंगा अपने आराध्य महासागर में दौड़कर विलीन हो जाना चाहती थी। जीवन की प्रीतबेला, युवावस्था और सान्ध्य बेला पारकर, सूर्य की रश्मियाँ अब पादपपुंजों को लोहित वर्ण कर रही थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि कोई महायज्ञ हो रहा है। विश्व ध्यान में लीन, नीरव और निस्तब्ध जान पड़ता था।

पहाड़ी के ऊपर एक साधु प्रशान्त मुद्रा में बैठा था। उसके शरीर से अपरिमित, अनैसर्गिक शक्ति प्रवाहित हो रही थी। यह वही पर्वत-शृंखला थी जिसपर कर्ण का पौराणिक प्रासाद कभी सिर ताने खड़ा था। कर्ण, जो पांडव बन्धुओं में ज्येष्ठतम था। वह महायोगी और शक्ति का पुजारी था। इसी स्थल पर बैठकर रात्रिबेला में वह शक्ति का आवाहन किया करता था। कहते हैं, यह पर्वतशिखा भगवान बुद्ध के चरण-रज़ से भी पावन हो चुकी थी। आज सम्भवतः कम लोग इस बात को जानते हैं, कि मुंगेर जो आज राजनीतिक कटुता और जातीय दंगों का रंग-मंच बना हुआ है, कभी मात्र एक ऊजड़ घाटी था। राम की राजधानी अयोध्या यहाँ से बहुत दूर नहीं थी। इस पवित्र धरती को अवतारों और योगियों की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है।

पहाड़ी की चोटी पर बैठा साधु कोई अन्य नहीं, स्वामी सत्यानन्द थे। उनका अभिप्राय स्पष्ट था। जैसे एक ममतामयी, सती साध्वी माँ अपने अनुभवों और व्यावहारिक ज्ञान को अपने बच्चों को देने के लिए उत्सुक रहती है, ठीक उसी प्रकार सत्यानन्द जी अपनी तपश्चर्या से अर्जित ज्ञान को मानव-कल्याणार्थ किसी योग्य शिष्य को देने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें यह आभास हो गया था कि उनकी इहलीला समाप्त होने वाली है और वे एक आश्रम 'गंगा दर्शन' की स्थापना के लिए बेचैन थे। वे चाहते थे कि इस आश्रम के माध्यम से लोगों को जीवन के उम्दा बातों को झेलने और उन्हें भोगने की दीक्षा देंगे।

वे जानते थे कि सांसारिक जीवन के थपेड़ों और सामाजिक उलझनों की दुरूहताओं से मर्माहत व्यक्ति शक्ति, ज्ञान और धन की लिप्सा से थके-माँदे प्राणी अवश्य वहीं आयेंगे, विशेषतः ऐसे समय जब उन्हें यह प्रतीत होने लगेगा कि वे खोखले हो गये हैं। कई वर्ष बीत गये। गुरुपूर्णिमा का शुभ दिन आया। सहस्रों भक्त गर्मी, आतंक एवम् बिहार रेलवे की परेशानियाँ झेलकर वहाँ एकत्र हुए। वे पसीना पोछते हुए एक दूसरे से कहते थे, 'क्या यहाँ आना सार्थक है? भाई एक बाल्टी पानी का तो प्रबन्ध करें। यहाँ भोजन भी ठीक नहीं मिलता। पता नहीं कौन अज्ञात शक्ति हमें यहाँ खीच लाई।' वे सभी वहाँ तीन दिनों तक विश्राम करने आये थे।

दूसरे दिन लोग सत्संग के लिए एकत्र हुए। एक ने प्रश्न किया, 'गुरुदक्षिणा का क्या अभिप्राय है? गुरु को दक्षिणा की आवश्यकता'? प्रश्नकर्ता जानता था कि शिष्य और भक्त अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने आध्यात्मिक गुरु को पैसे, सामान और जमीन दक्षिणास्वरूप भेंट करते हैं। उसका तो प्रश्न करने का यह अभिप्राय था कि जो

व्यक्ति ईश-आराधना में लगा है, उसे भौतिक माया से क्या प्रयोजन ?

स्वामी सत्यानन्द आकाश की ओर देख रहे थे। वे सब कुछ समझ रहे थे। उन्हें उन दिनों की स्मृति हो आई थी, जब वे परिव्राजक के रूप में पदयात्रा करते थे, और हजारों की संख्या में भक्त लोग उनका चरणरज लेते थे, जब वे स्वयं सांसारिकता से मुक्त होने का प्रयत्न कर रहे थे। वे क्षणभंगुर संसार के प्राणियों को मुक्ति का पाठ पढ़ाने की चेष्टा में भ्रमण कर रहे थे। उनके मन में बारबार यह प्रश्न उठता था कि यदि कोई गुरु शिष्यों की अन्तरात्मा को परिवर्तित करने का प्रयत्न करे तो उसके पास एक आश्रम का होना आवश्यक है। मनुष्य की सीमाओं को दृष्टि-गत रखकर ही उन्होंने आश्रम की स्थापना की। वे जानते थे कि यहाँ आने पर लोगों को भौतिक साधनों की कमी खटकेगी। वे इसकी आलोचना करेंगे, किन्तु धीरे-धीरे जब उनके भीतर गुरु की प्रेरणा अपना स्थान बना लेगी तब वे इन क्षणिक कठिनाइयों को भूल जायेंगे। अनजाने और मनचाहे, वे महसूस करने लगेंगे कि व्यसनों का जाल मायावीय था। वे कालान्तर में सादा जीवन व्यतीत करने के अभ्यस्त हो जायेंगे और जब वे अपने घरों को वापस जायेंगे तो वे सादा जीवन और तपश्चर्या की गरिमा अपने परिवार एवम् समाज को भी बता सकेंगे।

शनैः शनैः वे अपनी सीमाओं से मुक्त हो, अपने दिलों को स्वच्छ और निष्कपट बना सकेंगे। वे यह नहीं समझ पा रहे थे कि आश्रम की उपयोगिता उन्हीं के लिए है न कि स्वामीजी के लिए। वे यह भी नहीं समझ रहे थे कि शिष्यों द्वारा दी हुई भौतिक सम्पत्ति से उन्हीं को लाभ होगा। स्वामीजी के लिए तो दो धोती और दो रोटी पर्याप्त थी, वह भी आवश्यक नहीं।

स्वामीजी ने मुस्कुराते हुए कहा, 'दक्षिणा तो शिष्यों द्वारा गुरु, उनके अन्तर के गुरु को दी गयी भेंट है। वे जो भौतिक दक्षिणा देते हैं वह तो शिष्य के अहंकार की सूचक है। शिष्य इसी व्याज से अपने 'अहंकार' का दान देता है, वह अपने सीमित अहं को गुरु के चरणों में रख कर, मुक्त हो जाता है। अपनी सीमायें गुरु को अर्पित कर, शिष्य असीम परम ब्रह्ममय हो जाता है। हर व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के व्यामोह से आबद्ध होता है, ऐसा व्यामोह जो उसे सुरक्षित प्रतीत होता है। इसी व्यामोह से उसे वैयक्तिकता मिलती है। जीवन में कभी-कभी ऐसे क्षण आते हैं जब भ्रमवश हम सोच लेते हैं कि हमने कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर ली है। ऐसे अवसरों को हम अपना अभिन्न मानने लगते हैं। जैसे गरीबी से धनवान बन जाना या निरक्षर भट्टाचार्य से डाक्टरेट की पदवी पा जाना। किन्तु इससे स्थाई शान्ति सम्भव नहीं। मनुष्य इनकी प्राप्ति के बावजूद भीतर से खोखलापन महसूस करता है। किन्तु जब हम गुरु के चरणों में नत होकर उसे गुरुदक्षिणा देते हैं तो हम न केवल अपने वैभव का दान करते है, प्रत्युत अपने 'अहं' को भी गुरुचरणों में अर्पित कर देते हैं, सम्भवतः यह 'अर्पण' अनजाने हो जाता है। यही कारण है कि गुरुदक्षिणा देने के बाद ही शान्ति का अनुभव होता है।

जो धनीमानी है, वह गुरु के चरणों में द्रव्य अर्पित करता है। जो भावुक है, वह गुरुचरणों में अश्रुबिन्दु अर्पित करता है। जो धर्म, कर्म में विज्ञ है वह शास्त्रीय विधि से गुरु की अर्चना करता है। एक पागल महिला चीख-चीखकर कहती है कि गुरुजी ने उस पर दृष्टि नहीं डाली। इस प्रकार प्रत्येक यात्री अपनेपन का कुछ दान करता ही है।

गुरु पूर्णिमा के दूसरे दिन जब भीड़ ने वहाँ से प्रस्थान किया तो लोग आपस में कह रहे थे, भाई, इतने कष्ट सहकर यहाँ आना सफल हुआ। हम लोगों को जो मुसीबतें झेलनी पड़ीं वे नगण्य थीं। भाई, जब कष्ट नही उठायेंगे तो गुरुदर्शन कैसे प्राप्त होगा। बिहार की भीषण उष्मा से उनके माथे से पसीना टपक रहा था, पर इसकी उन्हें क्या चिन्ता। वे आन्तरिक आनन्द में इस प्रकार डूबे थे कि बाह्य कष्टों का उन्हें अनुभव नहीं हो रहा था। वे इतने उत्फुल्ल और उल्लसित थे कि वे अपनी सारी कठिनाइयों को भूल चुके थे।

(शेष पृष्ठ २० पर)

सत्यमेव जयते

श्री रतनलाल जोशी

उस समय त्वष्टा प्रजापति थे। वे असुर-याजक थे। समाज की सारी व्यवस्था उनके हाथों में थी। त्वष्टा स्वभाव से बड़े सत्यनिष्ठ और परहित-परायण व्यक्ति थे। इन्द्र जितने महत्वाकांक्षी थे, उतने ही कूटनीतिज्ञ भी थे। येन-केन-प्रकारेण वे देवलोक की सार्वभौम सत्ता अपने एकाधिकार में करना चाहते थे। उन्हें सर्वाधिक भय था त्वष्टा के तत्वान्वेषी पुत्र विश्वरूप त्रिशिरा से, जो संग्रह-परिग्रहों का सम्पूर्ण मोह त्यागकर तपोलीन था। तपस्या की अवधि के साथ-साथ विश्वरूप का तेज भी बढ़ता जाता था।

इन्द्र को चिन्ताग्रस्त देख, उनके मित्र वरुण उनके निकट आये और बोले—"देव, यह सत्य है कि भय बुद्धि को विमोहित कर देता है, नहीं तो आप जैसे उर्वर-प्रयास व्यक्ति यों साहस खोकर क्यों बैठ जाते! विश्वरूप की तपस्या से आपको भय है, किन्तु तपोभ्रष्ट करने के अनुभव और साधन भी तो सबसे अधिक आपके ही पास हैं।"

वरुण के इस व्यंग्य-चातुर्य ने इन्द्र की कल्पना-शक्ति को मानो बन्धनमुक्त कर दिया; उन्हें अपने 'गाढ़े दिन के मीत' कामदेव का स्मरण हो आया। पुलक-प्रोज्वल नेत्रों से वरुण की कृतज्ञता स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा—"सखे! आप ठीक कहते हैं, उपाय मेरी आँखों के सामने है। काम से बड़ा तप का शत्रु और कौन होता है? मैं अभी पंचशर कामदेव का आह्वान करता हूँ।"

किन्तु लाख-लाख प्रपंच करके भी कामदेव की सेना दुर्धर्ष जितेन्द्रिय विश्वरूप को विचलित नहीं कर सकी। छिन्नराग विश्वरूप को कोई राग फिर अपने पाश में बाँध नहीं पाया। उलटे शाप-भय से स्वयं कामदेव थर-थर काँपने लगा। इन्द्र को चेतावनी देते हुए उसने कहा—"अपनी महत्वाकांक्षा अब संयत कीजिये देव, इच्छा के अश्वों को इतना तेज न हाँकिये कि गति दुर्गति बन जाये। इस ताप को त्यागकर तप का आश्रय लीजिये। तप से ही तप को जीतिये। छल तो आत्महन्ता है, बलदाता नहीं। बल का स्रोत तो सत्य है।"

इन्द्र को कामदेव की यह विफलता बहुत अखरी और उससे भी अधिक अखरा उसका उपदेश। इन्द्रासन के निगूढ़ मोह-व्यामोह ने उनके विवेक को राहु-ग्रस्त चन्द्रमा की भाँति ढंक दिया था। चेतना की समस्त वर्जनाओं को सुनी-अनसुनी करके, वे विश्वरूप का वध करने निकल पड़े।

विश्वरूप अपनी तपोभूमि में एकाग्र, तपस्या-लीन था। इन्द्र ने वज्र का प्रहार किया। समाधिस्थ विश्वरूप धराशायी हो गया; किन्तु मृत्यु के साथ ही उसके शरीर में ऐसा चैतन्य प्रकट होने लगा कि इन्द्र काँप उठे। तत्काल उन्होंने एक बढ़ई को बुलवाया और विश्वरूप का सिर धड़ से अलग करवा दिया। पारिश्रमिक के रूप में इन्द्र ने उक्त बढ़ई (तक्षा) को यज्ञभाग दिलवाने का वचन दिया।

इन्द्र द्वारा विश्वरूप के मरण का समाचार जब प्रजापति त्वष्टा को मिला, तो वे विश्वकल्याणार्थ 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु'—मंत्रोच्चार के साथ यज्ञाहुति दे रहे थे। आहुति के लिए आगे बढ़ा हाथ जड़-काष्ठ की तरह अधर में ही रुक गया। किन्तु अविलम्ब ही शोक का स्थान प्रतिशोध और क्रोध ने ले लिया। 'इन्द्रशत्रु विवर्धस्व' के प्रखर उच्चार के साथ उन्होंने वैश्वानर को आहुति दी।

आठ रात्रियों तक अविराम प्रचंड हवन के पश्चात् त्वष्टा के मनोरथ के अनुकूल अग्नि से एक प्रज्वलन्त पुरुष का आविर्भाव हुआ। स्वयं वैश्वानर की ही तरह शक्ति-प्रदीप्त इस पुरुष ने प्रजापति से कहा—"पिताजी, आप इतने चिन्तित क्यों हैं? किस शत्रु ने आपकी पावन चेतना को विदग्ध कर रखा है? आपकी चिन्ता का निवारण करने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है। उस पुत्र का जीवन ही पाप का पंक है, जो पिता के दुःख का निवारण नहीं कर पाता। मुझे आप आज्ञा कीजिये कि मैं क्या करूँ?"

तप ही सच्चा बल है

अपने यज्ञपुत्र के ऐसे मनभावन वचन सुने, तो त्वष्टा के आनन्द की सीमा न रही। आशीर्वाद देकर वे उससे बोले—"वत्स, तुम इस समय मुझे 'वृजिन' अर्थात् मर्मान्तिक सन्ताप से बचाने में समर्थ हो, इसलिए 'वृत्र' नाम से विश्व में तुम्हारी ख्याति होगी। वेद-वेदांग के पूर्ण ज्ञाता और निःस्पृह तपस्वी तुम्हारे बड़े भाई विश्वरूप त्रिशिरा को कुटिल-पापात्मा इन्द्र ने मार डाला है। यह पुत्र-शोक मुझे अतीव पीड़ा दे रहा है। पुरुषव्याघ्र! तुम पापी इन्द्र से अपने भाई की इस नृशंस हत्या का प्रतिशोध लो, इस समय यही मेरे लिए सर्वोपरि काम्य है।"

पिता के मर्मविदारक वचन सुनकर वृत्र की भृकुटियाँ तन गयीं। भ्रातृहत्या का प्रतिशोध उसकी नस-नस में कौंध गया। तत्काल रथ पर बैठ, वह इन्द्र का वध करने चल पड़ा।

दूरी को चीरता हुआ रथ वायुवेग से आगे बढ़ रहा था। वृत्र का मानस भी खौलते हुए जलकुंड की भाँति विचलित था। चतुर्दिक एकान्त के स्पर्श ने दृष्टि को भीतर की ओर मोड़ा। अपने मानसरोवर के बीचो-बीच वृत्र ने देखा कि उसका बड़ा भाई विश्वरूप त्रिशिरा खड़ा हुआ है और उससे कह रहा है—"वृत्र! मैं तुम्हारा बड़ा भाई विश्वरूप हूँ। इन्द्र मेरा वध करके पाप का ही भागी हुआ है, पुण्य का नहीं। दानव-कुल ही नहीं, देव-कुल भी उसकी निन्दा कर रहा है; सारा तपस्वी वर्ग उसे धिक्कार रहा है। तुम्हारे मारने से पहले ही वह मर चुका है। कीर्ति और यश का मरण ही सज्जनों की दृष्टि में सर्वांतक मरण होता है, शरीर का मरण नहीं। तात, तुम क्षमा से काम लो। तप करो या देव-दानव एवं दैत्य कुलों को अनुकूल कर, अनायास ही मिल रहा यह इन्द्रपद भोगो। क्योंकि मेरी हत्या के कारण देवता भी इन्द्र के प्रतिकूल हैं। इस अवसर से लाभ उठाओ। युद्ध से कुछ नहीं मिलता है, उलटे कुलक्षय ही होता है। मेरी बात मानो; लौट जाओ वृत्र! प्रतिशोध के इस अग्निकुंड से बाहर निकलो। प्रतिशोध अन्ततः प्रतिशोधक को ही भस्म करता है।'

वृत्र ने अपने तपोज्वल बड़े भाई को सिर नवाया और विनीत स्वर में कहा—'परम-पावन, इन्द्र ने आपकी नहीं, सत्य और धर्म की हत्या की है। वह दण्ड का भागी है। मैंने उसे दंडित करने की प्रतिज्ञा की है। पिताजी को मैंने वचन दिया है। दण्ड्य का पतन उनका सबसे बड़ा मनोरथ है। उसकी पूर्ति के लिए ही मैंने जन्म लिया है। मेरे तपोधन अग्रज, अस्थि-चर्ममय मेरी यह देह जो आप देख रहे हैं, वह सहज-सामान्य मानवीय देह नहीं है; वरन् स्वयं पिताजी के परिताप ने प्रत्यक्ष देह धारण की है। इच्छा भी मेरी कोई स्वतन्त्र नहीं है; मैं अपने सर्वांग में पिताजी की इच्छा का ही साकार रूप हूँ। केवल यन्त्र हूँ मैं। जिस अभिप्राय से मेरा निर्माण हुआ है, वह मुझे करना है, क्षण भर रुकना भी मेरे लिए पाप है, पितृ-द्रोह है।'

इन्द्र का कपट

बरसात की आँधी की तरह बढ़े आ रहे वृत्रासुर के समाचार गुप्तचरों द्वारा इन्द्र को प्राप्त हुए। समस्त देवलोक में त्राहि-त्राहि मच गयी। देवेन्द्र भी विचलित हुए और परामर्श के लिए सुरगुरु बृहस्पति के निकट गये। विश्वरूप के वध से बृहस्पति स्वयं बड़े सन्तप्त थे। सक्रोध इन्द्र से कहने लगे—'सहस्राक्ष! मुनि विश्वरूप की हत्या कर तुमने जो पाप कमाया है, उसे भोगने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं है। इस युद्ध में तुम्हारा पतन-पराभव निश्चित है। हाँ, यदि तुम त्वष्टा से क्षमा माँग लो, तो यह दुर्घटना टल सकती है। क्षमा सज्जनों के क्रोध का प्रतिकार है शक्र! तुम अविलम्ब त्वष्टा के निकट जाओ और हार्दिक पश्चात्ताप के साथ सविनय उनसे क्षमा माँग लो।"

किन्तु सत्साहस से विरत इन्द्र के सम्मुख ऐसे विवेक का कोई मूल्य नहीं था। वे त्वष्टा के पास जाने के बजाय एक विशाल सैन्य सजाकर वृत्र का सामना करने चल पड़े। घमासान युद्ध हुआ; किन्तु दुर्धर्ष वृत्र के बल के सम्मुख कोई टिक नहीं सका - यम, वरुण, वायु आदि सभी सुभट भाग खड़े हुए। इन्द्र ने भी ऐरावत हाथी से कूदकर अपने प्राण बचाये।

इस प्रकार कर्तव्य को पूरा कर वृत्र प्रजापति त्वष्टा के पास आया और चरणस्पर्श कर बोला—'पुण्यचरण! आपका

शत्रु ससैन्य परास्त हो गया है। इन्द्र प्राणों के भय से पैदल ही भाग गया है। लीजिये, उसका यह ऐरावत हाथी। पराजितों को मारना अधर्म है। अतः मैंने उसका पीछा नहीं किया।'

निज-शत्रु-विजयी पुत्र को सम्मुख उपस्थित देखकर त्वष्टा हर्षविभोर हो गये। वृत्र को छाती से लगाते हुए कहने लगे-'कीर्ति और श्री तुम्हारा अनुसरण करें पुत्र! आज मैं अपने को वास्तव में पुत्रवान समझता हूँ। अब मेरी इच्छा है कि तुम भी विश्वरूप की भाँति तपस्या का मार्ग अपनाओ तप के बल से अजेय श्री, विभूति और अमरत्व प्राप्त करो। यह इन्द्र बड़ा छली है, उससे सावधान रहो और तपोबल से उसे सदैव के लिए परास्त कर दो।'

पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर वृत्र गंधमादन पर्वत पर तपस्या करने लगा। उसके एकनिष्ठ व्रताभ्यास से ब्रह्माजी बड़े प्रसन्न हुए और प्रकट होकर उन्होंने वर मांगने को कहा-'वत्स, पूर्वकल्प में महर्षियों ने जिस तप का आश्रय लेकर राष्ट्रबल, ओज और महती विभूतियाँ प्राप्त कीं, उस तप को तुमने भी आज सिद्ध कर लिया है माँगो, तुम्हारी क्या अभिलाषा है ?"

वृत्र ने गद्गद् स्वर में याचना की—'प्रभो, मुझे वर दीजिये कि न रात में और न दिन में, न गीले और न सूखे अस्त्र-शस्त्र से मेरा वध हो।"

ब्रह्मा से वर पाकर इन्द्रशत्रु त्वष्टा के पास आया। त्वष्टा ने उसे दिव्य आयुध पहनाये और स्वस्त्ययन के साथ इन्द्र-विजय के लिए भेज दिया। इन्द्र अपरिमित सेना के साथ उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

फिर भयानक देवासुर-संग्राम छिड़ा। वृत्र का युद्ध-कौशल दुर्जेय था। देवता निरन्तर हारते गये। इन्द्र बुरी तरहपरास्त हुए। स्वर्ग पर वृत्र का विजय-ध्वज फहराने लगा। स्थानच्युत देवता पर्वत-कन्दराओं में छिपकर अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

असत् आत्महंता होता है

परित्राण की कामना लिये यम, वरुण, इन्द्र प्रभृति देव-गण विष्णु के पास पहुँचे और अपनी कष्ट-कथा उन्हें सुनायी। धीर-गम्भीर विष्णु ने देवमंडली की चिन्ता आत्मीयता के साथ सुनी और कहा—"देवो, सृष्टि का यह नियम है कि परपीड़ा-परायण मनुष्य कभी सुख से नहीं रह सकता। इन्द्र ने निरपराध मुनी विश्वरूप की हत्या की है, उसी का यह फल आप सब लोग भोग रहे हैं। कर्मफल अच्युत है। उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वृत्र यज्ञ-फल है, महाबली है; फिर ब्रह्मा का वर भी उसे प्राप्त है। वह अपराजेय है। अतः उससे युद्ध करना बुद्धिमत्ता नहीं है। मेरा निर्णय है इन्द्र, कि देववर्ग वृत्र से सन्धि कर ले।"

सभीत देवों ने विष्णु के ये वाक्य सुने, तो वे और भी हतोत्साह हो गये। अन्ततः नैराश्य की दीर्घ अवधि को भंग करते हुए यम बोले—'प्रभो, वृत्र अजेय है, अवध्य नहीं। त्वष्टा बड़े महत्वाकांक्षी हैं। वे इन्द्र को देवेन्द्र के पद से च्युत करना चाहते हैं। विश्वरूप से इसीलिए तपस्या करवा रहे थे। वृत्र का आह्वान भी उन्होंने इसीलिए किया है। हमें असुर-कुल का इन्द्रपद मान्य नहीं है। यह हमारा कुलोच्छेदन है। अतः वृत्र का पतन हमारे लिए परमावश्यक है। पाप का प्रायश्चित्त हम करेंगे; विधि का जो दंड होगा, उसे भी भोग लेंगे। इसके अतिरिक्त और भी अभिशाप हमें स्वीकार्य हैं; किन्तु यदि अस्तित्व ही लुप्त हो गया, तो कैसा पाप-भोग और कैसा पुण्य-भोग।"

यम के तर्क से विष्णु प्रभावित हुए, न्याय-निर्वाह की कठोर ग्रंथियाँ कुछ ढीली पड़ीं। उन्होंने यम से कहा-'तात, देव-वर्ग के इस संकट से मैं परिचित हूँ। त्वष्टा की लिप्सा और प्रतिशोध-प्रवृत्ति से भी मैं अनभिज्ञ नहीं हूँ। वे पाशविक शक्ति से देवेन्द्र-पद प्राप्त करना चाहते हैं, यह वास्तव में मुझे मान्य नहीं है। देवों को विश्वास में लेकर वे बड़ी सरलता से अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते थे। किन्तु उन्होंने असत् को अपनाया। इसका परिणाम भी असत् ही होगा। अतः वृत्र का पतन अनिवार्य है—असत् आत्महंता है, व्यक्ति की तो बात ही क्या। किन्तु इन्द्र भी तो असत् से परे नहीं है। अतः मेरा परामर्श यही है कि देववर्ग वृत्र से सन्धि कर ले और दोनों वर्गों की विकृतियों को अपने काम करने दें; जो भी दोनों को भोगना पड़े, भोगते रहें!'

विश्वरूप की महत्वाकांक्षा

विष्णु का परामर्श मानकर एक देव-मंडल वृत्र के पास पहुँचा और सन्धि का प्रस्ताव उसके सामने रखा। वृत्र मुस्कुराया—'महाभाग! आपकी हार्दिकता में मेरा विश्वास है; किंतु इन्द्र पाप-बुद्धि हैं, वह छल किये बिना मानेगा नहीं। फिर भी वीरों को यह शोभा नहीं देता कि पराजित शत्रु के सन्धि-प्रस्तावों को ठुकरा दें। मुझे इन्द्र के साथ मैत्री मान्य है।'

इस सन्धि के साथ सुर-असुर वर्ग की मैत्री उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। साथ-साथ सोमपान और यज्ञ-अर्चना ने पारस्परिक बन्धुत्व को इतना प्रगाढ़ कर दिया कि वैर-वैषम्य के सारे शूल नष्ट हो गये। मन और कर्म के धरातल पर सारा जन-समाज एकरूप हो गया।

इन्द्र और वृत्र भी परस्पर साथ-साथ विचरण करते, मनोविनोद में भाग लेते, मृगया को जाते और सहभोजों का संगठन करते। वायुसेवन के लिए एक संध्या को जब दोनों समुद्र के किनारे बैठे थे, तो इन्द्र के मन में कपट आया। उन्होंने ब्रह्मा के वर के बारे में सोचा; साथ ही उनकी दृष्टि किनारे पर एकत्र फेन पर पड़ी। कल्पना ने छल की प्रत्येक रेखा को उनके मानस पर चित्रित कर दिया—यह न रात है, न दिन, और यह फेन न गीला है, न सूखा है; आज वृत्र को मार्ग से हटा देना है। ऐसा अवसर फिर नहीं मिलेगा।

वृत्र को असावधान देख, उन्होंने फेन का वज्र बनाकर, उस पर प्रहार किया। वृत्र छटपटाकर मर गया।

छल और विश्वासघात का यह समाचार जब देवताओं को मिला, तो उनके क्रोध की सीमा न रही। सब ने इन्द्र को धिक्कारा। देव, दानव, दैत्य आदि सभी समाजों में उनकी निन्दा होने लगी। घृणा और ग्लानि से प्रेरित समस्त देववर्ग ने इन्द्र का सहयोग और सम्पर्क त्याग किया। देवगुरु ने स्वयं अपने को धिक्कारते हुए कहा—

मंत्रकृद् बुद्धिदाता च प्रेरकः पापकारिणाम्।
पापभाक् स भवेन्नूनं पक्षकर्ता तथैव च॥

पापियों को परामर्श देने वाला, बुद्धि देने वाला, प्रेरित करने वाला और समर्थन करने वाला भी समान रूप से पाप का भागी होता है।

स्वजन और प्रजा का यह विरोध और असहयोग शीघ्र ही दावानल की तरह बढ़ा। इन्द्र का तन-मन उसकी लपटों में झुलसने लगा। शची, कामधेनु, कल्पवृक्ष आदि सब को छोड़ वे भाग खड़े हुए और मानसरोवर के कमलवन में छिपकर दिन काटने लगे।

(पृष्ठ १६ का शेषांश)

जनसमूह में इतना अधिक परिवर्तन देखकर मैं सोचने लगा, सबसे बड़ी गुरुदक्षिणा तो उस व्यक्ति द्वारा अर्पित की गयी, जो बराबर प्रशान्त मुद्रा में बैठा हुआ था, और अपने भक्तों द्वारा की जा रही पूजा-अर्चना का अवलोकन कर रहा था। वह शान्त भाव में बैठा भक्तों द्वारा की जा रही प्रशंसा एवम् आलोचना को सुन रहा था, उनकी अश्रुधाराओं का अनुभव कर रहा था एवम् उनके द्वारा प्रदत्त पुष्पों को ग्रहण कर रहा था। वह सारी गुरुदक्षिणा अपने भक्तों के आभ्यंतर रूपी आश्रम को चुपचाप अर्पित कर रहा था। उस आभ्यंतर को जहाँ अमरात्मा, स्वयं ब्रह्म का निवास है। कृष्ण ने कहा, 'ओ रुक्मणी, मैं अपने भक्तों के पीछे-पीछे दौड़ता रहता हूँ, ताकि उनके पैरों की धूलि मुझे बराबर धवल बनाती रहे।"

सुभाषित

शक्नोति सूक्ष्मगुणदोषविभागकार्यम्
निर्वोढुमुज्ज्वलमतिर्न तु मन्दबुद्धिः।
क्षीराम्बुसंविभजनं घटितुं मरालः
शक्तो भवेज्जगति नैव बिडाल बालः॥

संसार में सूक्ष्म गुण और दोष को अलग-अलग करके समझना तीक्ष्ण बुद्धिवाले व्यक्ति का ही काम है। हंस ही दूध और पानी को अलग-अलग करने में समर्थ होता है, रात-दिन दूध का ही स्वाद पसन्द करनेवाला बिल्ली का बच्चा नहीं!

प्रकृति के स्वर

— अनाम —

प्रकृति के स्वर पत्थरों, पौधों, चट्टानों, कीड़े-मकोड़ों, वृक्षों, वाटिकाओं, प्रकाश, हवा तथा वर्षा और तूफान में गुंजरित होते रहते हैं। हम इस गुंजार को सुनें और समझें, इसके लिए हमें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना होगा। हमें अपनी दृष्टि को अधिक पैनी और अपने मस्तिष्क तथा हृदय को और अधिक संवेदनशील बनाना होगा। नीलाकाश में चमकते सितारों का संगीत कितना मधुर और मनोहारी होता है, इसका अनुभव तभी सम्भव है जब हम अपने अहं का त्याग कर सर्वव्यापी दैवी शक्ति का दर्शन करने का प्रयास करें, प्रकृति से सान्निध्य और सामंजस्य स्थापित करें। प्रकृति के इन्हीं स्वरों ने कवीन्द्र रवीन्द्र की वाणी को मुखर किया और जगदीशचन्द्र बोस को वैज्ञानिकों का सिरमौर बनाया।

काश, हम प्रकृति के इन स्वरों को सुनते, पहचानते और उनसे तादात्म्य स्थापित कर सकते। सम्भवतः ऐसी स्थिति आने पर मानवता के ऊपर मँडराने वाले युद्ध, पद-लिप्सा, घृणा और ईर्ष्या के बादल स्वयमेव छँट जाते। मानवता राहत की साँस लेती और हमारी अमरवाणी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' विश्वकल्याण का मार्ग प्रशस्त करती। हम डारविन के सिद्धांत 'सरवाइवल आफ दी फिटेस्ट' का सही मूल्यांकन करते और वीरभोग्या वसुन्धरा गद्गद् हो हमारा आलिंगन करती। काश, हम प्रकृति के विभिन्न रूपों और उनमें झाँकती विश्वात्मा का दर्शन कर, यह समझ पाते कि प्रकृति के ये तथाकथित निर्जीव पाषाणखण्ड भी जीवन-धारा से आप्यायित होते हैं और उनमें भी प्यार भरी उमंगें आलोडित होती रहती हैं।

आप एक पत्थर का टुकड़ा हाथ में उठाकर सामान्यतया कह देंगे कि यह निर्जीव है, निष्प्राण है। किन्तु वह व्यक्ति, जिसकी दृष्टि बाह्य आडम्बर और आवरण के भीतर झाँक सकती है, निश्चित रूप से कहेगा कि इस टुकड़े के केन्द्र में जीवित अणु है जो परमशक्ति का प्रतीक है। यही अणु हजारों लाखों वर्षों में धीरे-धीरे इस टुकड़े का निर्माण करने में सफल हुआ है। ऐसा व्यक्ति स्पष्ट देखता है कि इस पत्थर के टुकड़े के केन्द्र-बिन्दु में वही परम 'आत्मा' निवास करती है, जिसने हमें और आपको 'अशरफुल मख्लूकात' सृष्टि के जीवों में सर्वश्रेष्ठ बनाया है।

धरती पर 'जीवन की उत्पत्ति' के इतिहास का अध्ययन करने पर पता चलता है कि किस प्रकार पाषाणखण्ड से अकल्पित रूप से 'प्रारम्भिक जीवन' का विकास हुआ और धीरे-धीरे शताब्दियों के अनवरत संघर्ष के फलस्वरूप विकास की इस कड़ी में 'जीवाणु' जुड़ सका। इस जीवाणु का प्राकट्य, मात्र संयोग ही क्यों न रहा हो, पौधे के रूप के सामने आया। किन्तु इन पाषाणखण्डों और पौधों के बीच में कुछ ऐसे तत्व भी रहे जो अनवरत रूप से परिवर्तित होते रहे और आज भी ऐसे तत्व विद्यमान हैं जो निश्चित रूप से न तो पाषाणों की श्रेणी में आते हैं, न ही पौधों की श्रेणी में। फिर भी उनका अस्तित्व है और वे प्रकृति के विकास की गाथा गाते रहते हैं।

वनस्पति विज्ञान के जानने वाले इस तथ्य से भलीभाँति अवगत हैं कि वनस्पतियों में भी जीवाणु होते हैं। इन्हें भी जीवित रहने, बढ़ने तथा समृद्ध होने के लिए सूर्य की रोशनी आवश्यक है। सूर्य ऊर्जा का सतत साधन है। वनस्पतियों के लिए ऊर्जा की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी कि मानव जाति को। यदि हम किसी पौधे को ऐसे स्थान पर लगा दें, जहाँ सूर्य का प्रकाश न पहुँच पाता हो, तो देखा जायगा कि वह पौधा बराबर ऊपर की ओर बढ़ने का प्रयास करेगा—ऊपर और ऊपर, इस प्रयास में कि उसे सूर्य की किरणें मिल सकें। इस प्रयत्न में विफल होने पर वह पौधा सूख जायेगा।

यदि हम किसी सघन जंगल का निरीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि सभी वृक्ष सीधे ऊपर की ओर बढ़ रहे हैं। इन वृक्षों में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए होड़ सी लग जाती है, क्योंकि ऊर्जा की प्राप्ति के लिए उन्हें सूर्य-रश्मियों को पकड़ना आवश्यक है। जो वृक्ष इस प्रयास में पिछड़ जाता है उसकी बाढ़ अवरुद्ध हो जाती है और वह बौना रह जाता है। यही नहीं, यदि हम किसी गमले में एक फूल का पौधा लगा कर उसे ऐसे स्थान पर रख दें जो दीवालों से घिरा हो, तो हम देखेंगे कि वह फूल का पौदा ऊपर की ओर फैलने लगेगा—केवल सूर्य से ऊर्जा पाने के प्रयास में।

वनस्पतियों में जीवन, स्पन्दन और स्फुरण का वर्णन करने के बाद हम पाठकों के समक्ष एक भौतिक विज्ञान-वेत्ता श्री कैप्रा के एक शाम के अनुभवों को प्रस्तुत कर रहे हैं। श्री कैप्रा ग्रीष्मकाल की सान्ध्य वेला में समुद्रतट पर बैठे-बैठे लहरों की सूक्ष्म तरंगों का निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने पाया कि उनकी श्वास-उच्छ्वास की प्रक्रिया लहरों की अठखेलियों से तारतम्य स्थापित कर रही है और क्रमशः उन्हें ऐसी अनुभूति होने लगी, मानो उनकी श्वास-उच्छ्वास लहरों के नैसर्गिक नृत्य के साथ ताल मिला कर एक अलौकिक एवं अनुपम नृत्य के प्रस्तुतीकरण में रम गयी हो। कितना लुभावना रहा होगा वह नृत्य।

भौतिक विज्ञान के सच्चे अध्येता होने के नाते श्रीकैप्रा यह भलीभाँति जानते थे कि सिकताकण, चट्टानें, पानी और हवा सभी चंचल और गतिशील अणु और परमाणु के ही पुंज हैं। इन सभी के कण एक दूसरे के साथ सतत संघर्षशील रहते हैं और एक दूसरे के साथ रासायनिक प्रक्रिया के माध्यम से नये कणों का सृजन करते हैं। साथ ही एक दूसरे को नष्ट भी करते हैं। वे यह भी जानते थे कि भौतिकी वातावरण में जब 'कास्मिक किरणें' प्रवेश करती हैं तो अतिशक्तिशाली एवं अपरिमित ऊर्जा के कण अनेकानेक बार संघर्ष करते हुए लगातार अविच्छिन्न गति से इस वातावरण को प्रभावित एवं परिवर्तित करते रहते हैं। सारा वातावरण इन कणों की बौछार से गुंजरित होता रहता है।

ऊर्जा सम्बन्धी अपने अनुसन्धानों और प्रयोगों से श्री कैप्रा इन अणु, परमाणुओं, कणों और उनके सतत संचरण से अभिज्ञ अवश्य थे, पर केवल गणित के सिद्धान्तों, मान-चित्रों और ग्राफों के माध्यम से। प्रकृति के इन लुभावने स्वरों से साक्षात्कार का तो पहला अवसर उन्हें गर्मी की उस शाम को मिला जब उन्होंने समुद्रतट पर बैठे अपनी श्वास और उच्छ्वास को लहरों की थिरकन के साथ ताल में ताल मिला कर नाचते पाया। कितना सुखद, कितना आश्चर्यजनक रहा होगा श्री कैप्रा का वह अविस्मरणीय और अलौकिक अनुभव। उन्होंने अनुभव किया कि ऊर्जा के पुंज अविराम गति से उन पर प्रहार कर रहे हैं और कणों का शाश्वत संघर्ष संरचना और संहार की प्रक्रिया दुहराते हुए उनके भौतिक शरीर के कणों और अणुओं को उद्वेलित कर रहा है। कितनी प्रांजल और प्रभावशाली रही होगी श्री कैप्रा की अनुभूति, जब उन्होंने अपने स्थूल शरीर के कणों को ऊर्जा के कणों के साथ नृत्य करते देखा होगा और उनके स्वर संगीत से झंकृत हो उठे होंगे। तभी तो वे बोल उठे, 'ओह' यह तो शिवतांडव है, शाश्वत शिवतांडव—केवल हिन्दू धर्मावलम्बी ही इस नृत्य की अनुभूति कर सके हैं।"

भूगर्भीय अथवा भूतल पर पाये जानेवाली धातुओं को ही देखें। क्या उनके गठन और आकार-प्रकार नहीं कहते कि उनमें भी जीवन-शक्ति है और उनकी संरचना भी सुनियोजित ढंग से हुई है। किसी धातु के रवे का निरीक्षण करने से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य जीवधारियों को ही भाँति उनकी रचना के पीछे भी जीवन-शक्ति की प्रेरणा है। इन एक ही प्रकार के रवों का पाया जाना यह प्रमाणित करता है कि इनका सृजन मात्र संयोगवश न हो कर जीवाणुओं की सूक्ष्म प्रक्रिया का प्रतिफल है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तथाकथित निर्जीव पदार्थों और छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़ों से लेकर विशालकाय जानवरों और गगनचुम्बी वृक्षों तथा मानव जाति, सभी के सृजन और उद्भव एक स्रोत महा ऊर्जा और महिमामण्डित 'कास्मिक' किरणों की ही देन है। (क्रमशः)

राष्ट्रीय एकता के उद्बोधक दक्षिण भारत के मन्दिर

डा० श्यामबहादुर वर्मा

अपने देव-मन्दिरों को हिन्दूसमाज ने पूजा-गृह ही नहीं बनाया, अपितु उन्हें सामाजिक सम्मिलन का स्थान भी बनाया और चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला का सजीव कोष भी बनाया, उन्हें साधु-संतों तथा पर्यटकों का आश्रय-स्थल तथा संगीतकला, नृत्यकला, नाट्यकला की पोषक रंगस्थली के रूप में भी देखा, माना और विकसित किया। अपने समाज की सांस्कृतिक धड़कनों का मन्दिरों में ऐतिहासिक अंकन हुआ। उनमें वैदिक, तांत्रिक, पौराणिक, रामायणीय, महाभारतीय इत्यादि साहित्यिक स्वरों की गूंज आज भी सहज सुनी जा सकती है। उत्तर भारत के मन्दिरों को बर्बर विदेशियों ने बार-बार ध्वस्त किया तो इन सांस्कृतिक केन्द्रों का रूप स्वाभाविक ही काफी बदल गया। दक्षिण भारत में विदेशी झंझा वातों का प्रभाव नगण्य रहा अतः वहाँ के मंदिर सहस्रों वर्ष प्राचीन परम्पराओं से आज भी समृद्ध हैं।

मन्दिरों का प्रदेश

आंध्र, कर्णाटक और केरल में सहस्रों देवमन्दिर हैं और उनमें से अनेक तो बहुत प्राचीन हैं। तिरुपति का प्रसिद्ध विष्णु मन्दिर, भद्रायलम् का राममन्दिर; श्रीशैलम् के भ्रमराम्बा देवी तथा मल्लिकार्जुन स्वामी शिवमन्दिर, विजयवाड़ा के श्री कनक दुर्गा तथा मल्लेश्वर स्वामी के मन्दिर, श्रीकाकुलम् का सूर्यनारायण स्वामी मन्दिर इत्यादि आंध्र के गौरव हैं। कर्णाटक में श्री रंगपट्टण के श्रीरंगनाथ स्वामी मन्दिर, मंगलौर का श्रीमंगला देवी मन्दिर, बंगलौर दुर्ग का श्री प्रसन्नवेंकट स्वामी (विष्णु) मन्दिर, दक्षिण कर्णाटक का श्री धर्मस्थल अर्थात् मंजुनाथ (शिव) मन्दिर इत्यादि भक्तों के हृदयहार हैं। केरल में त्रिवेन्द्रम (शुद्ध नाम 'तिरू अनन्तपुरम्) का पद्मनाभ (विष्णु) मन्दिर, शबरीमलय का आयप्पा मन्दिर, गुरुवायूर का कृष्णमन्दिर, त्रिचूर का वटुकनाथ (शिव) मन्दिर इत्यादि पर केरल को गर्व है। इन तीनों प्रदेशों में बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर आदि सम्प्रदायों की अत्यन्त प्राचीन परम्पराओं के अनेक मन्दिर तथा तीर्थस्थल हैं, जिनका महत्व अपरिमित है।

फिर भी, यदि हम इन तीनों के अतिरिक्त केवल तमिलनाडु के मन्दिरों पर ही दृष्टि डालें, तो भी हमें दक्षिण भारत के मन्दिरों की असाधारणता सरलता से समझ में आ जाएगी। तमिलनाडु को "मन्दिरों का प्रदेश" कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि यहाँ ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में प्राचीन मन्दिरों की धूमधाम है।

दक्षिणी मन्दिरों की कला का विकास

दक्षिणात्य वास्तुकला प्रायः तंत्रग्रंथों (आगम ग्रंथों) की अनुगामिनी रही है और प्रायः राज्याश्रित भी। मन्दिरों में आराध्य देव का प्रतिष्ठा स्थान "गर्भगृह", उसके ऊपर निर्मित "विमान", उसका उच्चतम भाग "शिखर", गर्भगृह के सामने अर्धमण्डप, महामण्डप आदि, परिक्रमा के लिए बने अनेक प्रकार, प्रवेश के लिए बने उत्तुंगद्वार "गोपुरम्" आदि में से प्रत्येक की वास्तुकला की दृष्टि से अपनी विशेषताएँ हैं। पल्लव राजवंश (६००-९०० ई०), चोल राजवंश (९००-११५० ई०), पाण्ड्य राजवंश (११००-१३५० ई०), विजयनगर-सम्राट (१३५०-१५६५ ई०) तथा मदुरा का नायक राजवंश (सत्रहवीं शताब्दी) ने दक्षिण भारत और विशेषतः तमिलनाडु की कला में महत्वपूर्ण योगदान किया। 'कांची' को राजधानी बनाने वाले पल्लवों से पहले जो मन्दिर बनते थे वे लकड़ी आदि के बने होने के कारण शीघ्र नष्ट हो जाते थे। अतः जब पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम (लगभग ५८०-६३० ई०) ने अपने "विचित्रचित्त" विशेषण के अनुरूप ही त्रिचिरापल्ली आदि में विशाल चट्टान (एक ही) को काटकर मंदिर इत्यादि बनाने की पद्धति को प्रारम्भ किया, तो एक शिलालेख में इस युग-प्रवर्तन को अंकित भी करा दिया।

तमिल कला का स्वप्नलोक

उत्तर भारत के सम्राट हर्षवर्धन से सफलतापूर्वक टकराने वाले सम्राट पुलकेशी द्वितीय ने महेन्द्रवर्मन् को पराजित किया तो पिता की हार का बदला लेने वाले अगले पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन ने पुलकेशी को हराकर, मारकर तथा राजधानी वातापी (वर्तमान बादामी) को हस्तगत करके राजनीतिक कीर्ति को प्राप्त किया। दक्षिण भारत की मन्दिर-कला को इन्हीं प्रतापी, "राजसिंह" उपनामधारी सम्राट ने एक नवीन शैली प्रदान की जो "राजसिंह शैली" कही गयी। मद्रास से लगभग ६० किलोमीटर की दूरी पर पर स्थित "महाबलिपुरम्" (तमिलनाम मामल्लपुरम्) में, जो उस समय एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह था, नरसिंहवर्मन् ने एक ही पत्थर से बने "रथ" नामक दर्शनीय मन्दिरों (धर्मराज रथ, भीमरथ इत्यादि) तथा समुद्रतट पर भव्य जलशयनेश्वर मन्दिर (जिसमें शिव व विष्णु दोनों प्रतिष्ठित हैं) का निर्माण कराके "तमिल कला का स्वप्नलोक" ही बना दिया। राजधानी कांचीपुरम् में उन्हीं नरेश ने "कैलाशनाथ मन्दिर" बनवाया था। भारत की प्राचीन सात पवित्र पुरियों में अयोध्या, मथुरा और द्वारिका विष्णु की हैं तथा माया (हरद्वार), काशी व अवंतिका (उज्जैन) शिव की। कांची का आधा भाग विष्णुकांची है और आधा शिवकांची। यहाँ का कैलाशनाथ मन्दिर (शिव) तथा वैकुंठ पेरुमल मन्दिर (विष्णु) पल्लव-नरेशों की प्रिय कला के उत्तम उदाहरण हैं।

गोपुर तथा अलंकरण

चोलकालीन शिल्प नटराज शिव के चिदम्बरम्-मन्दिर में दर्शनीय हैं। त्रिचिरापल्ली और कुलुगुमलय के मन्दिर भी इसी काल की निर्मिति हैं। प्राचीनतम मन्दिरों में एक वृक्ष (पीपल आदि) देवमंदिर में प्रारम्भ से ही रहता था जिसे "स्थलवृक्ष" कहते हैं और मन्दिरों की रचना में विस्तार नहीं था परन्तु चोलकाल में प्रांगण, आसपास अधिक कमरे और बरामदे, मन्दिर के ऊपर ऊंचा शिखर, भव्य प्रवेश द्वार आदि बनाए जाने लगे। तंजौर का बृहदेश्वर मन्दिर इत्यादि इसी काल की देन है। पांड्यकाल में ऊँचे-ऊँचे गोपुरों की परम्परा प्रारम्भ हुई। मीनाक्षी का मन्दिर हो या पार्थ सारथी का या कपालीश्वर का या जम्बुकेश्वर का, सर्वत्र गोपुर अपनी उत्तुंगता, कलात्मकता तथा अनेकानेक शैलियों के कारण हमारा इतना अधिक ध्यान खींचते हैं कि मानो मुख्य मन्दिर उनके सामने कुछ हल्का लगने लगता है। विजयनगर के शासकों के काल में मंदिरों में कलात्मकता, अलंकृत चित्रण तथा रसास्वाद की भावना बलवती हुई जो कुम्भकोणम्, कांची, विरंचिपुरम्, श्रीरंगम् के अनेक मन्दिरों में द्रष्टव्य है। बाद के नायक राजा तिरुमलाई (१६२३-१६५९) आदि के कारण मन्दिरों में तड़ागों (जिन्हें तीर्थ कहते हैं) तथा मण्डपों (योगमंडपम्, उत्सवमंडपम्, दर्शनमंडपम् आदि) की वृद्धि हुई।

हिन्दू संस्कृति के दोष

दक्षिण भारत के मन्दिरों की विशालता उनकी व्यापक सामाजिक उपयोगिता के अनुरूप ही है। उनमें स्थान-स्थान पर अंकित चित्र, भव्य विशाल गलियारे, अंकित काव्य तथा अभिलेख, आयोजित विविध संगीत-नृत्य आदि के कार्यक्रम, उनके बहुस्तंभीय (सहस्रस्तंभीय तक) मंडप तथा मन्दिरों के अपने उत्सव तथा विशाल रथों पर मूर्तियाँ रखकर निकाली जाने वाली शोभा-यात्राएँ इत्यादि अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। स्थान-स्थान पर प्रासादों की विविधता, अर्चना-पद्धतियों का अन्तर, मन्दिर-प्रवेश में वस्त्रों के सम्बन्ध में नियम इत्यादि अपना वैशिष्ट्य रखते हैं। संस्कृति के गंभीर अध्ययन के लिए ये मन्दिर अक्षयकोष सदृश हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि मन्दिरों की ओर से विविध भाषाओं में प्रकाशित ऐसे अधिकृत परन्तु सस्ते साहित्य का प्रकाशन किया जा सके जिसमें मन्दिरविशेष का इतिहास धार्मिक, स्वरूप, कलात्मक परिचय इत्यादि दिया हुआ हो तो बाहर का दर्शनार्थी सांस्कृतिक ज्ञान से समृद्ध होकर अधिक लाभान्वित अनुभव करेगा। राष्ट्रीय एकता की महान् कड़ी, सनातन धर्म के महान सन्देशवाहक इन मन्दिरों का गंभीर अध्ययन तथा मूल्यांकन अभी आधुनिक भारत नहीं कर पाया है, यह अवश्य कहा जा सकता है। (युगवार्ता)

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

जनवरी, १९८४

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, दाल, साग आदि १५००) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के व्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

स्थायी भण्डारा

श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता कच्चा ३-१-८४

श्री रामसहाय बैजनाथ, रांची कच्चा ४-१-८४

श्रीमती लता देवी अग्रवाल, चौकाघाट, वाराणसी पक्का ९-१-८४

श्रीमती कमला देवी गुप्ता, कलकत्ता कच्चा ११-१-८४

श्रीमती रामाबाई, काशी मुमुक्षु भवन सभा वाराणसी कच्चा १३-१-८४

श्री डी० कृष्ण प्रसाद, श्रीनिलयम्, विजयवाड़ा कच्चा १५-१-८४

श्रीमती रामा देवी छेरिया, कलकत्ता कच्चा ३०-१-८४

श्रीमती माली देवी हरभजनका, हावड़ा कच्चा ३१-१-८४

अस्थायी भण्डारा

स्व० स्वामी राजराजेश्वरानन्द तीर्थ की आराधना कच्चा १०-१-८४

श्रीमती लक्ष्मी देवी राज लक्ष्मी, दिल्ली द्वारा स्वामी गंगानन्द तीर्थ, काशी मुमुक्षु भवन, वाराणसी पक्का (फलाहार) १४-१-८४

,, ,, ,, कच्चा १५-१-८४

श्री वासुदेव मिश्र, बलिया पक्का १६-१-८४

भण्डारा स्थायी कोष

श्री विजय कुमार मालपानी एवं कुसुम मालपानी राजगढ़, राजस्थान १२५०)

श्रीमती किशनी देवी मारू द्वारा नेशनल स्टोर्स, वाराणसी १२५०)

श्री कमलाप्रसाद महाबीर प्रसाद बूबना, मधुबनी, बिहार ३०००)

'मुमुक्षु' आजीवन सदस्यता

श्री सत्यनारायण पोद्दार, कालबा देवी बम्बई-२ २५१)

श्री रानी सती मन्दिर, सीकर, राजस्थान २५१)

अन्न क्षेत्र

श्री सत्यनारायण रूँगटा, कलकत्ता (मासिक) जनवरी '८४ ३००)

श्री राधाकिशन गोयनका, चम्पारण २५१)

श्री महाबीर प्रसाद बूबना, मधुबनी, बिहार (वार्षिक) १०१)

श्रीमती चन्द्रलेखा कटारुका, मधुपुर, बिहार (वार्षिक) १०१)

श्रीमती विमला देवी, शाहाबाद, आरा (वार्षिक) १०१)

श्री महाबीर प्रसाद सिंहानिया, सीतामढ़ी ५००)

उत्तरकाशी अन्नक्षेत्र

श्री किशन दयाल रामेश्वर चैरिटी ट्रस्ट कलकत्ता मार्च ८३-नवम्बर '८३ ११२१)९५

श्री कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता, दिसम्बर '८३ १२५)००

उत्तर काशी (माधवेश्वर महादेव रुद्राभिषेक-पूजन)

श्री किशनदयाल रामेश्वर चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता मार्च ८३-नवम्बर '८३ १४०९)९०

विद्यालय (विद्यार्थी परीक्षा शुल्क सहायता)

श्री राजकुमार शाह चैरिटी ट्रस्ट, वाराणसी १००१)००

होम्योपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
३१५	१५८६	१९०१

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
१२५	५७२	६९७

Regd. No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82 फरवरी १९८४ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यता प्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२०१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा-कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद-वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी हैं। हर फ्लैट में तीन कमरे, रसोई, स्नान-घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन विताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

•

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

मुमुक्षु

मार्च १९८४

आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ३ : अंक ६
फाल्गुन सं० २०४०
मार्च १९८४

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दोसौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

'नीम' की अन्तर्वेदना (अन्तर्व्यथा)
वासन्ती १

प्रकृति के स्वर
अनाम ४

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का क्रम
म० म० गोपीनाथ कविराज ६

विदुर-नीति
श्री हरीन्द्र दवे ८

रामकृष्ण परमहंस के अन्यतम शिष्य स्वामी अखण्डानंद
ब्रह्मचारी अनिरुद्ध चैतन्य १३

योग-प्रतियोगिता
रामेश्वरदास गुप्त १५

हिन्दुत्व : मानव एकता का महामन्त्र
कुँवर आनन्द सुमन १७

धर्म और भौतिकवाद
स्वामी विवेकानन्द १९

ऊँचा आसन २२

काशी मुमुक्षु भवन सभा का विवरण २३

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार (कवर पृष्ठ ३)

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों की फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी हैं। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज कर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी
वाराणसी—५

मुमुक्षु

वर्ष : ३] मार्च १९८४ [अंक : ६

'नीम' की अन्तर्वेदना (अन्तर्व्यथा)

वासन्ती

उत्तर पाषाणकाल को बात है। वर्त्तमान उत्तरप्रदेश और बिहार की सीमा पर वाराणसी से लगभग सत्तर किलोमीटर दूर बसन्तपुर नाम का एक छोटा सा गाँव था। गाँव के उत्तरी छोर पर नीम का एक वृक्ष था। वृक्ष बहुत उदास रहता था। कोई उसकी प्रशंसा नहीं करता था। उसे लोग 'कड़वाहट' का प्रतीक मानते थे। बच्चे, बन्दर, गिलहरियाँ अथवा पक्षी कोई भी उसका फल खाना नहीं चाहता था। इस वृक्ष के समीप ही एक जामुन का पेड़ था। उसे अपने फल के रंग और स्वाद पर गर्व था। जिन दिनों जामुन में फल लग जाते थे उन दिनों बालकों, बन्दरों और पक्षियों का झुण्ड बराबर वहाँ मँडराया करता था। नीम के दाहिने पार्श्व में खड़े अमरूद के वृक्ष का तो पूछना ही क्या। वह तो अपनी मस्ती में झूमता ही रहता था। जब इसमें भी फल लगते थे तो लोग अनायास ही इसकी ओर आकर्षित हो जाते थे। अमरूद तो कच्चा खाने में भी स्वादिष्ट होता है। नीम के ठीक पीछे एक शरीफे का वृक्ष था। फलदार होने पर वह फूला नहीं समाता था। इसके फल हरे-हरे अतीव सुन्दर और आकर्षक होते थे।

नीम का वृक्ष उन सभी की ओर कातर दृष्टि से देखता था और एक लम्बी आह भरी उसांस लेकर मन ही मन मानों कह उठता था, "खजूर का वृक्ष भी अपनी सरसराहट भरी आवाज से सुखी होता है। ताड़ का वृक्ष भी अपनी पंखे जैसी बड़ी-बड़ी पत्तियों को हिला-हिलाकर आनन्द का अनुभव करता है। इनके फलों को भी लोग चाव से खाते हैं। मैंने सृष्टिकर्ता का क्या बिगाड़ा था कि उसने मेरे फल में कड़ुआहट भर दी! अवश्य मैं पापी हूँ।"

ग्रीष्म ऋतु का साम्राज्य था। लू के गर्म-गर्म झकोरों से चारों ओर सन्नाटा था। ग्रामवासी अपनी-अपनी झोपड़ियों के भीतर पड़े हुए थे। नीम का वृक्ष शान्त किन्तु उदास खड़ा भाग्य की विडम्बना पर रो रहा था। उसकी पत्तियाँ गर्म हवा से बिखर रही थीं। उसी समय एक काला कौवा वृक्ष की टहनियों और पत्तियों के बीच आकर बैठ गया। उसे कुछ आराम मिला। वह उसी झुरमुट में बैठा ठंडक और नीम की मधुर-मधुर सुगन्ध लेता रहा। उसे नीम की गंध स्वास्थ्यप्रद जान पड़ती थी। गर्मी के दिनों में वह प्रायः वहाँ आकर बैठ जाता था। नीम का वृक्ष कौवे के साथ घनिष्ठता का अनुभव करने लगा। एक दिन उसने कौवे से कहा, "मित्र! मैं बहुत ही दुखी रहता हूँ। सभी लोग मुझे कड़वा कहकर मेरा तिरस्कार करते हैं केवल तुम्हीं यदाकदा मेरे पास आ जाते हो। मैं तो अनावश्यक और व्यर्थ का यहाँ खड़ा हूँ।"

"भाई नीम, ऐसा मत कहो। थोड़ा शान्तिपूर्वक विचार करो। हम सभी को सर्वात्मा ने ही बनाया है और सृष्टि के विधान से हम सबका महत्व है। मुझे तो तुम्हारे कड़वे फलों से बड़ा लगाव है। गर्मी के दिनों में तुम्हारी छाया में स्वास्थ्य-प्रद शीतलता का अनुभव करता हूँ। तुम्हारी गन्ध ओषधि-पूर्ण है और इसमें सांस लेना आनन्ददायक है।" ऐसा कहकर कौआ उड़ गया लेकिन जाते-जाते दूसरे दिन फिर आने का वादा कर गया।

वह रात नीम के वृक्ष के लिए स्वर्णिम रात थी। वह आनन्दातिरेक में मस्त था। उसने स्वप्न देखा—वह एक अभिनव संसार में खड़ा है, चारों ओर हल्की नीली रोशनी छिटकी हुई है। एक अनुराग भरी जलधारा प्रवाहित हो रही है। मार्ग में पड़े पत्थर के टुकड़ों पर उछलती हुई जलधारा कलकल मधुर शब्द कर रही है और उसकी पत्तियाँ रजत धवल रंगों में चमचमा रही हैं। शीतल मन्द सुगन्ध बयार में पत्तियाँ झूम रही हैं। उसकी टहनियों पर बैठकर छोटी-छोटी चिड़ियाँ चहचहा रही हैं। उसके फलों में अब कड़ुवाहट नहीं है। वे मीठे और स्वास्थ्यप्रद हैं। एक प्यारा नन्हा-मुन्ना उसकी छाया में फुदक रहा है। उससे पैर के घुंघरु मीठे-मीठे स्वर निकाल रहे हैं। चारों ओर सुख और शान्ति का साम्राज्य है।

प्रातः होने पर उसका स्वप्न टूट गया। उसने अनुभव किया कि वह अब भी वही कड़वे फलवाला वृक्ष है। उसने एक लम्बी गहरी साँस खींची। उसी समय एक बुढ्ढा साधु वहाँ आया। भीषण आतप से तप्त क्लान्त साधु उसकी शीतल छाया में विश्राम करना चाहता था। वृक्ष अपने को सँभाल न पाया। वह उस साधु के सम्मुख अपना हृदय खोलकर रख देने को आतुर था। उसने कहा, "हे पवित्र आत्मा साधु! मैं कितना दुखी और असहाय हूँ, केवल इसलिए कि मैं कड़वा हूँ। क्या आप मुझे अपनी शरण में ले लेंगे। आपके आशीर्वाद से मेरी कड़ुवाहट, मिठास में बदल सकती है? क्या आप मेरी प्रार्थना सुनेंगे?" नीम के आर्तनाद से साधु का हृदय द्रवित हो उठा। उसने सहानुभूतिपूर्ण नेत्रों से वृक्ष की ओर देखकर कहा, जगन्नियन्ता ने जो कुछ भी बनाया है, उसमें परिवर्तन करना मेरी सामर्थ्य से परे है। फिर भी प्रयत्न करूँगा कि मैं तुम्हें प्रसन्नता का अनुभव करा सकूँ। थोड़े दिन प्रतीक्षा करो। जब मैं पुनः यहाँ आऊँगा, तो तुम्हारे लिए कुछ न कुछ अवश्य करूँगा।

वह कौवा पुनः नीम के वृक्ष पर आकर बैठ गया। नीम ने पिछली रात की अपने सुखद स्वप्न की पूरी कहानी कौवे को सुना दी'। नीम ने यह भी बताया कि एक सहृदय साधु यहाँ आये थे और उससे वादा कर गये हैं कि कुछ दिनों के बाद वे फिर यहाँ आयेंगे और उसकी प्रसन्नता के लिए कुछ न कुछ अवश्य करेंगे। अपने मित्र नीम की बातें सुनकर कौवा बड़ा प्रसन्न हुआ। अब वे दानों साधु के लौटने की प्रतीक्षा करने लगे।

एक दिन वह साधु समीप के गाँव के कुछ आदमियों के साथ वहाँ आया। वे लोग नीम की छाया में एक धर्मशाला का निर्माण करने लगे। नींव खोदी गयी और निर्माण-कार्य प्रारम्भ हुआ। नीम का वृक्ष और वह कौवा दोनों ही बड़ी उत्सुकतापूर्वक इसे देखते रहे। वे आपस में कहने लगे, 'चलो, कुछ तो हो ही रहा है।' शीघ्र ही धर्मशाला का निर्माण-कार्य पूरा हो गया। सारे भवन की सफेदी की गयी और लाल रंग की धारियों से उसे अलंकृत किया गया। धर्मशाला के मुख्य द्वार पर जो मन्दिर के आकार का था, गणेश की एक भव्य प्रस्तर प्रतिमा मन्त्रोच्चार के साथ स्थापित की गयी। सारे ग्रामवासी वहाँ एकत्र थे। वैदिक विद्वानों द्वारा मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। बूढ़े साधु ने धर्म के नाम पर उस धर्मशाला और मन्दिर को आम जनता की सम्पत्ति घोषित किया।

आज एक विशाल जनसमूह को अपनी छाया में एकत्र देखकर नीम का वृक्ष फूला नहीं समा रहा था। एक सुन्दर सा मेला लग गया। गणेश का अभिषेक प्रारम्भ हुआ। एक साथ तुरही और नगाड़े बज उठे। गणेश की मूर्ति पर फल, फूल, माला, अक्षत चढ़ाये गये। धूप, दीप, नैवेद्य से सारा वातावरण सराबोर हो गया। नीम के वृक्ष ने भी आहुती चढ़ायी। उसके छोटे-छोटे फल अपनी मधुर प्राणदायी सुगन्ध से लोगों को तृप्त कर रहे थे, जो कि उन्हें अब नीम से ईर्ष्या होने लगी थी।

नीम की आँखें एकटक गणेश जी के मन्दिर पर लगी थीं। जब यह सारा कार्य सम्पन्न हो गया और ग्रामवासी अपने-अपने घरों को लौट गये, तब वह साधु नीम को साधुवाद देता हुआ बोला, 'वत्स, तुम सदा अपनी भीनी-भीनी गन्ध वाली पत्तियों से गणेश जी की अर्चना करते रहना।'

नीम का वृक्ष साधु के चरणों में नतमस्तक हो गया। वह बहुत प्रसन्न था। अपना आभार प्रकट करते हुए उसने

कहा, हे दयालु साधु, आपने तो मेरे प्रांगण में स्वर्ग ला दिया। एक दिन मैंने स्वप्न देखा था कि मैं स्वर्ग में हूँ, और अब मुझे लोग कड़वा नहीं कहते। मैंने एक बालक को अपनी छाया में थिरकते देखा था। आज वह स्वप्न साकार है। बालरूप भगवान यहाँ सदा विराजमान रहेंगे। मुझे यह अनुभव हो रहा है कि यदि हृदय में कड़ुवाहट नहीं है, तो निश्चय ही ऐसे हृदय में परमात्मा निवास करता है जो करुणासागर है और सभी की वेदना समझता है।

गाँव के कुछ भक्तों को गणेश-पूजा की विधि बताकर साधु वहाँ से चला गया। अब पूजा-अर्चना के समय जब धूप-दीप की सुमधुर गन्ध ऊपर उठकर नीम की टहनियों और पत्तियों को सुवासित करती है, तो नीम आनन्दातिरेक से झूम उठता है। प्रतिदिन प्रातःकाल मन्दिर में घटियों की आवाज गूँजती है। नीम का वृक्ष नित्य प्रातःकाल झुककर सर्वात्मा को धन्यवाद देता है। वह कहता है, 'मैं स्वर्ग में हूँ और हमेशा रहूँगा, क्योंकि मेरी छाया में स्वयं भगवान गणेश ने अपना वासस्थान बनाया है।'

●

संत परिचय

एक ब्राह्मण और एक सन्यासी सांसारिक और धार्मिक विषयों पर बातचीत करने लगे। सन्यासी ने ब्राह्मण से कहा, "बच्चा! इस संसार में कोई किसी का नहीं है।" ब्राह्मण इसको कैसे मान सकता था। वह तो यही समझता था कि "अरे मैं तो दिन-रात अपने कुटुम्ब के लोगों के लिए मर रहा हूँ। क्या ये मेरी सहायता समय पर न करेंगे? ऐसा कभी नहीं हो सकता।" उसने सन्यासी से कहा, "महाराज! जब मेरे सिर में थोड़ी सी पीड़ा होती है तो मेरी माँ को बड़ा दुख होता है और दिन-रात वह चिन्ता करती है, क्योंकि वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करती है। प्रायः वह कहा करती है कि भैया के सिर की पीड़ा को अच्छा करने के लिए मैं अपने प्राण तक देने को तैयार हूँ। ऐसी माँ समय पड़ने पर मेरी सहायता न करे, यह कभी नहीं हो सकता।" सन्यासी ने जवाब दिया, "यदि ऐसी बात है तो तुम्हें वास्तव में अपनी माँ पर भरोसा करना चाहिए, लेकिन मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि तुम बड़ी भूल कर रहे हो। इस बात का कभी भी विश्वास न करो कि तुम्हारी स्त्री या तुम्हारे लड़के तुम्हारे लिए प्राणों का बलिदान कर देंगे। तुम चाहो तो परीक्षा कर सकते हो। घर जा कर पेट की पीड़ा का बहाना करो और जोर-जोर से चिल्लाओ। मैं आकर तुमको एक तमाशा दिखाऊँगा।' ब्राह्मण के मन में परीक्षा लेने की लालसा हुई, उसने पेट-दर्द का बहाना किया। डाक्टर, वैद्य, हकीम सब बुलाये गये लेकिन दर्द नहीं मिटा। बीमार की माँ, स्त्री और लड़के सभी बहुत ही दुखी थे। इतने में सन्यासी महाराज भी पहुँच गये। उन्होंने कहा—"बीमारी तो बड़ी गहरी है, जब तक कोई बीमार के लिए अपनी जान न दे तब तक वह अच्छा नहीं होने का।"

इस पर सब भौचक्के हो गये। सन्यासी ने माँ से कहा, "बूढ़ी माता! तुम्हारे लिए जीवित रहना और मरना दोनों एक समान है, इसलिए यदि तुम अपने कमाऊ पूत के लिए अपने प्राण दे दो तो मैं इसे अच्छा कर दूँगा। और तुम माँ होकर भी अपने प्राण नहीं दे सकती तो फिर अपने प्राण दूसरा कौन देगा।"

बुढ़िया स्त्री रोकर कहने लगी—'बाबा जी! आपका कहना तो सत्य है। मैं अपने प्यारे पुत्र के लिए प्राण देने को तैयार हूँ, लेकिन ख्याल यही है कि छोटे-छोटे बच्चे मुझसे बहुत लगे हैं, मेरे मरने का इनको बड़ा दुख होगा। अरे, मैं बड़ी अभागिनी हूँ कि अपने बच्चे के लिए अपने प्राण भी नहीं दे सकती।' इतने में स्त्री भी अपने सास-ससुर की ओर देखकर बोल उठी, "माँ! तुम लोगों की वृद्धावस्था देखकर मैं भी अपने प्राण नहीं दे सकती।" सन्यासी ने घूमकर स्त्री से कहा, "पुत्री! तुम्हारी माँ तो पीछे हट गयी, लेकिन तुम तो अपने प्यारे पति के लिए जान दे सकती हो।" उसने उत्तर दिया, "महाराज! मैं बड़ी अभागिनी हूँ, मेरे मरने से मेरे ये माँ-बाप मर जायेंगे, इसलिए मैं ये हत्या नहीं ले सकती।" इस प्रकार सब लोग प्राण न देने के लिए बहाना करने लगे। तब सन्यासी ने रोगी से कहा 'क्यों जी देखते हो न, कोई तुम्हारे लिए प्राण देने को तैयार नहीं है। 'कोई किसी का नहीं है।' मेरे इस कहने का मतलब अब तुम समझे कि नहीं।" ब्राह्मण ने जब यह हाल देखा तो वह भी कुटुम्ब को छोड़ कर सन्यासी के साथ वन को चल दिया।

प्रकृति के स्वर

— अनाम —

[गताङ्क से आगे]

श्री जगदीशचन्द्र बोस ने एक दिन अपनी लैबोरेटरी में बैठे-बैठे देखा कि रेडियो-तरंगों को पकड़ने वाला उनका धातुनिर्मित तार जब लगातार घंटों तक सक्रिय रहता है तो उसकी पकड़ कमजोर पड़ने लगती है, किन्तु जब उसे कुछ समय तक कार्य में नहीं लाया जाता, तो पुनः वह अपनी पूरी क्षमता के साथ कार्य करता है। तुरन्त श्रीबोस की समझ में आया कि जिस प्रकार मनुष्य लगातार कार्य करने से थक जाता है और आराम करने के बाद पुनः वह अपनी पूरी शक्ति से काम में लग जाता है, ठीक उसी प्रकार का व्यवहार धातुपिण्ड भी करते हैं। जैसे मनुष्य आराम करने के बाद अपने को पुनः तरोताज़ा पाता है, क्योंकि आराम के क्षणों में वह अपनी खोई हुई ऊर्जा को पुनः प्राप्त कर कार्यशील हो जाता है। ठीक उसी प्रकार तथाकथित निर्जीव धातु संयन्त्रों को भी आराम आवश्यक है। ये संयन्त्र भी थकावट का अनुभव करते हैं और आराम के क्षणों में अपनी खोई हुई ऊर्जा को पुनः प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जानवर, मनुष्य और धातु-पिण्ड सभी अणुओं, परमाणु के किसी संयोजन द्वारा अपना विशिष्ट रूप धारण करते हैं, जब कि वे उन सभी में अणु, परमाणु एक जैसे ही होते हैं—केवल अन्तर होता है उनके अनुपात और संयोजन के ढंग में। तभी तो कहा गया है, "छिति, जल, पावक, गगन, समीरा, पंच रचित यह अधम सरीरा।" अब विज्ञान भी इसी तथ्य का प्रतिपादन कर रहा है। यहीं पर जीव, निर्जीव, चर और अचर का भेद समाप्त हो जाता है। सन्तों की यह अनुभूति 'हम में तुम में खड्ग खम्भ में घट घट व्यापी राम।' कितनी सही और प्रामाणिक है।

श्री जगदीशचन्द्र बोस ने अपने अनुभवों की प्रामाणिकता को जाँच-निमित्त प्रयोगशाला में कई प्रयोग भी किये। उन्होंने लोहे के चुम्बकीय आक्साइड से कुछ वक्र रेखायें बनाने में सफलता प्राप्त की। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि इन वक्र रेखाओं को ग्रहणशीलता लगातार प्रयोग से कम होती जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे हमारी मांसपेशियाँ बराबर कार्य करने से थक जाती हैं। पर जैसे इन मांसपेशियों को थोड़ा दबाने और उष्ण पानी के सेंक से हम पुनः तरोताजा कर लेते हैं, उसी प्रकार इन वक्र रेखाओं को भी थोड़ी सी उष्मा से पुनः कार्यशील किया जा सकता है। यही नहीं, कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जो मनुष्यों की तरह मर भी जाते हैं। जैसे विष पान कर मनुष्य मर जाता है, उसी प्रकार पोटाश, विभिन्न बाहरी पदार्थों के सम्पर्क में अपना प्रभाव खोकर 'मृतक' जैसा रह जाता है।

ये कुछ ऐसे वैज्ञानिक तथ्य हैं जो हठात् हमें अपने वास्तविक अस्तित्व की अनुभूति कराते हैं, कवि गा उठता है, 'मिट्टी का तन, मस्ती का मन क्षण भर जीवन, मेरा परिचय।' इन वैज्ञानिक उपलब्धियों से जहाँ मनुष्य के अहं को ठेस लगती है, वहीं सुधी व्यक्ति अपनी वास्तविकता को जानकर नश्वर जीवन को अविनाशी के चरणों में लगा कर अपने को धन्य मानते हैं।

श्री जगदीशचन्द्र बोस के शब्दों में, 'मैं अपने द्वारा किये गये प्रयोगों और परीक्षणों का अध्ययन कर, इस निष्कर्ष पर पहुँच पाया हूँ कि प्रकाश की किरणों के भीतर चमकते कण से लेकर जगतीतल पर पाये जाने वाले चर-अचर सभी जीव तथा उष्मा का अक्षय स्रोत चमकता हुआ सूर्य—सभी के भीतर एक ही परम शक्ति अक्षुण्ण है। तभी मैं आज से तीस शताब्दी पूर्व गंगा तट पर अपने पूर्वजों के उस उद्घोष का कुछ अंश समझ पाया जिसमें उन्होंने कहा था, 'वे, जो विश्व के अनेकत्व में केवल एक का ही दर्शन करते हैं, मात्र वे ही उस परम सत्य के पारखी हैं, मात्र वे ही, और कोई नहीं,' क्योंकि 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।' सत्य का मुख ज्योतिर्मय (हिरण्मय) पात्र से ढँका है, वह सत्य जो सूर्य के अन्तर में निवास करता है,

जो अणु-परमाणुओं का संचालन और संयोजन करता है और उन्हें ऊर्जासम्पन्न बनाता है।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में वियना के एक वनस्पति-विज्ञान के छात्र ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध करने में सफलता प्राप्त कर ली कि पौधे भी मनुष्यों और जानवरों की भाँति अपने शरीर (अंग) को स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी मनचाही दिशा में मोड़ लेते हैं। अन्तर, केवल इतना ही होता है कि पौधों को मनचाही दिशा में अपने को मोड़ने में थोड़ा समय लगता है। यही कारण है कि जनसाधारण इस पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाता। तत्कालीन विचारक और वैज्ञानिक सहसा इस पर विश्वास नहीं कर सके, किन्तु शीघ्र ही वियना के इस वनस्पति-वैज्ञानिक ने प्रयोगों द्वारा उनके सन्देह का निराकरण कर दिया।

इस वैज्ञानिक ने दिखा दिया कि पौधों की जड़ें पृथ्वी के भीतर अपना प्रसार करने के लिए शीघ्र ही उपयुक्त दिशाओं की खोज कर लेती हैं। कलियाँ और टहनियाँ एक सुनिश्चित वृत्त में ही झुकती हैं। पत्तियाँ और फूल झुकते हैं और लहराते हैं और एक निश्चित दिशा की ओर झुकने का प्रयास करते हैं। पौधों की डालियाँ इस खोज के साथ झुकती हैं कि कहाँ और किधर उनका प्रसार अबाध गति से सम्भव है।

मनुष्य इन पौधों को बेजान और भावशून्य मान लेता है, क्योंकि वह इनकी गतिविधियों का निरीक्षण और अध्ययन करने के लिए पर्याप्त समय नहीं निकाल पाता। ऊपर चढ़ने वाले पौधे (लतायें) घूमते-फिरते किसी न किसी सम्बल की तलाश करते रहते हैं, जिसके सहारे वे अपना प्रसार कर सकें। यदि किसी लता के एक सहारे को हटा दिया जाय, तो वह थोड़े ही समय में मुड़ कर किसी अन्य सहारे को ढूँढ लेगी। क्यों पौधे या लतायें अपने सहारे को देखती हैं या घ्राण शक्ति अथवा किन्हीं और तरीकों से (जिनकी जानकारी मनुष्य को नहीं है) वे अपने सहारे तक पहुँचने में सफल होती हैं? ऐसा भी पाया गया है कि जब इन लताओं को ऐसे स्थल पर उगाया जाता है जहाँ प्रत्यक्ष रूप से कोई सहारा नहीं होता तो वे उस स्थल से उदासीन होकर किसी प्रच्छन्न सहारे की खोज करती हैं।

कुछ पौधे मक्खियों और मच्छरों का शिकार करते पाये गये हैं। ये पौधे बड़ी सावधानी से ठीक उसी दिशा में हमला करते हैं जहाँ शिकार उनकी पकड़ में आ जाता है। कुछ ऐसे परजीवी पौधे भी पाये गये हैं जो गन्ध मात्र से अपने शिकार को पकड़ लेते हैं। पौधे सम्भवतः जानते हैं कि कौन से जीव उनका रस चुराते हैं, क्योंकि ऐसे जीवों को देखते ही वे सिमट जाते हैं और अपनी असली दशा में तभी आते हैं जब वे जान लेते हैं कि उनपर बिखरे ओसकणों के कारण वे जन्तु उन पर चढ़ न सकेंगे। कभी-कभी कुछ पौधे अपने प्रसार को इस प्रकार नियोजित करते हैं कि तेज हवा या आँधी के प्रभाव से वे बचे रह सकें। कुछ पौधों की जटायें और शाखा-प्रशाखायें इतनी मजबूती से जकड़ी रहती हैं कि सामान्यतया उन्हें अलग करना कठिन है।

आस्ट्रेलियन यूकेलिप्टस सूर्य की किरणों को अबाध गति से प्राप्त करने के प्रयास में पृथ्वी से ४०० से ५०० फीट ऊपर तक एक पतले तने के सहारे खड़ा रहता है। पौधे कभी-कभी भविष्य के प्रति भी सजग रहते हैं। मिसीसीपी की घाटियों में कुछ ऐसे सूरजमुखी फूल पाये जाते हैं जिनकी पत्तियाँ चुम्बकीय सुई की तरह दिशा का ज्ञान करती हैं। भारतीय पौधा मुलेठी (लीकोरिस) चुम्बक और विद्युत के प्रभाव को बतला देता है। लन्दन के वैज्ञानिक क्यू गार्डेन्स के अनुसार लोकोरिस द्वारा हम बबूले, आँधी, समुद्री तूफान और ज्वालामुखी सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ कर सकते हैं।

पीटर टाम्पकिन्स का मत है कि पौधे अनवरत रूप से बाह्य संसार से सम्पर्क बनाये रहते हैं—वे बराबर वातावरण के घटनाक्रमों का सही मूल्यांकन करते रहते हैं, जबकि मनुष्य दुनियादारी के दुष्चक्रों और फरेबों के कारण बाह्य वातावरण के परिवर्तनों का सही चित्रण और मूल्यांकन नहीं कर पाता। पौधे उन ध्वनियों को भी ग्रहण कर लेते हैं जो हमारे कानों तक नहीं पहुँच पातीं। यही नहीं, पौधे इनफ्रारेड और अल्ट्रावायलेट रंगतरंगों को भी पहचान कर लेते हैं। पौधे पृथ्वी और इसके उपग्रहों का धुरी पर घुमने की भी अनुभूति रखते हैं और आने वाले समय में वैज्ञानिक इस तथ्य को सर्वसुलभ करने में अवश्य सफल होंगे। ●

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का क्रम

म० म० गोपीनाथ कविराज

प्रश्नः—कुण्डलिनी एवं बिन्दु के बारे में आप बराबर चर्चा करते हैं जब कि दोनों विषयों के बारे में हमारी धारणा स्पष्ट नहीं है। कृपया आप इसे अच्छी तरह समझायें।

उत्तरः—कुण्डलिनी शक्ति""इसी का नामान्तर बिन्दु है। इसे चिदाकाश कहा जाता है। यही परमेश्वर की महामायारूपी शक्ति है। परमेश्वर अथवा परम शिव चित्स्वरूप हैं इनमें दो शक्तियाँ हैं। एक चिद्रूपी और दूसरी अचिद्रूपी। चिद्रूपी शक्ति को चित्शक्ति कहा जाता है। यह परमेश्वर से अभिन्न है। इसका नाम रूपशक्ति है। बिन्दुरूपी शक्ति भी परमेश्वर की शक्ति है, पर यह अचित् शक्ति है। यह केवल माया की तरह मलिन नहीं है। बिन्दु शक्ति परिग्रह शक्ति है। माया एवं महामाया में भेद है। माया मलिन जगत का उपादान है। और महामाया या बिन्दु का नामान्तर कुण्डलिनी है। सिर्फ जगत का उपादान। शुद्ध जगत परमेश्वर से अन्तःसंकल्प के प्रभाव में अभिभूत होता है। अशुद्ध जगत परमेश्वर के प्रभाव में माया से अभिभूत होता है। शुद्ध जगत जड़ और अशुद्ध जगत भी जड़ है। किन्तु शुद्ध जगत पर सविकल्प ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु अशुद्ध शक्ति (माया) पर सविकल्प ज्ञान का प्रभाव है। बिन्दु अर्थात् कुण्डलिनी परमेश्वर के निर्विकल्प ज्ञान के प्रभाव से परिणाम प्राप्त करती है। किन्तु माया परमेश्वर के निर्विकल्प ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित नहीं होती। माया ईश्वर के अधीन है। यही मायिक जगत के उपादान हैं। ईश्वर तत्व अविकल्प ज्ञान के द्वारा माया को क्षुब्ध करते हैं। माया क्षुब्ध होकर मायिक जगत में कार्यरूप में परिणत हो जाती है। ईश्वर बिन्दु को क्षुब्ध करने में समर्थ है। बिन्दु अथवा महामाया ईश्वर के ज्ञान के अधीन नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर के ज्ञान के प्रभाव में बिन्दु क्षुब्ध होकर शुद्ध जगत के आविर्भाव को सूचित करता है। बिन्दु परिग्रह शक्ति है, क्योंकि यही उपादान है। चित्शक्ति कर्मवाहिनी शक्ति है। क्योंकि यह चिदात्मशक्ति से अभिन्न है। इस परम्परा को हर वक्त स्मरण रखना उचित है। शुद्ध जगत के ऊपर से नीचे"" शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शिव और शक्ति है। बिन्दु या कुण्डलिनी शुद्धशक्ति—निर्मल देह के उपादान हैं। माया मलिन का उपादान है। शुद्ध देह का पर्याय बैन्दव देह है। परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति के प्रभाव से बिन्दु (वास्तव में ज्योतिस्वरूप) देहाकार में परिणत हो जाता है। इसका नाम ज्ञानदेह है। यह परमेश्वर की कृपा से होता है। कुण्डलिनी-शक्ति अथवा चिदाकाश महामाया का पर्याय है। शिष्य को जब दीक्षा प्राप्त होती है तब वह ज्योतिर्मय बैन्दव देह प्राप्त करता है। यह दो स्थिति में संभव है। जब महाप्रलय से जगत् ध्वंस हो जाता है उसका मलपाक पूर्ण होता है और परमेश्वर बैन्दव देह से संयोग कर देते हैं। यह देह कुण्डलिनी शक्ति से बनता है। जब जीव मायिक देह में रहता है तब भी मलपाक होने पर बिन्दु बन जाता है। प्रलयस्थिति तथा सृष्टिकालस्थिति में अन्तर है। प्रलयकाल में मलपाक होने पर माया में एक ही बैन्दव देह प्राप्त होता है। लेकिन सृष्टिकाल में मलपाक होने पर भी बैन्दव देह प्राप्त होता है, पर मायिक देह के साथ" दोनों देह परस्पर संयुक्त होकर मिल जाते हैं—एक मायिह देह और दूसरा बैन्दव देह। कुण्डलिनी-शक्ति एक ओर सुप्तवत् पड़ी रहती है। अगर यह क्षुब्ध हो जाय तो इसमें से शुद्ध शब्दों का आविर्भाव होता है जिसे 'नाद' कहते हैं।

मूलाधार से आज्ञाचक्र तक मनुष्य के शरीर में छह मूल चक्र हैं। मूलाधार में जो चक्र है, उसमें चार मातृकाएँ हैं, उसका नाम है 'चतुर्दल कमल'। कमल और चक्र में भेद है। कुण्डलिनी के जागने पर उसका नाम 'कमल' हो जाता है। चक्रावस्था में जो मातृका कमल के

अवस्था में हैं—वही कमलों का दल है। इस प्रकार मनुष्य के शरीर में सुषुम्ना नाड़ी के साथ छह चक्र हैं—पांच चक्र पंचभूत के साथ सम्बन्धयुक्त हैं, और ऊपरवाला चक्र चित्त के साथ सम्बन्धयुक्त है अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि।

मूलाधार में जब कमल प्रस्फुटित होता है तब उसके चार दल होते हैं। उसके ऊपर स्वाधिष्ठान में षट्कमल—यहाँ छह मातृकाओं का विकास होता है। मणिपुर में दशदल कमल—दस मातृकाएँ प्रकट होती हैं। हृदय के अनाहत चक्र में द्वादश कमल होते हैं। कण्ठस्थल में षोड़शदल कमलों का विकास होता है। भौंहों में आज्ञाचक्र है—यहाँ द्विदल कमल का विकास होता है। समष्टि में पंचशत मातृका, पंचदश कमल। इसमें रहस्य है। द्विदल में दो वर्ण हैं, ऊपर ह'कार और नीचे स'कार रहता है। ह'कार विन्दुयुक्त है। मूलाधार में जो चतुर्दल कमल है, इसमें सबसे नीचे स'कार रहता है—यही विसर्गयुक्त है। ऊपर ह'कार विन्दु नीचे स'कार विसर्ग; यही है प्राणशक्ति। योगियों के निकट यही 'सोहं' होता है। जो अजपा जप करता है, वही इसका रहस्य जानता है, शरीर के भीतर असंख्य नाड़ियाँ है, बहत्तर हजार – मोक्ष नाड़ी बत्तीस। मोक्ष चतुर्दश या द्वादश होते है जिसमें तीन मुख्य हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इड़ा वाम मार्ग में तथा पिंगला दक्षिण मार्ग में—इसकी गति सरल नहीं होती। इन्हीं दोनों मार्गों से श्वास–प्रश्वास की गति प्रवाहित होती है। इन दोनों की गति सरल है। इसे सुषुम्ना कहते हैं। इसके बाद वज्रनाड़ी, फिर चित्रिणी नाड़ी, फिर ब्रह्मनाड़ी—यही अखण्ड है।

सुषुम्ना में प्रवेश के बिना इस महाशक्ति का जागरण नहीं होता। सुषुम्ना में प्रवेश तभी सम्भव होता है जब इड़ा-पिंगला का आवर्त समाप्त हो जाता है। पर यह काल का आवर्त है जबकि सुषुम्ना काल की नाशकारी है। योगी का लक्षण है सुषुम्ना में प्रवेश कर ब्रह्म नाड़ी में स्थान ग्रहण करना। वेदान्त का आनन्दमय इसके साथ सम्बन्धित है। इसमें जाने का क्रम है। प्रत्येक चक्र में तीन अंश होते हैं। सबसे पहले मातृका या वर्णमाला, इसके बाद नाद, इसके बाद बिन्दु। मातृका को व्यावहारिक रूप में 'कला' कहा जाता है।

बिन्दु, नाद और कला यही तीन अंश हैं। पहले मूलाधार में प्रवेश करना पड़ता है। प्रवेश करने में भी गूढ़ रहस्य द्वार है। इस द्वार को खोलना पड़ता है। यह हर वक्त बन्द रहता है। जब विरुद्ध शक्तियों के संघर्ष से साम्यावस्था की सृष्टि होती है तब नीचे से चिदग्नि का उद्दीपन होता है, इन दोनों के विरुद्ध शक्तियों का शक्तिनाश तथा प्राण-अपान का जब साम्य होता है तब उसका नाम होता है—'समान'। साम्य से जिस अग्नि का विकास होता है, उसका नाम 'उदान' और ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश के समय व्यान।

इसी चिदग्नि के द्वारा मूलाधार चक्र की प्राचीरों को गलाना पड़ता है मूलाधार की प्राचीरें मातृकामय हैं। प्राचीरों के गलने के बाद द्वार खुल जाता है। एक के बाद एक चार मातृकाएँ हैं। प्रत्येक मातृका उसके संस्पर्श से गल जाती है, वर्णभाव दूर हो जाता है और नादभाव आता है। नादभाव आने के साथ-साथ उसकी ऊर्ध्वमुखी गति प्रारम्भ हो जाती है—मूलाधार में ऊर्ध्वगति होती है। बिन्दुस्थान सुषुम्ना नाड़ी का एक स्टेशन है। मूलाधार का अन्य वर्णों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्ण गलकर नाद बनते ही सम्बन्धयुक्त होता है।

सुषुम्ना में विशिष्टता है—सुषुम्ना निरन्तर ऊर्ध्वगति से चलती है। इस प्रकार चक्रभेद होता है और बिन्दु में परिणत होता है। आज्ञाचक्र में एक मात्र बिन्दु रहता है। मातृका समाप्त हो जाती है। यहाँ शिव नेत्र रहता है—ज्ञानचक्षु यह भी खुल जाता है। यहाँ दो मार्ग होते हैं—एक सहस्त्रदल में जाने का मार्ग और दूसरा ब्रह्मरन्ध्र में। एक परमेश्वर की ओर और दूसरा ब्रह्म की ओर जाने का मार्ग है।

विदुर-नीति

श्री हरीन्द्र दवे

●

संजय निष्ठावान दूत है। वह युधिष्ठिर की सभा में अपने दूत-कार्य में तनिक भी चूकता नहीं। धृतराष्ट्र और उसकी संतानों की ओर से पाण्डवों को वाजिब और गैर-वाजिब सभी कुछ कह डालता है। इतना ही नहीं, कृष्ण या युधिष्ठिर जो कुछ कहते हैं वह शांतिपूर्वक सुन लेता है।

परन्तु संजय मात्र सन्देशवाहक नहीं है। वह धृतराष्ट्र के मन्त्रियों में से एक है। समूचे महाभारत-युद्ध को भगवान व्यास संजय की दृष्टि से निरूपित करना चाहते हैं, इसी से संजय की सूझबूझ कितनी है और दमखम कैसा है इस बाबत वे पाठकों को अन्धकार में नहीं रखते।

युधिष्ठिर के पास जाकर युद्ध करने से तो भीख माँगना अच्छा है, यह कहने वाला संजय हस्तिनापुर वापस लौटता है, तब क्या होता है? कृष्ण इन तमाम घटनाओं में यों देखें तो कहीं भी नहीं है। पर कृष्ण न हों ऐसी कोई घटना दिखती है क्या? संजय ने वापस लौटकर जो कुछ कहा और धृतराष्ट्र के मानस-पटल पर उसका जो भी असर हुआ वह बात इसलिये संगत है कि कृष्ण की ऐतिहासिक संधि-वार्ता की पृष्ठभूमि के रूप में ये सब घटनायें आती हैं। व्यास भगवान ने पर्व के अन्तर्गत उपपर्व रखे हैं। इनमें इस समय जिनकी बात करने जा रहे हैं वे 'संजय दानपर्व' 'प्रजागर पर्व' और 'सनत्सुजात पर्व' के नाम से विख्यात हैं।

संजय वापस लौटते हैं तब रात हो चुकी होती है। व्यास भगवान समय का निर्देश स्पष्ट रूप से तो नहीं करते, पर संयोग की दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि रात हो चुकी है। महाराज अन्तःपुर में हैं। संजय बाहर जाकर द्वारपाल से कहता है कि 'महाराज जागते हों तो कहना कि संजय आज्ञा मिलते ही अन्दर आयेगा'। 'धृतराष्ट्र जागते हों तो'—यह प्रश्न यों तो धृतराष्ट्र सो तो नहीं गये हैं, इस बाबत है पर यह 'जागर्ति' की पूछताछ का अर्थ धृतराष्ट्र की नींद अब उड़ी है या नहीं, ऐसा भी लगाया जा सकता है।

युधिष्ठिर की सभा में धृतराष्ट्र के सन्देश को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने के बाद, अब धृतराष्ट्र के पास आकर वे जो कुछ कहते हैं उसकी तुलना करने योग्य है। संजय समूची परिस्थिति को अथ से इति तक समझ गया है।

धृतराष्ट्र को नींद कहाँ से आये? इसके बावजूद वह सच्चे अर्थ में वह जागा हुआ भी नहीं है। वे संजय को तत्काल अन्दर बुलाते हैं। प्रारम्भिक कुशल-समाचार के आदान-प्रदान के बाद संजय तत्काल ही सीधे मुद्दे पर आता है। वह कहता है: जैसे डोरी से बंधी कठपुतली दूसरों द्वारा प्रेरित होकर नृत्य करती है, उसी तरह मनुष्य परमात्मा की प्रेरणा से ही सभी कार्यों में प्रवृत्त होता है। पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को जो कष्ट सहने पड़ रहे हैं वह देखकर मैं मानने लगा हूँ कि मनुष्य के पुरुषार्थ से भी अधिक दैव—ईश्वरीय विधान—अधिक बलवान है।

और फिर वह धृतराष्ट्र से स्पष्ट रूप से कहता है कि अपनी स्वार्थवृत्ति की ओट में वे कौरवों की कुशल भी नहीं देख पाते। अन्त में वह कहता है:

स त्वां गर्हे भारतानां विरोधा-
दन्तो नूनं भविताय प्रजानाम्।
नो चेदिदं तव कर्मपराधात्-
कुरून्दहेत् कृष्णवर्त्मेव कक्षम्॥
(उद्योग० ३२; २७)

संजय के ये शब्द चौंकानेवाले हैं, मन्त्री अपने सम्राट को ये शब्द कह सकता है, पर ये शब्द भी धृतराष्ट्र की नींद उड़ाने में समर्थ नहीं होते। संजय स्पष्ट शब्दों में कहता है। 'आप भरतवंश में जो विरोध फैला रहे हैं उसके लिये मैं आपकी निंदा करता हूँ; कारण यह कि इस विरोध के फलस्वरूप समस्त प्रजा का विनाश होगा। आप यदि मेरे कहे अनुसार काम नहीं करेंगे तो तमाम अपराधों का फल यह होगा कि कृष्ण (अर्थात् अर्जुन) समस्त कौरववंश को

इस तरह जला डालेंगे जैसे अग्नि घास की ढेरी को जला डालती है।'

आगे संजय कहता है : समस्त संसार में एकमात्र आप ही अपने स्वेच्छाचारी पुत्र की प्रशंसा करते हुए उसके अधीन होकर द्यूतक्रीड़ा के समय उसी का पक्ष ले रहे थे और राज्य का लोभ नहीं छोड़ पाये, तो अब उसका भयंकर परिणाम भी आप अपनी आँखों से देखियेगा।

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं : आप इस पृथ्वी की रक्षा करने योग्य नहीं है, क्योंकि आपने मनोदौर्बल्य प्रदर्शित किया है।

इतना कहकर युधिष्ठिर का सन्देश अब कल सवेरे कौरव-सभा में कहूँगा, ऐसा सूचित करके वह चला जाता है।

संजय के इन शब्दों से धृतराष्ट्र की बेचैनी बढ़ जाती है। उत्ताप की परिसीमा में वे विदुर को बुलाते हैं। विदुर द्वारा कुछ सुनने को मिले तो शायद चैन आवे, इस आशा से वह विदुर से कहता है : संजय मुझे खरी-खोटी सुनाकर चला गया और मेरी नींद उड़ गयी है। विदुर कहते हैं :

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः॥
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप।
कच्चिन्न परवित्तेषु गृध्यन्विपरितप्यसे॥
(उद्योग० ३३, १३-१४)

बलवान मनुष्य से झगड़ा हुआ हो ऐसे साधनविहीन दुर्बल मनुष्य को, कामी को, चोर को या पराये धन का लोभ रखने वाले को नींद नहीं आती। हे नराधिप, आपको इन महादोषों में से किसी ने स्पर्श तो नहीं किया है?

विदुर ने ठीक मर्मस्थान पर अंगुली रख दी है। निद्रा न आने के कारणों में प्रमुख कारण है परायेधन का लोभ। पांडवों का हजम किया हुआ राज्य वापस नहीं देना है। इसी में से सभी मुश्किलें उत्पन्न हुई हैं।

धृतराष्ट्र नामक पात्र की यही विचित्रता है। उसे अच्छी वाणी सुननी है। धर्म क्या है, नीति क्या है यह जानना है, पर उसे आचरण में नहीं रखना है।

'दरद बिन रैन न जागे कोई' हमारे इस प्रचलित गीत की पंक्ति याद आती है। धृतराष्ट्र रात भर जागते हैं, उनका दर्द यह है कि पांडवों को उनका हक नहीं देना है; लेकिन पांडवों के साथ युद्ध टालना है। ऐसा कैसे हो सकता है? इस असंभव को संभव बनाने का सन्ताप ज्ञान से टल सकता है क्या?

यदि ज्ञान से टल सकना संभव होता तो 'विदुर नीति' नाम से विख्यात इन आठ अध्यायों द्वारा प्रदत्त ज्ञान या फिर सनत्सुजात ने आकर जो ज्ञान सुनाया (जो सनत्सुजात पर्व के पाँच अध्यायों में है) वह धृतराष्ट्र की आँख खोलने के लिये यथेष्ट होता। विदुर कहते हैं :

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।
विद्यैका परमा दृष्टिरहिंसैका सुखावहा॥
(उद्योग० ३३; ४८)

केवल धर्म ही श्रेयस्कर है, शांति का सर्वोत्तम उपाय है क्षमा, विद्या ही परमदृष्टि है, और अहिंसा ही परम सुख है।

इस एक श्लोक में विदुर जाने कितना कुछ कह देते हैं। धर्म का पारंपरिक अर्थ है, समाज को धारण करनेवाला तत्व, ('धारयति इति धर्मः') ऐसा धर्म ही कल्याणकारी होता है। शांति सिद्ध करनी हो तो क्षमा ही श्रेष्ठ उपाय है। क्षमा की बाबत अन्यत्र विदुर कहते हैं : क्षमाशील लोगों पर एक ही दोष लग सकता है, वह है असमर्थता का। क्षमाशील मानवों को लोग 'अशक्त' (निर्बल) मान लेते हैं। पर इस दोष को सहन करके भी क्षमाशील बने रहें तभी शांति सम्पन्न होती है। लोग चर्मचक्षु से देखते हैं, पर परम दृष्टि विद्या की होती है। और अहिंसा में परम सुख है।

धृतराष्ट्र यदि विदुर नीति में से केवल इस एक श्लोक को अमल में लायें तो क्षमा तथा अहिंसा को आचरण में लाकर, धर्म और विद्या के मार्ग पर चलकर पांडवों का राज्य वापस लौटा दें। पर विदुरजी कहते हैं :

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
सुखे सौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः॥
(उद्योग०, ३४, ४०)

जो दूसरों के धन की, रूप की, पराक्रम की, कुलीनता की, सुख की, सौभाग्य की या सत्कार की ईर्ष्या करते हैं

उनकी यह व्याधि असाध्य है। उनके रोग का कोई इलाज नहीं है। दुर्योधन को पांडवों के धन, पराक्रम, सुख, सौभाग्य, उनको प्राप्त होते आदर-सम्मान—इन सबसे ईर्ष्या है और इसी से यह ईर्ष्या का रोग असाध्य है, यह बात विदुरजी समझाते हैं।

धृतराष्ट्र की तो भीष्म, द्रोण आदि वृद्धों से अलंकृत राज-सभा है, पराक्रमी पुरुषों का साथ है, तो फिर उसकी विजय क्यों न होगी? विदुर इसी बात को लक्षित करके कहते हैं:

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥
(उद्योग० ३५, ४९)

जहाँ वृद्ध न हों वह सभा नहीं है, जो धर्म का उद्घोष न करें वे वृद्ध नहीं हैं, जिसमें सत्य न हो वह धर्म नहीं है और जिसमें छल हो वह सत्य नहीं है।

धृतराष्ट्र की सभा में वृद्ध हैं, पर वे धर्म का उद्घोष करने में डरते हैं, नहीं तो द्रौपदी-चीरहरण के समय भीष्म और द्रोण भला चुप रहते? आदमी उम्र से वृद्ध हो जाय तो भी वह वृद्ध नहीं होता, वह धर्म का उद्घोष कर सके तभी वृद्ध होता है। वृद्ध का अर्थ है—वृद्धिप्राप्त—अभ्युदयप्राप्त भी होता है। इसी से जो धर्म का उद्घोष नहीं कर पाते, वे बूढ़े होते हैं, वृद्ध नहीं होते। धर्म कभी भी सत्य से वंचित हो ही नहीं सकता। और जहाँ शकुनि का छल चलता हो, वहाँ सत्य कैसे टिक सकता है?

विदुर-नीति में कितनी ही सरस बातें हैं। भगवान व्यास के ज्ञान और काव्य दोनों का स्पर्श इनमें होता है। वे कहते हैं: जैसे शुष्क सरोवर पर चक्कर काट कर हंस उड़ जाते हैं, पर उसमें प्रवेश नहीं करते, उसी प्रकार ऐश्वर्य, जिनका चित्त चंचल है, जो अज्ञानी है और इंद्रियों के गुलाम हैं, उनका त्याग करता है।

जो धृतराष्ट्र कुलरक्षा के लिये पांडवों को उनका उचित भाग देने से भी इंकार करता है, उस धृतराष्ट्र से विदुर कहते हैं: कुल की रक्षा के लिये पुरुष का, ग्राम की रक्षा के लिये कुल का, देश की रक्षा के लिये गाँव का और आत्मा के कल्याण के लिये सारी पृथ्वी का त्याग कर देना चाहिये। (उद्योग० ३७, १६)

विदुर की इतनी सारी बातें सुनने के बाद भी धृतराष्ट्र के मन को शांति नहीं मिलती, वह कहता है कि अभी मुझे और सुनना है। अतः विदुर ब्रह्मा के पुत्र तथा प्राचीन ऋषि सनत्सुजात का स्मरण करते हैं और ऋषि उपस्थित हो जाते हैं। यह ऋषि मानते हैं कि मृत्यु जैसी कोई चीज है ही नहीं। वे कहते हैं: प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है (उद्योग० ४२, ४)। कामनाओं के पीछे भागने वाला मनुष्य कामनाओं के साथ ही नष्ट हो जाता है, पर ज्ञानी पुरुष कामनाओं का त्याग करके, जो दुःख का मूल है उसे ही नष्ट कर देता है (उद्योग० ४२, १०)। हे क्षत्रिय, जो विषयभोग की तनिक भी अपेक्षा नहीं करते, उनके लिये फूस के शेर की तरह वृद्धावस्था भयानक नहीं होती। (उद्योग० ४२, १७)।

वृद्धावस्था को फूस के शेर की उपमा देते हुए महाकवि प्राचीन होते हुए भी कितने आधुनिक लगते हैं!

सनत्सुजात आगे कहते हैं: जो किसी तरह के मोह से होनेवाली मृत्यु को जानकर ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोक में मृत्यु से कभी नहीं डरता; उसके पास आकर मृत्यु इस प्रकार विनाश पाती है जैसे मृत्यु के अधिकार में आया हुआ मर्त्य।

सनत्सुजात का एक और बोधवचन जानने योग्य है:

न वै मानं च मौनं च सहितं चरतः सदा।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद्विदुः॥
(उद्योग० ४३; ३०)

मान और मौन एक साथ कभी भी नहीं रहते। मान से इस लोक में सुख प्राप्त होता है; और मौन से परलोक में।

मान और मौन के बीच का यह सूक्ष्म अंतर कितने आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है!

रात का जागरण इस प्रकार व्यतीत हुआ है। विदुर के इस बोध के आठ अध्याय दुनियाँ में 'विदुरनीति' के नाम से प्रकीर्तित हुए हैं: पर इस प्रकार बितायी रात धृतराष्ट्र का हृदय-परिवर्तन नहीं कर सकती। वह तो दूसरे दिन जब

संजय सभा में अपनी संदिग्धवार्ता की फलश्रुति कहता है, और भीष्म तथा द्रोण दोनों ही सच्ची सलाह देते हैं, तब—

अनादृत्य तु तद्वाक्यमर्थवद् द्रोणभीष्मयोः।
ततः च संजयं राजा पर्यपृच्छत पाण्डवम् ॥
(उद्योग० ४८; ४६)

द्रोण और भीष्म की बात अर्थपूर्ण थी फिर भी उनका अनादर करके राजा धृतराष्ट्र पुनः संजय से पांडवों के समाचार पूछने लगे।

यह समूचा प्रसंग क्या सूचित करता है?

व्यक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीनों में विद्यमान भेद की सूचना प्राप्त होती है। संजय 'युधिष्ठिर ने जो कहा है वह सभा में कहूँगा' ऐसा कहकर, साथ हो 'आप अपने पुत्र के स्वार्थ के वशवर्ती हो कुरुकुल का विनाश आमंत्रित कर रहे हैं' ऐसे शब्द सुनाकर चला गया तब जिसका चैन नष्ट हुआ है ऐसे धृतराष्ट्र की ज्ञान हेतु पिपासा भ्रामक थी?

नहीं!

धृतराष्ट्र की ज्ञान-पिपासा सच्ची थी। उनके मन को शांति प्रदान करें ऐसे शब्द सुनने थे।

पर विदुर या सनत्सुजात की कही बात ज्ञानियों के लिये भी दुर्लभ होने के बावजूद धृतराष्ट्र पर किसी प्रकार का असर न कर सकी।

कारण स्पष्ट है।

धृतराष्ट्र को सांत्वना चाहियें थी। सांत्वना माने व्यक्ति को चाहिये ऐसी बात। धृतराष्ट्र को तो वह और दुर्योधन जो कुछ करे उसका समर्थन चाहता था। ऐसा समर्थन जब इस ज्ञान की वाणी में नहीं मिलता तब सभी ज्ञान पत्थर पर पानी की तरह बह जाता है। इसी से रातभर जागरण करके, विदुर और सनत्सुजात जैसे ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके भी धृतराष्ट्र बदलता नहीं, उसमें ज्ञान मिथ्या नहीं होता, धृतराष्ट्र स्वयं ही मिथ्या सिद्ध होता है। विदुरनीति या सनत्सुजात की वाणी की महिमा इससे घटती नहीं है।

सत्य है, चाहे जितना ज्ञान आदमी को धर्म के मार्ग पर प्रेरित न कर सके, ऐसे व्यक्तित्व भी होते हैं। इसकी प्रतीति धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व से होती है। धृतराष्ट्र को इतना ढेर सा ज्ञान मिला फिर भी ज्ञान का विनियोग वह नहीं कर सका।

संजय दूसरे दिन राजसभा में जो बात कहता है वह सर्वविदित है। संजय यह संदेश देते समय निरंतर कृष्ण का उल्लेख करता है। उसका पहला वाक्य ही यह है, 'युधिष्ठिर की आज्ञा से युद्ध में उद्यत ऐसे महात्मा अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण के सुनते हुए जो बात कही वह भले ही दुर्योधन सुने!' (उद्योग० ४७, २)। बाद में भी कहता है: 'वीर ऐसे वासुदेव के सान्निध्य में मुझे यह संदेश दिया गया है।'

पांडवों के संदेश में बल भरा है, कारण यह कि वह कृष्ण के सुनते हुए दिया गया है। कृष्ण की मोहर उस पर लगी है। आगे वे कहते हैं: जो युद्ध द्वारा कृष्ण को जीतना चाहते हैं वह दोनों हाथों से प्रज्वलित अग्नि को बुझाने की चेष्टा करते हैं, अथवा चन्द्र या सूर्य की गति को रोकने का प्रयत्न करते हैं। (उद्योग० ४७, ६५-६७)

संजय के इस संदेश में अर्जुन ने जो कुछ कहलवाया है उसकी बात है, अर्जुन स्वयं समस्त कुरुकुल का कृष्ण की सहायता से नाश करेगा उसकी बात है, भीष्म और द्रोण इस बात का समर्थन करते हैं। धृतराष्ट्र भीम के भीषण रूप का स्मरण करके कांप उठते हैं। संजय पुनः कृष्ण और अर्जुन से उनके अंतःपुर में वे द्रौपदी और सत्यभामा के साथ थे तब मिला था इसकी भी चर्चा करता है:

यत्र कृष्णौ च कृष्णा च सत्यभामा च भामिनी।
(उद्योग० ५९, १०)

और वहाँ कृष्ण के दोनों चरण अर्जुन की गोद में थे और अर्जुन का एक पैर द्रौपदी की गोद में और एक पैर सत्यभामा की गोद में। विशाल एवम् सुवर्ण के एक ही आसन पर दोनों कृष्ण अर्थात् कृष्ण वासुदेव और अर्जुन बैठे थे।

श्यामौ बृहन्तौ तरुणौ शालस्कन्धाविवोद्गतौ,
एकासनगतौ दृष्ट्वा भयं मां महदाविशत्।
(उद्योग० ५९, १०)

श्याम, बृहत, तरुण और शालवृक्ष के स्कंधों जैसे उन्नत—ऐसे दोनों को एक आसन पर बैठें देखकर मेरे मन में महाभय प्रगट हुआ।

दो कृष्ण एक आसन पर बैठे तब उनके लिये दुर्जेय ऐसा कुछ बचेगा क्या?

और यहाँ कृष्ण संजय को जो संदेश देते हैं वह भी नोट करने लायक है। कृष्ण सबसे पहले तो यह कहते हैं कि यह बात जब भीष्म और आचार्य द्रोण सुन रहे हों तब राजा धृतराष्ट्र से कहना (उद्योग० ५८, १८)। यह कहने में एक औचित्य है। राजा धृतराष्ट्र को अकेले जो यह संदेश मिले तो शायद कृष्ण ने चेताया नहीं था ऐसा भ्रम फैला रहे। कृष्ण फिर आगे कहते हैं :

तेजोमयं दुराधर्षं गाण्डीवं यस्य कार्मुकम्।
मद्द्वितियेन तेनेह वैरं वः सव्यसाचिना ॥
मद्द्वितियं पुनः पार्थ कः प्रार्थयितुमिच्छति।
यो न कालपरीतो वास्त्वपि साक्षात्पुरंदरः ॥
(उद्योग० ५८; २२-२३)

जिसके पास अजेय तेजस्वी गाण्डीव धनुष है, और दूसरा मैं हूँ, उस सव्यसाची के साथ आपने वैर किया है। जिसे काल ने घेर न लिया हो ऐसा कौन पुरुष, फिर भले ही वह साक्षात् पुरन्दर (इन्द्र) ही क्यों न हो, क्या उस अर्जुन के साथ लड़ने का साहस करेगा जिसके साथ दूसरा मैं हूँ ?

कृष्ण की इस वाणी में हमने पहले देखी वह नम्रता भी दिखायी पड़ती है, साथ ही साथ यह अधिकार-वाणी भी है। यह अर्जुन को प्रथम स्थान देती है और 'मदद्वितीयेन' (दूसरा मैं) इस प्रकार दोनों बार कहती है।

एक तो मनुष्य और दूसरा भगवान ये दोनों साथ हो जायँ तो इन्हें कौन जीत सकता है ?

अनुवादक : डा० भानुशंकर मेहता

पत्रिका के मार्च अंक में प्रकाशनार्थ (१५-३-१९८४)

फार्म ४ (नियम ८) के अनुसार प्रकाशन विवरण

१. प्रकाशन स्थान	श्री काशी मुमुक्षु भवन सभा अस्सी, वाराणसी—२२१००५
२. प्रकाशन अवधि	मासिक
३. मुद्रक का नाम	श्री पुरुषोत्तमदास मोदी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी
४. प्रकाशक का नाम	श्री पुरुषोत्तमदास मोदी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी
५. सम्पादक का नाम	श्री पुरुषोत्तमदास मोदी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी
६. स्वामित्व	श्री काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी
७. मुद्रण स्थल	शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी

मैं पुरुषोत्तमदास मोदी एतत् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गए विवरण सत्य हैं।

'मुमुक्षु'
काशी मुमुक्षु भवन सभा, ता० १५-३-१९८४

पुरुषोत्तमदास मोदी
(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

रामकृष्ण परमहंस के अन्यतम शिष्य स्वामी अखंडानंद

ब्रह्मचारी अनिरुद्ध चैतन्य

सड़क के किनारे रोती हुई मुसलिम बालिका से संन्यासी ने जब पूछा, तो उसने कहा—'महात्मा जी, मेरे हाथ में पड़े हुई मिट्टी के इस बर्तन को देखें। मेरी असावधानी से गिरकर यह फूट गया। घर में इसके अतिरिक्त कोई भी बर्तन नहीं है जिसमें पानी रक्खा जा सके। मां मुझे मारेंगी, इसी से रो रही हूँ।" सन्यासी उस बालिका को पास की एक दूकान पर ले गया और दो पैसे में एक नया मिट्टी का गिलास लेकर उसे दे दिया, साथ ही थोड़ा चबैना भी दिला दिया। फिर क्या था, देखते-देखते उसके चारों ओर अनेक छोटे-छोटे नन्हें-मुन्ने और बालक आ गये। सभी गन्दे और मैले-कुचैले वस्त्रों में थे। वे भूखे थे। सन्यासी ने ठेलेवाले को अपने पास का सारा पैसा देकर उन्हें चबैना बाटने को कह दिया। वह सोचने लगा कि आखिर ये किशोर भूखे क्यों मरें। ईश्वर का ध्यान कर सन्यासी वहाँ से दूर चले जाने की सोचने लगा।

अकस्मात् स्वामी के कानों में कुछ ध्वनि सुनाई पड़ी। मानो बार-बार कोई अलौकिक शक्ति कह रही हो, "तुम कहाँ जा रहे हो। तुम्हें यहाँ बहुत कुछ करना है।" इस ध्वनि को अनसुनी कर सन्यासी मन ही मन कहने लगा, "मैं मात्र सन्यासी हूँ, इस सहस्रों लोगों के भोजन की व्यवस्था कैसे कर सकता हूँ।" वह उठ खड़ा हुआ, पर उसे ऐसा आभास हुआ कि मानो कोई उसे हठात् बैठा रहा हो। मन ही मन स्वामी ने कहा, "मां तुम्हारी इच्छा के सामने नतशिर हूँ।" उसने निश्चय कर लिया कि वह अपना शेष जीवन मनुष्य में निहित देवत्व की सेवा में लगा देगा।

यह सन्यासी अन्य कोई नहीं, स्वयं स्वामी अखण्डानन्द जी थे, जो स्वामी रामकृष्ण परमहंस के अन्यतम शिष्यों में से एक थे। स्वामी अखण्डानन्द का जन्म ३० सितम्बर १८६४ ई० को महालय के दिन हुआ था। महालय हिन्दुओं का एक पवित्र त्योहार है। शाम के समय जब भक्त लोग शंखनाद कर पर्व सम्बन्धी पूजा में तल्लीन थे, उसी समय भीमना घटक की धर्मपत्नी वाम सुन्दरी देवी ने बालक को जन्म दिया। दम्पती को बड़ी तपस्या के बाद पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। बालक गंगाधर (कालान्तर में स्वामी अखण्डानन्द) बहुत ही चंचल और नटखट था। उसकी मां और तीन बड़ी बहनें बड़ी मुश्किल से उसे नियंत्रित कर पाती थीं। कभी-कभी शाम के धुंधलेपन में वह मुँह से डरावनी आवाज कर, राहगीरों को भयभीत कर देता था। एक दिन ऐसा करते समय कुछ लोगों ने उसे दौड़ाकर पकड़ना चाहा, और भागते समय वह एक गहरे गड्ढे में गिर पड़ा। सिर फूट गया जिसका चिह्न बालक के सिर पर अमिट बना रहा और वृद्धावस्था में भी यदाकदा वहाँ पर दर्द होने लगता था। नटखट होने के बावजूद बालक गंगाधर बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। वह दिन में कई बार स्नान करता था। गीता और अन्य धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना उसका व्यसन था। वह नियमित रूप से ध्यान भी करता था।

सोलह वर्ष की उम्र में बालक गंगाधर दक्षिणेश्वर मठ में स्वामी रामकृष्ण का दर्शन करने गया। स्वामी ने पूछा, क्या तुमने मुझे कभी पहले भी देखा है ? बालक ने कहा, 'हाँ, एक बार जब मैं बहुत छोटा था।' स्वामी ने मुस्कराते हुए कहा, 'इसे सुनिये, बालक का कहना है कि यह मुझे बचपन में देख चुका है—इस छोटे बालक का एक बचपन भी था।' यहीं से बालक गंगाधर स्वामी रामकृष्ण के निकट आया और एक समय स्वामी जी ने कहा, "अब तुम मेरे उतने ही निकट हो, जितना कि एक नवजात शिशु माँ के निकट होता है।' कालान्तर में स्वामी रामकृष्ण ने उक्त बालक को स्वामी विवेकानन्द के पास भेजा।

स्वामी रामकृष्ण के सायुज्य प्राप्त कर लेने के बाद, गंगाधर में उच्चतम ज्ञान प्राप्त करने की उत्कंठा जागरित हुई। उसे हिमालय का मूक निमन्त्रण मिलने लगा। सन् १८७७ में एक दिन लोगों ने उन्हें सन्यासी की वेषभूषा में देखा। जब वह हावड़ा स्टेशन पर ट्रेन में सवार हो रहा था कि उसकी दृष्टि एक ऐसे व्यक्ति पर पड़ी जो उसे सजल नेत्रों से देख रहा था, यह व्यक्ति उसके पिता श्रीमन्त घटक थे।

पिता ने कहा, 'मेरे लाल, आगे बढ़ते रहना। मेरा शुभाशीर्वाद तुम्हारे साथ है। ईश्वर करे, तुम्हें अपने प्रयत्नों में सफलता मिले।' बालक गंगाधर, स्वामी अखण्डानन्द के नाम से पवित्र स्थलों का भ्रमण करता रहा। सन् १८९३ में स्वास्थ्य गिर जाने के कारण अखण्डानन्दजी को सेत्री में उपचार हेतु रुकना पड़ा। वहां के राजा के सद्‌प्रयत्नों से कुछ ही महीनों में स्वामी अखण्डानन्द जी स्वस्थ हो गये। वहां पर उन्हें हर तरह और हर स्तर के लोगों के सम्पर्क आने का अवसर मिला। उन्होंने देखा कि किस प्रकार ऋषि-संतानें पूंजीपतियों के पाशविक अत्याचारों को झेलने के लिए बाध्य होती हैं। वह तीर्थयात्री स्वामी देखते-देखते एक जागरूक समाजवादी बन गया। वह यह देखकर बहुत ही मर्माहत हुआ कि किस प्रकार धनकुबेरों की कुत्सित वासनाओं की पूर्ति के लिए हजारों लोगों को सुख और शांति का बलिदान करना होता है। समाज में व्याप्त असमानता हो, इसका मूल कारण है। पर इसकी दवा क्या है? केवल त्याग। ये शब्द हैं स्वामी अखण्डानन्द के जिन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि सताये हुए प्राणियों की सेवा में ही उनका जीवन समर्पित होगा।

अब अखण्डानन्द जी व्याकुलता से अपने नेता स्वामी विवेकानन्दजी के आदेश की प्रतीक्षा करने लगे। उन दिनों विवेकानन्द जी अमेरिका में थे। अखण्डानन्द जी दीनों-दलितों की सेवा करना चाहते थे जबकि स्वामी विवेकानन्द निराश्रितों की पूजा करते थे। वे अखण्डानन्द जी जैसे व्यक्ति की खोज में थे, जो उनकी दलित पूजा की भावना को कार्यरूप दे सके। उन्होंने अखण्डानन्द जी से कहा, 'आप दलितों की झोपड़ियों में जायें और उन्हें धर्म का मर्म समझायें। साथ ही उन्हें कर्तव्य बोध करायें और मनुष्योचित जीवन यापन की विधि से उन्हें अवगत करायें। उन्हें बतायें कि श्रम ही पूजा है और इस प्रकार उन्हें ब्रह्मज्ञतन की दीक्षा दें। इस कार्य को सम्पन्न करें, इससे आपका हृदय भी निर्मल होगा। योगी का परिधान व्यसन और आराम का द्योतक नहीं होता, प्रत्युत वह त्याग, तपस्या और अनवरत जनसेवा का प्रतीक है। आपको अपना सर्वस्व, शरीर, मन और वाणी, विश्वकल्याण के लिए समर्पित करना होगा। आप पढ़े हैं मातृ देवो भव, पितृ देवो भव। उसी क्रम में आप जोड़ दें दरिद्र देवो भव। आप दीनों, दलितों, निराश्रितों और अपंगों को सर्वात्मा का स्वरूप मानकर, उनकी सेवा करें। इससे बढ़कर कोई दूसरा धर्माचरण नहीं हो सकता।

गुरुभाई स्वामी विवेकानन्द द्वारा निर्धारित मार्ग पर चलते हुई प्रथमतः स्वामीजी ने मलिन बस्तियों में रहने वाले बच्चों की शिक्षा का भार उठाया। कुछ दिनों के बाद वे गंगा के किनारे-किनारे उत्तर की ओर पदयात्रा पर निकल पड़े। मुर्शिदाबाद में पहुँचकर उन्होंने पाया कि वहाँ के निवासी अकाल की छाया में तड़फड़ा रहे हैं। अब वे उन अकालग्रस्त लोगों की सेवा में जुट गये। इसी समय स्वामी विवेकानन्द का एक पत्र उन्हें मिला। स्वामी जी ने लिखा था, 'शाबास, मेरा बार-बार का आलिंगन और आशीर्वाद स्वीकार करो। कार्य करते रहो, किसी भी बात की चिन्ता मत करो। आगे बढ़ते रहो, मृत्यु पर्यन्त चरैवेति। यदि भूख से पीड़ित प्राणियों को भोजन, वस्त्र और स्थान देने के प्रयत्न में तुम काल के बलित भी हो जाते हो तो—अहो भाग्यमहो भाग्यम्, 'तुम परम भाग्यशाली होगे। विजय हृदय की होती है न कि शस्त्र की। यही सच्ची पूजा है, यही सर्वात्मा की आराधना है।'

स्वामी विवेकानन्द ने कुछ रुपये और दो स्वयंसेवक भी अखण्डानन्दजी के सद्‌प्रयासों में योगदान देने के लिए भेजे। स्वामी जी गाँव-गाँव, घर-घर जाकर अकालग्रस्त प्राणियों की सेवा करते रहे। लोग उन्हें 'दण्डी बाबा' के नाम से पुकारने लगे और किसी भी गाँव में इनकी उपस्थिति मात्र से लोग राहत की सांस लेने लगे। सरकारी सहायता भी मिलने लगी। वे जाति और धर्म का ध्यान न कर, जनता-जनार्दन की सेवा करते रहे। इनकी सेवा से प्रभावित होकर इर्वन जानसन ने 'डेली क्रानिकिल' के सम्पादक के नाम एक पत्र में लिखा, बुद्ध के अवसान के बाद मानव-सेवा का यह कार्य भारतीय इतिहास की एक अद्वितीय घटना है। इस प्रकार यह जनसेवक जिसे मानव के भीतर सर्वात्मा की झलक मिलती थी, इकहत्तर वर्ष की आयु में ७ फरवरी १९७३ को बेलूर मठ में समाधिस्थ हो गया। सचमुच उनकी एकमात्र प्रार्थना थी,

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

योग-प्रतियोगिता

रामेश्वरदास गुप्त

पंचों का कहना सिर माथे पर, पर पतनाला यहीं गिरेगा। गांधीजी ने बेसिक शिक्षा पद्धति का पाठ्यक्रम देश के सामने रखा। उस पाठ्यक्रम का उद्देश्य बच्चों को क्रियात्मक शिक्षा देना और उन्हें जीवन के क्षेत्र में आरम्भ से ही कार्य करने की ओर अग्रसर करना था। केवल किताबी पढ़ाई नहीं, बल्कि बच्चे आरम्भ से ही अर्थोपार्जन के लिये कार्य में लगें।

बेसिक शिक्षा से पूर्व चौथी अथवा पांचवीं कक्षा तक की शिक्षा प्राइमरी एजूकेशन कहलाती थी। वे स्कूल प्राइमरी स्कूल कहलाते थे। देश के प्रायः सभी प्राइमरी स्कूलों को प्राइमरी शिक्षा पद्धति से बेसिक-शिक्षा-पद्धति में बदल दिया गया। परन्तु आज तक शायद ही किसी स्कूल को चर्खा, तकली, रूई अथवा अन्य सामान मिला हो, जिससे ये बच्चे क्रियात्मक शिक्षा प्राप्त कर सकें। सभी स्कूलों के नामपट्ट बदल दिये गये। उन पर प्राइमरी स्कूल के स्थान पर बेसिक स्कूल लिख दिया गया। इस प्रकार बेसिक शिक्षा के कार्यक्रम की इतिश्री हो गई। ऐसा क्यों हुआ; इसलिये कि शिक्षा के क्षेत्र में जो लोग लगे हुए थे वे प्रदर्शन को मुख्य मानते रहे परन्तु शिक्षा को क्रियात्मक रूप देने में उनकी रुचि नहीं थी। वे सीखना भी नहीं चाहते थे और जिस किताबी शिक्षा को वे परम्परा से देते चले आ रहे थे उसी को वे बेसिक स्कूल बन जाने के बाद भी निरन्तर देते रहे। आज भी दे रहे हैं।

योग की स्थिति भी कुछ ऐसी ही नजर आती है। आज कल बहुत से स्कूलों में योग की शिक्षा आरम्भ कर दी गई है। प्रायः स्कूलों में योग से अनभिज्ञ जो पी० टी० मास्टर थे उन्हें यह काम सौंप दिया गया है। कुछ स्कूलों में एक महीने के, दो महीने के या तीन महीने के योगाभ्यास के प्रमाण-पत्रधारियों को नौकरियाँ दे दी गई हैं परन्तु वे नौसिखिये "योगाचार्य" बच्चों को कितना सिखा पा रहे हैं, इसके साथ कितना न्याय कर रहे हैं इस बात का अंदाज इससे लगाया जा सकता है कि दोपहर के बाद चार बजे का समय था, योग में तीन महीने की ट्रेनिंग का प्रमाण-पत्रधारी शिक्षक योगाभ्यास करा रहा था। उस समय गर्मी का कोई अन्त नहीं था। बच्चों के शरीर पसीने-पसीने हो रहे थे। जब मैंने एक बच्चे से पूछा—खाना कितने बजे खाया था? उसने कहा दो बजे। दूसरे दिन पूछा तो उसने कहा डेढ़ बजे। मैं स्तब्ध रह गया, क्या होगा इन बच्चों का? क्या कहूँ इस शिक्षक को? जिसे यह भी नहीं मालूम कि अत्यधिक गर्मी में अथवा अत्यधिक ठंड में योग नहीं करना चाहिये। साथ ही यह भी कि खाली पेट योगाभ्यास करना चाहिये। भोजन करने के बाद कम से कम चार घंटे तक योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। पैरों को आपस में मिला कर तथा हाथों को शरीर के साथ सटा कर शव आसन का अभ्यास कराया जाता है। वे नहीं जानते कि ऐसा करने से शरीर शिथिल नहीं होता अपितु उस में तनाव आता है। एक और स्थान पर योगशिक्षक योग को योगा और आसन को आसना पुकार कर अपरिचितों के सामने अपनी योग से सम्बन्धित योग्यता का प्रदर्शन कर रहा था और सीटी बजा-बजा कर योगाभ्यास करा रहा था।

आइए, अब जरा योग-प्रतियोगिता पर विचार कर लें। जिस प्रकार खेलों में प्रतियोगिता होती है, उसी प्रकार योग में भी प्रतियोगिता का आरम्भ हो गया है। इससे क्या योग का उद्देश्य पूरा होगा? मोटे तौर पर योग सिखाने का उद्देश्य है शारीरिक स्वस्थता और मानसिक शान्ति। योगासन करने से शरीर में रबड़ के समान लचक आ जाती है। प्राणायाम से मन को शांति प्राप्त होती है। किसी भी प्रकार की कोई भी प्रतियोगिता हो, उस में जीत और हार का प्रश्न सम्मुख होता है। प्रतियोगिता के दोनों पक्षों में तनाव उत्पन्न होता है। मानसिक शांति भंग होती है। शरीर में कड़ापन आता है।

इस योग-प्रतियोगिता को स्वर्ग में बैठे महर्षि पतञ्जलि जब देखते होंगे तो वे क्या सोचते होंगे। उनकी क्या दशा बनी होगी। मैं समझता हूँ उनकी वही दशा बनी होगी जो स्वर्ग से झांक रहे गांधीजी की बेसिक शिक्षा को देखकर बनी होगी। इसलिये मेरे मित्रों, योग को खेल मत बनाओ। योग को प्रतियोगिता और धनोपार्जन का साधन मत बनाओ। उसके साथ खिलवाड़ मत करो। उसे योग ही रहने दो। योग खेल या व्यायाम नहीं है, जो इसे प्रतियोगिता का माध्यम बनाया जा रहा है। योग साधना है। योग का शिक्षक बनने से पहले गुरु के संरक्षण में, गुरु के चरणों में बैठकर साधना की आवश्यकता है। योग के साथ खिलवाड़ करने से होने वाली हानियों का उसे ज्ञान होना चाहिये। तभी वह योग का शिक्षक बनने की योग्यता जुटा सकेगा।

●

संत वाणी

(१)

एक अहीरिन नदी के उस पार रहने वाले एक ब्राह्मण पुजारी को दूध दिया करती थी। लेकिन नाव की व्यवस्था ठीक न होने के कारण वह प्रतिदिन ठीक समय पर दूध नहीं पहुँचा पाती थी। ब्राह्मण के बुरा-भला कहने पर बेचारी अहीरिन ने कहा—"महाराज! मैं क्या करूँ, मैं तो अपने घर से बड़े तड़के रवाना होती हूँ, लेकिन मल्लाहों और यात्रियों के लिये मुझे बड़ी देर तक ठहरना पडता है।' पुजारी ने कहा, 'अरे, ईश्वर का नाम लेकर तो लोग जीवन के समुद्र को पार कर लेते हैं और तू जरा-सी नदी भी पार नहीं कर सकती।' वह भोली स्त्री पार जाने के सुलभ उपाय को सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। दूसरे दिन से अहीरिन ठीक समय पर दूध पहुँचाने लगी। एक दिन पुजारी ने उससे पूछा, 'क्या बात है कि अब तुझे देर नहीं होती?' स्त्री ने उत्तर दिया, 'आपके बतलाये हुए तरीके से ईश्वर का नाम लेती हुई मैं नदी को पार कर लेती हूँ, मल्लाह के लिए अब मुझे ठहरना नहीं पड़ता।' पुजारी को इस पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने पूछा, 'क्या तुम मुझे दिखला सकती हो कि तुम किस प्रकार नदी को पार करती हो' स्त्री उनको अपने साथ ले गयी और पानी के ऊपर चलने लगी। पीछे घूमकर उसने देखा तो पुजारीजी बड़ी आफत में पड़े थे। उसने कहा, 'महाराज! क्या बात है आप मुँह से ईश्वर का नाम ले रहे हैं परन्तु अपने हाथों से कपड़े समेट रहे है ताकि वे भीगें नहीं। आप उस पर पूरा विश्वास नहीं रखते?' 'परमेश्वर पर पूरा भरोसा रखना और उसी पर अपने को छोड़ देना प्रत्येक स्त्री-पुरुष द्वारा किये हुए अद्भुत चमत्कार की कुंजी है।'

(२)

श्रीचैतन्य आंध्र देश के एक गाँव में पधारे हैं, वासुदेव उसी ग्राम में रहता है। सारे अंगों में गलित कुष्ठ है, घाव हो रहे हैं और उनमें कीड़े पड़ गये हैं। वासुदेव भगवान् का भक्त है और मानता है कि यह कुष्ठ रोग भी भगवान् का दिया हुआ है। इससे उसके मन में कोई दुःख नहीं है। उसने सुना, एक रूपलावण्ययुक्त तरुण विरक्त संन्यासी पधारे हैं और कूर्मदेव ब्राह्मण के घर ठहरे हैं। उनके दर्शनमात्र से हृदय में पवित्र भावों का संचार हो जाता है और जीभ अपने आप 'हरि-हरि' पुकार उठती है। वासुदेव से रहा नहीं गया। वह कूर्मदेव के घर दौड़ा गया। उसे पता लगा कि श्रीचैतन्य आगे के लिए चल दिये हैं। वह जोर-जोर से रोने लगा और भगवान् से कातर प्रार्थना करने लगा।

भगवान् की प्रेरणा हुई, श्रीचैतन्यदेव थोड़ी ही दूर से लौट पड़े और कूर्मदेव के घर आकर वासुदेव को जबरदस्ती पकड़ने लगे। वासुदेव परे हटकर बोला—'भगवन्! यह क्या कर रहे हैं। अरे! मेरा शरीर घावों से भरा है, मवाद बह रहा है, कीड़े बिलबिला रहे हैं। आप मेरा स्पर्श मत कीजिये। आपका सोने जैसा शरीर मवाद से अपवित्र हो जायेगा। मैं बड़ा पापी हूँ। मुझे आप छूइये नहीं।' परन्तु प्रभु क्यों सुनने लगे, वे उसके शरीर से बड़े जोरों से लिपट गये और गद्गद कण्ठ से बोले—'ब्राह्मण देवता! तुम-जैसे भक्तों का स्पर्श करके मैं स्वयं अपने को पवित्र करना चाहता हूँ।'

●

हिन्दुत्व : मानवएकता का महामन्त्र

कुँवर आनन्द सुमन

हिन्दुत्व मानव जाति के लिये जीवन-दीपक, कर्त्तव्य-परायण, गौरवपूर्ण शब्द का सूचक है। वह सभी कुछ इस हिन्दुत्व में संलग्न है जो अनेक महानतम योद्धा, इतिहासकार, दार्शनिक, कविगण, विधिनिर्माता, शास्त्रों के प्रकाण्ड पंडित समय समय पर स्मरण करते रहे हैं, अनेकों वर्षों से अधिकांश मानव जाति इसी नाम के लिये संघर्ष करती रही है, मानव-समाज ने हिन्दुत्व की रक्षा के लिये मात्र संग्राम ही नहीं किया, अपितु अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। क्या यह नाम मात्र हमारे असंख्य महान कार्यों का प्रतिफल नहीं है? हिन्दु सभ्यता के महान कोष से समान रूप से लाभान्वित होने वाले हमारे ही कई मित्र सम्प्रदायों में भ्रमित भावनाओं का विकास हुआ है, हिन्दुत्व का वास्तविक अर्थ किसी आध्यात्मिक अथवा धार्मिक प्रणाली से सम्बंध नहीं रखता है, उसका तात्पर्य निश्चित रूप से किसी विशेष सम्प्रदाय या मतवाद से सम्बंध नहीं रखता।

हिन्दुत्व का सम्पूर्ण भाव हृदयंगम करने हेतु हमें हिन्दु शब्द का वास्तविक अर्थ जानना होगा, और यह भी जानना होगा कि असंख्य हृदयों में इस नाम का साम्राज्य किस भांति स्थापित हुआ और पराक्रमी हिन्दु समाज ने इस नाम को किस प्रकार ग्रहण किया, निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि पहले पहल आर्यजन जिस युग में सिन्धु सरिता के तट पर आकर बसे और जब उन्होंने अपनी प्रथम यज्ञाग्नि वहाँ प्रज्ज्वलित की, तो सिन्धुतट अग्निहोत्र की पवित्र शान्तिमय सुगंधि तथा वेद के पावन उद्घोष से गुंजित होता था, जिससे आर्यजनों के अन्तःकरण में आध्यात्मिकता की पुनीत ज्योति प्रज्वलित होती थी। हमारे इन वीर एवं पराक्रमी महान आर्य पूर्वजों ने सत्य के अनुसंधान में संलग्न रहकर नितांत ही गम्भीरतम तत्वों की अनुभूति की। इसी लिये वे एक महान व स्थायी संस्कृति की सनातन आधारशिला रखने में सफल हो सके। आर्यानियों (ईरानी, भूतकाल में ईरान का वास्तविक नाम यही था अर्थात् आर्यान था) से जब इनका सम्बंधविच्छेद हुआ उस समय तक सातों नदियों के क्षेत्र अर्थात् सप्त सिन्धु अंचल में यह प्रवास कर चुके थे। इन्होंने अपना नाम भी 'सप्तसिन्धु' ही रख लिया, यह सप्त सिन्धु नाम ही विश्व के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ परमेश्वर की पवित्र वाणी वेद के एक अंश ऋग्वेद में पाया जाता है, अतः यह नाम समूचे वैदिक जगत का ही नाम था। आर्य लोग प्रारम्भ से ही कृषि को सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय मानकर उसे प्रधान वृत्ति के रूप में अपनाते आये हैं। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आर्यजन कृषक भी है, यह सप्तसिन्धु के परम भक्त बन गये थे, इसीलिये यह सप्तसिन्धु उनके लिये अपनी राष्ट्रीयता एवं संस्कृति का प्रतीकचिह्न बन गई थी। यह आर्य जब आगे बढ़े तो मार्ग में अनेक परोपकारी सरितायें मिलीं, किन्तु सप्तसिन्धु के प्रति इनकी भक्ति-भावना एवं श्रद्धा में किसी प्रकार की कमी नहीं आई, आती भी कैसे? जबकि इन्हीं सप्त सिन्धुओं ने उन्हें एक राष्ट्र में सँवारा था, जिसके माध्यम से यह अपनी राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक एकता को दर्शाते थे। आज का प्रत्येक हिन्दु चाहे वह किसी क्षेत्र में वास करता हो, आत्मशुद्धि हेतु कृतज्ञता की भावना सहित इन्हीं सप्तसिन्धुओं का सम्मान करता है या आवाहन करता है। यह विशाल भूमिखण्ड सघन वनों से परिपूर्ण था, मानव-बस्तियाँ तो कहीं-कहीं थीं अतः इन हिन्दु जनों ने वनों को काट कर कृषियोग्य क्षेत्र बनाया, जनपदों, राज्यों की स्थापना हुई। इन कार्यों में लिप्त रहते हुए भी आर्यों ने अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्तियों एवं नवीन परिस्थितियों के अनुरूप ऐसी राजनीति का निर्माण व विकास किया जिसमें केन्द्रीयकरण की व्यवस्था तो थी किन्तु अत्यधिक दृढ़ न थी, समय के साथ ज्यों-ज्यों नवीन उपनिवेश स्थापित होने लगे और उनमें बसने वालों का पारस्परिक स्थानान्तरण भी विस्तृत होने लगा, तथा यह आर्यजन अनेक उच्च संस्कृति-सम्पन्न किन्तु भिन्न-भिन्न जातियों का समावेश अपनी संस्कृति

में करने लगे त्यों त्यों विभिन्न जनपदों के राजनैतिक जीवन के केन्द्र भी कुछ छिन्न-भिन्न होते गये। स्नेह के नवीन सम्बन्धों का सृजन हुआ यद्यपि वह प्राचीन शब्दों का निषेध न कर सके। हिन्दुओं ने एकदेश और एकराष्ट्र की स्थापना का बीड़ा उठाया था, उसकी भौगोलिक मर्यादा भी निश्चित हो गई, जब अयोध्या के महान प्रतापी राजकुमार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने अपनी विजयवाहिनी सहित लंका में प्रवेश किया तो उन्होंने हिमगिरी से महासागर पर्यन्त सम्पूर्ण देश को एक छत्र के नीचे ले आने में सफलता प्राप्त कर ली। जिस दिन विजयअश्व बेरोक-टोक अयोध्या में वापस लौट आया तथा आदर्श राजा रामचन्द्र ने राज्य सिंहासन पर बैठकर सार्वभौमिक चक्रवर्ती वैदिक साम्राज्य का श्वेत छात्र लगाया उस दिन केवल आर्यवंशो नरेशों ने ही नहीं, अपितु दक्षिण के हनुमान, सुग्रीव, विभिषण जैसे राजाओं ने भी उनका सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य स्वीकार कर लिया। अतः वह दिन हमारी महान हिन्दु राष्ट्रीयता का वास्तविक जन्मदिवस था और वही हमारा राष्ट्रदिवस था जिस दिन आर्य-अनार्य दोनों परस्पर मिलकर एकराष्ट्र बन गये थे, उन सब का एकीकरण हुआ तथा राजनैतिक दृष्टि से भी उन्हें सफलता प्राप्त हुई। सबका एक ही लक्ष्य बना, सबने एक पताका को राष्ट्रध्वज के रूप में स्वीकार किया उनके प्रयास भी समान हो गये। जिसके लिये इसके पश्चात् के पूर्वजों ने सतत् संघर्ष की ज्वाला को धधकाये रखा और वह अपनी आत्माहुति चढ़ाते रहे। हिन्दुत्व ही जातपातनाशक एक रामबाण औषधि है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी को एक समान एक माला में पिरोने की शक्ति भी इस महान सूत्र में हैं, भारतरूपी शरीर में चेतना प्राणवान शक्ति हिन्दुत्व है। उसी से राष्ट्रजीवन के अन्य अंशों को गति मिलती है। यह था हिन्दुत्व का अर्थ। मैं तो हिन्दुशब्द का अर्थ मात्र दो पंक्तियों में करता हूँ—

हम भी जियें तुम भी जियो सब जिये वह हिन्दू।
हम ही जियें कोई दूसरा नहीं वह अहिन्दू॥

मानव के उपासक, विशालहृदय के स्वामी एवं प्राणीमात्र का कल्याण करने वाले ही तो हिन्दु हैं। हिन्दु कोई मत-मजहब, सम्प्रदाय, जाति या धर्म नहीं, अपितु हिन्दुत्व एक विशाल राष्ट्रीयता का द्योतक है। आज हिन्दुत्व, हिन्दू देश के वैदिक धर्म के सम्मुख कई संकट हैं। आज हिन्दुत्व के तथाकथित रक्षक कहे जानेवाले ही भक्षक बनने के स्वप्न देख रहे हैं। आज का हिन्दुसमाज भी दो सहस्र वर्षों की गुलामी के कारण अपनी सनातन वैदिक संस्कृति को भूल सा गया है। तभी तो हमारे समाज में हिन्दु कम एवं राजनैतिक जातिवादी अधिक हैं, आज हम आर्यसमाजी, सनातन धर्मी, जैन, बौद्ध व सिख तो कहलाते हैं किन्तु क्या हम पंचसूत्र में बंधकर हिन्दु कहलाना स्वीकार करेंगे? समय रहते यदि इस विषय पर आचरण नहीं किया गया तो हमें अनेकों संकटों व कष्टों को झेलना होगा। अतएव समय रहते जागृत होकर हम मानवता की रक्षा हेतु मानव एकता के महा मन्त्र हिन्दुत्व की माला में संगठित होकर प्रत्येक हिन्दुत्व-विरोधी कार्य का सामना करें। संक्षिप्त में मात्र आप सबसे यही निवेदन करूँगा कि हम महर्षि दयानन्द की तरह सुधारवादी हैं इसलिये हम सब आर्यसमाजी हैं।

हम किसी के मिटाये नहीं मिटते, इसीलिये हम सनातनी हैं। हम धर्म का बुद्धिसम्मत उपयोग करते हैं। इसलिये बौद्ध हैं। हम जीवन में संयम को महत्व देते हैं इसलिये जैन हैं। हम व्यवहार में शिक्षा चाहते हैं इसलिये सिख हैं। किन्तु समन्वय की दृष्टि से हम सब हिन्दु हैं। हिन्दुत्व का मानवहितकारी महामन्त्र सकल राष्ट्र में फैलाकर राष्ट्रीय जनों का समूह बनाकर सारे कुचक्रों को समाप्त करें यही युगधर्म है।

आशा है वर्तमान परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए सकल राष्ट्र के वासी राष्ट्ररक्षाहेतु इस महामन्त्र को स्वीकार कर सत्य सनातन वैदिक संस्कृति की रक्षा कर हिन्दुत्व की रक्षा करेंगे व इस्लामीकरण व ईसाईकरण के दुष्टों से जमकर संघर्ष कर सारी पाखण्ड-लीला को समाप्त कर पुनः सकल जगत में सत्यसनातन वैदिक धर्म की पवित्राग्नि को प्रज्ज्वलित कर मानव-जीवन को सार्थक करने में सहायक बनेंगे व सकलविश्व में चक्रवर्ती सार्वभौम वैदिक साम्राज्य की स्थापना कर विश्व जीवन को सार्थक करेंगे इसी विश्वास व आशा के साथ सकल जगत के उत्पत्तिकर्ता परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें सत्य पथ पर दृढ़ रहने की शक्ति दे। ओ३म् शम्।

धर्म और भौतिकवाद

स्वामी विवेकानन्द

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ऐसी धारणा बनने लगी थी कि अब धर्म की मर्यादा समाप्तप्राय है। वैज्ञानिक उपलब्धियों के कठोर और निर्मम प्रहारों से अन्धविश्वासों की दीवार धराशायी हो रही थी। वे लोग जो धर्म को मात्र विश्वासों और रीति-रिवाजों का द्योतक मानते थे अधीर हो रहे थे। एक समय तो ऐसा लगने लगा कि अनीश्वरवाद और भौतिकवाद की आँधी सभी पुरानी आस्थाओं को झकझोर देगी। अधिकांश लोगों को विश्वास होने लगा था कि धर्म की धुरी चरमरा कर चकनाचूर हो जायगी।

किन्तु विज्ञान की लहर एक अप्रत्याशित मोड़ लेती देखी गयी। विद्वानों ने विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और एक स्वर से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी धर्मों का सारतत्व एक ही है। एक धर्म की प्रामाणिकता सभी धर्मों की प्रामाणिकता से अनुप्राणित होती है। उदाहरण के तौर पर यदि हमारे हाथ में छह उंगलियाँ हैं और अन्य किसी के हाथ में नहीं, तो इसे असाधारण माना जायगा। इसी प्रकार मात्र एक धर्म किसी एक व्यक्ति के हाथ की छः उंगलियों की तरह असामान्य और अस्वाभाविक होगा। यदि एक धर्म ठीक है तो अन्य धर्म भी ठीक होंगे। व्याख्या, प्रकार और प्रस्तर की दृष्टि से अन्तर होते हुए भी सभी धर्मों का सारतत्व एक है।

दुनिया के विभिन्न धर्मों का अध्ययन करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच पाया हूँ कि आत्मा और परमात्मा के विषय में तीन प्रकार की अवधारणा पायी जाती है। सभी धर्म स्वीकार करते हैं कि क्षणभंगुर मानव शरीर के अतिरिक्त कुछ और भी है जो अविनाशी है, अमर है और शाश्वत है। इस प्रकार हम 'मानव शरीर का सारतत्व भाग' अनादि है, और इसीलिए अनन्त भी। और हम लोगों और शाश्वत प्रकृति से भिन्न एक शाश्वत परमतत्व, परमात्मा है जो अनन्त है। लोग विश्व और विश्वजनीन पदार्थों—यथा मनुष्यों के जीवन के प्रारम्भ की बात करते हैं, धरती तल पर मानव का जन्म उसके जीवन का प्रारम्भ न होकर, केवल कालचक्र का प्रारम्भ मात्र होता है। जिसका आरम्भ होता है, उसका अन्त अवश्यम्भावी है, सृष्टि के प्रारम्भ का अर्थ ही है इसी कालचक्र का धरती पर अवतरण। शरीर विनाशशील है, किन्तु इसमें विहार करने वाली आत्मा अमर है।

आत्मा की अवधारणा के साथ ही, पूर्णत्व की अवधारणा भी सामने आती है। आत्मा स्वयं में पूर्ण है। बाइबिल के नवीन संस्करण के अनुसार मनुष्य प्रारम्भ में पूर्ण होता है। उसने अपने दुष्कर्मों से अपने को अपवित्र और अपूर्ण बना लिया है। किन्तु वह इस पूर्णत्व को पुनः प्राप्त कर सकता है। कुछ लोग ऐसे ही विचार रूपकों, संकेतों और कल्पित कथाओं के माध्यम से व्यक्त करते हैं। किन्तु जब हम इन रूपकों और कथाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं, तो हम पाते हैं कि ये सभी इसी मान्यता को प्रतिपादित करते हैं कि 'आत्मा' स्वयं में पूर्ण है और मनुष्य अपनी प्रारम्भिक पवित्रता और पूर्णता को प्राप्त करने में समर्थ है। पर कैसे, मात्र ईश्वर के चिन्तन से।

सभी धर्मों की यही मान्यता रही है कि आत्मा शाश्वत है, इस विश्वास में कुछ मलिनता आ सकती है, परन्तु ईश्वरीय चिन्तन से यह मलिनता हटाई भी जा सकती है। विभिन्न धर्मों में ईश्वर की मान्यता पर विचार करने पर ऐसा प्रतिभासित होता है कि प्रारम्भिक काल में ईश्वर की अवधारणा बहुत अस्पष्ट थी। पुरानी सभ्यता में हम अनेक देवी-देवताओं को पाते हैं यथा सूर्य, पृथ्वी, अग्नि, वरुण आदि। यहूदियों के यहाँ तो अनेक देवता आपस में भयंकर युद्ध करते पाये जाते हैं। फिर 'एलोहिम' नामक देवता की आराधना का वर्णन है, किन्तु बाद में सर्वशक्तिमान 'ईश्वर' के अस्तित्व को मान्यता दी गयी है। फिर भी विभिन्न फिरकों के देवता भिन्न-भिन्न हैं और हरेक फिरका अपने मान्य देवता को ही सर्वशक्तिमान ईश्वर की संज्ञा देता है। किन्तु कालान्तर में यह विभेद सभ्यता के उदय के साथ स्वयमेव समाप्त हो गया।

इसके बाद अद्वैतवाद का युग आया। विश्व के सृजनकर्ता के रूप में एकेश्वर की मान्यता हुई, वह ईश्वर जो

सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिशाली है, वह ईश्वर भौतिकता से परे और लोकोत्तर है और वह अन्तरिक्ष में आवास करता है। वह देवाधिदेव है। वह मानव ज्ञान की पहुँच के बाहर है। बाइबिल में भी ऐसे ईश्वर का वर्णन आता है जो मनुष्यों की पहुँच से दूर, किसी कल्पित स्वर्ग में निवास करता है, जब कि मनुष्य जगतीतल पर रहता है। वह स्वयंभू है और प्रकृति या पृथ्वी उससे आच्छादित है, वह घटघट में निवास करता है।

हिन्दू धर्म में भी लगभग ऐसा ही चित्रण मिलता है। अन्तर इतना ही है कि हिन्दू धर्म में द्वैतवाद को प्रश्रय न देकर ऐसी मान्यता है कि वह ईश्वर जिसकी मनुष्य अर्चना करता है, न केवल स्वर्ग में अथवा पृथ्वी में व्याप्त है, प्रत्युत उसमें और मनुष्य में ऐक्य है। मनुष्य स्वयं ईश्वर का प्रतिरूप है या यों कहिये वह सर्वात्मा का लघु संस्करण है। इस प्रकार मनुष्य में जो यथार्थ है वही ईश्वर है और ईश्वरत्व का यथार्थ ही मनुष्य है। मनुष्य और सर्वात्मा में कोई अन्तर नहीं रहता। इस प्रकार सर्वात्मा के चिन्तन से हम 'स्वर्ग' का साक्षात्कार अपने अन्तर में करते हैं।

प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य का अहं उसे प्रभावित करता है और वह भ्रमवश अपने को हरि, मोहन अथवा राजीव के रूप में स्थायी रूप में देखना चाहता है। मानों कोई हत्यारा यह कहने का दुस्साहस कर ले कि वह अनन्तकाल तक 'हत्यारा' ही रहेगा। किन्तु समय के साथ-साथ, वह हरि, मोहन या राजीव न रह कर स्रष्टा का एक अंश मात्र रह जाता है। सभी धर्म इस बात पर एकमत हैं कि पूर्णता की प्राप्ति शनैः शनैः होती है। क्राइस्ट कहता था कि सर्वात्मा तो तुम्हारे अन्दर ही है, गो कि एक स्थल पर क्राइस्ट यह भी कहता है कि परमपिता स्वर्ग में रहता है। ऐसा कहते समय वह उन लोगों के मध्य अपने को पाता है जो अरढ़ और अनभिज्ञ हैं, अस्तु उन्हीं की भाषा और भावभंगिमा में उन तक पहुँचा जा सकता है। उनकी बुद्धि में ऐसी ही ठोस धारणा बैठ सकती है। कोई व्यक्ति बहुत बड़ा दार्शनिक होते हुए भी धर्म विज्ञान में अबोध बालक सा हो सकता है। जब मनुष्य अध्यात्म की अन्तिम चोटी पर पहुँचता है तभी उसे यह बोध हो पाता है कि स्वर्ग तो उसके ही अन्तस् में है।

यही कारण है कि हम देखते हैं कि हर धर्म में प्रायः कुछ ऐसी व्यवस्थायें मिलती हैं जो एक दूसरे के ठीक विपरीत हैं अथवा विवेक की कसौटी पर खरी नहीं उतर पातीं, किन्तु यह उस धर्म का दोष नहीं है, यह तो प्रारम्भिक चिन्तन से लेकर पूर्ण परिपक्वता की द्योतक है। प्रारम्भ में धार्मिक विश्लेषणों और तर्कों को बोधगम्य बनाने के लिए लोगों ने संकेतों, चित्रों और कल्पित कथाओं का सहारा भी लिया है, केवल इसी अभिप्राय से कि वह शैली आम जनता के लिए बोधगम्य हो सके।

धर्म किसी विशिष्ट प्रणाली, विश्वास या रीतियों का अनुगमन नहीं होता। आप क्या पढ़ते हैं अथवा किस विचारधारा में विश्वास करते हैं, इसका महत्व नहीं है, महत्व तो इस बात का है कि आप की अन्तरात्मा किसका साक्षात्कार करती है। अन्तरात्मा की पवित्रता ही सर्वोपरि है, क्योंकि उसे सर्वात्मा का साक्षात्कार सुलभ है। इसे ही हम 'मोक्ष' की संज्ञा देते हैं। कुछ लोग मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में 'नामजप' की महत्ता बताते हैं, परन्तु कोई भी वीतराग ज्ञानी पुरुष बाह्य आडम्बरों और औपचारिकताओं को मोक्षप्राप्ति में सहायक नहीं मानता। इसे प्राप्त करने की शक्ति तो हमारे अन्तस् में है। हम सर्वात्मा में ही विचरण करते हैं, उसी में 'रमते' हैं, रहते हैं। विश्वासजन्य मत, और सम्प्रदाय तो अबोध बालकों तक ही अपना महत्व रखते हैं, उनकी उपयोगिता सीमित है।

हमें स्मरण रखना होगा कि पुस्तकें धर्म की जननी नहीं होतीं। धर्म पुस्तकों का जनक होता है। किसी पुस्तक ने कभी किसी आत्मा की उत्पत्ति नहीं की। हमें नहीं भूलना चाहिए कि विभिन्न धर्मग्रन्थ, न धर्म के प्रवर्तक हैं और न ही मानव जीवन के। सभी धर्मों का लक्ष्य एक रहा है और वह है आत्मा में सर्वात्मा की अनुभूति। यही एक मात्र सर्वभौम विश्वधर्म है।

सभी धर्म एक सत्य 'यथार्थ' को मान्यता देते हैं, और इसी सत्य को हृदयंगम करना ही 'सर्वात्मा' से साक्षात्कार सम्भव है। विभिन्न धर्मों के आदर्श, नियम और साधन भिन्न हो सकते हैं, पर 'सत्य' की खोज सभी धर्मों का केन्द्रबिन्दु है। जिस प्रकार किसी वृत्त के अनगिनत अर्द्धव्यास एक ही केन्द्र से उद्भूत होते हैं, अथवा एक ही केन्द्र पर

मिलते हैं, ठीक उसीप्रकार विभिन्न धर्म भी एकमेव 'सर्वात्मा' में ही केन्द्रित होते हैं, वह सर्वात्मा जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों की परिधि के बाहर है और जो इस दृश्यमान विश्व, जिसमें हम खाते-पीते हैं, विहार और विचरण करते हैं, ऊलजुलूल का प्रलाप करते हैं और जो भ्रमित आकर्षणों स्वार्थपरता से हमें आबद्ध किये हुए हैं—से परे है। वह सर्वात्मा पुस्तकीय ज्ञान से, मतमतान्तर और विश्वजनीन मृगमरीचिका से भिन्न है। उसकी अनुभूति तो मात्र अपने अन्तः में ही की जा सकती है। कोई व्यक्ति सभी मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों में विश्वास करने वाला हो सकता है, वह विश्वभर के धर्मग्रन्थों को कंठस्थ कर सकता है और सभी पवित्र नदियों, जलाशयों में स्नान और आचमन करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है, फिर भी यदि वह सर्वात्मा का साक्षात्कार करने में सफल नहीं होता है, तो हम उसे निकृष्ट कोटि का अनीश्वरवादी ही कहेंगे।

यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे गिरजाघरों, मन्दिरों और मस्जिदों से कोई सरोकार न रहा और जो सदा धार्मिक पूजा-अर्चना अथवा जपतप से दूर रहा हो, किन्तु उसे यदि वह अनुभूति प्राप्त हो कि सर्वात्मा उसके अन्तः में विराजमान है और इसी अनुभूति के द्वारा वह सांसारिक प्रलोभनों से अपने को विरत करने में सफल रहा है, तो वही व्यक्ति पवित्रात्मा है, साधु है, वीतराग है और उसका मानवजीवन सार्थक है।

यदि कोई कहे कि वह सच्चे मार्ग पर चल रहा है और उसका धर्म ही एकमात्र सच्चा धर्म है और अन्य लोग और अन्य धर्म सच्चे नहीं हो सकते, तो यह विश्वास कर लेना चाहिए कि वह स्वयं भ्रमित और गुमराह है। उसे ज्ञान ही नहीं कि उसके कथ्य और धर्म की प्रामाणिकता की कसौटी अन्य व्यक्तियों और धर्मों की प्रामाणिकता ही हो सकती है।

यदि कोई मत या सम्प्रदाय अलगाव की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दे तो वह स्वागतयोग्य है। ऐसे मत या सम्प्रदाय मनुष्य को सच्चे धर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं। पूजास्थल में जन्म पाना तो उचित है, पर वहाँ ही मरना अनुचित होगा। बच्चे के रूप में पैदा होना तो ठीक है, पर बच्चे के रूप में ही रहना अनुचित होगा। मन्दिर, पूजास्थल, धार्मिक पर्व, समारोह और संकेत बचपन की स्थिति में अपना महत्व रखते हैं पर बड़े होने पर ही उनके बन्धनों से अपने को मुक्त करना होगा, अन्यथा हम स्वयं टूट जायेंगे। मैं मतों और सम्प्रदायों की उपयोगिता का विरोधी नहीं, मैं तो चाहूँगा कि मतों और सम्प्रदायों की संख्या अगणित हो, ताकि मनुष्य को ईश्वर तक पहुँचने के अगणित मार्ग सुलभ हों, परन्तु किसी मत या सम्प्रदाय को औरों पर थोपना और हर धर्म में उसकी उपयोगिता प्रमाणित करने की चेष्टा करना घातक होगा। सभी धर्म मूल रूप से एक ही हैं, पर उनके द्वारा प्रतिपादित मत और सम्प्रदाय विभिन्न राष्ट्रों की भौगोलिक और प्राकृतिक स्थिति से प्रभावित होते हैं। अस्तु, हमारा धर्म तो व्यक्तिप्रधान होगा, कम से कम उन स्थितियों में हम बाह्य विश्व के सम्पर्क में आते हैं।

मैं एक छोटी सी कहानी कहता हूँ। शिकार की खोज में एक शेरनी भेड़ों के झुण्ड पर झपटी। उसी समय उसके गर्भ से एक शेर बच्चे का जन्म हुआ और वह मर गयी। फलतः वह बच्चा भेड़ों के झुण्ड में पलने लगा। वह भेड़ों के साथ घास चुगता था और उन्हीं की तरह में-में करता था। वह कभी यह न समझ पाया कि वह शेर है। एक दिन एक दूसरा शेर वहाँ आया, और उस शेर के बच्चे को भेड़ों के साथ घास चुगते और में-में करते देखकर बहुत आश्चर्य में पड़ गया। उसे देखते ही भेड़ें और शेर बच्चा सभी भाग खड़े हुए। एक दिन उस शेर ने उस शेर के बच्चे को अकेले सोया हुआ पाया। उसने उसे जगाया और कहा कि तुम शेर हो। पर शेर बच्चा इसे नहीं माना। तब वह उसे एक झील के पास ले गया और कहा कि वह पानी में अपनी परछाई को देखकर उसकी परछाई से मिलान करे। शेर के बच्चे ने ऐसा ही किया और उसे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वह शेर है। फिर उस अजनबी शेर ने उसे अपनी तरह गरजने की शिक्षा दी और वह शेर-बच्चा शीघ्र शेर की तरह गरजने लगा। अब वह भेड़ नहीं रह गया। मेरे प्यारे मित्रों, मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि आप सभी शेर की तरह शक्तिशाली और सामर्थ्यवान् हैं। मानवता के कल्याण के लिए उठो, अपने को पहचानो और अपने देवत्व को जाग्रत कर विश्व-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करो।

ऊँचा आसन

एक बार स्वामी दयानन्द एक सभा में बैठे अपना प्रवचन कर रहे थे। सब लोग उनके प्रवचन में लीन थे। इतने में एक अभिमानी और दबंग पण्डित सभा में आया और स्वामी दयानन्द के आसन से भी ऊँचे आसन में जाकर बैठ गया।

यह बात श्रोताओं को बहुत बुरी लगी। उन्होंने इस व्यवहार का विरोध किया। स्वामी दयानन्द ने, जो बड़े हाजिर-जवाब थे, तत्काल ही लोगों को समझा दिया, "वह देखो, नीम पर कौआ बैठा है। जो इन महाशय से भी ऊंचे आसन पर विराजमान है। भाइयों, अच्छे गुणों से मनुष्य महान् होता है। केवल ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं।"

उनका यह उदाहरण सुनकर वह अभिमानी लजा गया और उतरकर नीचे बैठ गया। ●

श्रम की सार्थकता

सन्त तिरुवल्लवर भी कबीर की तरह जुलाहे ही थे और बुने कपड़े को बेचकर अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे। उनके शांत, सौम्य और भक्ति-भाव की हर जगह प्रशंसा सुन कर बहुत से लोग उनसे जलने लगे थे। बहकावे में आकर एक उच्छृङ्खल युवक ने उनके शांत स्वभाव की परीक्षा लेने का निश्चय किया। जिससे उनके ढोंग का पता चल सके और उनको कलई खुल सके। एक दिन वह उनके पास जा पहुँचा। तिरुवल्लवर रोज की तरह कंधे पर गट्ठर लादे कपड़े बेच रहे थे। युवक ने उन्हें रोककर एक साड़ी का दाम पूछा। सन्त ने उसका दाम दो रुपया बता दिया। दाम सुनकर युवक ने उस साड़ी के दो टुकड़े कर दिये और फिर एक टुकड़े के दाम पूछे—"इस एक टुकड़े का क्या लोगे?" 'एक रुपया" सन्त ने चेहरे पर कोई शिकन नहीं लाते हुए; मुस्कान बिखेरते हुए कहा। साड़ी के टुकड़े करने पर भी मना नहीं करने से युवक का साहस और बढ़ गया। उसने फिर उस टुकड़े को दो भागों में फाड़ दिया और उनमें से एक सन्त को दिया तथा दूसरे को हाथ में लेते हुए कहा—"अब क्या लोगे?" उस युवक के टुकड़े-टुकड़े कर देने से सन्त गुस्सा नहीं हुए। उन्होंने उसी तरह से कहा—"अब केवल आठ आने।" दाम सुनकर युवक ने कहा—"लेकिन ये टुकड़े तो मेरे किसी भी काम के नहीं है। इसलिये इन्हें खरीदने से क्या लाभ?" युवक की बात सुनक तिरुवल्लवर ने कहा—"यही कह रहे हो। ये टुकड़े तुम्हारे किसी काम के नहीं रह गए हैं। तुम उन्हें जैसे है वैसे ही रहने दो। मैं इन टुकड़ों को जोड़कर फिर पूरी साड़ी बना लूंगा। उसके बाद उसे साड़ी को लेने वाला कोई न कोई तो मिल ही जायेगा। और अगर कोई नहीं मिला तो घर में काम आ जायेगी।" तिरुवल्लवर का ऐसा सरल उत्तर सुनकर युवक झेंप गया। और कोई होता तो नुकसान करने के कारण लड़ने-झगड़ने लगता और पूरे दाम रखवा लेता। लेकिन तिरुवल्लवर तो सन्त थे। क्रोध उनको छू नहीं गया था। इसलिये क्रोध करने का प्रश्न ही नहीं था। वह युवक बोला—"महाराज, ये टुकड़े अब आपके भी काम नहीं आयेंगे। मैंने इनके टुकड़े किये हैं, तो मैं इनका मूल्य भी चुका देता हूँ। जिससे आपको नुकसान न हो।" युवक को अपने किये पर पश्चात्ताप हो रहा था।

तिरुवल्लवर ने उसके प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए कहा—"नहीं मेरे भाई, जो कपड़ा तुम्हारे किसी काम का नहीं है उसके पैसे मैं कैसे ले सकता हूँ? और तुम क्या यह समझते हो, कि तुमने जो नुकसान किया है? उसे तुम्हारे दो रुपये पूरा कर देंगे? बेचारे किसान ने कितनी मेहनत से कपास उगाया, उनको मेरी पूनी ने कितने दिनों के परिश्रम से काता, फिर उसे रंगा-बुना तब जाकर यह साड़ी बुनकर तैयार हुई। जिसे तुमने टुकड़े-टुकड़े कर दिया। इतनी मेहनत के बाद बनी साड़ी पर किए गए श्रम की सार्थकता तो इसी में थी, कि यह किसी के पहनने के काम आये।" तिरुवल्लवर की बात सुनकर युवक उनके आगे नतमस्तक हो गया। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। बहकावे में आकर उसने सन्त का नुकसान कर दिया था। आज उसे श्रम की सार्थकता समझ में आ गई थी।

●

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी-२२१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा (रजिस्टर्ड सोसाइटी) द्वारा संचालित मुमुक्षु भवन काशी के केदार खण्ड में पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है। काशी में मोक्ष की कामना से आये समर्थ मुमुक्षुओं के लिए सम्प्रति यह एक मात्र आकर्षण केन्द्र है। यहाँ रहने वाले मुमुक्षुओं के दैनिक क्रियाकलापों के लिए इस परिसर में तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त दैनिक प्रवचन एवं कीर्तन की व्यवस्था है। मुमुक्षु बड़ी लगन और निष्ठा से इन धार्मिक कृत्यों में भाग लेकर शांति और भक्तिभाव का अनुभव करते हैं। भवन में लगभग एक सौ आजीवन निवास करने वाले मुमुक्षु, ब्रह्मचारी और ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं, स्वभावतः सत्संग का सुअवसर भी प्राप्त होता है।

भवन के एकभाग में ईश्वर मठ अवस्थित है जिसमें स्वामी घनश्यामानन्द तीर्थ के शिष्य, प्रशिष्य रहते हैं। सभा द्वारा इन दण्डी स्वामियों के आवास की व्यवस्था तो है ही, साथ ही उन्हें निःशुल्क भिक्षा और दूध भी दिया जाता है। इन स्वामियों की अन्य भौतिक आवश्यकताओं की भी आपूर्ति सभा द्वारा की जाती है। सभा द्वारा इसी परिसर में होमियोपैथिक एवं आयुर्वेदिक चिकित्सालय की स्थापना से न केवल यहाँ के आवासी प्रत्युत पास-पड़ोस की जनता भी लाभान्वित होती है। दवा का निःशुल्क वितरण होता है। जहाँ ईश्वरमठ में निवास कर रहे दण्डी स्वामियों को दैनिक भिक्षा दी जाती है, वहीं नित्य प्रातः बाहर के दण्डी स्वामियों, साधुओं और दरिद्र नारायण को भी भोजन कराया जाता है।

भवन के प्रांगण में तीर्थयात्रियों और पर्यटकों के अस्थाई आवास की उत्तम और आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न व्यवस्था है। लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ तीर्थयात्रियों और पर्यटकों के लिए उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त सात ऐसे फ्लैट्स की भी व्यवस्था है जहाँ पर्यटक सपरिवार अस्थायी तौर पर ठहर सकते हैं। हर फ्लैट में दो कमरे, किचेन और बाथरूम की व्यवस्था है। इस प्रकार पुण्यसलिला भागीरथी के तट पर केदारखंड में अवस्थित मुमुक्षु भवन तीर्थयात्रियों और पर्यटकों को बरबस अपनी ओर आकर्षित करता है।

आजीवन आवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के लिए पुराने कक्षों की मरम्मत और उनके पुनर्नवीकरण में लगभग दस हजार रुपये लगते हैं और समर्थ मुमुक्षु सहर्ष इस प्रकार का योगदान देने के लिए तैयार रहते हैं। आजीवन आवास की कामना से आनेवाले मुमुक्षुओं के लिए यह अनिवार्य है कि उनकी उम्र ६० वर्ष से अधिक हो और वे जीवन के अन्य व्यापार एवं नौकरी धन्धे से मुक्त हों— केवल अध्यात्मचिन्तन और आराधना ही उनके जीवन का ध्येय हो। ऐसे मुमुक्षु अपने साथ अपनी पत्नी के अतिरिक्त अपने किसी अन्य मित्र या सगे-सम्बन्धी को नहीं रख सकते।

मुमुक्षुओं के लिए यह भी अनिवार्य है कि वे सात्विक जीवन और सात्विक आहार का ही सेवन करें और शाकाहारी हों। किसी भी प्रकार के नशे का सेवन वर्जित है। छूत की बीमारी से पीड़ित, अपंग, अन्धे और रुग्ण व्यक्तियों को स्थान देना सम्भव नहीं है। मुमुक्षु को समर्थ एवं साधन-सम्पन्न होना आवश्यक है ताकि अपनी भौतिक आवश्यकताओं की वह स्वयं पूर्ति कर सके, साथ ही रखरखाव, पानी एवं बिजली का मासिक खर्च वहन कर सके। यह खर्च सुविधानुसार ५० से १०० रुपये तब मासिक पड़ सकता है। भवन में कोई भी कक्ष किराये पर नहीं दिया जाता।

संस्कृत शिक्षा के उत्थान और विकास को ध्यानगत रखते हुए इसी परिसर में एक महाविद्यालय भी चलता है, जो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से सम्बद्ध है। यहाँ पर मध्यमा, शास्त्री और आचार्य तक के पठन-पाठन की व्यवस्था है। विद्यालय प्रादेशिक सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त और अनुदानित है। भवन से संलग्न एक छात्रावास भी है, जिसमें छात्र निःशुल्क रहते हैं। यही नहीं, उन्हें छात्रवृत्ति भी दी जाती है। परिसर में ही काशी नगरी में अद्वितीय कही जानेवाली एक यज्ञशाला भी

है जहाँ प्रायः यज्ञ का आयोजन हुआ करता है। इसी परिसर में एक समृद्ध पुस्तकालय और संलग्न वाचनालय भी है।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि मुख्य द्वार से प्रवेश करते ही भवन की गतिविधियाँ और इसके सेवा-कार्य दृष्टि-गोचर होने लगते हैं। आगन्तुक मुख्य द्वार पर बने हुए विद्यालय भवन और छात्रावास के आगे तीन चौकों में विभक्त ईश्वर मठ पर दृष्टिपात करता है और बायें पार्श्व में अवस्थित लंका चौक होते हुए, जज साहब की कोठी, बिट्टी चौक, अतिथिशाला, लोहिया चौक, पक्का चौक, गणेश चौक, प्रभृति का भ्रमण कर फुलवारी चौक में पहुँचता है जहाँ उसे अत्याधुनिक यज्ञशाला और राधाकृष्ण मन्दिर, बदरीश्वर महादेव मन्दिर तथा अभयवरद हनुमान मन्दिर के दर्शन होते हैं—सड़क की ओर एक छोटा प्रवेश मार्ग भी है। कितना चित्ताकर्षक दृश्य है, देखते ही बनता है। एक बार प्रवेश करने पर पर्यटक भौतिकता को क्षण भर के लिए भूलकर भक्तिभावना और आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत हो उठता है। जी चाहता है, काशी के केदार खण्ड में अवस्थित इसी मुमुक्षु भवन की परिधि में खो जायें।

अत्याधुनिक नव-निर्मित दो भव्य कोठियाँ और पर्यटक आवास समृद्ध श्रद्धालुओं के लिए विशेष आकर्षण केन्द्र है। शान्ति एवं भक्तिरस से सराबोर और भजन-कीर्तन से गुंजरित आध्यात्मिक वातावरण, हठात् पर्यटकों और तीर्थ-यात्रियों को आकर्षित करता है। हम इस भक्तिभावना से परिपूर्ण शान्त और आध्यात्मिक वातावरण में तीर्थयात्रियों, पर्यटकों एवं आजीवन आवास की कामना से आये मुमुक्षुओं का शत् शत् स्वागत करते हैं।

●

संत वाणी

एक विद्वान ब्राह्मण ने एक बार राजा के पास जाकर कहा महाराज ! मैंने धर्मग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया है। मैं आपको भगवद्गीता पढ़ाना चाहता हूँ। राजा विद्वान् से अधिक चतुर था। उसने मन में विचारा कि 'जिस मनुष्य ने भगवद्गीता का अध्ययन किया होगा वह और भी अधिक आत्मचिन्तन करेगा, राजाओं के दरबार की प्रतिष्ठा और धन के पीछे थोड़े ही पड़ा रहेगा।' ऐसा विचारकर राजा ने ब्राह्मण से कहा कि, महाराज ! आपने स्वयं गीता का पूर्ण अध्ययन नहीं किया है। मैं आपको शिक्षक बनाने का वचन देता हूँ, लेकिन आप अभी जाकर गीता का अध्ययन और अच्छी तरह कीजिये।' ब्राह्मण चला गया, लेकिन वह बराबर यही सोचता गया कि 'देखो तो राजा कितना बड़ा मूर्ख है। वह कहता है कि तुमने गीता का पूर्ण अध्ययन नहीं किया और मैं कई वर्षों से उसी का बराबर अध्ययन कर रहा हूँ।' उसने जाकर एक बार गीता को फिर पढ़ा और राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने पुनः वही बात दोहरायी और उसे बिदा कर दिया। ब्राह्मण को इससे दुख तो बहुत हुआ, लेकिन उसने मन में विचारा कि 'राजा के इस प्रकार कहने का कुछ न कुछ मतलब अवश्य है।' वह चुपके से घर चला गया और अपने को कोठरी में बंद करके गीता का अध्ययन करने लगा। धीरे-धीरे गीता के गूढ़ अर्थ का प्रकाश उसकी बुद्धि पर पड़ने लगा और उसको स्पष्ट मालूम होने लगा कि सम्पत्ति, मान, द्रव्य, कीर्ति के लिये दरबार में या किसी दूसरी जगह दौड़ना व्यर्थ है। उस दिन से वह दिन-रात एक चित्त से ईश्वर की आराधना करने लगा और राजा के पास नहीं गया। कुछ वर्षों के बाद राजा को ब्राह्मण का स्मरण आया और उसकी खोज करता हुआ वह स्वयं उसके घर गया। ब्राह्मण के दिव्य तेज और प्रेम को देखकर राजा भी उसके चरणों पर गिर पड़ा और बोला—'महाराज ! अब आपने गीता के असली तत्त्व को समझा है, यदि मुझे अब अपना चेला बनाना चाहें तो प्रसन्नता से बना सकते हैं।'

●

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

फरवरी, १९८४

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, दाल, साग आदि १५००) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के ब्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

स्थायी भण्डारा

श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	कच्चा	१-२-८४
श्री छेदीलाल दारुका, बिहार	कच्चा	१५-२-८४
श्रीमती वसन्त सुन्दरी देवी वाराणसी	पक्का	१७-२-८४
श्री कैलाशचन्द्र गोयल, कलकत्ता	कच्चा	१८-२-८४
श्री मामन चन्द्रगुप्ता, कलकत्ता	कच्चा	२३-२-८४
श्री रामेश्वरप्रसाद गुटगुटिया, सं० प० बिहार	कच्चा	२४-२-८४
श्री जगमोहन दास शाह, चैरिटी ट्रस्ट, वाराणसी	कच्चा	२६-२-८४

अस्थायी भण्डारा

श्री मोतीलाल खेतान, देवरिया	फलाहार (पक्का)	१३-२-८४
श्री ओमप्रकाश डिडवानिया, वाराणसी	कच्चा	१५-२-८४
श्रीमती किशनी बाई धनबाद वाली वाराणसी	कच्चा	१६-२-८४
स्व० श्रीस्वामी आत्मानंद तीर्थ की षोड़सी, ईश्वर मठ, वाराणसी, समष्टि भंडारा	पक्का	२५-२-८४

अन्नक्षेत्र

श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती वाराणसी, (नवम्बर ८३ से जनवरी ८४) ४५०)

मेसर्स वायर्स एण्ड फैब्रिक्स (एस० ए०) प्राइवेट लिमिटेड, झोटवाड़ा, जयपुर (जनवरी से मार्च '८४) १५००)

श्री सत्यनारायण रूंगटा, कलकत्ता (फरवरी '८४) ३००)

श्रीमती वसन्त सुन्दरी देवी द्वारा डॉ० गंगासहाय पाण्डेय, अस्सी, वाराणसी ५०५०)

होम्योपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
२६१	११९५	१४५६

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
७५	४३४	४९६

राणा प्रताप का भाट

जब वीर-केशरी राणा प्रताप जंगलों और पर्वत-कन्दराओं में भटकते फिरते थे, तब उनका एक भाट पेटकी ज्वालासे तंग आकर शाहंशाह अकबर के दरबार में पहुँचा और सिरकी पगड़ी बग़लमें छिपाकर फ़र्शी सलाम झुका लाया। अकबरने भाटकी यह उद्दण्डता देखी तो तमतमा उठा और रोष-भरे स्वर में बोला।

'पगड़ी उतारकर मुजरा देना, जानता है कितना बड़ा अपराध है?'

भाट अत्यन्त दीनता-पूर्वक बोला, अन्नदाता। जानता तो सब कुछ हूँ, मगर क्या करूँ, मजबूर हूँ। यह पगड़ी हिन्दूकुल-भूषण राणा प्रतापकी दी हुई है। जब वे आपके सामने न झुके, तब उनकी दी हुई यह पगड़ी कैसे झुका सकता था? मेरा क्या है, मैं ठहरा पेटका कुत्ता, जहां भी पेट भरने की आशा देती, वहीं मान-अपमानकी चिन्ता न करके पहुँच गया।

मगर जहां-पनाह............

अकबर ने सोचा, 'वह प्रताप कितना महान् है, जिसके भाट तक शत्रुके शरणागत होनेपर भी उसके स्वाभिमान और मर्यादा को अक्षुण्ण रखते हैं।

–अयोध्याप्रसाद गोयलीय

Regd. No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82 मार्च १९८४ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यता प्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२२१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा-कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद-वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी हैं। हर फ्लैट में तीन कमरे, रसोई, स्नान-घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन बिताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

•

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

मुमुक्षु

अप्रैल १९८४

आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष ३ : अंक ७
चैत्र सं० २०४१
अप्रैल १९८४

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दोसौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

बुद्ध और आदिशंकर
स्वामी रंगनाथानन्द .. १
श्रीराम की लीला में भारत-दर्शन
डॉ० भानुशंकर मेहता ३
सत्संग का अर्थ क्या है ?
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ७
प्रकृति के स्वर
अनाम १०
गँवई गाँव के गोसाई शिव बाबा
श्री विद्यानिवास मिश्र १३
श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव की मानव-परीक्षा-प्रणाली
श्रीमती जलज भादुड़ी १५
शांति वार्ता की पूर्व भूमिका
श्री हरीन्द्र दवे १८
पुस्तक समीक्षा
श्री विनय मोहन शर्मा २२
संत स्वभाव
२३
अरुणाचल प्रदेश के पर्यटक
२४
काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार (कवर पृष्ठ ३)

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु

वर्ष : ३] अप्रैल १९८४ [अंक : ७

बुद्ध और आदिशंकर

स्वामी रंगनाथानन्द

यदि आज हम बुद्ध को नैतिकता के श्रेष्ठतम प्रतीक के रूप में देखते हैं, तो हम आदिशंकर को अप्रतिम विचारक और निष्णात दर्शनशास्त्री की संज्ञा से विभूषित कर गौरव का अनुभव करते हैं। उनकी बौद्धिक प्रखरता एवं दार्शनिक ऊँचाइयों का लोहा सारा विश्व मानता है। विश्व के विचारकों में उनका स्थान मूर्धन्य है। बहुत दिनों तक भारत वाले भी आदिशंकर को समझ नहीं सके थे। वे उन्हें केवल ब्राह्मणों के एक गुट का अथवा सन्यासियों के एक वर्ग का नेता मानते थे। कुछ पुराणों ने भी ईर्ष्यावश उन्हें शिव का अवतार मानते हुए भी, उन पर लांछन लगाने का प्रयास किया, क्योंकि वे उन्हें 'मायावाद' के प्रवर्त्तक कहते थे। इससे जो राष्ट्रीय क्षति हुई है, उसका अनुमान लगाना कठिन है।

इस तरह के अनर्गल लांछन के मूल में मौलिक चिंतन का अभाव ही था। व्यक्ति, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, किसी राष्ट्र में संयोगवश जन्म नहीं लेता, प्रत्युत उसके पीछे राष्ट्रीय संस्कृति का योगदान रहता है। हम कभी-कभी परम्परा और अपनी संकुचित विचारधारा के कारण ऐसे महान् सपूतों को वास्तविक परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाते। ऐतिहासिकता के आधार पर आज हम उन भूलों का परिमार्जन कर रहे हैं और इस परिप्रेक्ष्य में शंकर अथवा बुद्ध के समग्र व्यक्तित्व को नया प्रकाश मिलता है।

यह सभी मानते हैं कि आदिशंकर एक उद्‌भट विद्वान् और उच्चकोटि के दार्शनिक थे। किन्तु प्रायः लोग यह भूल जाते हैं कि समूचे राष्ट्र को एक सूत्र में जोड़ने के कार्य के वे जनक थे। यह अवश्य चिन्त्य है कि भारतीय इतिहास की शिक्षा, संस्कृति के आधार पर न देकर हम केवल बड़े-बड़े साम्राज्यों के उत्थान-पतन पर ही इसे आधारित करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए एक लेख प्रकाशित किया था, जिसका शीर्षक था, 'दी हिस्टॉरिकल इवोल्यूशन आफ इंडिया।' इस लेख में उन्होंने वास्तविक ऐतिहासिक सूत्र के आधार पर यह प्रमाणित किया था कि इतिहास में राष्ट्रीय संस्कृति की झलक मिलनी चाहिए और हम इस संस्कृति के उन्नयन करने वालों को ही राष्ट्र का हीरो, उन्नायक कहना चाहिए। इस सन्दर्भ में हम शंकर को 'राष्ट्रीय हीरो' कह सकते हैं, क्योंकि उन्होंने राष्ट्रीय संस्कृति के पुनर्जागरण और प्रसार-प्रचार को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। उन्होंने देश की बिखरी हुई संस्कृति को एक सूत्र में पिरोया।

आज जब भाषा, धर्म, जाति और संस्कृति के आधार पर देश में बिखरावववादी शक्तियाँ सिर उठा रही हैं, यह जानना आवश्यक और वांछनीय है कि आदिशंकर का राष्ट्रीय एकता के लिए कितना योगदान रहा। संभवतः उनके प्रयास और उनकी शिक्षा हमारा मार्गदर्शन कर सके। आदिशंकर के काल में बिखराववादी प्रवृत्तियाँ देश को जर्जर बना रही थीं। राजनैतिक दृष्टि से देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट चुका था और वे राज्य आपस में बराबर युद्ध-रत रहते थे। राष्ट्रीय ऐक्य समाप्तप्राय था।

हर्षवर्धन का साम्राज्य बिखर चुका था। उत्तरी भारत में राजपूत छोटे-छोटे राज्यों का स्वप्न देखने लगे थे। बौद्ध धर्म अवनति की ओर जा रहा था। अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय जनजीवन को विषाक्त कर रहे थे। लोग उपनिषदों और बुद्ध को भूलने लगे थे। राजनीतिक आपाधापी के इस युग में भिन्न-भिन्न संस्कृति वाली जातियाँ और टोलियाँ अपना अलग राग अलाप रही थीं।

भारत को इस समय एक सुदृढ़ स्तम्भ की आवश्यकता थी, जहाँ पर विभिन्न संस्कृतियाँ और सम्प्रदाय एकत्र होते। आवश्यकता इस बात की थी कि भारतीय संस्कृति इतनी तेजस्विनी हो और भारतीय समाज इतना लचीला हो जो इन विभिन्न संस्कृतियों को पचा कर एकरूपता और ऐक्य के साँचे में ढाल सके। उपनिषदों का नया भाष्य कर समाज के ढाँचे को समयानुकूल ढालना आवश्यक था। इस कार्य के लिए एक प्रखर विद्वान और अतुल शक्तिसम्पन्न व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। सौभाग्यवश वह दार्शनिक सूझबूझ और वह साधनसम्पन्नता हमें आदिशंकर के रूप में प्राप्त हुई।

शंकर ने भारतीय दर्शन का नया भाष्य जनसाधारण के सम्मुख रखा। उन्होंने वेदान्त दर्शन की शिक्षा दी। उन्होंने 'गीता' की उच्चकोटि की टीका प्रस्तुत की और जनसाधारण को यह समझाने में सफलता प्राप्त की कि 'गीता' वास्तव में एक रचनात्मक दर्शन है, जिससे जीवन के हर क्षेत्र में हमारा मार्गदर्शन होगा। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के क्रूर अन्धविश्वासों को यथासम्भव समाजोपयोगी बनाने का प्रयास किया और सभी को वेदान्त की छत्रछाया में लाया। उन्होंने उस समय के लगभग सभी देवताओं और देवियों की पूजा के अर्चना-निमित्त भक्ति से ओतप्रोत हृदय को छू देने वाले स्तोत्रों द्वारा सम्प्रदायवादी शक्तियों को एक सूत्र में बाँधा और इस प्रकार साम्प्रदायिक विष का उन्मूलन किया।

उन्होंने स्वयं सभी सम्प्रदायों, अन्धविश्वासों और धर्मों से ऊपर उठ कर दर्शन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जिससे जनसाधारण लाभान्वित हो सके। तभी तो उनको 'सन्मत स्थापनाचार्य' कहते हैं। उनके विशाल हृदय में वैष्णव धर्म, शैव सम्प्रदाय, मातृपूजा एवं निर्गुण ब्रह्म की आराधना, सभी के लिए स्थान था और इन सबके मूल में उनका दर्शन था, जिसके अनुसार सभी कुछ ग्राह्य था, कुछ भी अग्राह्य नहीं। साथ ही उन्होंने पशुबलि के विरुद्ध आवाज उठाई और तान्त्रिकों की भर्त्सना की। उनका धर्म आम जनता के प्रति प्रेम और समर्पण का पक्षधर था। राजनीतिक उथलपुथल के दौरान जिन नई जातियों का भारत में प्रवेश हुआ, उनमें आर्यत्व का जागरण करने का उन्होंने सफल प्रयास किया, कुछ ने तो हिन्दू धर्म स्वीकार भी कर लिया।

भारत की भौगोलिक अखण्डता को ध्यानगत रख कर उन्होंने देश में चार मठों का निर्माण कराया जो क्रमशः सुदूर उत्तर, सुदूर दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में स्थित हैं। विद्वान् संन्यासियों द्वारा इन मठों के माध्यम से उनके उदार विचारों का प्रसार होता रहा। उन्होंने स्वयं देश की चारों दिशाओं में भ्रमण कर भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयामों का साक्षात्कार किया। कितना समर्पित जीवन था उनका, इसका प्रमाण है उनका परिभ्रमण उस काल में जब न तो यातायात के साधन सुलभ थे और न ही मार्ग। इस प्रकार अपने मन को जनसेवा में लगाकर उन्होंने अपने दर्शन का सुदृढ़ उदाहरण प्रस्तुत किया।

आज हम उनकी सेवाओं के महत्व का आकलन बड़े गर्व से करते हैं। भारतीय संस्कृति पर उनकी छाप अमिट है। आज हमारे सामने एक नयी परिस्थिति है, आज भारत में दुनिया की अधिकांश संस्कृतियों, जातियों और धर्मों के लोग यहाँ निवास करने लगे हैं। स्वभावतः आज की समस्याओं का निराकरण मात्र राष्ट्रीय आधार पर सम्भव नहीं। इन समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर ही सुलझाया जा सकता है।

आज की दुनिया में भारत में ही नहीं, अन्य देशों में भी युद्ध की विभीषिका किंकर्तव्यविमूढ़ता का वातावरण बनाये हुए है, ऐसे समय में भी शंकर की सीख वातावरण में गुंजरित हो रही है, क्योंकि उसे केवल प्रबुद्ध ही ग्रहण कर सकते हैं। वह गुंजार है वेदान्त दर्शन की, जिसके अनुसार सारा भौतिक अस्तित्व एक सूत्र में बँधा है, सभी जीवधारी एक ही सत्ता के रूप हैं।

काश, शंकर के वेदान्त दर्शन की यह सीख कि 'हम सभी एक हैं' दिग्दिगन्त में फैल पाती और विश्व का कोना-

(शेष पृष्ठ ९ पर)

श्रीराम की लीला में भारत-दर्शन

डॉ० भानुशंकर मेहता

सन् १९२० में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों माननीय श्रीस्टेनली (मुख्य न्यायाधीश) तथा माननीय श्री बैनर्जी ने श्री छन्नूदत्त व्यास बनाम श्री बाबू नन्दन मिश्र के एक मुकदमे का फैसला देते हुए लिखा था :

"·····भारत एक ऐसा देश है जहाँ खुले आकाश के नीचे शोभा यात्रायें और झाँकियाँ, विगत शताब्दियों से आयोजित एवम् संपादित की जाती रही हैं और अभी भी आयोजित की जाती हैं तथा सुख्यात हैं और ये किसी मठ या मन्दिरविशेष के अन्तर्गत सीमित नहीं है। तनिक भी महत्व के सभी हिन्दू नगरों में वर्ष प्रतिवर्ष 'रामलीला' का आयोजन और संचालन होता है और यह किसी मन्दिर-विशेष का अंग नहीं है। यह रामलीला मेधाभगत के समय से हो रही है जो सम्वत् १६०० के लगभग विद्यमान थे।····रामलीला एक धार्मिक शोभायात्रा है····।"

इस फैसले से कुछ एक बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि 'रामलीला' कम-से-कम चार-पाँच सौ वर्ष पुरानी है (रामचरितमानस की रचना सम्वत् १६३१ में हुई), दूसरे यह कि भारत के प्रमुख नगरों में 'लीला' होती रही है।

एक और तथ्य भी नोट करने लायक है कि गोस्वामी तुलसीदास तथा मेघा भगत द्वारा स्थापित रामलीला समितियाँ रामलीला के अलावा कृष्णलीला, वामनलीला, नृसिंह लीला तथा दशावतार की झाँकी भी आयोजित करती रही हैं।

रामकथा की व्यापकता विश्वविदित है। भारत से बाहर नेपाल, तिब्बत, खोतान, हिन्द एशिया, जावा, सुमात्रा, बाली, मलय, स्याम, कम्बोडिया (चम्पाद्वीप), थाईलैंड, लाओस, बर्मा तथा श्रीलंका में रामकथाएँ लिखी गयीं और इन देशों में 'रामलीला' आज भी होती हैं।

भारत के तो हर प्रदेश में रामकथा लिखी गयी यथा **तमिल भाषा में**—कम्बन रामायण (१२ हवीं सदी), **तेलुगु भाषा में**—द्विपदरामायण (१३वीं सदी), उत्तर रामायण, निर्वचनोत्तर रामायण, भास्कर रामायण, मोल्ल रामायण, गोपीनाथ रामायण, **मलयालम में**—रामचरितम्, रामकथाप्पाट्टू, कण्णश्शरामायण (१४वीं सदी), रामायण चम्पू (१५वीं सदी) अध्यात्म रामायण (१६वीं सदी) केरलवर्मा रामायण, **कन्नड़ भाषा में**—तोरवे रामायण, मैरावण कालग, जैमिनी भारत, पंपारामायण (सभी १६वीं सदी), **काश्मीरी में**—काश्मीरी रामायण या रामावतार चरित (१८वीं सदी), **असमी भाषा में**—माधव कन्दली रामायण (१४वीं सदी), लवकुश युद्ध (१४वीं सदी), गीति रामायण (१६वीं सदी), जीवस्तुति रामायण, महीरावण वध, पाताल खण्ड रामायण, सीतारपाताल प्रवेश, रामविजय नाटक, श्रीराम कीर्तन, गणक चरित (१७वीं सदी), सीता बनवास, श्रीरामचन्द्र अश्वमेध, कथारामायण, अद्भुत रामायण, **बांगला भाषा में**—कृत्तिवास रामायण (श्रीराम पांचाली) (१५वीं सदी), रामलीला, पदावलियाँ, आश्चर्य रामायण, अद्भुताश्चर्य रामायण (सभी १७वीं सदी), रामायण गाथा, रामलीला, राम[illegible]सामृत, अध्यात्म रामायण पांचाली, (विष्णु पु[illegible]ण), अंगदेर रायबार, अंगद रायबार, विभीषणेर रायबार, कालनेमिर रायबार, विभीषणेर खोट्टा रायबार, रामरसायन, मेघनाथ वध, वाल्मीकि रामायण अनुवाद, **उड़िया भाषा में**—सरलादास रामायण (सिद्धेश्वर परिडा) (१५वीं सदी), विलंका रामायण, रामायण (बलराम दास की, १६वीं सदी), दांडी रामायण, कान्तकोइलि, रामविभा, रघुनाथ विलास, बारमासी कोइलि, अध्यात्मरामायण, विलंका रामायण, विलंका खण्ड, विचित्र रामायण, रामलीलामृत, वैदेहीश-विलास, रामरसामृत, रामचन्द्र विहार, रामरसामृतसिन्धु, रामकृष्ण केलिकल्लोर, रामायण (कृष्ण चरण पटनायक की), सीतेश विलास, नृत्यरामायण, पूर्ण रामायण, **मराठी भाषा में**—एकनाथ कृत भावार्थरामायण (१६वीं सदी),

अहिमहिरावण कथा, शिव रामायण, श्वेतकेतु रामायण, आत्मरामायण, जैमिनी रामायण, अध्यात्म रामायण, शैव रामायण, आगम पांचरात्र रामायण, गुह्यागुह्यक रामायण, हनुमान रामायण, भक्तकूर्मवाराह रामायण, महाकाली रामायण, स्कन्द रामायण, अगस्ति पौलस्ति रामायण, पद्मपुराण त्रिरामायण, अग्निवरुण रामायण, जटायु रामायण, महाभारत रामायण, महाभारती रामायण, धर्म रामायण, संक्षेप रामायण, सीता स्वयंवर, अहिमहिरावण वध, समर्थ रामदास कृत लघुरामायण, वेणाबाई रामायण, रामविजय, मोरोपंत रामायण, शतमुख रामायण, **गुजराती भाषा में**– रामलीला नां पदो (१४वीं सदी), रामविवाह,रामबालचरित (१५वीं सदी) सीताहरण, रामायण, रावण मन्दोदरी संवाद, सीता-हनुमान संवाद, लवकुशाख्यान, रणयज्ञ, सीता विरह, रामायणनो सार, गिरधरदास कृत रामायण, अध्यात्म रामायण (अनुवाद), रामचरित मानस (अनुवाद), **उर्दू भाषा में** – रामायन मेह्र, रामायण खुश्तर, रामायन मंजुम, रामायन बहार, रामायन मसीही, रामायन फैजी, तर्जुमाई रामायन, रामायन अमर प्रकाश, वाल्मीकि रामायन के अनुवाद (उर्दू तथा फारसी में) **संस्कृत भाषा में**— वाल्मीकि रामायण, महाभारत, रावणवध, सेतुबन्ध (५५०-६०० ई०), भट्टीकाव्य, जानकीहरण, रामायणम् मंजरी, दशावतारचरित, उदारराघव, जानकी परिणय, रामलिंगामृत, जानकीराम क्रीडा आह्निक, राघवोल्लास, रामरहस्य, उत्तररामचरित, कुन्दमाला, छलित राम, रामानन्द, प्रतिमा, अभिषेक, मैथिली-कल्याण, दूतांगद, उन्मत्तराघव, अध्यात्म रामायण, रामाश्वमेध, महावीर चरित, उदात्त, राघव, अनर्घ राघव, बाल रामायण, हनुमन्नाटक, आश्चर्य चूडामणि, राघवानन्द, मायापुष्पक, स्वप्नदशानन, अभिनव राघव, रघुविलास, राघवाभ्युदय, रामाभ्युदय, कृत्या रावण, प्रसन्न राघव, उल्लाघ राघव, मैथिली कल्याण, अंजनापवनंजय, दूतांगद, रामाभ्युदय, अद्भुत रामायण, जानकी परिणय, श्लेषकाव्य, राघव पाण्डवीय, राघव नैषधीय, संकटनाशन स्तोत्र, सन्नीति रामायण, रामकृष्ण विलोमकाव्य, यादव राघवीय, राघवीय यादव, रामलीलामृत, चित्रबन्ध रामायण, हंस सन्देश, हंसदूत, कपिदूत, कोकिलसन्देश, चन्द्रदूत, राम गीतगोविन्द, गीत राघव, रामविलास, जानकीगीता, संगीत रघुनन्दन, राघव विलास, रामशतक, रामार्याशतक, आर्या रामायण, बृहत्कथा तथा कथासरित्सागर में रामकथा, भुशुंडी रामायण, चम्पू रामायण, उत्तर रामायण चम्पू, (गद्य) रामकथा, रामकल्पद्रुम, **हिन्दी भाषा में**—श्री रामचरित मानस, पृथ्वीराज रासो में १०० छन्द, सूरसागर में १५० छन्द, भरत मिलाप, रामजन्म, अंगद पैज, अष्टयाम, आदिरामायण (हिन्दी + पंजाबी), अवध विलास, सीताराम चौपाई, अवतार चरित, वाल्मीकि-जैमिनी-रामाश्वमेध-अध्यात्म-योगवाशिष्ठ के अनुवाद, रामचरित, रामरसायन, विश्राम सागर, रामस्वयंवर, अवधविलास (बाघेलि कुंवरिका), कोशलकिशोर, रामावतार, राम मड़ैया, रामचन्द्रोदय, रामचरित चिन्तामणि, साकेत, वैदेही वनवास, कैकेयी, उर्मिला, रामचन्द्रिका, रामावतार कथा (१६९८), राधेश्याम रामायण, गोविन्द रायायण, राम की शक्तिपूजा, तुलसी की कवितावली, गीतावली, रामलला नहछू, दोहावली, बरवै रामायण, कुंडलिया रामायण, छप्पय रामायण, रामायण छन्दावली, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, रामाज्ञा प्रश्न, **मैथिल में**—चंदा रामायण, **जैन**—सीताचरित, पउमचरिय, **बौद्ध**—दशरथ जातक, अनामक जातक दशरथ कथानम, **पंजाबी में**–लवकुश दिल पौड़िया, **सिन्धी में**–वसुमल जैरामदास कृत अनुवाद ।

और देश-विदेश की बहुसंख्य रामायणों पर आधारित 'रामलीलाएँ' होती हैं। कठपुतली नृत्य में रावण छाया, बर्रा कथा, थोलू बोम लाट्टम, थोलाबप्पु कथा, कथकली में रामनट्टम, महाराष्ट्र में हरिकथा, ललित-दशावतार, भवाई में रामवेश, जैन—रामरस, रामजात्राए (असम, बंगाल में) रामताली, रास, कीर्तन, अंकिया नाट, नौटंकी, माच और केरल का कुडिअट्टम। नाटक की सभी विधाओं में रामकथा का मंचन देखने को मिल सकता है। किन्तु 'रामलीला' इनसे हट कर एक अलग ही विधा है। रामलीला में कर्मकाण्ड का विशेष विधान होता है, दिव्य चरित्रों (राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता) का वरण और पूजन किया जाता है। और जब तक रामलीला चलती है (मुकुटपूजन से बिदाई तक) स्वरूपों को देवत्व भाव से समादृत किया जाता है और वे संयम व्रतपूर्वक अलग निवास करते हैं। स्वरूप ७–८ वर्ष के कुलीन, सुन्दर

बालक होते हैं क्योंकि देवत्व का भाव निर्दोष और संस्कारी बाल मन में ही विभासित हो सकता है। रामलीला में मुखौटों का भी प्रयोग होता है और इन मुखौटों में हनुमान, काली, दुर्गा आदि के मुखौटों की भी पूजा की जाती है, स्वरूपों के मुकुटों की पूजा से तो लीला आरम्भ ही होती है। अस्तु किसी अन्य विधा में प्रस्तुत राम-कथा को **राम-लीला** नहीं कहा जा सकता। रामलीला के आरम्भ में वन्दना और अन्त में **आरती** उसका प्रमुख अंग होते हैं।

वाराणसी जनपद में शताधिक मंडलियाँ प्रति वर्ष रामलीला करती हैं और इनमें रामनगर, चित्रकूट, अस्सी की रामलीलाएँ अति प्रसिद्ध हैं। इन लीलाओं के प्रस्तुति-करण, वेशभूषा और श्रृंगार में अन्तर है पर रामलीला के कर्मकांडीय तथा पात्रों के दिव्य स्वरूप का निर्वाह सभी में एक सा है। यहाँ हम आधुनिक और मध्यकालीन मंच पर प्रस्तुत नाटकों, लोक नाट्यों, नृत्य नाटिकाओं और बेले तथा पुतली नाटकों की चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि ये 'राम-लीला' नहीं है। निःसन्देह ये सब उत्तम और सुन्दर विधाएँ हैं और इन्होंने देश-विदेश में अच्छी ख्याति और यश अर्जित किया है।

'रामलीला' प्रदर्शनों और झाँकियों में सूक्ष्म दृष्टि से झाँक कर देखें तो समूचे भारत की झाँकी प्राप्त होती है। यह बात केवल मनोरंजन या आत्मप्रशंसा की दृष्टि से नहीं कही जा रही है। 'रामलीला' के मैदान में पधारें तो अनेक अनूठे तथ्य सामने आयेंगे।

रामलीला बीस से तीस दिनतक चलने वाला श्रृंखला 'नाटक' है। इस लीला में लोक-मंच और लोक नाट्यशैली का उपयोग होता है, यह शैली मौलिक है, पूर्णतः भारतीय है। आमतौर पर रामलीला सड़क, अहाते या खुले मैदान में होती है। कुछ लीलाएँ कुण्ड या सरोवर में भी होती हैं। लीला के प्रसंग के अनुसार स्थल-परिवर्तन भी होते हैं। इस प्रकार हर मोहल्ले में (और लीलाएँ मोहल्ले-मोहल्ले, गांव-गांव में होती हैं) भारत का एक नक्शा बनता है, अयोध्या, गंगातट, जनकपुरी, प्रयाग, चित्रकूट, पम्पासर, पंचवटी, दण्डकारण्य, किष्किंधा, रामेश्वर, सागर, लंका, बैकुण्ठ, क्षीरसागर, हिमालय आदि अवतरित होते हैं। जिस स्थल पर जिस प्रसंग की लीला होती है उसका वही नामकरण होता है। यदि लीला बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हो गयी तो उस क्षेत्र का नाम ही लीलास्थल वाला हो जाता है। बनारस में अवध, चित्रकूट, लंका, अनुसूया आश्रम, गोदावरी (गोदौलिया) प्रभृति मोहल्ले विद्यमान हैं। सड़क पर चौकियां रख कर, मंच बना कर जब लीला होती है तो सहज ही जात्रा, भवाई, तमाशा, नौटंकी, खयाल, तेराकुत्तु, कथकली, यक्षगान और कुडिअट्टम की याद आ जाती है।

रामलीला के कर्मकाण्ड हमें प्राचीन भारत के वैदिक युग की झलक दिखाते हैं तो उसकी झाँकियाँ वैष्णव भक्ति आन्दोलन युग की। श्रृंगार माधुरी रीतिकाल प्रतिबिंबित करती हैं। रामनगर की रामलीला का तो उद्देश्य वाक्य ही है—'अथ लीलानुकरणं प्रवक्ष्यामि महामुने'। सम्पूर्ण राम-लीला बारंबार वैष्णव परम्पराओं की, पाँच रात्र संहिताओं, चैतन्य सम्प्रदाय, रूपगोस्वामी, रासक और श्री रामकृष्ण-लीलानुकरण सिद्धान्त की याद दिलाती हैं। उधर राम-लीला के जुलूस दक्षिण भारत के मन्दिरों की सवारी यात्रा, रथयात्रा की परम्परा की ओर इंगित करती हैं। चित्रकूट रामलीला की झाँकियाँ भावविभोर दर्शनार्थी को बरबस ही श्रीनाथ जी के मन्दिर में ले जाती हैं। वैष्णवों की भाँति यहाँ भी भक्त दर्शक कथा, संवाद रंग–दृश्य या गतिविधि से नहीं, केवल प्रभु के दर्शन से नैन जुड़ाने में तल्लीन रहता है। बस एक रट रहती है 'हरिसूरत की बस एक झलक मिल जाय।' और विश्वास मानिये कि ऐसे भी अभागे हैं, आस्थाहीन लोग हैं जो लीला तो देख आते हैं पर स्वरूप पर उनकी निगाह ही नहीं पड़ती, वे राम को भूल कर 'रावण' को देख आते हैं। रामलीला के पात्र 'स्वरूप' होते हैं और जैसा 'रूप' वैसा 'भाव' भी उनमें आ ही जाता है। बहुधा दर्शकों को इन लीलाओं में वह 'विरल दर्शन' या 'इलहाम' भी हुआ है। इस प्रकार यह रामलीला केवल एक नाट्यविधा अथवा मनोरंजन नहीं है, बल्कि धार्मिक अनुष्ठान है, एक आध्यात्मिक यात्रा है। स्वरूपों की सेवा, पूजा, आरती और झाँकी हमें सनातन धर्म की अखिल भारतीय परम्परा से जोड़ देती है। दर्शकों का जयकारा पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण को जोड़ता है, नौकड़े बीर की

जय हमें वीर-पूजा-यक्षपूजा के आदि युग में, सारस्वत प्रदेशों में ले जाती हैं।

रामलीला के पात्रों की वेशभूषा का अध्ययन सहज ही मुगलकाल की झलक देता है। हनुमान तथा अन्य बन्दरों के घेरदार स्कर्ट हमें राजस्थान, गुजरात और कूमायुं के पर्वतीय प्रदेशों से जोड़ते हैं। रामनगर रामलीला में कुछ राक्षसों की रूपसज्जा केरल शैली में की जाती है। पारसी नाटकों का प्रभाव भी दिख जाता है।

रामलीला की संवाद शैली, एक-एक शब्द को विस्तार से खींचकर बोलना, केरल के प्राचीनतम नाटक 'कुडोअट्टम' से अनुप्रमाणित है तो भाषा में ब्रज माधुरी भरी होती है। रामलीला में दशावतार की झांकी महाराष्ट्र के दशावतार (ललित) का ही प्रतिरूप है।

रामलीला के मुखौटे अभी भी अनुसंधान-कर्त्ताओं की प्रतीक्षा कर रहे हैं। रासलीला के अनुकरण में रामलीला का उद्भव हुआ यह मान कर चलें तो मुखौटों की संगति नहीं बैठती। बनारस की रामलीला में कपड़े, धातु और लुगदी के लगभग २०-२२ मुखौटे इस्तेमाल होते हैं। इन मुखौटों की परिकल्पना किसने की होगी? मुखौटों की डिजायन का स्रोत ढूंढने निकलिये तो अनेक आश्चर्यजनक तथ्य सामने आते हैं। रामलीला के हनुमान के मुखौटे तथा धुर दक्षिण में शुचिन्द्रम के हनुमान विग्रह का रूप-साम्य, श्रीलंका के लकड़ी के मुखौटों और बनारस के मुखौटों की सम-रूपता, उड़ीसा के देवी मुखौटों और बनारस के काली, दुर्गा मुखौटों की एकरूपता, छाऊ-नृत्य के मुखौटों और बनारसी धातु-मुखौटों का साम्य, बहुत सी कल्पनाएँ जगाते हैं। कथकली और यक्षगान की रूपसज्जा और बनारस के काली, दुर्गा और गायघाट रामलीला के वानर मुखौटों की एकरूपता अनेकता में एकता के सेतु बनाती है।

कागज तथा बांस से बने रामलीला के रावण, मेघनाद, जटायु, सुरसा, पर्वत, चारों फाटक, शेषनाग आदि की बनावट और कारीगरी और इनका मोहर्रम के ताजियों से साम्य भी नोट करने लायक है।

रामलीला के मुकुट और शृंगार सहज ही हमें मन्दिरों में ले जाते हैं। इनका अध्ययन करने के लिए हमें भारतीय चित्रकला, भित्ति-चित्रों, कपड़े पर छपे चित्रों, पुरानी प्रस्तर और मृण्मय मूर्तियों, हस्तलिखित सचित्र ग्रंथों का अध्ययन करना होगा या कहें कि हमें इस शोध में प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों की यात्रा करनी होगी।

रामलीला के 'आयुध'—तीर, धनुष, फरसा, खड्ग, तलवार आदि कहाँ से लिये गये हैं यह भी देखना होगा। 'बांस की धनुइया और सनई के तीर' कुशल शोधकर्ता को न जाने किस ग्रामीण या आदिवासी क्षेत्र में ले जायेंगे।

रामलीला के वाद्य-यन्त्र और गायन शैली (नारद-बानी) का स्रोत भी ढूंढने लायक हैं। पात्रों की रूपसज्जा में मुर्दासिंगी, रामरज, गेरु, चन्दन, मस्करा, पन्नी, चमकी से बनाये फूलपत्ती और डिजाइनें, तिलक के प्रकार, नाक से लटकती बुलाक, वक्ष पर छायी अलफी, केश तथा केशप्रसाधन भी गौरतलब है।

रावण के मुखौटे के विभिन्न प्रकार, उस पर बैठा गधे का सिर भी रोचक है। क्या गधे का सिर उसके हठी स्वभाव का प्रतीक है या उसके वेदविद् होने का? राम-वनवास की लीलाओं में मुकुट पर बंधी काली डोरी का प्रतीक किस परम्परा से आया है? तुलसी मंच (चार मंच, गलियारे और बीच में बैठे दर्शक) की डिजायन और पात्रों की गतिविधि का उद्गम कहाँ है? क्या रामलीला के आदि-आयोजक भरत-नाट्यशास्त्र से परिचित थे? संस्कृत के रामकथा नाटकों और 'रामलीला' का कोई सम्बन्ध है क्या? तुलसी के रामचरित मानस के शब्दों और मुहावरों का भारत के भाषाई मानचित्र पर कहाँ तक विस्तार है? रामलीला की शोध में इन सब प्रश्नों का उत्तर ढूंढना होगा।

उपर्युक्त सभी तथ्यों को एक साथ रखकर देखें तो स्पष्ट होगा कि बनारस की रामलीला के निर्माण में समूचे भारत (या समूचे दक्षिण-पूर्व एशिया) ने योगदान दिया है। या कह सकते हैं कि रामकथा ने समूचे जम्बुद्वीप को एक सूत्र में पिरोया है। और 'रामलीला' रामकथा का जीवंत वाचन है।

एशिया से बाहर पदार्पण करें तो यूरोप के पैशन प्ले (ईसा मसीह की लीला) और अफ्रीका में प्राचीन मिस्र के

(शेष पृष्ठ २२ पर)

सत्संग का अर्थ क्या है ?

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

श्री श्रीमाता आनन्दमयी आश्रम, गुरुजी का कक्ष।

९ नवम्बर १९७५ ई०, समय प्रातः ८-२० मिनट।

प्रश्न—बाबा, हम लोग सत्संग शब्द का प्रयोग करते हैं, पर हम सब अज्ञानी हैं, सत् वस्तु क्या है, इसे नहीं जानते। प्रवचन सुनने के बाद कहते हैं—सत्संग में गया था। कभी गुरु के पास गये, कभी हम माँ के पास आये, कभी हम सद्ग्रंथ पाठ सुनने गये—इन सभी कार्यों को हम सत्संग कहते हैं। सत्संग का असली अर्थ है—सत्य की प्राप्ति। लेकिन इसे जानते-समझते हुए भी हम प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। खासकर वर्तमान स्थिति में। तो क्या इन दिनों अ, आ, क, ख वर्णमाला सीखने की स्थिति है? जब हम पहले-पहले वर्णमाला सीखते हैं तब हमें इसका ज्ञान नहीं रहता कि इसके माध्यम से बड़ी पुस्तकें पढ़ी जाती हैं। बाद के स्तर से बड़े-बड़े ग्रन्थों को पढ़ते हैं। हम लोगों का सत्संग इसी प्रकार का है।

उत्तर—तुमने जो कुछ कहा, वह ठीक है, लेकिन यह वास्तविक सत्संग नहीं है। Relative point of view से तुम्हारी बातें ठीक हैं। सत्संग होने पर नष्ट नहीं होता। स्थायी हो जाता है। फलतः जो चीज वास्तव में ठीक है, उसमें आनन्द रहता है, निरानन्द रहता है, सब कुछ रहता है, इनमें सार वस्तु ही है—सत्संग। अगर किसी को अच्छा आदमी समझते हुए उसका साथ कर रहा हूँ और इसे सत्संग कहो तो यह सत्संग नहीं हुआ। अच्छे लोग जब खराब लोगों के भीतर जो वस्तु हैं, उसे कवर करते हैं तब सत्संग होता है। इस भाव का ऐक्शन होने पर ही होता सत्संग सत्, सत्-सत् असत् नहीं है वह सत् है, सत् ही है। लेकिन असत् तो है ही नहीं। जिसे असत् कहते हैं वह भी तो भगवान् ही हैं अर्थात् सब चाहिए—पूर्ण वस्तु। तभी वह वस्तु अपनी होती है वर्ना अपनी कैसे होगी? अगर दूसरी वस्तु हुई तो पराया हो गयी। उनके अलावा कुछ नहीं है। वही है—सत्।

प्रश्न—जब आप स्वस्थ रहते थे तब आपके सिगरा वाले भवन में आपके चरणों के निकट बैठकर हम लोग विषयों की चर्चा करते थे तब आप कहा करते थे—सत् प्रसंग करो। यह जो सत्-प्रसंग है, और हम लोग जो बातें करते थे, वे सब भी तो मूल से आयी हैं, तो क्या यह सब बातें बेकार की हैं?

उत्तर—वह मूल से आयी हैं, अगर यह कौशल है तो वही होगा। आयी है यह बात तुम नहीं कह सकते, नहीं भी आ सकती हैं। अगर वह कौशल है तो आ भी सकती है तभी सत्संग होता है—'योगः कर्मसु कौशलम्'। वह कौशल खूब सरल भी है और कठिन भी। मिथ्या में सत्य को देख सकोगे। सभी वस्तुओं के भीतर वही सत्य है।

प्रश्न—द्रष्टा की असली स्थिति कौन सी है? मिथ्या के भीतर क्या सत्य को देखा जा सकता है?

उत्तर—मिथ्या के भीतर सत्य को तभी देख सकते हो जब सत्य वस्तु लीड करेगा—इस समय तुम मुक्त नहीं हो। सभी वस्तुओं का वही होगा—सभी वस्तुओं में पाओगे। अन्यथा भगवान कैसे हुए? यह भी होना चाहिए। अगर ऐसा नहीं हुआ तो क्या हुआ? यह तो खण्ड हो गया। कौशल उसमें है। जिसका साथ किया है, उसकी अच्छाई-बुराई देखने की जरूरत नहीं है। जिसे बुरा कहता हूँ, उसमें भी अच्छाई है। मैं देखूंगा तो मेरी आँखों के सामने तैरता रहेगा। यह अच्छा आदमी है, यह बुरा आदमी है, यह सब जगत की बातें बन जाती हैं। बुरे मनुष्य के भीतर भी अच्छाई देखना चाहिए, तभी तुम अच्छी चीजें प्राप्त करोगे। संसार में अच्छा-बुरा दोनों चीजें हैं। अच्छे भी खराब भी हैं। खराब व्यक्ति में भी अच्छाई हुई, तुम अच्छाई को पा सकते हो। यह तुम्हारे हाथ की बात है, अच्छाई पाने का कौशल है। विचार करके तुम करोगे क्या? यह अच्छा है, यह बुरा है, ऐसा नहीं होता। विचार नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—आपने कौशल की चर्चा की। इस कौशल को किस रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। मान लिया कि विचार नहीं करूँगा।

उत्तर—यह हृदय का आकर्षण है। शिशु जैसे मां को चाहता है, उसके पास जाता है। मां बच्चे को गोद में लेने के लिए बुलाती है। शिशु हाथ बढ़ा कर मां की गोद में चला जाता है। अगर मां छोड़ दे तो वह गिर जायगा। शिशु इस पर विचार नहीं करता। वह मां की गोद में जा रहा है, अगर यह भाव रहे तो ऐसा होता है। विचार करने पर खण्ड हो जायगा। विचार करो मत।

प्रश्न—कृपा और पुरुषाकार के बारे में आपसे अनेक बार चर्चाएँ हुई हैं जिससे इतना मालुम हुआ कि कृपा एवं पुरुषाकार अगल-बगल रहते हैं। पुरुषाकार और कृपा एक पक्षी के दो पंख हैं। केवल पुरुषाकार से नहीं होता, केवल कृपा से नहीं होता—कृपा के रहने पर पुरुषाकार को रहना ही पड़ेगा। पुरुषाकार रहने पर कृपा भी रहेगी। एक व्यक्ति ने उदाहरण देते हुए कहा—परमहंस रामकृष्णदेव ने गिरीश घोष से कहा था—तुझे कुछ करना नहीं है, केवल बकलम कर दे। यहां तो केवल कृपा देख रहा हूँ, पुरुषाकार कहाँ है? मैं इस बात का जवाब नहीं दे सका।

उत्तर—उसके भीतर पुरुषाकार था, इसलिए उसने कृपा को खींच लिया। उसके भीतर पुरुषाकार था, इसे वह नहीं जानता था। उसका बाहर प्रकाश नहीं था। दोनों की जरूरत है, पुरुषाकार और कृपा की। केवल कृपा से कोई काम नहीं होता और न केवल पुरुषाकार से कोई काम होता है।

१६ नवम्बर, सन् १९७५ ई० श्री श्रीमाता आनन्दमयी आश्रम। गुरुजी का कक्ष। समय ८.५५ प्रातः।

प्रश्न—अखण्ड महायोग के बारे में आपने एक जगह योगी और साधक के श्वास-क्रिया के सम्बन्ध में कहा है—योगी और साधक की श्वास-क्रिया के सम्बन्ध में प्रभेद है। मेरी समझ में यह भेद नहीं आया है। कृपया अच्छी तरह समझा दीजिए। योगी और साधक के श्वास-ग्रहण तथा श्वास-त्याग में कहाँ भेद है, संक्षेप में समझा दीजिए।

उत्तर—श्वास की गति का रोध करने पर अच्छा नहीं होता और अधिक त्याग करने पर खराब नहीं होता। श्वास-त्याग और ग्रहण का सामंजस्य करना चाहिए। इन दोनों के सामञ्जस्य से साम्य अवस्था प्राप्त होती है। अधिक होना चाहिए और रोध भी होना चाहिए। दोनों का समन्वय होना चाहिए। दोनों का समन्वय करना पड़ता है।

प्रश्न—दोनों का समन्वय होने पर क्या एक की निरोध अवस्था आती है?

उत्तर - निरोध क्यों होगा? निरोध की आवश्यकता नहीं होती। योगी के आनन्द का उच्छ्वास निरोध क्यों होगा? निरोध भी नहीं होगा और न बुत्थान होगा। निरोध और बुत्थान (विग्रह), इन दोनों से परे होगा। यही है भगवत् प्राप्ति—उन्हें छूना होगा—भगवान को छूने की इच्छा होगी। भगवान में क्रिया भी है और निष्क्रिया भी है। समन्वय हो जाता है अन्यथा नहीं होता। केवल एक तरफा हो जाता है। योगी के लिए साम्य अवस्था आवश्यक है। गतिरोध करने से कोई लाभ नहीं होता। दूसरी ओर गति बढ़ाना भी ठीक नहीं है। योगी के लिए दोनों ही गलत है। साम्य चाहिए।

प्रश्न—क्या साम्य होने पर आनन्द का अनुभव होता है?

उत्तर—आनन्द का अनुभव तो तुच्छ चीज है। आनन्द का त्याग होना चाहिए। आनन्द अपने कब्जे की चीज है, हमारे अधीन। मैं आनन्द के अधीन नहीं हूँ तभी यह होगा। अन्यथा कैसे होगा? आनन्द और निरानन्द दोनों ही मेरे अधीन रहेंगे। योगी के लिए यही बात है। समन्वय—समन्वय।

गोपाल भाई ने प्रश्न किया—आह्लादिनी-शक्ति के बाद क्या है?

उत्तर—आह्लादिनी शक्ति के बाद कुछ नहीं है। है आनन्द—वह आनन्द नित्य आनन्द होगा—खण्ड नहीं होगा। अखण्ड आनन्द होना चाहिए। अखण्ड आनन्द ही भगवत् स्वरूप है और खाली आनन्द है भोग—वह कुछ नहीं है। भोग को कब्जे में रखना चाहिए, त्याग के साथ। उस वक्त त्याग और भोग दोनों बराबर हो जायेंगे।

प्रश्न—आनन्द में एक विभाग को लिया जा सकता है जैसे उत्सव का आनन्द, एक रूप में। अपने आप में—

उत्तर—शिशु उछल कर मां की गोद में जाता है। लपक कर जाने में गिर जाने का भय बना रहता है। मां गोद में ले लेती है। वहाँ भय की बात नहीं रहती, भय भी नहीं। मां की गोद के बिना काम नहीं चलता। खाली आनन्द से कुछ नहीं होता, खाली दुःख नहीं होता। एकतरफा होता है। मैं सुख भी नहीं चाहता, दुःख भी नहीं चाहता। सुख-दुःख की साम्यावस्था चाहता हूं। सुख में भोग होता है और दुःख में भी। सुख-दुःख से परे होना होगा। स्थायी आनन्द।

प्रश्न—आपने अभी भोग की चर्चा की। उपनिषद् में है—तेन त्यक्तेन भुंजीथाः—वह भोग तो भोग नहीं है।

उत्तर—नहीं। अगर भोग त्याग में परिणत हो जाता है तो फिर भोग कहाँ रह जायेगा? भोग त्याग में परिणत हो जाता है। त्याग भोग होता है, भोग त्याग होता जाता है। त्याग और भोग में विरोध नहीं रहता। विरोध न रहने पर आनन्द चिर आनन्द होता है। अन्यथा आनन्द एकतरफा हो जाता है। त्याग के द्वारा जो आनन्द मिलता है, वही आनन्द स्थायी होता है—अब भोग नहीं है। मूल वस्तु में त्याग भी है, आनन्द भी है। त्याग नहीं भी है और आनन्द भी नहीं है। दोनों ही है, दोनों का अभाव है।

प्रश्न—अर्थात् पूर्ण के भीतर सब है—त्याग, भोग, दुःख-सुख। कौन सा नहीं है?

उत्तर—पूर्ण में दुःख दुःख के रूप में नहीं है, सुख सुख के रूप में नहीं है। दुःख अगर दुःख के रूप में रहे तो दुःख भोग होता है। सुख अगर सुख रूप में रहे तो सुख भोग होता है – सुख भी नहीं रहता, दुःख भी नहीं रहता। सुख भी रहता है, दुःख भी रहता।

प्रश्न—अर्थात् यह कहा जा सकता है कि सब कुछ है, कुछ भी नहीं है।

उत्तर—यही होना चाहिए। यह कहने से नहीं होगा, होना चाहिए। मां की गोद में उछलकर गिरना—माँ की गोद में जाते ही वह गोद में ले लेती है। माँ जब गोद में ले लेती है तब तृप्ति अनुभव होती है। गोद में उछल कर जाना ही कठिन है। डर लगता है कि कहीं गिर न पड़ूं।

गोपालदादा ने कहा—इसका अर्थ यह है कि मां गोद में लेगी, यह निर्भरता नहीं है, मैं गिर नहीं सकता, यह विश्वास नहीं है।

बाबा ने कहा—'यह विश्वास रहना चाहिए।'

●

(पृष्ठ २ का शेषांश)

कोना इस ऐक्य के प्रबल किन्तु मधुर पुकारों से गूंज उठता, क्योंकि आज के बीमार विश्व की यही एक मात्र औषधि है।

वेदान्तकेशरी की चीत्कार अवश्य गूंजेगी। आधुनिक काल में वेदान्त की इस चीत्कार का सर्वोत्तम उद्घोष स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से हुआ। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार वेदान्त की शाश्वत विचारधारा जिससे सारे विश्व के आध्यात्मिक ऐक्य का प्रतिपादन होता है, आज की दुनिया की सर्वश्रेष्ठ धरोहर है। सारे विश्व का अस्तित्व एक है और एक ही आत्मा का स्वरूप सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। यह विचारधारा सुगमता से कट्टर पंथियों और साम्राज्यवादियों के गले के नीचे नहीं उतर पाती। किन्तु आज का विश्व हमसे इसी ऐक्य-सन्देश की कामना करता है। यही ऐक्य सभी नीतिशास्त्रों और आध्यात्मिक वादों का निचोड़ है, और इसके प्रवक्ता हैं आदिशंकर।

आज की दुनिया के लिए बुद्ध और शंकर दोनों भारत की पवित्र देन हैं। दोनों के दर्शन में अलगाव के बावजूद दोनों के बीच में मिलन बिन्दु झलकता है। आज के विश्व को शंकर की प्रखर बुद्धि और बुद्ध के विशाल हृदय की आवश्यकता है, जिससे विश्व को सहानुभूति और प्यार के साथ ऐक्य के सूत्र में बाँधा जा सके। भारत में भी जटिल राजनीतिक और सामाजिक गुत्थियाँ वेदान्त के माध्यम से सुलझाई जा सकती हैं। भारत को अपने सांस्कृतिक अस्तित्व की रक्षा हेतु शंकर और बुद्ध की शरण में जाना होगा। आज का बदला हुआ विश्व, वैज्ञानिक उपलब्धियों के बावजूद भारत की विचारधारा की ओर आकृष्ट है। वेदान्त दर्शन विश्व-समस्याओं को सुलझाने का मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आज का वैज्ञानिक समाज यदि भारत की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखता है, तो इसके मूल में यही है कि भारत बुद्ध और शंकर की जन्मभूमि है। ●

प्रकृति के स्वर

– अनाम –

[गताङ्क से आगे]

चीटियों का व्यवहार कभी-कभी तो मनुष्यों के व्यवहार से बिलकुल मिलता-जुलता होता है। वे अपनी रक्षा के लिए भुरभुरी मिट्टी के छोटे-छोटे छिद्रदार टीले बना लेती हैं और उसे अपने सहयोगी सैनिकों से इस प्रकार आच्छादित कर लेती हैं, कि मानो उन्होंने अभेद्य दुर्ग तैयार कर लिया हो। यदि आप उसके किसी भाग को थोड़ा सा भी विकृत करते हैं तो देखें तत्काल झुण्ड के झुण्ड उसकी मरम्मत कर एक कुशल कारीगर की भाँति उसे पुनः उसके पुराने रूप में लाने के लिए सक्रिय हो जाते हैं और यदि उन्हें थोड़ा सा भी आभास हो जाता है कि कोई शत्रु उनके निकट आ रहा है, तो उनके कामगार तुरन्त उसे जाले के रूप में बुन कर सुरक्षा की पूरी तैयारी कर लेते हैं।

कभी-कभी तो यह जानकर कि कुछ मक्खियाँ विशेषरूप से मधुमक्खियाँ और भौंरे दो तरह का व्यवहार करते हैं, बड़ी हैरानी होती है। एक व्यवहार तो यह है कि वे दिन भर एकाकी स्वच्छन्द रूप से इधर-उधर घूमते दृष्टिगोचर होते हैं। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें भविष्य की कोई चिन्ता नहीं है, या वे भविष्य से अनजान हैं, किन्तु शाम होते-होते वे अपने-अपने टीले या छत्ते की ओर मँडराते उमड़ते घुमड़ते चल देते हैं और अभीष्ट स्थल पर पहुँच कर अपने स्वजातियों के साथ घुल-मिल जाते हैं।

जब हम किसी एकाकी चींटी को मैदान में देखते हैं तो वह बहुत ही निरीह प्राणी प्रतीत होता है। उसके पास सोचने की शक्ति भी है, यह विचार कभी-भी नहीं उठता। पर जब कभी हम उसे समूह में देखते हैं, चाहे वह समूह मात्र चार-छः चींटियों का ही क्यों न हो, तब समझ में आ जाता है कि उन चींटियों के पास सोचने-समझने तथा योजना बद्ध कार्य करने की शक्ति है। यदि मार्ग में कोई मरा हुआ कीट या पतंगा मिल गया तो पूरा समूह, एक साथ उसे घसीट कर अपने टीले तक ले जाने में लग जाता है। अपने भोज्य पदार्थ को टीले के सन्निकट पहुँचते ही सहसा पूरा का पूरा काला टीला हिल उठता है और बड़े ही योजनाबद्ध तरीके से हजारों हजारों चींटियाँ उस भोज्य पदार्थ को चट कर जाती हैं।

इन छोटे-छोटे कीट-पतंगों में सोचने, योजना तैयार करने और सामूहिक रूप से कार्य करने की क्षमता यह सिद्ध करती है कि उनके पास मस्तिष्क की कमी नहीं रहती। कभी-कभी ये कीड़े छोटे-छोटे तिनकों की सहायता से अपने निवासस्थान को सुरक्षित करते हैं। जब कभी वे अपने आरामगृह के निर्माण कार्य में लगे होते हैं, उस समय यदि उनके कार्यविधि का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि वे किसी एक दीवार या छज्जे को तैयार करने में एक निश्चित नाप के तिनके लगाते हैं और इन तिनकों को निश्चित नाप के अनुसार खोज-खोज कर वे एकत्र करते हैं। जब कभी उन्हें कहीं बड़े नाप के तिनके लगाने की आवश्यकता होती है तो वे कुछ बड़े नाप के तिनके आवश्यकतानुसार चुन लाते हैं। उनके समूह के सदस्य इन तिनकों का चुनाव कर इतनी शीघ्रता से उन्हें अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देते हैं, मानो उनके प्रबन्धक द्वारा टेलीफोन से किसी को आदेश दिया गया हो कि अमुक नाप के तिनके तैयार रक्खो और वे इसी आदेशानुसार पलक भाँजते आवश्यक नाप के तिनके एकत्र कर लाते हैं।

यदि नहीं, कभी-कभी चींटियों की लम्बी लम्बी कतारें बड़ी तेजी से फिर भी सावधानी पूर्वक किसी विशेष दिशा में बढ़ती दिखाई पड़ती हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों उन्हें किसी कम्प्यूटर अथवा टेलीफोन से यह पता चल गया है कि अमुक दीवार के ऊपर, अथवा अमुक मकान के पीछे किसी स्थान पर उनका भोज्य पदार्थ पड़ा हुआ है, और उसे प्राप्त करने के लिए इनके सैनिकों की लम्बी कतार निकल पड़ी हो। होता भी ऐसा ही है। यदि आप उस स्थान का निरीक्षण करें, जहाँ पर जाकर यह लम्बी कतार पुनः एकत्र होती है तो आप पायेंगे कि उस स्थान पर कोई

कीड़ा या पतंगा मरा पड़ा है और उसे ले जाने के लिए यह लम्बी कतार लगी है।

यदि आप किसी गाय को चरागाह में स्वच्छन्द विचरण के लिए छोड़ दें तो देखेंगे कि वह कभी एक स्थान पर घास चरती है और फिर थोड़ा हट कर दूसरे स्थान पर। यदि आप घासों और पौधों की थोड़ी जानकारी रखते हों तो आपको पता चलेगा कि जो घास या पौधा जहरीला या कटीला है उसे गाय छोड़ देती है। वह केवल सुस्वादु और जीवन-दायिनी घास को ही खाती है। लेकिन यदि आप किसी गाय को घर पर बाँध कर चारा देते हों तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिस घास को जहरीला मान कर वह चरागाह में नहीं खा रहीथी, उसी घास को आपके घर पर वह अन्य चीजों के साथ खा लेती है। परिणाम यह होता है कि वह रोगग्रस्त हो जाती है और प्रायः मर जाती है! आप पूछेंगे ऐसा क्यों होता है? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि सभी जानवर मनुष्य को अधिक बुद्धिमान मानते हैं और उससे डरते हैं। यहाँ तक कि जंगली जानवर भी। ऐसी दशा में गाय कुछ तो डर कर और कुछ यह सोच कर कि मनुष्य जहरीला चारा नहीं दे सकता, उसे खा लेती है चाहे उससे उसकी मृत्यु ही क्यों न हो जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यों का सम्मान जितना जानवर करते हैं, उतना शायद एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का नहीं कर पाता। यही कारण है कि मानव जाति अपनी ही कमियों और भूलों तथा अपने अहंकार का शिकार होती रहती है।

हमने देखा कि पत्थर के तथाकथित निर्जीव टुकडों और पाषाण खण्डों से लेकर पौधे, सीपी, छोटेछोटे पौधे, लतायें और वृक्ष उतने ही सजीव और स्वरमय हैं जितने कि कीट, पतंगे, भौंरे, मधुमक्खियाँ, चीटियाँ बड़े जानवर और स्वयं मनुष्य है। यदि हम पत्थरों, सीपियों, पौधों और लताओं की स्वर-लहरी को नहीं पहचान या सुन पाते हैं, तो यह हमारी कमी है। यदि हम उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करें तो निश्चय ही हमें उनकी मधुर गुंजार सुलभ होगी।

हम कुत्ते, बिल्ली, गाय, हाथी, घोडा, ऊँट अथवा अन्य जानवरों को पालते हैं, उनसे प्यार करते हैं। उनकी सुरक्षा और उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करते हैं। इनके बदले में ये जानवर भी हमें प्यार करते हैं और हमारी अभीष्ट सेवा करते हैं। हम कुछ अंश तक इनके साथ रागात्मक सम्बन्ध बना लेते हैं और इसके बदले में हम उनकी सेवा स्वीकार करते हैं। यह तो रही स्वार्थ की बात। इसी प्रकार यदि हम पत्थर, सीपी, छोटे-छोटे पेड़-पौधों और लताओं के साथ भी रागात्मक सम्पर्क स्थापित करने का दृढ़ प्रयास करें तो निश्चय ही हमें इनकी झंकार हृदयंगम करने में सफलता मिलेगी।

हम प्रायः बड़े-बड़े अन्धड़ों, तूफानों और भूकम्पों को मानव-जाति का शत्रु मान कर उनसे बचाव का प्रबन्ध करते हैं। हम प्रकृति को कोसते हैं कि वह कितनी निर्मम है कि भूकम्पों के माध्यम से नगरों और गाँवों को रसातल में पहुँचा देती है। किन्तु हम अपने को क्यों नहीं कोसते कि हमारे वैज्ञानिक आविष्कारों ने अणु बम, हाइड्रोजन बम और रासायनिक छिड़कावों द्वारा कितना नरसंहार करने की शक्ति अर्जित कर ली है। हम प्राकृतिक प्रकोपों से डर कर प्रकृति को कोसते हैं, परन्तु क्या कभी भी हमने यह जानने का प्रयास किया है कि इन प्राकृतिक आपदाओं के पीछे कौनसी चेतना शक्ति कार्यरत रहती है। काश, यदि हम यह समझ पाते, तो सम्भवतः प्रकृति की इस संहारेषणा पर हम विजय प्राप्त कर उसे रचनात्मक दिशा में मोड़ सकते।

हमारे वैज्ञानिक तथ्यात्मक विश्लेषण करते हैं। फूलों-पंखुड़ियों को तोड़-मरोड़ कर पता लगा लेते हैं कि वे किन किन अणु, परमाणुओं के किस अनुपात के मिश्रण से बने हैं। वे पता लगा लेते हैं कि तूफान किस दिशा और किस गति से आगे बढ़ रहा है। भूकम्प का गर्भस्थल कहाँ है और किन स्थानों के लिए खतरा है, पर इन सबके पीछे कौन सी चेतनाशक्ति सक्रिय है इसका पता लगाना वैज्ञानिक के प्रयोगशाला की वस्तु नहीं है। इस चेतना-शक्ति की खोज तो हृदय और मस्तिष्क दोनों के सामूहिक प्रयास से ही सम्भव है। एक क्षण के लिए मनुष्य अपने मस्तिष्क पट को बन्द कर, मानसिक विकास को गति देने का प्रयास करे और यदि उसके सतत प्रयासों से उसकी मानसिक शक्ति की धारा किसी संवहनीय अदृश्य प्रणाली से प्रकृति की उस चेतन-शक्ति से सम्पर्क स्थापित कर ले, तो प्रकृतिजन्य संहारशक्तियों पर विजय पाई जा सकती है।

ऐसा नहीं, कि इस प्रकार का सम्पर्क कभी किसी ने किया ही न हो। हमारे ऋषि-मुनियों ने उस चेतना-शक्ति से सम्पर्क स्थापित करने में सफलता प्राप्त की है। इसके लिए जितेन्द्रिय होना होगा—सांसारिकता से ऊपर उठना होगा और त्याग की भावना लानी होगी। थोड़ा-बहुत अनुष्ठान और अभ्यास का उदाहरण आज भी कभी कभी कोई महाप्राण प्रस्तुत करते हैं, जब वे इच्छावृष्टि करा लेते हैं अथवा अपने स्थूल शरीर को अदृश्य बना लेते हैं। शर-शैया पर पड़े भीष्म ने उस चेतना-शक्ति का साक्षात्कार किया था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने इसे देखा था। इसके लिए आवश्यकता है हृदय की प्रांजलता और विशालता तथा उसकी ग्रहण शक्ति की अलौकिक क्षमता।

हेलेन कीलर का मत है कि ब्रह्माण्ड के असीम आश्चर्य केवल उसी अंश तक हमें प्राप्त होते हैं जिस अंश तक हमारी ग्रहण शक्ति समर्थ होती है। यह ग्रहण शक्ति इस बात पर नहीं निर्भर करती कि हमारे चर्म चक्षु ज्ञान के ऐनक से कितना देख सकते हैं, प्रत्युत इस बात पर निर्भर है कि हमारा हृदय कितना ग्रहण कर सकता है। प्रकृति के मधुर स्वर केवल उन्हीं के कानों में गुंजरित होते हैं जिन्हें प्रकृति से प्यार है। प्रकृति के रहस्य उन वैज्ञानिकों को कभी उपलब्ध नहीं होंगे, जो प्राकृतिक सौन्दर्य को नष्ट कर उसके तत्वों, अणुओं और परमाणुओं की परख करते हैं, ये रहस्य तो उन्हें प्राप्य है जो प्रकृति में सूक्ष्म, रसमय भावनाओं का दर्शन करते हैं और उसकी ऊँचाइयों को छूने का प्रयत्न करते हैं, विनम्रतापूर्वक, सावधानी और सम्मान के साथ।

१८५४ ईस्वी में 'रेड इंडियन लैंड' एक बड़े भूभाग को लेने की अमेरिकी सरकार ने पेशकश की। इस अमेरिकी प्रस्ताव का जवाब 'रेड इंडियन्स' के प्रमुख श्री सेठिल ने देते हुए कहा, "आप किस प्रकार इस भूभाग के आकाश को क्रय कर सकते हैं? आप के देश की भूमि के प्रति हमारी निष्ठा को कैसे लेना चाहते हैं? आपके विचार बेतुके जान पड़ते हैं। जब हमें स्वयं यहाँ की हवा की ताज़गी और पानी के कलकल पर कोई अधिकार नहीं है, तो हम उसे कैसे बेच सकते हैं? इस धरित्री का हर कण हमारे लिए पवित्र ईश्वरीय धरोहर है। हमारी स्मृति और हमारे अनुभव में चीड़ के पेड़ों की टहनियाँ, समुद्र तट के बालू कण, हमारे जंगल और भौरों की गुंजार पिरोई हुई है।'

'यहाँ की सुरभित पुष्पवाटिकायें हमारी भगिनी हैं और इसके हिरन, घोड़े, बड़े-बड़े पक्षी हमारे भाई हैं। हमारी चट्टानें, हमारे चरागाह और यहाँ के जीवजन्तु एक विशाल परिवार के अंग हैं। नदियाँ हमारी सहचरी हैं। यदि हम अपना कोई भूभाग आपको देते हैं आपको अपने बच्चों का सिखाना होगा कि हमारे नद तुम्हारे भाई हैं और उनके साथ तुम वही व्यवहार करोगे जो अपने भाई के साथ करते हो।'

'हम आपके प्रस्ताव पर विचार करेंगे और यदि हमने उसे स्वीकार किया तो यह शर्त आवश्यक होगी कि गोरे लोगों को हमारे जानवरों के साथ भाई जैसा व्यवहार करना होगा। आपको अपने बच्चों को बताना होगा कि उनके पाँव के नीचे की भूमि हमारे पूर्वजों की राख से बनी है, अस्तु पवित्र है। आपको अपने बच्चों से कहना होगा कि धरती 'माँ' है। यदि कोई हम पर थूकता है तो वह स्वयं अपने ऊपर थूकता है। इस भूमि पर जो विपत्ति आती है, उससे इस पर निवास करने वाले भी प्रभावित होते हैं।'

'हम जानते हैं कि पृथ्वी मनुष्यों की चेरी नहीं होती। मनुष्य पृथ्वी का आभारी है। मनुष्य जीवन-धागे को नहीं बुनता, वह केवल इसका उपभोग करता है। यदि जीवन-धागे को वह तोड़ना चाहता है, तो स्वयं टूट जाता है। हम सभी भाई-भाई हो सकते हैं। एक बात जिसे हम जानते हैं और जिसे एक दिन गोरे लोग भी मानेंगे, यह है कि ईश्वर जो हमारा है वही आपका भी। यदि आप सोचते हैं कि उस ईश्वर पर आपका एकाधिकार है जिसे आप हमारी धरती पर पाने के लिए प्रयत्नशील हैं, तो यह असम्भव है। आपकी नादानी है। ईश्वर तो मानवमात्र का है। उसकी अनुकम्पा मेरे और आपके लिए समान रूप से प्राप्त है। यह धरती उस परमेश्वर की दृष्टि में मूल्यवान धरोहर है। यदि कोई इस धरती को क्षति पहुँचाने की चेष्टा करता है तो उसके हाथ 'ईश्वर' की अकृपा ही लगेगी।"

गँवई गाँव के गोसाईं शिव बाबा

श्री विद्यानिवास मिश्र

भारतीय लोक-जीवन में शिव कितने रमे हुए हैं, यह इसी से प्रमाणित है कि लोकाख्यान हो, लोकगीत हो, लोक-कला हो, सर्वत्र गौरा-पार्वती और शंकर भोलेनाथ छाये हुए हैं। शिव-पार्वती के विवाह का मंगल गाये बिना कोई विवाह नहीं पूरा होता। 'शिवशंकर खेलैं फाग गौरा संग लिये' के फाग के बिना वसन्तोत्सव नहीं पूरा, शिव-पार्वती की यात्रा के बिना कोई मेला नहीं पूरा होता। शिव-पार्वती साक्षात् लोक हैं। इसीलिए कितना भी साधनहीन कोई क्यों न हो, मिट्टी के लौंदे से शिव और पार्वती गढ़ लेता है, और फिर गोबर के गणेश बन जाते हैं, बेल के पत्ते और मदार या धतूरे के फल-फूल मिल गये, एक लोटा जल तो शिव बाबा प्रसन्न, आशुतोष हैं ही, ढरक पड़ेंगे, फिर उनकी पार्थिव प्रतिमा उसी जल में लुढ़का दी, बहुत हुआ तो पीपल के पेड़ के नीचे रख आये। शिव की पूजा हो गयी। अबीर का मौसम हुआ तो अबीर भी मल दीजिए, शिव बाबा उसके लिए तैयार हैं। शिव बाबा हैं ही एकदम गँवई-गाँव के संस्कार में रमे हुए।

शिव से इतना अपनापन समझ में नहीं आता कि गँवार से गँवार स्त्रियाँ भी शिव-पार्वती की कहानी बेलौस भाव से कहती हैं। बुढ़ऊ शिव बाबा या तो विवाह ही नहीं करते थे या फिर विवाह की रात कोहबर में गये तो वहीं छः महीने रम गये, बाहर निकलने का नाम नहीं लेते। बारात डेरा डाले हुए है, पर वर कोहबर के बाहर आये तभी न विदा हो। हिमालय राजा स्वागत में तबाह। किसी तरह अग्नि ने ढिठाई की और वर बाहर आया। विदाई के समय हालत यह हो गयी कि पार्वती को केले के पत्ते ओढा-पहना कर माँ ने विदा किया। हाँ, बावन हंडा सोहाग जरूर बूढे बैल की पीठ पर लाद दिया गया। कहानी आगे बढ़ती है। बाबा सोचते हैं, इतना सोहाग लेकर पार्वती घर चलेंगी, तब तो किसी को कुछ समझेंगी ही नहीं। उन्होंने कहा कि पार्वती यह बैल इतना बोझा नहीं लाद सकता, इसमें से कुछ बाँट दो। पार्वती पहले गयी ऋषि-पत्नियों के पास, उन्होंने कहा, अभी घर का काम कर लें, पति की आज्ञा ले लें, तब सोहाग लेने आयेंगी। फिर पार्वती एकदम पहुचीं बेसवा-कसबिन के यहाँ, उन्होंने कहा सिंगार-पाट कर लें, पर-पुरुष का मुँह देख लें तब सोहाग लेने आयेंगी। अन्त में पार्वती ने देखा सागसब्जी बेचने खटकिन-तुरहिन निकली हुई हैं, उनसे कहा सुहाग ले लो, उन्होंने दौरा भर-भर सोहाग लिया। इतने में ऋषि-पत्नियाँ आयीं, पार्वती ने कहा, अब क्या आयीं, सोहाग तो ले गईं खटकिन-तुरहिन। ऋषिपत्नियों ने कहा, हम शाप दे देंगी। पार्वती ने कहा, मान के पत्ते पर रात के चौथे पहर घड़े-भर जीवन घट के पानी से स्नान करें, तब सोहागिन होंगी। वेश्यायें भी आयीं। पार्वती ने कहा, अब सोहाग कहाँ, बड़ी मिनती की तो पार्वती ने कहा अपनी माँग संवार कर सिन्दूर का टीका लगाये रहो, तुम्हारा सोहाग बना ही हुआ है।

शिव ने पार्वती को एक छोटे-से पौधे की छाँह में बैठा दिया, स्वयं लोक की चिन्ता में बैल पर निकल गये। सखिया आयीं, उन्होंने विवाह का बायन मांगा, पार्वती ने हांडी में हाथ डाला तो साँप फुफकार उठा, सिन्दूरदानी में हाथ डाला, सब सिन्दूर भस्म हुई मिली। सखियों ने ताना दिया कि हमीं अच्छी, मोटा खाने-पहनने को तो मिलता है और पार्वती तो तीन भुवन की रानी महादेव की बहुरिया, कुछ भी खाने-पीने को नहीं है। इतने में महादेव आये, पूछा, पार्वती, मन मलिन क्यों है। पार्वती ने कहा, सखियाँ ताना मारती हैं, तीन भुवन की रानी, महादेव की बहुरिया और खाने-पीने को कुछ नहीं। महादेव ने कहा, कुछ चिन्ता न करो, कुबेर भंडारी को हुक्म दिया, एक-एक सखी के यहाँ सौ-सौ बार बायन भिजवा दो। बायन गया, सखियाँ निहाल हो गयीं।

और ऐसी एक नहीं, सैकड़ों कहानियाँ हैं, सैकड़ों गीत हैं, जिनमें कहीं शिव भांग की बगिया सींच रहे हैं, कहीं खेत

गोड़ रहे हैं, कहीं बूढ़े बैल को चरा रहे हैं, कहीं कोढी के रूप में तीर्थ जाने वालों की राह में बैठ गये हैं परीक्षा में, कि कौन सच्चा तीर्थयात्री है, वही मुझे भी नहलाने में पुण्य मानेगा, कहीं पार्वती के नये-नये कुतूहल की पूर्ति के लिए नया-नया स्वांग भर रहे हैं, कहीं जोगी-तपसी हैं, कहीं कलाधर। कभी समाधि में डूबे हैं और सन्नाटा छाया हुआ है तो कभी नाचरंग में मग्न हैं और भूतगण की तालियों की गड़गड़ाहट और बैतालों के अट्टाहास से गौरी डर कर शिव के गले से चिपट जाती हैं, शिव का आनन्द दूना हो जाता है। कभी श्मशान की राख लपेटे हुए हैं तो कभी आठों अंगों में अरगजा का लेप हो रहा है, कभी एकदम निहंग और नंग-धडंग, हाथ में खप्पर लिये भीख माँगने निकले हैं तो कभी ऐश्वर्य लुटाने बैठे हैं। ब्रह्मा घबड़ा उठते हैं 'बावरो रावरो नाह भवानी। यह अधिकार सौंपिए औरहिं भीख भली मैं जानी।' भवानी, आपके पति, बौरा गये हैं, एक से एक दरिद्रों को स्वर्ग का राज्य देते जा रहे हैं कि मेरी नाकों में दम हो गयी है, नया स्वर्ग गढ़ते-गढ़ते। भीख माँगना कबूल, पर यह सृष्टि के विधाता का पद किसी और को सौंपिए, मैं चला। गर्जे कि शिव के बारे में कुछ भी समझ में नहीं आता, पर फिर भी उनसे लोक का मन इतना जुड़ा हुआ है कि उनके विकर्षणकारी गुण भी आकर्षण बन गये हैं। उनका महा श्मशान आनन्दकानन बन गया है, उनका उलझा हुआ जटाजूट गंगा की धारा बन गया है, उनके तृतीय नेत्र का अनल सुधानिधि की शीतल कला बन गया है, चिता की राख विश्व की विभूति बन गयी है और उनका विषपायी उन्मत्त रूप जगत का रक्षक और औढरदानी भाव बन गया है। और शिव ऐसे हैं कि सारी विषमताएँ उन तक पहुँचते-पहुँचते सम हो जाती हैं, वे क्रियाएँ ऋजु हो जाती हैं, कुटिलताएँ सीधी हो जाती हैं, सारे आकर्षण जड़ हो जाते हैं, चाहे काम का हो, चाहे काम को विनिन्दित करने वाले पार्वती के नवयौवन का हो, विद्याएँ मूक हो जाती हैं, कलाएँ मूक हो जाती हैं, कलाएँ विकल हो जाती हैं।

शायद शिव की ही तरह भारतीय लोक भी है, उसका व्यक्त रूप इतना बौराह, इतना अनगढ़ और इतना निहंग, पर भीतर वह इतना परिष्कृत, इतना समृद्ध और इतना रमणीय। बाहर का आदमी हिन्दुस्तान को कोई सँपेरे के जादू का देश समझता है, कोई योगाड्ग का भंडार मानता है, कोई स्वच्छन्द विहार की भूमि के रूप में देखता है, कोई इसके अध्यात्म की मुद्रा पर रीझता है, कोई इसके गर्द-गुबार से घबराता है, कोई इसकी नंगी लूली-लंगड़ी जनसंख्या पर तरस खाता है और हिन्दुस्तान की दरिद्रता के चित्र उतारता है तो कोई इस देश के मन्दिरों की मैथुन-मूर्तियों पर लुभाता है, पर बाहर का आदमी समझ नहीं पाता, खीझ-खीझ रह जाता है जब देखता है कि हिन्दुस्तान का दरिद्र आदमी भी कुत्ते की जीभ लपलपाती देखता है तो अपनी आधी रोटी तोड़ कर उसके आगे डाल देता है—ले, हिस्सा लेने तू भी आ गया। देखता है, बिना योगाड्ग के और बिना योग के प्रदर्शन के यहाँ का आदमी तनाव से उबरा हुआ है, अध्यात्म के प्रलाप के बिना विश्व चेतना की चन्द्रिका में नहलाया हुआ है। मृत्यु के जलते दृश्यों के बीच भी मृत्यु के आतंक से अनाक्रान्त है, अपने काम में भी शिव की आकांक्षा से संयत है। भारत के गँवई गाँव का आदमी तभी तक जड़ दिखता है, शव की तरह निश्चेष्ट दिखता है, जब तक कि उसकी अधिष्ठात्री शक्ति की पहचान नहीं होती, पहचान होते ही वह ताण्डव करने लगता है, वह नटराज हो जाता है, दशों-दिशाएँ उसके नृत्य में तालबद्ध हो जाती हैं। भारतीय जन की उदासीनता सम्पूर्ण जीवसृष्टि में उसकी सम्पृक्तता का एक मुखौटा है, उसकी बाहरी निरक्षरता भीतर के गहरे चैतन्य का आवरण है, उसकी सामाजिक विषमता की क्रूरता चराचर से उसके तादात्म्य भाव की विशाल उदारता की एक छलना है। भारतीय जन को कोई पहचानना चाहे तो भारतीय जनवाणी को पहले पहचान ले, कितनी अनलंकृत और कितनी अर्थगर्भ वह वाणी है, कितनी अनगढ़ और कितनी सरस वह वाणी है, उस वाणी के रस-प्रवाह में डुबकी लेते समय भारतीय जन शिव हो जाता है। शिव होने ही के कारण वह काल-व्याल से नहीं डरता, इसे अपने गले में लपेट कर रखता है, वह अपने ऐश्वर्य को प्रमाणित करने के लिए जन-जन के आगे खप्पर फैलाता है, सबसे लेता है, और सर्वस्व लुटाता है, वह जीवन को अखण्ड जीता है, उसके लिए भौतिकता और आध्यात्मिकता दो अलग कोठरियाँ नहीं हैं, उसके लिए उसका वैराग्य ही भोग है और भोग

(शेष पृष्ठ १७ पर)

श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव की मानव-परीक्षा-प्रणाली

श्रीमती जलज भादुड़ी

संवत् १८३६ की १७ फरवरी (१२४२ के ६ फाल्गुन) बुधवार, शुक्ल द्वितीया के ब्राह्ममुहूर्त में हुगली जिला-कामारपुकुर गाँव में रामकृष्ण परमहंस देव ने जन्म ग्रहण किया था। उनके जन्म के पुण्य क्षण की स्मृति में समस्या-जर्जरित आज का मनुष्य, कुछ समय के लिए उस पवित्र प्रेमपराग के सुरभि से यदि पवित्र हो तो वही एक बड़ी उपलब्धि है। अनपढ़ दार्शनिक रामकृष्ण देव ने वेद, पुराण की दुरूहताओं को ऐसे घरेलू प्रचलित कथा-मुहवरों की पोशाक पहना कर युग और समाज के सामने रख दिया था, कि अशिचित भी इसका ररास्वादन कर सकता था। उनकी मानव-मन की परीक्षा-प्रणाली सीधी थी और अनूठी भी। जब कि उस समय मनोविज्ञान का कोई ग्रन्थ उपलब्ध न था। इससे प्रतीत होता है कि साधना के बल से ये अतिरिन्द्रिय सर्वज्ञता प्राप्त कर चुके थे। अपनी योग-प्रसूत सूक्ष्म दृष्टि से, निकट आए व्यक्तियों के शरीरिक गठन और मानसिक भावसमूहों को जान लेते थे। अपनी इस भावभूमि पर विचरण करने की चमता के बारे में उन्होंने स्वयं कहा है—'पारदर्शी काँच की आलमारी में बन्द वस्तुओं की भाँति, किसी भी व्यक्ति के भीतर की चिंता और संस्कार मैं आसानी से देख लेता हूँ।' वे मानों एक सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न यन्त्र थे। उनकी मानव-मन-परीक्षा-प्रणाली को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

शारीरिक लक्षण

आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि विशेष चिंताओं के प्रकाशसूचक दाग प्रायः मानव-ललाट पर प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। वेद-पुराण में भी उल्लेख है कि 'मन ही शरीर गढ़ता है।' इसी कारण प्राचीन काल में विवाहपूर्व कन्या की और गुरुकुल जाते हुए शिष्यों के शरीर के गठन की परीचा करना अति आवश्यक समझा जाता था। रामकृष्ण देव भी इसी प्रकार प्रायः करते थे—'कु'-मन और 'सु'-मन ही कुरूप-सुरूप शरीर गढ़ता है। नेत्रों का विश्लेषण करते हुए वे शिष्यों से कहते थे—'पद्मलोचन, वृषलोचन, योगीनेत्र, देवनेत्र,' इत्यादि। उन नेत्रों की व्याख्या करते हुए कहते थे—'पद्मलोचन व्यक्ति सद्भावनायुक्त साधु प्रकृति का होता है। वृषलोचनवालों में कामप्रवणता होती है। योगीनेत्र ऊर्ध्वलोक के दृष्टिसम्पन्न लाल वर्ण के होते हैं। देवनेत्र बहुत विशाल नहीं होते पर नुकीले, कान तक फैले रहते हैं। कनखियों से देखना प्रायः इनका स्वभाव होता है, साधारण लोगों से इनकी बुद्धि अधिक होती है।' ठाकुर कहते थे, भक्ति भावपूर्ण व्यक्तियों की मांसपेशी, हाथ-पैर ऐसे नरम होते हैं कि कितने भी दुबले हों, उनके शरीर में कोई कोणिक अंश नहीं नजर आता, शरीर चिकना, सुडौल होता है। व्यक्तिविशेषों में भला-बुरा जाँचने के लिए ठाकुर परमहंस उनकी कोहनी से उँगलियों तक हाथ को शिथिल रूप से अपनी हथेली पर रखने को कहते थे। यदि वजनदार होता तो दुर्बुद्धिपरायण और यदि हलका तो सुबुद्धि समझे जाते थे। अपने शिष्य बाबू राम (स्वामी प्रेमानंद) को परखते हुए उन्होंने यह बात शिष्यों में कही थी। वह कहते थे 'भिन्न संस्कार वाले व्यक्तियों के दैनन्दिन क्रिया-कलाप जैसे नींद लेना, प्रचालन विधि, शौच जाना आदि भी भिन्न-भिन्न होते हैं। भोगी और त्यागी के साँस लेने में अन्तर होता है।' एक बार ऐसी बातें करते हुए वे स्वामी विवेकानन्द से बोले 'तेरे सारे लक्षण बड़े उच्चकोटि के हैं, दोष केवल इतना है कि तू साँस बहुत जोर-जोर छोड़ता है, जो कि छोटी उम्र का परिचायक है। वे कहते थे, शौचादि के समय भोगी का मूत्रप्रवाह बाँई ओर और त्यागी की मूत्रप्रवाह दाँई ओर मुड़ कर गिरता है। योगी का मूत्र सूअर नहीं सूंघता। इस विषय में एक दिन उन्होंने भक्तों को एक रोचक सत्यकथा सुनाई थी।

मथुर बाबू के दक्षिनेश्वर मंदिर में दरबान था हनुमान सिंह, जो महावीर मंत्र में दीक्षित, भक्तिनिष्ठायुक्त व्यक्ति था वीर भी था। इसी कारण दरबानों में विशेष स्थान

रखता था। एक दिन उससे बढ़ कर एक पहलवान आकर बोला कि वह मल्लयुद्ध में हनुमान सिंह को पराजित कर देगा। मथुर बाबू ने कहा ऐसा होने से उनकी नौकरी तुम्हें दे दी जाएगी। सभी बड़ी व्यग्रता से उस दिन का इन्तजार करने लगे। होड़ होने के सात दिन पहले से दूसरा पहलवान काफी पुष्टिकर खाद्य खाता रहा। रोज खूब व्यायाम-अभ्यास करता रहा। हनुमान सिंह में कोई परिवर्तन नहीं आया। रोज सुबह नहाँ-धोकर इष्ट देव का नाम लेता। दिन में एक बार भोजन करता। रामकृष्ण देव बड़े चिंतित हुए। बोले—'सभी कह रहे हैं, तुम काफी डर गए हो, मन ही मन हार स्वीकार कर चुके हो। बिना अच्छे खाद्य और व्यायाम के मल्लयुद्ध में जीतोगे कैसे?'

हनुमान बोला—'आपकी कृपा होगी तो जरूर जीतूंगा। दुनिया भर के भोजन से क्या होगा, मैंने तो उसे छुप कर मल त्यागते देखा है। इस भोजन से उसको अपच ही होगी। जय की कोई आशा नहीं।'

वास्तव में युद्ध में हनुमान ही जीता था।

स्त्रियों में वे दो प्रकार मानते थे। एक विद्याशक्ति दूसरी अविद्याशक्ति। कम आहार, अल्प नींद और इन्द्रिया-शक्ति वाली स्त्रियों को विद्याशक्ति बताते थे। ऐसी स्त्रियाँ पतियों से भगवत् चर्चा में आनन्द पाती हैं। उनके द्वारा अच्छे कार्य हों, इसी चेष्टा में रहती हैं। अविद्या शक्ति हर-हालत में इसके विपरीत स्वभाव की होती हैं। उनका कहना था—नारी जाति में योनि-स्थान के आकृति-भेद उनके स्वभाव की सात्विकता और असात्विकता को प्रकट करते हैं, ऐसा भी मान्य है। चींटी जैसे उभरे पश्च भागवाली स्त्रियाँ पाशव-प्रवृत्ति की होती हैं।

दूसरे और तीसरे प्रणाली में वह लोगों के सामान्य कार्यों और बातों में मानसिक भावाभिव्यक्ति का सहारा लेते थे। शिष्यों को गार्हस्थ्य बनाएँ या संन्यासी इसकी जाँच के लिए वे प्रायः प्रश्न करते थे—'विवाहित हो? मोटे तौर पर भोजन-वस्त्र की व्यवस्था है या नहीं? सन्यासी बना लिये गए तो घर सम्हालने वाला कोई दूसरा है या नहीं?' इत्यादि।

बालक और युवक छात्रों पर उनकी बड़ी कृपादृष्टि थी। उनकी सांसारिक अनभिज्ञता की प्रशंसा करते हुए वे कहते थे—'मन सरसों के दानों-सा है, बिखर गया तो बटोरना मुश्किल'; अथवा 'कच्चे खपरैल पर गइया के खुर की छाप मिटा दे सकते हो परन्तु खपरैल के आग में पक जाने पर सम्भव नहीं'। किशोर स्वभाव का भोलापन रामकृष्ण देव को उनकी ओर खींचता था।

रामकृष्ण देव एक दिन एक युवक से पूछने लगे—'तुम शादी क्यों नहीं कर लेते?

युवक—मेरा मन अभी वशीभूत नहीं है। शादी कर लूं तो कहीं स्त्री के वशीभूत हो जाऊँ। कभी यदि कामजीत हो सकूँगा तो शादी करूँगा। रामकृष्ण देव समझ गए थे। युवक में आसक्ति होते हुए भी निवृत्तिमार्गीय बुद्धि है। हँसते हुए बोले—कामजीत हो जाओगे तो विवाह की आवश्यकता होगी नहीं। एक दूसरे दिन की बात है, एक बालक से बोले—'देखो मैं एक अच्छा खासा बूढ़ा व्यक्ति हूँ, पर मुझे होश नहीं रहता कब नंगा हो जाता हूँ। कमर पर धोती रहती ही नहीं। जब ख्याल आ जाता है तो दो जांघों में धोती दबाकर बैठता हूँ। क्या तुम ऐसे नंगे फिर सकतेहो।'

बालक—आपका आदेश हो तो फिर सकता हूँ।

रामकृष्ण देव—तो जाओ बेटा नंगे होकर काली मन्दिर का चक्कर तो काट आओ।

बालक—नहीं महाशय, यह केवल आपके सामने सम्भव है, सबके सामने नहीं।

रामकृष्ण देव एक दिन और एक युवक से पूछने लगे—'शादी ही नहीं करोगे तो नौकरी करके दूसरे की गुलामी क्यों करना चाहते हो। टका भर मन पूरा ईश्वर को समर्पित करो। खैर तुम कहते हो माँ के भरण-पोषण के लिए नौकरी करना है तो जरूर करो।'

रामकृष्ण देव के लिए जन्मदात्री माता और स्वर्ग की काली माँ में कोई भेद न था। एक बार माँ शारदा ने जब प्रश्न किया कि "मैं तुमको कैसी लगती हूँ," तो ठाकुर ने उत्तर दिया था, "जो मन्दिर में जो नहबत में वही मेरे पैर दाबती बैठी है।" (उन दिनों नहबत के कमरे में राम-कृष्ण की माता निवास करती थीं,) समाज में रहना है, तो भोगी हो या योगी, व्यावहारिक बुद्धि जरूर होनी चाहिए। इस विषय में एक रोचक घटना घटी थी। शिष्य योगेन्द्र

एक फूटी कढ़ाई मोल ले आया। रामकृष्ण चिढ़ गए। बोले—'वाह बुद्धू ! दूकानदार तो दुकानदारी करेगा ही। क्या उसने धरम का अखाड़ा खोल कर रखा है? अब कभी मोलने जाओ तो चार दूकान घूम कर सबसे सस्ती जहाँ हो और कोई छूट भी दे रहा हो, तो उसी से खरीद कर लाओ।

अत्यंत कोमलहृदय व्यक्ति को वह कठोर होने की शिक्षा देते थे। उनका शिष्य निरंजन कुछ क्रोधी था। एक दिन जब नाव पर दक्षिणेश्वर आ रहा था, तो कुछ यात्री रामकृष्ण की बड़ी निंदा, समालोचना करने लगे। गुस्से में निरंजन ने नाव डुबोने की कोशिश की। वह खुद तो अच्छा तैराक था। यात्री बहुत हाथ-पैर जोड़ने लगे, माफी माँगने लगे, तब उसने अपना निश्चय बदल दिया। यह बात जब रामकृष्ण देव ने सुनी तो बोले—'सद्व्यक्ति का गुस्सा तो पानी का दाग सा होना चाहिए, अभी है, अभी नहीं। तेरा गुस्सा तो चंडाल है। ऐसी हालत में मन से बोल, क्रोध नहीं हृय पोक (कीड़ा) है।'

बिल्कुल ऐसी ही घटना योगेन (स्वामी योगानंद) के साथ भी घटी। योगेन स्वभाव का बहुत कोमल और दब्बू प्रकृति का था। रामकृष्ण देव योगेन से बोले—"शास्त्र में है गुरुनिंदा सुनने से उसका गला काट देना ही अच्छा है। योगेन तू बिना प्रतिवाद किये ही चला आया।'

वे कहते थे अधिक घी-तेल के सेवन से तामस वृत्ति बढ़ती है। एक दिन शिष्यों के बीच उन्होंने इस बात को बड़े अनूठे ढंग से व्यक्त किया—'उतना घी खाना किस काम का? क्या घर की बहू-बेटियों को बाहर लाना है?'

इसके बाद भला कौन और घी तेल खाएगा।

चौथी प्रणाली के अन्तर्गत व्यक्तियों की श्रद्धा बढ़ रही है या घट रही है इसकी भी वे परीक्षा लेते थे। उनकी वाणी को लोग जड़ से पकड़ रहे हैं या नहीं इसकी जाँच के लिए प्रायः पूछते थे—'मैं तुम्हें कैसा प्रतीत होता हूँ।'

योगबल से जिन सज्जनों के आने का पूर्वाभास हो जाता था, उन्हें तो आते ही यह प्रश्न करते। भिन्न-भिन्न धर्म और मानसिक संस्कार के अनुसार उत्तर भी भिन्न-भिन्न होते। कोई कहता—'आप यथार्थ ही साधु हैं' कोई 'महा-पुरुष हैं,' 'कोई साक्षात शिव हैं,' कोई कहता 'आप ही श्री चैतन्य महाप्रभु हैं'।

तभी वे लोग कहते थे 'आप श्रीकृष्ण, बुद्धदेव या ईसा जैसे ईश्वरप्रेमी हैं।' ईसाई अध्यापक विलियम हेस्टी ने कहा था आप नित्य चिन्मानन्द ईशपुत्र क्राइस्ट हैं'। रोमाँ रोलाँ ने उन्हें सार्वभौम उपाधि दी तो मैक्समूलर ने 'स्वप्न-द्रष्टाओं का सम्राट'। इस प्रकार जो मनुष्य उन्हें जिस भाव से देखता उसके साथ वे वैसा ही व्यवहार करते थे।

इसी प्रकार उनके चरित्र में एकोहम् बहुस्याम रूपी सनातन ब्रह्म ही चरितार्थ होते हैं। किसी साक्षात्कारी ने उनके विषय में कहा था उनके शरीर से आत्मा इसप्रकार प्रज्ज्वलित होती थी जैसे एक शीशे की चिमनी के भीतर की दीप-शिखा। उनके पवित्र शरीर के लिए यह पारदर्शी काँच की तुलना ही सर्वतः उपयुक्त है।

●

(पृष्ठ १४ का शेषांश)

ही वैराग्य; क्योंकि वैराग्य दूसरों से उद्विग्न होकर नहीं और भोग दूसरों से छीन कर नहीं। यह प्रबुद्ध है पर बक-वादी नहीं। काम्य उसे भी शुचिता है, पर ऐसी शुचिता जो अशुचिता का भी निस्तार कर सके, ऐसी नहीं जो एक पर्वत बन कर काष्ठीभूत हो जाय और बहुत बड़ी समस्या बन जाय।

भारतीय लोकजीवन इसी लिए विश्व-जीवन से एकाकार है, क्योंकि वह सबका पारमार्थिक मंगल मनाता है और सबके मंगल में अपना मंगल देखता है, उसमें शिव तत्व इसलिए है कि उसका चैतन्य जगद्धात्री की स्नेहदृष्टि से पोषित है। शिव बाबा, सच पूछा जाय तो, गँवई-गाँव के ही गोसाई हैं, जब तक ऐसे गोसाई हैं तब तक भारत के गँवई-गाँव पर कोटि-कोटि नगर निछावर हैं।

●

कृष्ण और मानव संबंध-८

शान्तिवार्ता की पूर्व भूमिका

-श्री हरीन्द्र दवे -

धृतराष्ट्र की इच्छा है कि राज्यश्री उसके पुत्रों के पास रहे, और युद्ध के भय से या किसी भी अन्य कारणवश युधिष्ठिर आदि पांडव अपना न्यायोचित दावा छोड़ दें। तदपि युद्ध के परिणामों के प्रति वह सशंक है। भीष्म, द्रोण, विदुर जैसे महापुरुषों की वाणी का अनादर करने का उसमें सहस नहीं है, तो उसे स्वीकारने की दृढ़ता भी नहीं है। धृतराष्ट्र का संकल्प युद्ध का नहीं है बल्कि राज्य किसी तरह उसके पुत्रों के पास रहे इतना ही है। इसका समर्थन केवल दुर्योधन, कर्ण और शकुनी, तीनलोगों से प्राप्त होता है।

दुर्योधन कहता है : कृष्ण तो हमारा सर्वनाश करके समूचा राज्ये पांडवों को सौंपना चाहते हैं। मानलो कि इस युद्ध में हमारी विजय नहीं है, तो हम क्या करें ? हमारे पास तीन विकल्प हैं .—

तत्र किं प्राप्तकालं नः प्रणिपातः पलायनम्,
प्राणान्वा संपरित्यज्य प्रतियुध्यामहे परान्।
(उद्योग. ५४; ११)

इस परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य क्या है ? हम उनके पैरों पड़ें ? पलायन कर जायें ? कि प्राण का मोहत्याग उनसे युद्ध करें ?

कृष्ण ने संजय से कहा था कि मैं अनेक पुत्रोंवाले धृतराष्ट्र की बढ़ती चाहता हूं। युधिष्ठिरने तो मात्र शक्रपुर (इन्द्रप्रस्थ) वापस माँगा है। हस्तिनापुर पर दावा नहीं किया है। तिसपर भी दुर्योधन यह उत्तर देता है। कारण यह कि वह युद्ध के लिये कृतसंकल्प है। उसे युद्ध करना ही है।

धृतराष्ट्र संजय की वाणी सुनता है। पांडवों के पक्ष में युद्ध की तैयारी कैसी है यह भी सुनता है, इसीसे वह दुर्योधन से कहता है: पांडवों के साथ समाधान कर लेना ही इष्ट है। कारण यह कि पांडव कौरवों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं, ऐसा मैं मानता हूं। पर दुर्योधन अपने बल पर इतराया है। माता गांधारी भी कहती हैं, फिर भी दुर्योधन सुनता नहीं।

धृतराष्ट्र का विचित्रताओं का पार नहीं है। वह जानता है कि उसका पुत्र कृष्ण के विरुद्ध खड़ा है। केवल पांडवो के सामने खड़ा होता तो कदाचित् उसका पुत्र पराक्रम के बल पर जीत जाय ऐसी थोड़ी सी आशा भी की जा सकती थी। पर कृष्ण जिनके साथ हैं ऐसे पांडवो का सामना करने पर पराजय तो निश्चित हो है। धृतराष्ट्र जानता है कि इस समय पु त्र को रोकने के सभी प्रयत्न निरर्थक है, अतः वह कृष्ण से ही प्रार्थना करता है:—

सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराणमनादि मध्यन्तमनन्तकीर्तिम्,
शुक्रस्य धातारमजं जनित्रं परं परेभ्यः शरणं प्रपद्ये।
(उद्योग. ६९,६)

सहस्र मस्तक वाले वे पुराण पुरुष हैं जिनका आदि, मध्य या अंत नहीं है, जो अनन्त कीर्ति से सुशोभित हैं, जो शुक्र को धारण करने वाले हैं, अजन्मे, नित्य, तथा परात्पर परमेश्वर हैं, ऐसे श्री कृष्ण के मैं शरणागत हूं।

धृतराष्ट्र की यह शरणागति मात्र वाणी में है, भय से प्रगट हुई, आदमी जब संकट में फँसता है तो व्रत, मनौती मानने लगता है ऐसी वृत्ति में से उपजी है। यदि धृतराष्ट्र की यह शरणागति सच्ची होती तो उसने उसे केवल वाणी तक ही सीमित न रक्खा होता। शरणागति की भावना हो पर शरणागति कार्यरूप में रूपान्तरित न हो पाये तब वह निरर्थक हो जाती है। धृतराष्ट्र की यह प्रार्थना इसीका उदाहरण है।

युद्ध की बाबत दुर्योधन की छावनी में यह स्थिति है— तो यहाँ पांडवों के यहाँ क्या परिस्थिति है ?

संजय संधिवार्ता करके वापस गये कि तत्काल ही युधिष्ठिर कृष्ण के पास गये और कहा कि हमें केवल आपकी शरणागति है। ये शब्द देखने लायक हैं :

अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मे जनार्दन,
न च त्वदन्यं पश्यामि यो न आपत्सु तारयेत्।
(उद्योग. ७०; २)

अब वह समय आ गया है, हे कृष्ण, कि जब आपको मित्रों की सहायता करनी पड़ेगी। एक ओर युधिष्ठिर जब कृष्ण का मित्र के रूप में उल्लेख करते हैं तब वे उनके भगवद्‌रूप से अनजान नहीं हैं, अतः उसी साँस में कहते हैं, इस विपत्ति से हमें उबारे ऐसा और कोई मुझे नहीं दिखता।

युधिष्ठिर यह भी जानता है कि युद्ध में कुछ भी अच्छा नहीं होता, उसमें तो केवल संहार ही होता है। 'किंनु युद्धेऽस्ति शोभनम्' युद्ध में शोभायमान ऐसा कुछ भी नहीं है। परंतु इसके साथ ही वह राज्य का त्याग करके युद्ध का निवारण करने को तत्पर नहीं है। कारण यह कि राज्य का बल न हो तो शत्रु उनका नाश करेंगे ऐसा भय सतत बना रहता है। इसीसे वह कृष्ण से कहता है: 'न हम राज्य का त्याग करना चाहते हैं, न कुल का विनाश करना चाहते हैं।' और यह शर्त मंजुर हो तो—

अत्र या प्रणिपातेन शान्तिः सैव गरीयसी।

(उद्योग. ७०; ७८)

प्रणिपात करने से भी हमारी शांति स्थापित हो तो बेहतर है। इससे पहले हमने देखा कि दुर्योधन प्रणिपात की अपेक्षा युद्ध पसंद करता है। यहाँ युधिष्ठिर को प्रणिपात की शर्म नहीं है। राज्य वापस मिलता हो, कुल का संहार रुकता हो तो वह नम्रता का मार्ग लेने को तैयार है।

युधिष्ठिर प्रणिपात के लिये तैयार है—पर इसमें कायरता नहीं है। सच्चे स्वरूप को वे जानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे माँस के टुकड़े के लिये दो कुत्ते लड़ते हैं और जो बलवान होता है वह माँस खाता है, 'एवमेव मनुष्येषु!' मनुष्यों में होनेवाले युद्धों की भी यही गति है। इसी कारण इस श्वानवृत्ति से बचने हेतु वह शांति की इच्छा करता है!

युधिष्ठिर की यह वाणी सुनकर कृष्ण कहते हैं:

उभयोरेव वामर्थे यास्यामि कुरुसंसदम्!

(उद्योग. ७०; ७९)

दोनों पक्षों की भलाई के लिये मैं कुरुओं की संसद में जाऊँगा।

कृष्ण कुरुसभा में जाने को तैयार हुए, यह जानकर युधिष्ठिर कहता है: 'मैं आपको वहाँ भेजना नहीं चाहता! कारण यह कि युद्ध के लिये उत्सुक कौरव आपकी बात मानेंगे नहीं और शायद आपको पकड़ लें तो?'

पर कृष्ण निर्भय हैं। वे कहते हैं कि दुर्योधन मान जायगा ऐसी आशा लेकर मैं वहाँ नहीं जा रहा हूँ। पर एक बार शांति का आखिरी प्रयत्न मैं करूँगा तो हम 'सर्वलोके महीक्षिताम्' सारे संसार के शासकों के समक्ष निंदा के पात्र नहीं होंगे। और मेरा अहित कौन कर सकता है? यदि कौरव इस हेतु लेशमात्र भी प्रयत्न करेंगे तो मैं उन सबको भस्मीभूत कर सकने में समर्थ हूँ। पर मेरा प्रयत्न निष्फल नहीं होगा। समाधान नहीं होगा, तो भी निंदा से बच जायेंगे। इस प्रकार मेरी संधिवार्ता सार्थक है।

कृष्ण की संधिवार्ता की पूर्व भूमिका में जो बातें होती हैं उनमें पांडवों के साथ कृष्ण के संबंध और इन पांडवों के मन का सत्य स्वरूप प्रगट हुए बिना नहीं रहता। युद्ध और शांति की बाबत युधिष्ठिर का अभिप्राय तो हमने जाना: कृष्ण जब दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि दुर्योधन के जीते जी पांडवों को राज्य नहीं मिल सकता और संहार के अलावा और कोई रास्ता नहीं है तो और कोई नहीं पर दुःसह और कठोर गिना जाता भीमसेन बोल उठता है।

यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरूणां मधुसूदन,
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषये।

(उद्योग. ७२; १)

हे मधुसूदन, आप कौरवों के बीच जाकर इसप्रकार बात कीजियेगा कि जिससे हमारे बीच शांति स्थापित हो सके। युद्ध की बात सुनाकर उन्हे डरामत दीजियेगा।

वह आगे कहता है: हे भयंकर पराक्रमी श्री कृष्ण, आप उनसे जो कुछ कहें वह मधुर कोमल वाणी में कहियेगा, धीरे धीरे कहियेगा। धर्म और अर्थ से युक्त हो ऐसी बात कहियेगा। देखियेगा, उसमें उग्रता न आजाय, साथ ही यह भी ध्यान रखियेगा कि आपकी बातें अधिकतर उनकी रुचि के अनुकूल हों....

भीम की यह वाणी आश्चर्य पैदा करनेवाली है। एक जानेमाने समाजशास्त्री ने कहा था कि प्रत्येक क्रूर और कठोर मनुष्य में अत्यंत मृदु अंश भी होता है, और प्रत्येक मृदु मानव में क्रूरता का अंश विद्यमान होता है। इसीसे भीम नामक पात्र के साथ एकरस हुई कठोरता के अनुसंधान में वह मृदुवाणी अचंभित कर देती है। यह आभास केवल हमें ही

नही होता। कृष्ण भी यह सुनकर, हँस देते हैं और व्यंग करते हैं :

अबतक तो धृतराष्ट्र पुत्रों को मसल डालने को तूं उत्सुक था। यह बैर का बदला लेने के लिये तूं रातदिन जागता रहा है। तेरा यह रतजगा और बेचैनी सबने देखी है। और अब तू शांति की बात करता है ?

अहो युद्ध प्रतीपानि युद्धकाल उपस्थिते,
पश्यसि वा प्रतीपानि किं त्वां भीर्भीम विन्दति।
(उद्योग. ७३; १५)

युद्धकाल उपस्थित हो उससे पहले ही युद्ध की अभिलाषा रखने वाला तूं, आज इतना बदल गया है कि इससे विपरीत विचार कर रहा है ? कहीं तुझे युद्ध का भय तो नहीं लग रहा है ?

भीम इस प्रश्न का उत्तर बड़े ही अच्छे ढंग से देता है: वह कहता है कि मेरी युद्ध प्रीति तनिक भी घटी नहीं है—

न में सीदन्ति मज्जानो न ममो द्वेपते मनः,
सर्व लोकादभिक्रुद्धान् न भयं विद्यते मम।
(उद्योग. ७४; १७)

न तो मेरी मज्जन शिथिल हो रही है, न मेरा हृदय काँप रहा है, सारा संसार क्रोधावेश में आकर मुझपर आक्रमण करे तो भी मैं डरूँगा नहीं। मैंने जो शांति प्रस्ताव रक्खा है वह तो केवल सौहार्द ही है। मैं दयावश सभी क्लेश सहने को तैयार हूं और चाहता हूँ कि हमारे कारण भरतवंशियों का नाश न हो।

उग्र पराक्रमी भीम जब ये शब्द कृष्ण से कहता है तो मानव संबंधों का मनोरम कवच निर्मित हो जाता है।

युधिष्ठिर धर्म के ज्ञाता हैं; युद्ध श्वान का कर्त्तव्य है, यह जानने के बाद भी वह राज्य के त्याग के मोलपर युद्ध का निवारण नहीं चाहते। भीम में सबसे पहले विषाद प्रगट हो गया और कृष्ण ने भीम के तेज को उद्दीप्त किया। पर अर्जुन के लिये विषाद बाद में आनेवाला है। इस चरण में तो वह सब कुछ कृष्ण पर डाल देता है। वह कहता है कि आप हमारे लिये जो कुछ भी उचित हो वह सत्वर तय करके कहें।

कृष्ण जाते है संधिवार्ता करने। पर परिणाम से वे अनभिज्ञ नहीं हैं। वे अर्जुन से कहते हैं :—

यत्तु वाचा मया शक्यं कर्मणा वापि पाण्डव,
कहिष्ये तदहं पार्थ न त्वाशंसे शमं परैः।
(उद्योग. ७७; १८)

मेरी वाणी से या मेरे कर्म से जो कुछ भी संभव है वह करूँगा। पर शांति हो, समाधान हो, ऐसी रंचमात्र आशा मुझे नही है।

नकुल भी इस अवसर पर अपना अभिप्राय व्यक्त करता है: पहले तो सांत्वनापूर्वक बात कीजियेगा और बाद में युद्ध का भय भी दिखाइयेगा।

अब मानव हृदय की अगमता और गहनता का एक सुन्दर चित्र कविवर व्यास प्रस्तुत करते हैं। अब तक सबने शांति के हित आग्रह और युद्ध हेतु तैयारी की बात की। पर अब सहदेव बोलने को खड़े होते हैं। सहदेव तो त्रिकालज्ञानी है। वह कौरवों का नाश और पांडवों की विजय देख सकता है। वह कृष्ण की संधिवार्ता की निरर्थकता भी देख सकता है। अतः सहदेव द्वारा उच्चरित चार श्लोक इस संधिकी पूर्वभूमिका रूप अध्याय में सर्वाधिक उल्लेखनीय बनजाते हैं। वह कहता है :—

'हे शत्रुदमन कृष्ण, महाराज युधिष्ठिर ने जो कुछ कहा, वह तो सनातन धर्म है। पर मेरा कथन यह है कि आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे युद्ध होकर रहे। शायद कौरव पांडवों के साथ संधि करना चाहें तो भी वे युद्ध के लिये प्रेरित हों ऐसी ही योजना आप कीजिएगा। पांचाली को जिस हालत में सभा के बीच ले जाया गया था वह देखने के बाद दुर्योधन के प्रति उपजा मेरा क्रोध उसके वध के बिना क्या शांत हो सकता है ?'

इतना कहने के बाद अंत में सहदेव कहता है:
यदि भीमार्जुनो कृष्ण धर्मराजश्च धार्मिकः,
धर्ममुत्सृज्य तेनाहं योद्धुमिच्छामि संयुगे।
(उद्योग. ७९;४)

हे कृष्ण ! भीम, अर्जुन और धर्मराज धर्म का अनुसरण करते हों तो मैं उस धर्म का त्याग करके भी रणक्षेत्र में दुर्योधन के साथ युद्ध करने की इच्छा रखता हुँ।

सात्यकि सहदेव के वचन का समर्थन ही नहीं करता बल्कि कहता है कि सहदेव का मत ही हम सब योद्धाओं का मत है।

इनके बाद द्रौपदी बोलने के लिये खड़ी होती है। वह क्या कहती है के स्थान पर, वह क्या करती है इसका महत्व अधिक है। महाभारतकार वर्णन करते हैं:

लम्बे काले केशवाली 'स्वसितायत मूर्धजा' ऐसीं 'सुता द्रुपदराजस्य' द्रुपदराज की पुत्री—

सम्पूज्य सहदेवंच सात्यकि च महारथम्

(उद्योग, ८०; २)

सहदेव तथा महारथी सात्यकि की पूजा करके वह बोली।

शांति की बात करते युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन या नकुल की वह पूजा नहीं करती, वह तो युद्ध के लिये तत्पर सहदेव और सात्यकि की पूजा करती है। द्रौपदी की व्यथा कोई ऐसी वैसी नहीं है। वह कहती है—मैं द्रौपदी हूँ। इस पृथ्वी पर मेरे जैसी कोई स्त्री है क्या? वह किसलिये अनन्य है यह बात हम उसी के मुख से सुनें:—

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात्समुस्थिता,
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रियासखी।

(उद्योग. ८०; २१)

मैं द्रुपदराज की पुत्री हूँ, यज्ञवेदी के मध्य भाग से मेरा उद्भव हुआ है। वीर धृष्टद्युम्न की मैं बहन हूँ और हे कृष्ण! मैं आपकी प्रिय सखी हूँ।

कृष्ण और द्रौपदी के बीच सख्य की बात एक बार द्रौपदी चीरहरण के प्रसंग में आयी थी, आज कृष्ण के सामने ही आती है। द्रौपदी की बात यहाँ पूरी नहीं होती। वह कहती है: मैं राजा पांडु की पुत्रवधू हूँ और—

महिषी पांडुपुत्राणाम् पंचेन्द्र समवर्चसाम्!

(उद्योग. ८०; २२)

पाँच इन्द्रों जैसे सुशोभित पांडवों की मैं पटरानी हूँ और फिर भी—

साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभांगता।

मेरे माथे के बाल पकड़कर, मुझे क्लेश देकर सभा के बीच लाया गया, और यह सब हुआ इसका द्रौपदी को अधिक दुख इसलिये है, कि यह सब हुआ तब—पश्यतां पांडु पुत्राणां—पांडु के पुत्र उसे देख रहे थे, और त्वयि जीवति केशव—और हे केशव, आपके हयात होने के बावजूद ऐसा हुआ है।

अंतिम दो चरणों में धारदार व्यंग वेदना में से प्रगट हुआ है। द्रौपदी अपना अपमान भूली नहीं है। और यह अपमान अपने पराक्रमी पतियों की नजर के सामने, अपने प्रिय सखा कृष्ण हयात थे, फिर भी हुआ, इसका उसे भारी दुख है। इसी से द्रौपदी सर्प जैसे कांतिमान अपने केशकलाप हाथ में लेकर कृष्ण के पास जाती है और कहती है—

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासन करोद्धृतः,
स्मर्तव्यः सर्वकालेषु परेषां संधिमिच्छता।

(उद्योग. ७०; ३६)

हे कमल नयन, आप शत्रुओं के साथ संधि की इच्छा से जो भी कार्य या प्रयत्न करें उस समय दुःशासन के हाथ से खींचे गये इन केश कलापों को स्वरण में रखियेगा।

और इस प्रकार कहकर चौधार आँसू बहाती द्रौपदी को सांत्वना देते हुए कृष्ण कहते हैं: कुछ ही समय बाद कुरुकुल की स्त्रियाँ अपने स्वजनों की हत्या होने के कारण इसी प्रकार रुदन करेंगी।

कृष्ण शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामक चार अश्वजुड़े रथ पर बैठकर संधि-वार्ता के लिये चलाते हैं तो दो सावधानियाँ बर्तते हैं। दूत निःशस्त्र होना चाहिये; पर यदि प्रपंच का भय हो तो शस्त्र हाथ में हो यह जरूरी है। और महारथी सात्यकि को वे अपने साथ लेते हैं।

कृष्ण की यह सावधानी बेमतलब नहीं है। कारण यह कि कृष्ण को पकड़कर पांडवों को अपने वश में लाने की युक्ति दुर्योधन के मन में है ही।

कृष्ण हस्तिनापुर जाकर तत्काल ही जिनसे मिलते हैं उनमें कुंती मुख्य है। कुंती और कृष्ण के संबंध तो बुआ भतीजे के हैं। पर कुंती जानती है कि उसका भतीजा प्रताप में बहुत आगे निकल चुका है। कुंती ने चौदह बरस से अपने पुत्रों का मुंह नहीं देखा है। वह कहती है: 'हे यदुनंदन, यदि अदृश्य होना, दिखाई न पड़ना ही मृत्यु है तो मेरे पुत्र मेरे लिये मर चुके हैं, क्योंकि मैंने चौदह साल से उन्हें देखा नहीं है।'

(शेष पृष्ठ २३ पर)

साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग

लेखक : पं० गोपीनाथ कविराज, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, मूल्य : बीस रुपये

●

कविराजजीने बंगला में साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग 'ग्रंथ' तीन भागों में लिखा था। जो अध्यात्म जिज्ञासुओं के लिये प्रेरणाप्रद हैं। ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद श्री विश्वनाथ मुखर्जी ने किया है। गोपीनाथ जी महान विद्वान ही नहीं महान साधक भी थे। वे जहां भी जब भी किसी साधु सा संत का पता पा लेते, उसके पास तुरंत दौड़ जाते और अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत कर उसका समाधान प्राप्त करने का प्रयत्न करते। कविराज ने ऐसे महात्मा संतो को खोज निकला जो अपने को कभी जन सामान्य में प्रकट नहीं करते थे, सामान्य व्यक्ति की नाईं जीवन-यापन करते थे। प्रस्तुत भाग में छब्बीस संत महात्माओं के अलौकिक चरित्र अंकित किये गये हैं। संतों ने इच्छा शक्ति की प्रधानता को पदार्थों के रूप-परिवर्तन द्वारा सिद्ध कर दिया है। संत रामदयाल मजुमदार का कथन है- योग में इच्छा हो प्रधान है। इच्छा शक्ति से ही ज्ञान और क्रिया के कार्य सपन्न होते है। निर्माण तक होता है।

मजूमदार बाबा ने तीव्र भावना के कारण पुष्प को पाषाण में परिवर्तन कर दिया था। विशुद्धानंद योगी भी सूर्य की रश्मियों से (सूर्य विज्ञान से) पदार्थो का रूप परिवर्तन कर सकते थे। नागा बाबा का कथन है कि देह-शुद्धि योग सिद्धि के लिये परमावश्यक है। नाम-योग से देह शुद्धि अपने आप होती है। रस द्वारा देह-शोधन अत्यंत कठिन है। देह-शुद्धि का अर्थ है देह का शून्य मय हो जाना। देह शुद्धि हुए बिना परब्रह्म तक स्थिति नहीं होती। हरिहर बाबा योग वाशिष्ठ और रामायण का पाठ सदा करते और सुनते रहते थे। परम हंस विशुद्धानंद जी तो गोपीनाथ जी के गुरू ही थे। वे सूर्य विज्ञान में पारंगत थे। इच्छाशक्ति से वे कहीं भी आविर्भूत हो सकते थे। वे सौर विज्ञान को बड़ा महत्व देते थे। परमहंस जी योगलब्ध अलौकिक शक्ति का प्रयोग लौकिक कार्य के लिये करना निषिद्ध मानते थे। विशुद्धानंद जी पर गोपीनाथ जी ने स्वतंत्र पुस्तक लिखी है। आनंदमयी माँ के गोपीनाथ जी अनन्य भक्त थे। माँ भक्ति की साक्षात् अवतार थी। वे ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को विशेष महत्व देती थीं। वे कभी चमत्कार प्रदर्शन नहीं करती थीं। पर वे भक्ति में ज्ञानी लीन हो जाती थीं कि कबीर के शब्दों में उनकी सहज समाधि लग जाती थी। माँ शास्त्र पढ़ी नहीं थीं पर वे उन सभी प्रश्नों का सहज ही उत्तर दे देती थीं जो शास्त्रसम्मत ही होता था। भक्तों की सहायता वे सदा करती रहती थीं। योग प्रकाश ब्रह्मचारी अपार आनंद की नियमित क्रिया को मानते थे। और सहज मार्ग बिना गुरु कृपा के प्राप्त नहीं होता। बाबा ओंकारनाथ ओंकार-साधना पर बल देते थे। प्रेमानंद तीर्थ के मत से कर्म ज्ञान भक्ति सब कुछ पूजा के अंतर्गत है। साधु-दर्शन में साधना के विविध पक्षों को संतों की वाणी द्वारा व्यक्त किया गया है। अध्यात्म में रुचि रखने वालों को यह पुस्तक प्रकाशस्तंभ के समान मार्गदर्शक सिद्ध होगी। **विजयमोहन शर्मा**

●

(पृष्ठ ६ का शेषांश)

मन्दिरों में होने वाली देव लीलाएं (जैसा कि पैंपिरस पोथियों से ज्ञात होता है) हमें 'हरिअनन्त—हरिकथा अनन्ता' आश्चर्यसागर में डुबा जाती हैं।

शायद मानव-परिवार एक ही रहा है, एक जैसी ही रही है उनकी आस्थाएं और प्रवृत्तियां, एक से रहे हैं उसके उल्लास-हर्ष के क्षण, मनोरंजन करने वाले तत्व। बाकी तो जो विभेद हैं, निश्चय ही कृत्रिम हैं। रामलीला का अध्ययन एक ही निष्कर्ष प्रदान करता है 'सब भूमि गोपाल की, यामें अटक कहाँ।' श्रीराम।

●

संत-स्वभाव

एक संत घूमते हुए जा रहे थे। कहां जा रहे थे? हमें इसका पता नहीं है। संत होते ही रमते राम हैं। एक स्थानपर टिककर उन्हें रहना नहीं आता। यह तो लोकोक्ति है—'बहता पानी और रमता संत ही निर्मल रहता है।'

एक वनमें एक दुष्ट प्रकृतिका मनुष्य रहता था। साधु-संतो से उसे चिढ़ थी सो थी। दुष्ट का स्वभाव ही अकारण शत्रुता करना, सीधे लोगों को अकारण कष्ट देना होता है।

संत घूमते हुए उस वन में निकले। दुष्ट ने उन्हें देखा तो पत्थर उठा कर मारने दौड़ा—'तू इधर क्यों आया? क्या धरा है तेरे बाप का यहाँ?

संत ने कहा—मैंने तुम्हारी कोई हानि नहीं की है। तुम क्यों अप्रसन्न होते हैं? तुम्हें मेरा इधर आना बुरा लगता है तो मैं लौट जाता हूँ।

'तू आया ही क्यों? दुष्ट अपनी दुष्टता पर आ गया था। संत को उसने कई पत्थर मारे। सिर और दूसरे अंगों में चोटें लगी। रक्त बहने लगा। लेकिन संत भी संत ही थे। बिना कुछ बोले लौट आये।

कुछ दिनों बाद फिर संत उसी ओर गये। उनका हृदय कहता था—'बेचारा पता नहीं किस कारण साधु के वेश से चिढ़ता है। साधुओं को कष्ट देकर तो वह नरक गामी होगा। उसको सुबुद्धि मिलनी चाहिये। उसका उद्धार होना चाहिये।'

वह दुष्ट आज दीखा नहीं। संत उसकी झोपड़ी के पास गये। वह तो खाटपर बेसुध पड़ा था। तीव्र ज्वर था उसे। जैसे अपना पुत्र ही बीमार पड़ा हो—संत उसके पास जा बैठे। उसकी सेवा-सुश्रुणा में लग गये। उस दुष्ट के नेत्र खुले। उसने साधु को देखा। उसके मुख से कठिनाई से निकला—'आप?'

संतने उसे पुचकारा—'तुम पड़े रहो। चिन्ता की कोई बात नहीं है। अरे अपने ही दांत से अपनी जीभ कट जाय तो कोई कोई क्रोध किस पर करे? तुम अलग हो और मैं अलग हूँ, यही तो भ्रम है। एक ही विराट् पुरुष के हम सब अंग है।'

निर्दिष्ट स्थान पर रेत हटाते ही पारस मिल गया। उससे स्पर्श होते ही लोहा सोना बन गया। ब्राह्मण का तप सफल हो गया। उसे सचमुच पारस प्राप्त हुआ—अमूल्य पारस। जिससे स्वर्ण उत्पन्न होता है, उस पारस का मूल्य कोई कैसे बता सकता है।

पारस लेकर ब्राह्मण चल पड़ा। कुछ दूर जाकर फिर लौटा और सनातन गोस्वामी के पास आकर खड़ा हो गया। सनातनजी ने पूछा—'आपको पारस मिल गया?'

'जी पारस मिल गया!' 'ब्राह्मण ने दोनों हाथ जोड़े—'लेकिन एक प्रश्न भी मिला उसके साथ। उस प्रश्न का उत्तर आप ही दे सकते हैं। जिस पारस के लिये मैंने वर्षों तक कठोर तप किया, वह पारस आपको प्राप्त था। आपने उसे रेतों में ढक दिया था और उसका स्पर्श तक नहीं करना चाहते थे। आपके पास पारस से भी अधिक मूल्यवान् कोई वस्तु होनी चाहिये। क्या वस्तु है वह?'

'तुमको वह चाहिये?' सनातन गास्वामी ने दृष्टि उठायी—'वह चाहिये। तो पारस फेंको यमुनाजी में।'

ब्राह्मण ने पारस फेंक दिया। उसे वह बहुमूल्य वस्तु मिली। वह वस्तु जिसकी तुलना में पारस एक कंकड़ जितना भी नहीं था। वह वस्तु श्रीकृष्ण नाम।

●

(शेष पृष्ठ २१ का शेषांश)

कुंती स्त्री है। सहदेव को छोड़कर पांडव सब कुछ भूलकर शांति के लिये प्रयत्न करने को कह सकते हैं। पर कुंती तो संधि करने के प्रयोजन से आये कृष्ण से कहती हैः

ना भ्यगच्छत्तथा नाथं कृष्णा नाथवती सती!

(उद्योग. ८८; ८६)

सनाथ होने के बावजूद कृष्ण उस कुरुसभा में उसकी रक्षा कर सके ऐसा नाथ नहीं पा सकी।

कृष्ण संधि करने चलते हैं तब सब किसी के प्रति भाव ऐसे रसप्रद हैं। इन सब में सहदेव, सात्यकि, द्रौपदी और कुंती ये चार पात्र ऐसे हैं, जो स्पष्टतः कह देते हैं कि हमें समाधान नहीं खपेगा। युद्ध होना ही चाहिये ऐसा उनका मत है।

●

अरुणाचल प्रदेश के पर्यटक

●

श्री जगदीशचन्द्र बरुआ के नेतृत्व में गवर्नमेंट हाईस्कूल, प्रदेश से ५२ छात्रों और तीन अध्यापकों का एक दल पर्यटन हेतु तीन दिनों तक काशी मुमुक्षु भवन सभा के परिसर में रुका था। पर्यटकों की सुख-सुविधा के साथ-साथ उन्हें सारनाथ, रामनगर, डीजल लोकोमोटिव वर्क्स, मडुवाडीह, बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय, काशी के दर्शनीय मन्दिरों, घाटों एवं समीपवर्ती गांव का परिभ्रमण कराया गया। भवन कार्यालय द्वारा उनके पथ प्रदर्शन के लिए विशेषज्ञ भी उपलब्ध कराया गया। अपने पर्यटन कार्यक्रम से इन पर्यटकों को बहुत ही संतोष हुआ। उन्होंने भवन के संबंध में अपने विचार निम्न शब्दों में व्यक्त किया—

'अरुणाचल प्रदेश के शिक्षा निदेशक द्वारा काशी मुमुक्षु भवन सभा के मन्त्री महोदय को पत्र लिख कर सिफारिश की गयी थी कि वे हम पर्यटकों को सुख सुविधा, आवास एवं भ्रमण कार्य में हमारी सहायता करें। मन्त्री महोदय के सौजन्य से न केवल हमारे आवास की उत्तम व्यवस्था की गयी, प्रत्युत हमारे पर्यटन कार्य में भी उत्तम पथ प्रदर्शन का प्रबन्ध किया गया। भवन के कार्यकर्त्ताओं ने आधीरात को स्टेशन पर हमारा स्वागत किया और हमें भवन परिसर में ले आये। आप लोगों के ही पथप्रदर्शन में हमें सारनाथ, रामनगर, डीजल लोकोमोटि वर्क्स, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रमुख मन्दिर, घाट तथा समीपस्थ गांव का निरीक्षण करने का अवसर मिला। हमारा वाराणसी प्रवास और परिभ्रमण सुनियोजित और सफल रहा, इसका सारा श्रेय इस धार्मिक, पारमार्थिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था को है जिसके अधिकारियों और कर्मचारियों ने बड़ी तत्परता एवं सहानुभूति से हमारी सहायता की। हम तो सोच भी नहीं सकते थे कि काशी नगरी में एक ऐसी भी संस्था है जहां 'अतिथि देवोभव' का अनुसरण किया जाता है। इस संस्थान की मधुर स्मृतियां हमारे लिए एक अमूल्य धरोहर होगी।

यहां पर हमें दण्डी स्वामियों के दर्शन का भी लाभ हुआ और उनका आशीर्वाद भी मिला। प्रबन्धकों के प्रेमपूर्ण व्यवहार से हम अतीव प्रभावित हैं। संस्था अपने दायित्वों के निर्वाह में कितनी सजग है, इसका अनुभव यहां आवास करने पर ही सम्भव है। मुझे आशा है, ऐसो समाज सेवी-संस्था उत्तरोत्तर अपने सेवाकार्यों को तन्मयतापूर्वक करती रहेगी, साथ ही साधन-सम्पन्न व्यक्तियों से मेरी प्रार्थना है कि वे इस संस्था को भरपूर आर्थिक सहायता देकर, इसके सेवा कार्यों के विस्तार में सहायक बनें और यश के भागी हों। हम यहां की मधुर स्मृतियों को अरुणाचल प्रदेश की सरकार और जनता तक पहुँचाने के लिए आतुर हैं। मन्त्री महोदय एवं अन्य कर्मचारियों के इस सद्कार्य की हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और उन्हें अपनी पर्यटन टोली की ओर से हार्दिक धन्यवाद देते हैं।' —जगदीशचन्द्र बरुआ, एम० ए० बी० टी०, गवर्नमेंट हायर सेकेण्डरी स्कूल, पो०—बोमडीला ७९० ००१ जिला—वेस्ट कामेंग (अरुणाचल प्रदेश)

●

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

मार्च, १९८४

●

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, दाल, साग आदि १५००) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के ब्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

स्थायी भण्डारा

श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	कच्चा	२-३-८४
श्रीमती सरस्वती देवी, दरभंगा बिहार	कच्चा	१५-३-८४
श्रीमती श्याम कली देवी, कलकत्ता	कच्चा	१७-३-८४
श्री धानुका चैरिटी ट्रस्ट, गौहाटी	,,	१८-३-८४
स्व० श्री विश्वनाथ अग्रवाल द्वारा		
श्री सत्यनारायण अग्रवाल, हवड़ा	,,	२०-३-८४
स्व० श्री मदनगोपाल केडिया द्वारा		
श्री अशोककुमार केडिया, कलकत्ता	,,	२४-३-८४

अस्थायी भण्डारा

श्री वैकुण्ठनारायण, कन्नौज	कच्चा	५-३-८४
श्री श्यामसुन्दर फोगला, वाराणसी	,,	११-३-८४
श्रीमती कमला देवी हलवासिया, वाराणसी	पक्का	१३-३-८३
श्रीमती कमला देवी पोद्दार द्वारा		
श्रीरंग लाल मुरारका, वाराणसी	पक्का	१४-३-८४
श्री दीनानाथ झुनझुनवाला, वाराणसी	कच्चा	१९-३-८४
श्रीमती शान्ती देवी केडिया, मुमुक्षु भवन वाराणसी	पक्का	२९-३-८४
श्री लालचन्द्र गाड़ोदिया द्वारा		
ओम प्रकाश एण्ड कं०, वाराणसी	कच्चा	३१-३-८४

अन्नक्षेत्र

श्रीमती शान्ती देवी केडिया मुमुक्षु भवन, वाराणसी (नवम्बर '८३ मार्च '८४)	५०५)
श्री विश्वनाथ झुनझुनवाला, कलकत्ता (वार्षिक)	१२००)
श्री अनारा देवी चैरिटी ट्रस्ट, हवड़ा	७५०)
श्री राधाकिशन झुनझुनवाला, वृन्दावन (एक दिन भोजन वितरण)	
श्री सत्यनारायण रूँगटा, कलकत्ता (मार्च '८४)	३००)

भवन निर्माण

कनोड़िया जूट-काटन मिल्स, कलकत्ता	१०,०००)
श्री विश्वनाथ सेवा ट्रस्ट, कलकत्ता	३५,०००)

मन्दिर जीर्णोद्धार

श्री राजकुमार चौधरी, काठमाण्डू	५०००)

मन्दिर सहायता

श्री राजकुमार चौधरी, काठमाण्डू (वार्षिक)	१२००)

होम्योपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
३२७	१४७४	१८०१

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
१०३	५२४	६२७

●

Regd. No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82 अप्रैल १९८४ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यता प्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२०१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा-कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद-वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी हैं। हर फ्लैट में तीन कमरे, रसोई, स्नान-घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन बिताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

मुमुक्षु

मई १९८४

आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ३ : अंक ८
वैशाख सं० २०४१
मई १९८४

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दोसौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

धर्मचक्र
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी १

दूत श्रीकृष्ण
श्री हरीन्द्र दवे ४

यौवन का दान
एक गुजराती लोकगीत का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर ८

काल-राज्य
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज १०

समकालीन रेणुका तीर्थ
श्री नरेंद्र नीरव १८

नाम-महात्म्य
डॉ० विनयमोहन शर्मा २४

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार (कवर पृष्ठ ३)

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों की फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी हैं। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज कर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी
वाराणसी—५

मुमुक्षु

वर्ष : ३] मई १९८४ [अंक : ८

धर्मचक्र

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

●

कोई ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् बुद्ध इस पवित्र भारत-भूमि में अवतरित हुए थे। उनका जन्म एक बड़े राज-परिवार में हुआ था, घर दास-दासियों से भरा हुआ था, अन्न-वस्त्र और रत्न का भण्डार था, परिजनों और पुरजनों का स्नेह भी उन्हें प्राप्त था। परन्तु उन्हें ये सब चीजें जँची नहीं। यह जो सुख और सम्पत्ति का आडम्बर है, वह क्या सचमुच मनुष्य को दुःखों और बन्धनों से मुक्त कर सकता है?

कुमार सिद्धार्थ, जो बाद में बोधि प्राप्त करने के बाद बुद्ध नाम से प्रथित हुए, बहुत ही भावुक और चिन्तनशील बालक थे। उन्होंने अपने इर्द-गिर्द विचरण करने वाले मनुष्यों और घटनाओं को सावधानी से देखा और समझने का प्रयत्न किया। उनके मन में बार-बार ये प्रश्न उठते रहे कि जरा से, मरण से, व्याधि से क्या मनुष्य सचमुच छूट सकता है? ये जो दुनिया के धन्धे हैं, टीमटाम हैं, धन-दौलत है, दास-दासियाँ हैं, सम्पत्ति के विशाल ठाठ हैं वे क्या मनुष्य को जरा से, मरण से और व्याधियों से छुटकारा दिला सकते हैं? इनका स्पष्ट उत्तर उन्हें नहीं मिलता था।

सिद्धार्थ ने प्रव्रज्या ली

उन्होंने सब-कुछ छोड़ कर प्रव्रज्या ग्रहण की। उन दिनों तपस्या में लोगों का बड़ा विश्वास था। कृच्छ्र तपस्वी लोगों के बड़े-बड़े सम्प्रदाय थे। शीत में, धूप में, कठिन-से-कठिन कष्ट पाकर, उपवास के द्वारा शरीर को सुखाकर और स्वेच्छा से स्वीकार किये गये अनेक कायक्लेशजनक या पीड़ादायक साधनों को अंगीकार करके परलोक में सुख पाने या मुक्ति पाने की अभिलाषा से लोग बुरी तरह ग्रस्त थे। प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद सिद्धार्थ ने इस कृच्छ्र तप का भी अनुभव प्राप्त किया। गया के पास उरुबेला तीर्थ में वे वर्षों घोर तप में लीन रहे। उन्होंने यह अनुभव किया कि जिस प्रकार अनेक भोगों के भोगने से जरा, मरण और व्याधि से छुटकारा नहीं मिलता, उसी प्रकार यह कृच्छ्र तपवाला मार्ग भी छुटकारे का साधन नहीं है। ये दोनों ही चरम सीमाएँ हैं, वास्तविक मुक्ति का मार्ग कहीं इन दोनों के बीच में है। यह सोच कर उन्होंने कृच्छ्र तप मार्ग छोड़ दिया, जिसके फलस्वरूप उनके प्रति श्रद्धापरायण पाँच परिव्राजक साथी, जिन्हें पंचवर्गीय भिक्षु कहा जाता है, उनसे रुष्ट हो गये। उन लोगों ने आपस में कहा कि छह वर्ष तक दुष्कर तपस्या करने पर यह बुद्ध नहीं हो सका, तो अब गाँव-गाँव भीख मांग कर और मोटा आहार करके यह कैसे बुद्ध हो सकेगा। यह लोभी है, तपस्या के मार्ग से भ्रष्ट है। ऐसे मनुष्य से किसी बड़े तत्व के पाने की आशा करना उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे स्नान के इच्छुक व्यक्ति का ओस की बूँद की ओर ताकना। इस प्रकार सोच कर वे लोग बुद्ध को छोड़ कर वाराणसी के इसिपत्तन तीर्थ (सारनाथ) की ओर चले गये।

परन्तु बुद्धदेव ने कृच्छ्र तप की व्यर्थता समझ ली। बौद्धशास्त्रों में बताया गया है कि सुजाता की पवित्र खीर

को उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया, वही उनके बुद्ध होने के बाद वाले, सात सप्ताह के उनचास दिनों के लिए आहार हुआ। इतने काल तक न स्नान किया, न आहार किया और न मुँह धोया। जिस बोधिवृक्ष के नीचे वह तप कर रहे थे, उसकी ओर पीठ करके दृढ़चित्त हो उन्होंने प्रतिज्ञा की कि 'चाहे मेरा चमड़ा, नसें और हड्डी ही क्यों न बाकी रह जायें, चाहे शरीर, माँस और रक्त तक क्यों न सूख जायें, सम्यक् सम्बोधि या परम ज्ञान प्राप्त किये बिना मैं इस आसन को नहीं छोड़ूंगा।' वह पूर्वाभिमुख हो अपराजित आसन में, जिसके बारे में कहा जाता है कि सौ-सौ बिजलियों की कड़क से यह आसन छूटता नहीं, आसीन हुए।

बोधि प्राप्ति

बुद्ध देव को बुद्धत्व प्राप्त हुआ। उनकी प्रतिज्ञा सफल हुई। बोधि प्राप्त होने के बाद उन्होंने सोचा कि उन्हें जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे सुनने का सबसे श्रेष्ठ पात्र कौन है? सबसे पहले उनकी दृष्टि पण्डित अलारकालाम की ओर गयी, पर वह एक सप्ताह पहले ही मर चुके थे। उसके बाद उनकी दृष्टि उद्दक रामपुत्र की ओर गयी, जिन्हें वह चतुर, मेधावी और अल्पमलिनचेता समझते थे। लेकिन वह भी उसी रात को मर चुके थे। तब भगवान् की दृष्टि उन पंचवर्गीय भिक्षुओं की ओर गयी, जो उन्हें छोड़ कर वीतश्रद्ध होकर वाराणसी के इसिपत्तन तीर्थ की ओर चले गये थे। उन्हीं को स्मरण करके भगवान् ने इसिपत्तन की ओर मुँह किया। उनका जन्म और बोधि-लाभ, दोनों ही वैशाखी पूर्णिमा को हुए थे। इसिपत्तन में पंचवर्गीय भिक्षुओं के पास पहुँचते-पहुँचते आषाढ़ का दिन आ गया और आषाढ़ी पूर्णिमा को, जो परम्परा से व्यासपूर्णिमा और गुरु-पूर्णिमा के नाम से प्रचलित थी, उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्त्तन किया।

प्रथम उपदेश

बौद्धशास्त्रों में लिखा है कि इन भिक्षुओं को सम्बोधित करके भगवान् बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओ, दो प्रकार की अतियाँ हैं। पहली 'अति' पथ-भ्रान्त लोगों के योग्य, अनार्य-सेवित, अनर्थयुक्त काम-वासनाओं में लिप्त होना है। दूसरी 'अति' दुःखमय, अनार्य-सेवित, अनर्थ से युक्त काय-क्लेश में लगना है।" एक काय-सुख की अति है, दूसरी कृच्छ्र तप की। इन दोनों ही अतियों के चक्कर में न पड़ कर तथागत ने बीच का मार्ग—मध्यमा-प्रतिपदा—खोज निकाला।

कैसा है यह मध्य मार्ग? तीन गुण इसमें मुख्य रूप से हैं। यह दृष्टिदाता है, ज्ञानदाता है और शान्तिदाता है। इससे परिपूर्ण ज्ञान और निर्वाण प्राप्त होता है। इसी का नाम आर्य-अष्टांगिक मार्ग है—अष्टांगिक अर्थात् आठ अंगों वाला मार्ग। आठ अंग से क्या तात्पर्य है? पहली बात है कि दृष्टि ठीक होनी चाहिए। फिर संकल्प सम्यक् या ठीक होना चाहिए। वचन ठीक होना चाहिए। कर्म भी सम्यक् या समुचित होना चाहिए। फिर प्रयत्न, स्मृति और समाधि ठीक होनी चाहिए। इस सबकी सम्यक् सिद्धि होने से ही अष्टांगिक मार्ग सिद्ध होता है।

बुद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व ही कुमार सिद्धार्थ संसार के प्राणियों के कष्ट से व्याकुल हो उठे थे। उनका हृदय करुणा का अपार पारावार था। जरा, मरण और व्याधि से पीड़ित जन-समूह को देख कर उनका हृदय गल जाता था। जिस समय वह तपस्या में लीन हो परम सत्य को प्राप्त करने के लिए व्रतमान थे, उस समय भी उनके हृदय की गहराइयों में करुणा का व्याकुल हाहाकार उठ रहा था। पंचवर्गीय भिक्षुओं को सम्बोधित करके जब उन्होंने प्रथम धर्म का चक्कर घुमाया, उस दिन सबसे प्रमुख बात उनके चित्त में यही थी। उन्होंने कहा—"भिक्षुओ, दुःख आर्य-सत्य है। जन्म भी दुःख है, जरा या बुढ़ापा भी दुःख है, व्याधि (रोग) भी दुःख है, अप्रियों का संयोग भी दुःख है, प्रियजनों या प्रिय वस्तुओं का वियोग भी दुःख है, इच्छा करने पर किसी इच्छित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। संक्षेप में समझो तो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान-ये पाँचों उपादानस्कन्ध हो दुःख हैं। इस प्रकार पहली बात जो संसार में सत्य है, जिसके कारण प्राणि-मात्र पीड़ित और व्यथित है, वह दुःख है।

परन्तु यदि दुःख सत्य है तो इसका कुछ कारण भी होना चाहिए। संसार में यदि सर्वप्रथम सत्य दुःख ही है, तो जीवों को निराश होकर छटपटाते रहने के सिवा कोई चारा नहीं है। परन्तु भगवान् बुद्ध ने केवल दुःख की सचाई बता कर मौन नहीं ग्रहण किया। उन्होंने बताया कि दुःख

अवश्य सत्य है, परन्तु दुःख का कारण भी आर्य-सत्य है। दुःख का निरोध भी आर्य-सत्य है और दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा अर्थात् दुःख का निरोध करने वाला मार्ग भी आर्य-सत्य है। इस प्रकार दुःख जरूर बहुत बड़ी सचाई है, परन्तु उसके कारण, उसका निरोध और दुःख-निरोध तक पहुँचाने वाला मार्ग भी उतने ही सत्य हैं। बुद्धदेव ने अपने आचरण और उपदेशों से दुःख के निरोध का मार्ग बताया। उन्होंने दुःख के स्वरूप को, उस के कारणों को, उसके निरोध के यथार्थ रूप को और उस निरोध तक पहुँचानेवाले साधना-मार्ग को भी समझाया। दीर्घ काल तक वह इस मुक्ति-मार्ग का उपदेश घूम-घूम कर देते रहे।

प्रेम और मैत्री का धर्म

बुद्धदेव ने जो मार्ग बताया, वह अन्तिम विश्लेषण पर प्रेम, मैत्री और तितिक्षा का धर्म है। मनुष्य जितनी दूर तक ऊपर उठ सकता है, यह धर्म उसे उतनी ऊँचाई पर ले जाता है। बुद्ध के व्यक्तित्व और उपदिष्ट मार्ग, दोनों में एक ऐसा अद्भुत आकर्षण था कि जो उनके सम्पर्क में आया, वह उन्हीं का हो रहा। उनके परिनिर्वाण के कुछ ही सौ वर्षों के भीतर वह प्रेम और मैत्री का धर्म तत्कालीन समस्त ज्ञानजगत् में फैल गया। जिन बर्बर जातियों के मन में क्रूरता और प्रतिहिंसा के अतिरिक्त और कोई बड़ी बात उठ ही नहीं सकती थी, वे भी इस प्रेम और मैत्री के धर्म के सामने मन्त्रमुग्ध होकर नतशीश हुईं। प्रेम और मैत्री का धर्म संसार में अद्भुत सफलता के साथ उद्घोषित हुआ।

ढाई हजार वर्ष बाद आज फिर वही पवित्र समय आया है जिसने बुद्ध भगवान् जैसे महाप्राण के धर्म-प्रवर्त्तन को जन्म दिया। आज भी संसार को इस प्रेम और मैत्री के धर्म की आवश्यकता बनी हुई है। भारतवर्ष के निवासी यदि गर्व करें कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले हमारे देश में ऐसा महामानव पैदा हुआ था, जिसने प्रेम और मैत्री के धर्म को विश्वव्यापक बनाया, तो उनका गर्व उचित ही है। धन्य है भारतभूमि, धन्य है यह प्रेम और मैत्री का पाठन-मन्त्र। आज से ढाई हजार वर्ष पहले इसने सिद्ध कर दिया कि मनुष्य को विधाता ने प्रेम और मैत्री का सन्देशवाहक बनाया है। युद्ध, मारकाट और क्रूर हिंसा उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है। वह प्रेम और मैत्री का उपासक है। यह धर्म भी धन्य है।

मैं पुरुष हूँ

एक साधु नगर से बाहर कुटिया बनाकर निवास करते थे परन्तु भिक्षा याचना के लिये उन्हें नगर ही जाना पड़ता था। मार्ग में एक वेश्या का घर पड़ता था। वह नित्यप्रति तरह-तरह से उन्हें रिझाने का प्रयास करती थी। जब वह हर प्रयत्न करके हार चुकी तो वह प्रायः साधु से पूछने लगी—तुम पुरुष हो या स्त्री ?

साधु उसके इस प्रश्न के उत्तर में कह देते :— "एक दिन इसका उत्तर अवश्य दूँगा।"

वेश्या ने साधु के इस उत्तर का कुछ और ही अर्थ लगाया। वह नित्य प्रति ही उनसे अपना प्रश्न दोहराती रही। और साधु महाशय वही उत्तर उसे देते। एक दिन एक सेवक वेश्या के निवास पर आया और बोला "साधु महाराज तुम्हें इसी समय कुटिया पर बुला रहे हैं ?"

वेश्या वहां पहुँची। साधु रुग्ण अवस्था में भूमि पर पड़े हुए थे। मृत्यु के क्षण निकट थे। उन्होंने वेश्या से कहा—"मैंने तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने का वचन दिया था। मेरा उत्तर है मैं पुरुष हूँ।"

वेश्या ने अपनी शंका स्पष्ट की "महाराज जी यह उत्तर तो आप पहले कभी भी दे सकते थे।"

"केवल मनुष्य का शरीर मिलने से ही कोई जीव पुरुष नहीं हो जाता। जो संसार में भोगों में आसक्त है माया का दास है; वह तो स्त्री ही है। जब तक जीवन शेष है कोई इस बात का दावा नहीं कर सकता है कि उसे माया वशीभूत नहीं कर सकती। परन्तु अब मैं जीवन लीला समाप्त कर रहा हूँ। अब मैं कह सकता हूँ कि माया मेरा कुछ नहीं कर सकती। अब मैं यह कह सकता हूँ कि मैं पुरुष हूँ।" साधु ने कहा।

दूत श्रीकृष्ण

श्री हरीन्द्र दवे

●

कृष्ण का दूतकार्य महाभारत के शिरमौर प्रसंगों में से एक है। ऐसे तो राजा द्रुपद के पुरोहित ने सबसे पहले दूत-कार्य किया था, संजय भी राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर दूतकार्य के लिए पाण्डव सभा में गये थे। पर कृष्ण कोई सामान्य दूत नहीं हैं, वे प्रज्ञावान् हैं। वे जानते हैं यह दूत-कार्य सफल नहीं होगा, फिर भी उसमें कोई खामी न रहे ऐसी उनकी इच्छा है। उनका दूतकार्य मात्र कौरव सभा तक ही सीमित नहीं है। वे कुन्ती माता से मिले, फिर तुरंत ही दुर्योधन से मिलने जाते हैं और वहीं से यह दूतकार्य आरम्भ हो जाता है।

दुर्योधन खूब शानोशौकत से कृष्ण का स्वागत करता है। उनके लिये स्वर्णजटित पलंग, जल, भोजन आदि सुविधाएँ भी उसने रक्खी हैं। पर कृष्ण इनमें से किसी को भी स्वीकार नहीं करते; भोजन के लिए भी ना कहते हैं, तब दुर्योधन 'मृदुपूर्व शठोदर्क' (आरम्भ में मृदु पर बाद में शठतापूर्ण) वाणी में कहता है—'आप क्यों हमारा आतिथ्य स्वीकार नहीं करते? आप तो दोनों पक्षों की ओर समभाव रखते हैं; आपने दोनों पक्षों की मदद की है। तब फिर हमारा भोजन स्वीकार करने में आपको अड़चन कौन सी है?

कृष्ण इसका उत्तर सनसनाता हुआ देते हैं:

संप्रीति भोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ॥

(उद्योग. ८९; २५)

किसी के घर पर भोजन या तो प्रीति से, प्रेम हो इस कारण हो सकता है; अथवा विपत्ति में आ फँसे हो तब किसी और के यहाँ भोजन किया जा सकता है। आपका हम पर प्रेम नहीं है, और हम किसी विपत्ति में पड़े नहीं हैं।

कृष्ण के इस उत्तर पर थोड़ा रुक कर विचार करने योग्य है; वे दुर्योधन के भोजन का अनादर करते हैं, तब स्पष्टतः कहते है: आपका हम पर प्रेम नही है। कृष्ण ने तो अपनी विशाल नारायणी सेना दुर्योधन के पक्ष से लड़ने के लिए दी है। अतः कृष्ण के प्रेम के प्रति दुर्योधन शंका कर सकने की स्थिति में नहीं है, पर कृष्ण के लिए दुर्योधन के अन्तर में सहज प्रीति नहीं है। यदि दुर्योधन प्रेम से नहीं, पर कपटभाव से कृष्ण का आगत-स्वागत करे तो कृष्ण किस लिए उसके यहाँ भोजन करने जायें? वे किसी आफत में भी नहीं फँसे है। वे 'वयम्' शब्द का प्रयोग करते हैं, 'हम किसी विपत्ति में पड़े नहीं हैं' ऐसा कहते हैं। कारण यह कि वे दूत के रूप में हस्तिनापुर आये हैं, अतः वे अपनी ओर से नहीं, पर समग्र पाण्डव पक्ष की ओर से बोलते हैं। इन शब्दों से ही वे यह आभास दे देते हैं कि पाण्डव आफत में फँस गये हैं अतः मैं संधिवार्ता करने आया हूँ ऐसी बात नहीं है।

इसी अवसर पर वे स्पष्टतः दुर्योधन से कहते हैं कि तू अपने भाइयों—पाण्डवों के प्रति द्वेष करता है। और जो पाण्डवों से द्वेष करता है वह मुझसे भी द्वेष करता है। क्योंकि पाण्डवों के साथ मेरा 'ऐकात्म्य' है। यहाँ का आपका अन्न दुर्भावना से भरा है अतः वह मेरे खाने योग्य नही है; मैं तो विदुर के यहाँ ही भोजन करूँगा।

कृष्ण जब जानते हैं कि दुर्योधन दुष्टात्मा है और उसका अन्न भी उनके ग्रहण करने योग्य नहीं है, तब वे किस कारण से संधिवार्ता के लिए आये हैं? ऐसे दुरात्मा का उनकी वाणी सुनकर हृदय पलट सकेगा, ऐसा कोई भ्रम कृष्ण के मन में नहीं है। पर कृष्ण की इस संधिवार्ता के प्रयत्न से विदुर को बहुत आश्चर्य हुआ है। वह पूछता है:—

तेष्वेवमुपपन्नेषु कामक्रोधानुवर्तिषु।
समर्थमपि ते वाक्यम् असमर्थं भविष्यति ॥

(उद्योग. ९०; २०)

जो ऐसा निश्चय कर बैठे हैं (कि इन्द्र भी हमारी सेना को पराजित नहीं कर सकते) और जो काम तथा क्रोध के

अनुगामी हैं, ऐसे इन कौरवों के प्रति आपकी बात कितनी ही समर्थ क्यों न हो, असमर्थ ही सिद्ध होगी।

कृष्ण की वाणी तो समर्थ ही होती है, विदुर को इसमें शंका नहीं है। पर साथ ही उनका यह दृढ़ विचार है, उनकी यह स्पष्ट आर्षवाणी है कि ऐसा समर्थ वाक्य भी, काम-क्रोध का अनुसरण करने वाले लोगों के लिए तो असमर्थ ही सिद्ध होगा।

कृष्ण इसका उत्तर बढ़िया देते हैं। कृष्ण की संधिवार्ता के पीछे धर्म है। धर्म और पुण्य का विवेक कैसा हो सकता है यह बात कृष्ण यहाँ करते हैं, वे कहते हैं :—

पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुंजराम्।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद्धर्ममुत्तमम्॥

अश्व, रथ तथा हाथियों के साथ ही यह समूची पृथ्वी विनष्ट होने को तैयार है, जो उसे मृत्युपाश में से मुक्त करने का प्रयत्न करेगा उसे उत्तम धर्म प्राप्त होगा।

स्वयं वे पृथ्वी को इस मृत्युपाश में से उबारने का प्रयत्न करने आये हैं, इसके बावजूद इस प्रयत्न की असफलता भी वे अच्छी तरह जानते हैं। इसीसे तो तत्काल हो कहते हैं : मनुष्य अपनी तमाम शक्ति खर्च करके कोई धर्म कार्य करने का प्रयत्न करे और न कर सके तो भी उसे इस निमित्त का पुण्य तो मिलता ही है इसमें संशय नहीं है (उद्योग ९१; ६); इसी प्रकार जो आदमी मन से पाप का विचार करने के बावजूद उसमें रुचि न होने के कारण उसको कार्य में रूपान्तरित नहीं करता उसे इस पाप का फल नहीं मिलता।

कृष्ण बारम्बार 'अभयया' - निष्कपट भाव से वे संधि का प्रयत्न करनेवाले हैं, ऐसा कहते हैं और साभार मानते हैं कि ऐसा प्रयत्न करने के बावजूद उसमें निष्फल होनेवाला निन्दा का भागी नहीं होता।

इस प्रकार कृष्ण जानते हैं कि धर्म क्या है और उसे आचरण में रखते हैं। अन्य लोग भी इस धर्म को जानते हैं और आचरण में लाने की इच्छा रखते हैं, पर यदि वे दूसरों को धर्म के अनुवर्त्तन के लिए कहें और दूसरे उसका अनादर करें तो इसमें कृष्ण की निंदा नहीं की जा सकती।

दूसरे दिन राज्य सभा में कृष्ण को निमंत्रित करने के लिए दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि विदुर के यहाँ आते हैं। ये दोनों अभी कृष्ण पिघलेंगे ऐसी आशा लेकर आते हैं, या राज्य के नियमों के वशवर्ती होकर आते हैं या शायद बात न माने तो जिन्हें बन्दी बनाना है ऐसे कृष्ण को तौलकर देखने हेतु आते हैं, यह भगवान् व्यास ने हमारी कल्पना पर छोड़ दिया है।

कृष्ण राज्य सभा में प्रवेश करते हैं कि तुरत ही देख पाते हैं कि इस सभा में हाजरी देने महान ऋषि पधारे हैं, और वे अभी तक खड़े हैं। कृष्ण की मूल्य चेतना यहीं प्रगट होती है। वे चुपके से शांतनुतनय भीष्म से कहते हैं; "इन ऋषियों का सत्कार करके उन्हें आसन पर निमंत्रित करें, क्योंकि इनके बैठे बिना कोई भी बैठ नहीं सकेगा।" (उद्योग. ९२; ४२-४३) जब ये ऋषि सुन्दर आसनों पर बैठे, इसके बाद ही कृष्ण ने सभा के बीच रक्खा अपना आसन ग्रहण किया।

कृष्ण जैसे युग के पुरुषशिरोमणि संधिवार्ता करने आये हों तो सभी में कौतूहल 'और क्या होगा' की जिज्ञासा हो यह स्वाभाविक ही है। इसी से कृष्ण के आते ही सभा शान्त हो गयी। और तब कृष्ण ने बोलना शुरू किया। भगवान व्यास संधिकार कृष्ण का दो विशेषणों के साथ वर्णन करते हैं : 'सुदंष्ट्रो'—सुन्दर दंतावलि से शोभित तथा 'दुन्दुभिस्वनः'—दुदुंभि जैसे स्वर वाले। संधिकार कृष्ण के लिए ही ये विशेषण उचित हो सकते हैं। दत्तचित्त मौन रहकर सुन रहे राजाओं और ऋषि-मुनियों की आँखें देखती हैं सुन्दर दंतावलि और कान सुनते हैं—दुंदुभि जैसा स्वर। और फिर एक उपमा दी जाती है :—

जीमूत इव धर्मान्ते सर्वां संश्रावयन् सभाम्।
धृतराष्ट्रं अभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः॥
(उद्योग. ९३; २)

ग्रीष्मऋतु पूरी हो और बादल गरजें ऐसी गंभीर गर्जना के साथ समूची सभा सुने इस प्रकार धृतराष्ट्र को सामने देखकर उन्होंने इस प्रकार कहा।

कृष्ण यहाँ असहाय होकर नहीं आये हैं, उन्होंने दुर्योधन से प्रथम मुलाकात में ही कहा था कि हम किसी आफत में नहीं पड़े हैं। अतः वे गर्जना भरे स्वर में बोलते हैं। वे कहते हैं धृतराष्ट्र से, पर समग्र सभा को साखी रखकर कहते हैं। सारी सभा सुन सके ऐसी जोर की आवाज में—गरजती

आवाज में कहते हैं। तथापि कहते हैं प्रार्थना-वचन। वे कहते हैं क्षत्रिय वीरों में युद्ध न हो और कौरव तथा पांडवों में शांति स्थापित हो इस हेतु मैं आया हूँ।

कृष्ण इतना कहते हैं तब वे जानते हैं कि इस विषय पर यहां सुननेवालों के समक्ष बहुत-कुछ कहा जा चुका है, अतः उनको बात का सार-सर्वस्व यह शांति संस्थापन है इस बात पर ही जोर देते हैं।

वे पहले तो कुरुकुल की प्रशस्ति करते हैं और ऐसे उत्तम कुल में अनुचित कार्य हो यह ठीक नहीं ऐसा तर्क प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं, बाहर से और भीतर से जो कौरव मिथ्या आचरण करते हैं उन्हें मैं रोकने का प्रयत्न करता हूं।

कृष्ण की इस संधिवार्ता का एक-एक शब्द तौल-तौल कर बोला गया है। वचन धर्मसंयुक्त और तर्कसंयुक्त दोनों ही हैं इसीसे इतना कहने के बाद तत्काल ही वे यह मिथ्या आचरण करने वाले कौन हैं उनका नाम लेकर बात करते हैं। यह दुर्योधनादि आपके पुत्र अपने ही मुख्य बंधुओं के साथ अशिष्ट आचरण करते हैं। लोभ के कारण इनकी मर्यादा टूट चुकी है। यह कुरुकुल पर आयी आफत है। जो इस पर ध्यान नहीं दिया गया तो 'पृथिवीं घातयिष्यति' सारी पृथ्वी का नाश हो जायगा, ऐसी चेतावनी भरी वाणी कृष्ण बोलते हैं।

सबसे पहले वे पांडवों के साथ संधि करने के लाभों का वर्णन करते हैं। पांडवों से यदि धृतराष्ट्र और कौरव सुरक्षित हों तो देवताओं सहित इन्द्र भी उन्हें जीत नहीं सकता। पांडवों जैसे संरक्षक खोजने पर भी पृथ्वी के पटल पर दूसरे कोई नही मिलेंगे, ऐसी बात भी कृष्ण धृतराष्ट्र से कहते हैं। यदि पांडव-कौरव एक हो जायें तो पृथ्वी के सभी राजा धृतराष्ट्र के वशवर्ती होकर रहेंगे और वे जगत के सम्राट बन जायगें। लेकिन यदि ऐसा नहीं होगा तो—

> संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान्क्षयः।
> क्षये चोभयतो राजन् कं धर्ममनुपश्यसि॥

महाराज, यदि संयुग हो–युद्ध हो तो मुझे महान क्षय ही दिखायी देता है; महान संहार ही दिखायी देता है। और दोनों पक्षों का क्षय हो इसमें आपको कौन सा धर्म दिखायी देता है?

कृष्ण को जिसमें संहार दिखायी पड़ता है वही घटित हो ऐसी धृतराष्ट्र की इच्छा है। धृतराष्ट्र को इसमें कौन सा धर्म दिखायी देता है यह प्रश्न केवल धृतराष्ट्र के प्रति नहीं है, समूची कौरव सभा सुने इस प्रकार यह प्रश्न पूछा गया है।

पांडव कौरवों का संहार करेंगे ही ऐसी श्रद्धा कृष्ण व्यक्त नहीं करते। वे तो कहते हैं कि पांडव और कौरव दोनों ही समान वीर और समान युद्ध-उत्सुक और शस्त्रविद्या में समान पारंगत हैं। इन दोनों का क्षय होने से आपको कौन सा सुख प्राप्त होगा?

कृष्ण की वाणी में सच्चाई भरा आर्जव है, वे कहते हैं:–

> त्राहि राजन् इमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः।
> त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात्कुरुनन्दन॥
> (उद्योग. ९३, ३३)

हे कुरुनन्दन, आप इन लोगों की रक्षा करें, जिससे समस्त प्रजाओं का नाश न हो। आप यदि प्रकृति पर स्थिर रहेंगे तो सब लोग बच जायँगे।

युद्ध एक विकृति है, और शांति प्रकृति है। राजा का धर्म प्रकृति में स्थिर रहने का है।

यह कहने के बाद पांडवों का धृतराष्ट्र के नाम संदेश भी वे कहते हैं। इसके द्वारा कृष्ण, धृतराष्ट्र के हृदय के द्वार खोलने का प्रयत्न करते हैं। धृतराष्ट्र को पुत्र-भाव से भेजा गया यह संदेश भी जितना धृतराष्ट्र के लिये है उतना ही कौरव सभा के लिये भी है। इसी से कृष्ण कहते हैं:—

> यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
> हन्यते प्रेक्षमाणानां हता स्तत्र सभा सदः॥
> (उद्योग. ९३, ४८)

जहाँ सभासदों के देखते हुए अधर्म द्वारा धर्म का, अनृत (मिथ्या) द्वारा सत्य का वध होता हो, वहाँ सभासद भी मारे गये ही समझना चाहिये।

अधर्म से मारा गया धर्म, यदि सभासद अधर्म के काँटे निकाल नहीं फेंकते तो, नदी किनारे के वृक्षों को जैसे नदी नष्ट कर देती है, इसी प्रकार सभासदों को नष्ट कर देता है।

धर्म यह है कि पांडवों को उनका राज्य सौंप देना। कृष्ण धर्म जानते हैं। दुर्योधन धर्म को मानने वाला नहीं

है, पर जानता है, तो भी धर्म का पालन करवाने के लिये यह मरा हुआ प्रयास वे किसके लिये करते हैं ?

अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत।
धर्माद अर्थात् सुखात् चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः॥
(उद्योग. ९३, ४९)

हे भारत, मैं तो आपका तथा पांडवों दोनों का श्रेय चाहता हूँ। आप समस्त प्रजा को धर्म, अर्थ और सुख से वंचित न करें।

युद्ध हो तब दोनों पक्ष के राजाओं के जो हित साधने हैं या नष्ट होने हैं वे सधे या नष्ट हों, पर दोनों देशों की प्रजा तो धर्म अर्थात् समाज को धारण करने वाले बल, अर्थ अर्थात् अस्तित्व का समग्र उद्देश्य तथा सुख, इन तीनों से वंचित होती है। प्रजाओं पर आयी यह विपत्ति टल जाय यह कृष्ण की इच्छा है। पांडव तो धृतराष्ट्र को बुजुर्ग मान कर सेवा करने को भी तैयार हैं और युद्ध करने के लिये भी तैयार हैं। अतः अब आपको जो 'पथ्य' लगे उस मार्ग पर खड़े हों।

कृष्ण दो मार्ग बताते हैं; एक है मैत्री का मार्ग, दूसरा है युद्ध का।

इनमें धृतराष्ट्र को, उसके पुत्रों को और इस समूची कौरव सभा को कौन सा मार्ग पथ्य लगता है इस बात का निर्णय लेना है। इस 'पथ्य' शब्द में कृष्ण का तीखा व्यंग भी है और साथ ही साथ परिस्थिति का आकर्षक वर्णन भी है।

कृष्ण जब ये शब्द कह चुकते हैं तब कौन इनके उत्तर में कुछ कह सकता है? और खास करके स्वार्थ से या कृष्ण के द्वेष से या किसी अन्य कारण से भी कृष्ण के दास रहे ये राजा कहाँ से कुछ भी कह सकते हैं?

इस मौन के साथ ही उद्योग पर्व का ९३ वाँ अध्याय कृष्ण के संधिवार्ता संबंधी भाषण का अध्याय समाप्त होता है।

गीता की पूर्व भूमिका के रूप में भी यह संधि संभाषण समझने लायक है। कृष्ण के धर्म का आदर्श यहाँ समरूपपन में प्रगट हुआ है, और युद्ध टालने के साथ ही युद्ध से डर कर उससे दूर भागने में विश्वास नहीं रखते ऐसे कृष्ण ही गीता का उच्चार कर सकते हैं। गीता को समझने के लिये भी इस संघ-संभाषण के निकट जाना श्रेयस्कर है।

अनु० डा० भानुशंकर मेहता

परीक्षा

बुद्धदेव ने अपने शिष्यों से कहा—"मैं तुम्हें एक प्रदेश में किसी विशेष कठिन काम के लिये भेजना चाहता हूँ। अगर उस देश के निवासियों ने तुम्हारी बात न सुनी तो क्या करोगे?"

"भगवन्! हम समझेंगे कि वे लोग बड़े अच्छे हैं। उन्होंने हमारी बात सुनी नहीं, लेकिन हमें गाली तो नहीं दी।" एक शिष्य तत्परता से बोला।

"और अगर उन्होंने तुम्हें गाली दी तो?"

"तो हम समझेंगे कि वे लोग बड़े ही अच्छे हैं। उन्होंने हमें न मारा, न पीटा।" दूसरे शिष्य ने जवाब दिया।

"और अगर जान से मार डाला तो?"

चौथे शिष्य ने फुर्ती से कहा "तब भी हम तो समझेंगे कि उस प्रदेश के लोग बहुत अच्छे हैं, जिन्होंने हमें भगवान का काम करते हुए भगवान के पास पहुँचाया।"

मुस्कराते हुए बुद्धदेव बोले "जाओ शिष्यो! तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। अब तुम धर्म प्रचार कर सकते हो।"

यौवन का दान

(एक गुजराती लोकगीत का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर)

●

एक दिन दुर्योधन के द्वार पर जाकर एक भाट उसका यश गाने लगा। दुर्योधन ने कहा—"कर्ण सवा भार सुवर्ण नित्य दान करता है और मैं ढाई भार करता हूँ, अतः आज से तुम उसके यहाँ उसकी बड़ाई गाने मत जाना।"

भाट लोभी तो होता ही है—जिससे कुछ पाता है, उसीकी बड़ाई गाता है।

इधर द्वारिका में भगवान् श्रीकृष्ण शयन कर रहे थे, लक्ष्मी जी उनके चरणों के पास बैठी थीं। सहसा आकाश से नारद महाराज उतरते दिखायी पड़े। उन्हें देखते ही लक्ष्मी जी डर कर श्रीकृष्ण से बोलीं—"स्वामी, देखिये, नारद जी आ रहे हैं, निश्चय ही ये कलह करवाने आते होंगे।"

श्रीकृष्ण ने हाथ में जल का लोटा लेकर नारद का स्वागत-सत्कार किया, पैर धोया और उन्हें उत्तम आसन देकर विनयपूर्वक पूछा—"महाराज, आपका आना कैसे हुआ? मेरे योग्य कोई सेवा हो तो बताने की कृपा कीजिये।"

नारद बोले—"भगवन्। आपका सेवक कर्ण दान देने में इस समय बड़ा कष्ट उठा रहा है, एक बार देख तो आइये।"

श्रीकृष्ण उसी समय गरुड़ पर चढ़ कर हस्तिनापुर पहुँचे। वहाँ उन्होंने गरुड़ को विदा करके स्वयं एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाया। सामने दुर्योधन का भाट आता हुआ मिला। ब्राह्मण देवता ने उससे नम्रतापूर्वक पूछा—"क्यों भाई, यहाँ सबसे बड़ा दानी कौन है?"

भाट ने कहा—"हमारे महाराजा दुर्योधन, सच्चे दानवीर हैं।"

ब्राह्मण देवता दुर्योधन के घर पहुँचे। दुर्योधन ने सम्मान के साथ उन्हें आसन पर बैठाया और हाथ जोड़ कर पूछा—"महाराज, कैसे पधारे? आपकी क्या सेवा करूँ?"

ब्राह्मण देवता बोले—"राजन्! मुझे अन्न नहीं चाहिए, जल नहीं चाहिए, सुवर्ण नहीं चाहिए। मैं अपने माता-पिता का क्रिया-कर्म करने द्वारिका जाना चाहता हूँ, लेकिन बुढ़ापे के कारण मुझसे चला नहीं जाता। आप मेरा बुढ़ापा लेकर मुझे अपनी जवानी दे दें। कर्म करके लौटते ही मैं आपका यौवन लौटा दूँगा।"

दुर्योधन ने कहा—"विप्र जी! सवारी के लिए एक बढ़िया घोड़ा ले लीजिए।"

विप्र देवता—"घोड़े पर तो कोई वर चढ़ता है, या राजा।"

दुर्योधन—"अच्छा तो पालकी या रथ, इन्हीं में से कोई सवारी ले लीजिए।"

विप्र देवता—"पालकी या रथ पर जाने से तीर्थ का पुण्य नहीं मिलता।"

दुर्योधन—"तो फिर हाथी ही ले लीजिये।"

विप्र देवता—"हाथी पर से कहीं गिर पड़ूँगा, तो मेरी टाँग टूट जाएगी।"

दुर्योधन—"पर मेरा यौवन तो मेरी स्त्री का है, उससे पूछ कर ही मैं इसे किसी को दान दे सकता हूँ।"

दुर्योधन अपने अन्तःपुर में गया। रानी ने लोटे में जल लेकर स्वामी का पैर धोया और आसन पर बैठा कर नम्रता से पूछा—"मेरे नाथ, क्या आज्ञा है? निस्संकोच कहिये।"

दुर्योधन ने सारा हाल सुना दिया। रानी ने कहा—"आप जब बूढ़े बन कर खाट पर पड़ जाएँगे, तो मैं आपकी सेवा नहीं करूँगी। उस दशा में तो मैं आपको जानवरों को चराने का काम सौंप दूँगी। अर्जुन और भीम आपकी हँसी उड़ायेंगे।"

दुर्योधन ब्राह्मण देवता के पास जाकर बोला—"देव! मेरी स्त्री ने मना कर दिया है, इसलिए मैं आपको अपना यौवन देने में बिलकुल असमर्थ हूँ।"

विप्र देवता उसे धिक्कारते हुए राजा कर्ण के घर पहुँचे। कर्ण ने श्रद्धाभाव से उनके आने का प्रयोजन पूछा। ब्राह्मण देवता ने अपनी इच्छा बता दी। उसे सुनते ही कर्ण ने गद्गद् होकर कहा—"विप्र जी, एक अनुरोध है। मेरा यौवन आप मुझ से लेकर कृष्णार्पण कर दीजियेगा, बस। मेरा यह जीवन धन्य हो जाएगा।"

ब्राह्मण देवता बोले,—"मैं इस तरह नहीं लूंगा, पहले अपनी स्त्री से पूछ आओ। अभी-अभी एक राजा की स्त्री ने उसे यौवन-दान करने से रोक दिया है।"

राजा कर्ण यह चिन्ता करते हुए अन्दर आये कि, स्त्री की बुद्धि पानी की तरह होती है, न जाने किधर बह चले। स्त्री ने जल से उनका पैर धोया, सर्वोत्तम आसन पर बैठाया और हाथ जोड़ कर पूछा—"स्वामी, क्या आज्ञा है।"

राजा कर्ण ने ब्राह्मण देवता को सारी बातें कह सुनाई। स्त्री ने कहा—"मेरे स्वामी, आपके यौवन पर आपका पूरा अधिकार है, उसके संबंध में मुझसे पूछने की क्या आवश्यकता है? यदि ब्राह्मण देवता चाहें, तो आप मुझे भी सहर्ष दान कर सकते हैं।"

राजा कर्ण ने ब्राह्मण देवता के पास आकर उन्हें अपना यौवन दान कर दिया और उनका बुढ़ापा स्वयं ले लिया। विप्रवेषधारी भगवान् उन्हें धन्यवाद देकर द्वारिका पधारे। लक्ष्मी जी ने उन्हें देखते ही कहा—"आप यह किसका यौवन ले आये? इसे अभी जाकर वापस कर आइये, उसकी स्त्री दुःख पाती होगी।"

श्रीकृष्ण तुरत ब्राह्मण वेश में फिर हस्तिनापुर पधारे। वहाँ वे दुर्योधन के पास जाकर बोले—"महाराज! कोई धूर्त ब्राह्मण आपको ठगने तो नहीं आया था? सुनते हैं, वह राजा कर्ण को ठग कर ले गया। अब वे बुड्ढे बने खाट पर पड़े हैं। चलिये, जरा उन्हें देख लें।"

दोनों राजा कर्ण के घर पहुँचे। राजा कर्ण वृद्ध होकर लेटे थे। निर्बलता के कारण वे हाथ भी न उठा सके। पड़े-ही-पड़े उन्होंने आँखों से नमस्कार किया। ब्राह्मण देवता बोले—"राजा कर्ण, तुम जो—कुछ माँगो, मैं देने में समर्थ हूँ।"

राजा कर्ण ने कहा—"देव, मेरी तो यही कामना है कि, माता के हाथ का भोजन मिलता रहे, पुत्र के हाथ का पिण्ड मिले और जीवन-भर सहधर्मिणी का साथ रहे।"

ब्राह्मण देवता ने 'एवमस्तु' कह कर अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और कर्ण का यौवन उन्हें लौटा दिया।

●

मानव-सेवक

एक बार एक परोपकारी बन्धु के पास रात्रि के समय एक देव आया और नोटबुक दिखाकर बोला, 'मैं इसमें उन महानुभावों के नाम लिख रहा हूँ, जो शुद्ध हृदय से ईश्वर की सेवा करते हैं। कहिए इसमें आपका नाम लिखूँ या नहीं।' परोपकारी बन्धु ने नम्रतापूर्वक कहा, क्षमा कीजिए महाशय, मेरा नाम इस डायरी में न लिखें। मैं तो ईश्वर के बन्दों की सेवा करता हूँ, यदि मनुष्य-सेवकों की कोई डायरी आपके पास हो, तब सहर्ष उसमें मेरा नाम लिख सकते हैं, क्योंकि :—

'खुदा के बन्दे तो हैं हजारों, बनों में फिरते हैं मारे-मारे।
मैं उसका बन्दा बनूंगा जिनको खुदा के बन्दों से प्यार होगा।'

—इकबाल

सुबह उठकर देखा तो सर्वप्रथम स्वर्णाक्षरों में उसी का नाम डायरी में अंकित था।

—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

●

काल-राज्य

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

प्रश्न—एक इन्द्रिय से समस्त इन्द्रियों का कार्य हो सकता है ?

उत्तर—हो सकता है, और उस स्वरूप में प्रवेश हो तो एक इन्द्रिय का कोई महत्व नहीं रहेगा। आँखों से सब होता है क्या ? यह तर्क-वितर्क की चीज है। इसे समझना होगा। चीज एक ही है और अनन्त भी है। अलग-अलग अवस्था में अलग-अलग है। फिर जब सभी अवस्थाओं में ले जाने पर, तब किसी की भी आवश्यकता नहीं होती। महिम्न स्तोत्र में लिखा है—'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमति प्रभिन्ने प्रस्थाने' चाहे जिसका सहारा लो। इससे यही समझ में आता है। बचपन में समझ जाता था पर समझा नहीं पाता था। जाने का माने जो है, आने का भी वही है। यह जो मूवमेंट है, यह जाना है या आना ? मैं यहाँ से कहता हूँ आना, पर मैं यहीं हूँ तब तो जाना नहीं हुआ। यह खेल है, खेल। जाना भी है और आना भी। दूसरी ओर आना-जाना कुछ नहीं है। आना-जाना है यह ठीक है पर आना-जाना मे कोई भी सत्य नहीं है। शास्त्रों में समझाने की व्यवस्था है और कुछ नहीं। एक चीज है, वह बहुत बड़ी चीज है (अब समझने का समय है, वह समय आ रहा है।) काल के साथ सम्बन्ध। इस विषय को लेकर बचपन से ही 'मूव्ड' होता रहा। अपने मन के अनुसार समझने का प्रयत्न करता रहा, पर उस उम्र में तृप्ति नहीं मिली। यह काल नामक चीज एक ऐसी जगह है जहाँ वह अखण्ड सत्ता की स्थिति में है। उक्त अखण्ड सत्ता अनन्त रूपों में लीला करने के लिए उत्पन्न हुई है—लीला मुख। वही लीला, वास्तविक लीला है। अभी तक वह लीला जगत में प्रकट नहीं हुई है। सत्य, त्रेता, द्वापर में जो लीलायें हुई हैं, वह सब योगमाया के खेल थे ? कुछ नहीं, सिर्फ गोरखधन्धा था। वह प्रकृत लीला नहीं थी। प्रकृत लीला तब होगी जब स्वरूप उस अवस्था में ठीक रहेगा। यहाँ योगमाया क्यों आती है ? इस बात को भागवत में रूपकों द्वारा समझाया गया है। मेरा विश्वास है कि यह प्रकट होगा। यह सब घटनायें भीतर से देख रहा हूँ—वह है—बुद्धदेव आकर देखते रहे, अनेक घटनाएँ कर गये हैं। उस वक्त मुझे स्ट्राइक करता रहा। काफी लिख चुका हूँ, पर समझ नहीं पाता था। सब कुछ पहेली जैसा लगता। मान लो फूलों का एक बाग है। यह जानकर कि यह फूल जेठ के महीने में खिलेगा, पर वह जेठ का महीना नहीं था। अन्य महीना कर दिया। छह माह बाद कर दिया। यह परिवर्तन इच्छानुसार काल का परिवर्तन है। यह एक विज्ञान की बात है। बुद्धचरित नामक एक पुस्तक है जिसमें अनेक बातें हैं। इस पुस्तक को पढ़ चुका हूँ। उन दिनों यह ज्ञान था कि मनुष्य काल को स्तम्भित कर सकता है। जरत्कारु मुनि की कहानी जानते होंगे। वे आह्निक करने जा रहे थे। देर होते देख कर शिष्यों ने कहा—'ठाकुर, बहुत देर हो रही है। शाम हो चली है।' मुनि ने कहा—'जब तक मैं सन्ध्या नहीं कर लूँगा तब तक सन्ध्या आयेगी कैसे ?'

बचपन में इस कहानी को पढ़ कर हँसा था। सन्ध्या को जब आना होगा, आयेगी। मैं जब तक सन्ध्या नहीं करूँगा क्या तब तक वह रुकी रहेगी ? यह सब बातें जो काल से सम्बन्धित हैं, सहजिया सम्प्रदाय वालों में है। महाप्रकाश कहाँ है। पूर्णिमा, पहले ५, फिर ५, फिर ५, इसके बाद असली पूर्ण—बाल्य, पौगण्ड, किशोर। बाल्य जब काल में प्रवेश करता है तब पौगण्ड में उसका विकास होता है। विकास के बाद उसका कैशोर आ जाता है—यहाँ स्थिर हो जाता है—नित्यं किशोर एवं स भगवान् अन्तकान्तकः। कैशोर नित्य है—११ से लेकर १५ तक। १६ में जाते ही वह पूर्ण हो जाता है, फिर पूर्णिमा। चाहे अमावस की ओर से जाऊँ या पूर्णिमा की ओर से—काल में जाना पड़ेगा। यह सब बातें सामान्य लोग समझ नहीं पाते। मैं एक घटना सुना रहा हूँ। एक महापुरुष की

कहानी है। 'सचित्र साधन विज्ञान' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक के लेखक थे--योगप्रकाश ब्रह्मचारी। अपने निजी अनुभवों का आपने उल्लेख किया था। उन्होंने एक जगह लिखा था--आबू पहाड़ पर एक साधु के साथ मेरी मुलाकात हुई थी। सुना कि वे बड़े अच्छे आदमी हैं। हमेशा समाधि अवस्था में रहते हैं। मेरी इच्छा हुई कि चल कर मैं दर्शन करूँ। वहाँ जाने पर देखा कि उनकी समाधि भंग नहीं हो रही है। अचानक एक दिन समाधि भंग हुई। यह देख मैं आनन्दित हो उठा और उनके गले में एक माला डाल दो। उनसे बातें करने की इच्छा हुई पर वे तुरत समाधिस्थ हो गये। फलस्वरूप कोई बात-चीत नहीं कर सके। इस घटना के १०-१५ दिन बाद उनकी समाधि भंग हुई। इस बीच जो माला उनके गले में पहनायी थो, उसके फूल ताजे थे। समाधि भंग होने के बाद जब उन्होंने माला को फेंक दिया तब वह दो दिन के भीतर सूख गयी। साधु समाधिस्थ अवस्था में जब थे तब स्वरूप में थे। वहाँ काल ने स्पर्श नहीं किया था। काल वास्तव में क्या है, इसे हम अच्छी तरह नहीं जानते। काफी पुस्तकें पढ़ चुका हूँ, दर्शन पढ़ चुका हूँ, पर 'टाइम' ठोक क्या चीज है समझ नहीं सका। सॉक्रेटस के समय यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था। कुछ लोगों ने यह सवाल उठाया था। काफी उथल-पुथल हुई थी, पर समाधान नहीं हो सका। इस चीज के रास्ते का समाधान खुल जायगा, ऐसा लगता है। यह किताबी बातें नहीं हैं, उनमें तो केवल इंगित मात्र है। मुझे ऐसा लगता है। आगे क्या होगा, कौन जाने। असली लीला अभी तक नहीं हुई है-- इतने दिनों तक लीला काल के भीतर होती रही। काल के भीतर कैसे लीला होती है? काल के भीतर लीला के लिए जगह कहाँ है? लीला का स्थल है--शान्त स्थल। इसका इंगित उपनिषदों में है। पढ़ चुका हूँ, पर समझ नहीं सका। हृदयाकाश के भीतर खेल होता है, वहीं लीला का स्थान है। बाहरी आकाश में कुछ नहीं होता। बाहरी आकाश तो आकाश ही नहीं है--काल के जगत को लीला है।

प्रश्न—हेमन दादा ने कहा वर्णमाला के साथ इसका क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—वर्णमाला में इंगित मात्र है। "अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः"। 'अ' कार और 'ह' कार। आदि है 'अ' कार यह जो अरेंजमेंट है, इसमें अनेक तथ्य हैं। मैंने इसका संकलन किया था। वे लोग समझ नहीं सके, इसलिए सब छोड़ दिया।

अकार है—परम शिव। पूर्ण वस्तु केवल परम शिव से नहीं होती। आकार से सृष्टि आरम्भ होती है। अकार है—"आनन्द।" "आनन्देद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते," सृष्टि का आरम्भ हुआ है आनन्द से—आनन्द की लीला ही सृष्टि की लीला है। इस सृष्टि में आनन्द है। इसके बाद इ माने इच्छा का उदय। जब इच्छा तीव्र होती है तब 'ईशन' हो जाता है.जब ट्रेण्ड हो जाता है तब उन्मेष होता है। उन्मेष के बाद ए कार भी पूर्व की ओर हट जाता है। यह इस योनि में गया। ए कार का ऐ कार और ओ कार औ कार बिलकुल 'मिस्टीरियस' है। हम लोग पढ़ते रहे तब हमें कुछ चीजें मिली थीं। डाक्टर वेनिस भी कुछ समझ नहीं पाये थे। वे कहा करते थे—दे आर आल मिस्टीरियस। अब मैं वर्णमाला का रहस्य समझ गया हूँ। उन दिनों पेलियोग्राफी में पढ़ना पड़ता था। इंडियन एंटीक्विटी में इस बारे में लेख है। वर्णमाला का रहस्य अगर समझना चाहते हो तो अभिनव गुप्त की जितनी सामग्रियाँ प्रकाशित हुई हैं, उसो पढ़ो। जब उसे अच्छो तरह समझ लोगे तब अन्तर खुल जायगा। बिना अन्तर्मुख हुए यह सब चीजें समझ में नहीं आतीं।

प्रश्न—इसका अर्थ है कि हम लोग उनकी ओर दृष्टि रखें।

उत्तर—उनकी ओर क्यों कह रहे हो? उनको देखा है? सच तो यह है कि साम्य की ओर ध्यान रखो। हर वक्त साम्य की ओर ध्यान रखने पर सारा विश्व तुम्हारे पैरों के निकट रहेगा। अगर साम्य की ओर ध्यान रख सके तो सारा विश्व तुम्हारे पैर के निकट आ जायेगा। मुझे साम्य चाहिए, उसे चाहे तुम कुछ भी कह लो, उससे मेरा कोई मतलब नहीं। गीता में कहा गया है—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" माम् एकं। यह एकं मुझे चाहिए। एकं भाव के आते ही अन्य सभी भाव चले जायेंगे। सभी भावों को हटा कर एकं भाव को नहीं लाया जा सकता।

प्रश्न—इसका अर्थ यह हुआ कि एकं भाव ही साम्य है ?

उत्तर—एकं ही साम्य है। एकं माने—इको—इको—इको माने एकं सर्वं। असली चीज दूर नहीं है। अगर वह दूर चला गया तो इस जन्म में उसे पाना कठिन है। वे इतने निकट हैं कि उन्हें खोजना नहीं पड़ता, मिल जाते हैं। यह एक अद्भुत कन्ट्राडिक्शन है। दूर तो इतने हो जाते हैं कि उन्हें कोटि जन्म में पाया नहीं जा सकता और निकट तो इतने हैं कि उन्हें पाने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह मिल जायगा, बल्कि मिल चुका है। पाने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इन दोनों का समन्वय करना कठिन कार्य है। दोनों ही उल्टी चीजें हैं।

प्रश्न—पाया गया है, इसे तो समझना पड़ेगा।

उत्तर—यह बोध ही बड़ा बोध है। पाया गया है, यही बड़ा बोध है। इसे समझने का प्रयत्न करो। पाना होगा, यह बात नहीं है। पा चुके हो, इसे तुम समझ नहीं सके, इसे समझो। तुम लोगों के भीतर वह चीज है अगर खुल गया तो खुल जायगा। देखो, क्या होता है। बुद्धचरित में अनेक बातें हैं। एक ही बाग में भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न फल-फूल होते हैं। काल को बन्धन में रखने की कल्पना मनुष्य नहीं कर सकता। अब इन बातों के प्रकट होने का समय आ गया है।

प्रश्न—आजकल विज्ञान के माध्यम से संसार की सभी चीजें विभिन्न ऋतुओं में बदलती जा रही हैं। इसके पीछे कोई गूढ़ रहस्य है ?

उत्तर—यह तो होगा ही। अगर इसके सिद्धान्त पर गौर करो तो उत्तर मिल जायगा। इसका एक संकेत पतंजलि के भाष्य में है। जो लोग पतंजलि पढ़ा रहे हैं, उनमें हजारों लोग ऐसे हैं जिन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं होता। मेरा यह चैलेंज है। मैं बचपन से अब तक अनेक बार पढ़ चुका हूँ और मुझे काफी सामग्री मिली है। 'एकस्मिन् एव क्षणे सर्वं जगत् परिणाममनुभवति'—एक ही क्षण में सर्वजगत प्राप्त होता है—यह कैसा पागलपन। अंग्रेजी में इसे 'साइंस' का नाम देते हैं। यह दोष अंग्रेजी पढ़ने का है। विचारधारा विकृत हो गयी है। हम लोग प्राचीन विज्ञान को विज्ञान नहीं समझते। प्राचीनकाल के विश्वास हैं। इससे फल मिल सकता है और नहीं भी।

प्रश्न—हम लोग जो साधन-भजन करते हैं उसका उद्देश्य यह है कि वे हममें हैं, इसे समझने का प्रयत्न करते रहें।

उत्तर—उन्हें पाने के लिए, पा चुका हूँ, यह समझ नहीं पा रहा हूँ, पाना चाहता हूँ, दूर से पाना नहीं है। पा चुका हूँ, पर समझ नहीं पा रहा हूँ, सिर्फ उसे समझने के लिए, और कुछ नहीं। कौन क्या देगा ? ऐसा क्या देगा जो तुम्हारे पास नहीं है। रहते हुए भी क्या होगा ? वह तो न रहने के बराबर है—यह एक प्रकार से कन्ट्राडिक्टरी चीज है। इसे समझने का प्रयत्न करो। इसे समझने पर समन्वय हो जायगा। वह चीज प्राप्त कर चुके हो, पर उसकी कद्र नहीं कर रहे हो। असली बात यह है कि उसे पहचान नहीं रहे हो। वह चीज तुम्हारे पास है और तुम जगह-जगह खोज रहे हो। खोजने से पाओगे कहाँ ? दूसरी जगह नहीं मिलेगा, अपने में खोजो। वैकुण्ठ में नहीं मिलेगा, गोकुल में नहीं मिलेगा, कैलास में नहीं मिलेगा, कहीं भी नहीं मिलेगा। अगर मिलेगा तो केवल रिफ्लेक्शन। असली चीज तुम्हारे पास है, इसे समझने की जरूरत है। ठीक से जब तुम पहचान लोगे तब स्वयं ही समझ जाओगे। गुरू को बताना नहीं पड़ेगा। असली बात है पहचानना। हम लोग पहचान नहीं पाते। पास में रहते हुए दूर हैं। जब पहचान लोगे, तब समझ पाओगे कि यह तो मेरे पास ही था।

प्रश्न—सब है। चूंकि मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, इस लिए कुछ नहीं है।

उत्तर—यह तुम्हारी व्याख्या है। इससे पेट नहीं भरेगा।

प्रश्न—उन्हें पहचानने का सहज उपाय क्या है ?

उत्तर—सहज उपाय है—रोना, बच्चों की तरह रोना। शिशु अगर मां के लिए तड़प रहा हो तो मां दूर नहीं रह सकती। इसमें पाण्डित्य की जरूरत नहीं है। वे दर्शन देते हैं। रोना अन्तर से होना चाहिए। तब वे अन्तर में ही दर्शन देते हैं। बाहरी चीजों की जरूरत नहीं होती। यहाँ तक कि गुरू की भी जरूरत नहीं होती। वहाँ से गुरू

मिल जाते हैं ! इसमें चालाकी या कौशल की जरूरत नहीं। सरल और सत्य भाव होना चाहिए। उन्हें पकड़ लेने पर कोई संशय नहीं रहता। तुमने पकड़ लिया है, अगर यह समझ लेते हो तो किससे पूछोगे? यह है तुम्हारे प्रश्न का उत्तर। अगर न पाकर पा गया हूँ समझते हो तो वहाँ गुरु की जरूरत होती है। जो पा लेता है, वह बताता नहीं, क्यों बताने जायगा? पाना तो अपना टेस्ट है। तुम क्यों बताने जाओगे? अहंकार क्यों होगा?

प्रश्न--अगर किसी को सरल मार्ग मिल जाय या सहज मार्ग मिल जाय तो---

उत्तर--सहज मार्ग मिल जाने पर वह उसे पहचान लेगा, इसमें गलती नहीं होगी। काल वहाँ नहीं है। काल से ही धोखा होता है। किशोर वयस--नित्य किशोर, इसके बाद काल आ गया। इसके पूर्व भी काल था। 'नित्यं किशोर एव स भगवान् अन्तकान्तकः'। नित्यं किशोर। काल नहीं रहता—काल की क्रिया नहीं रहती। काल का क्रिया-बोध नहीं रहता दरवाजा खुल जाता है। वह इतनी बड़ी चीज है कि उसके निकट काल कुछ भी नहीं है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड भी उसके निकट कुछ नहीं है। स्पष्ट समझने पर वहीं सन्ध्या होगी।

प्रश्न—सन्ध्या क्यों होगी?

उत्तर—अन्धेरा प्रकाश के बीच में होगा। अन्धेरा भी नहीं, प्रकाश भी नहीं। जब स्पष्ट रूप से पा जाओगे तब फिर क्या? तब तो हो गया। वह स्पष्ट नहीं है, पर वहाँ संशय भी नहीं है। उस चीज का स्वरूप ही ऐसा है।

प्रश्न—जिसे प्राप्त हुआ, वह तो स्पष्ट रूप से समझ गया। क्या उसके लिए 'ट्विलाइट' कहने की आवश्यकता है?

उत्तर—जिसे प्राप्त हुआ, उसका मुँह बन्द हो गया। वहाँ बताकर अहंकार प्रदर्शन करने की जरूरत नहीं है। उस वक्त कहने की जरूरत नहीं होती, कहने की प्रवृत्ति नहीं होती और कहने का सामर्थ्य ही नहीं रहता। जब कह रहा है तब ठीक से प्राप्त नहीं हुआ है। यही है—ट्विलाइट।

प्रश्न—उस वक्त लोक-संग्रह के लिए भी क्या वह कुछ नहीं कहेगा?

उत्तर—वह स्वयं ही आ जायेगा। वह कहने नहीं जायेगा। पक्षी जब गाता है तब क्या किसी को सुनाने के लिए गाता है? वह अपने आप होता है। उस वक्त उसका स्वर ही गाना बन जाता है। उस वक्त उनका गायन सुन कर समझ में आता है कि अच्छा गा रहा है। जबानी कुछ कहना नहीं पड़ता। पा चुका हूँ, पर पकड़ नहीं पा रहा हूँ। वह मेरी पकड़ में आ गया है, मैं स्वयं नहीं पकड़ पा रहा हूँ।

प्रश्न—पा चुका हूँ, पर पकड़ नहीं पा रहा हूँ, समझ में नहीं आया। लगता है जैसे पहेली है।

उत्तर—पा चुका हूँ, पहचान लिया है, पर आयत्त नहीं कर रहा हूँ। आयत्त कर लेने पर संशय समाप्त हो जायेगा। अनन्त वस्तुओं को पकड़ नहीं पाते। आस्वाद पाने पर वह आनन्द की चीज होगी तब डूब जाने में आता है—निकल नहीं सकते। बच्चे जब तब रोते हैं, पर नींद आ जाने पर रो नहीं पाते।

प्रश्न—क्या इसकी तुलना नींद से नहीं की जा सकती?

उत्तर—हाँ, नींद तो है ही। जाग्रत अवस्था इधर-उधर में कट जाती है। यही है ट्विलाइट। ट्विलाइट के जाने पर आनन्द भी चला जाता है। यही है आस्वादन। जो लोग आस्वादन करते हैं, वही कर पाते हैं। आस्वादन के भीतर जाते ही डूब जाओगे, फिर निकल नहीं पाओगे। फिर कुछ कह नहीं पाओगे। कहोगे भी क्या?

प्रश्न—अज्ञान के राज्य में जब हम सो जाते हैं तब क्या हम आस्वादन को समझ पाते हैं? नींद खुलने पर तो यही अनुभव होता है कि गहरी नींद आयी थी।

उत्तर--नहीं, वह तो अज्ञान है। निद्रा तो भाव राज्य है। वास्तविक योगी भावराज्य में नहीं रहते। भावराज्य को भेद करते हैं। रवीन्द्रनाथ को कविताओं में प्राप्त हुआ था। कल्पना के माध्यम से मिला था और ये लोग कल्पना को सत्य रूप में परिणत करते हैं। यही नाम-विज्ञान है--सूर्य-विज्ञान। भावराज्य की व्याख्या, हिसाब के अनुसार ठीक है। लेकिन उसमें सत्य पाने में प्रतिबन्ध है। वहाँ आस्वादन करने देते हैं। भाव ही आस्वादन है। भाव से अतीत हो जाने पर असली जगह पहुँच जाओगे।

भाव से अतीत तो हो नहीं पा रहे हो। भाव के आनन्द में में ही मगन हो।

प्रश्न—नमक का खिलौना समुद्र की गहराई नापने गया तो गल गया—

उत्तर—गल जरूर गया, पर उसमें जो 'स्टर्न रियलिटी' है, वह कहाँ है? वह तो गल जायगा, गल कर दिखाओ। मुझे जब पहली बार सूर्य-विज्ञान दिखलाया गया था तब बहुत सी बातें हुई थीं। उस समय कहते थे—अपनी आँखों से देख लो। यह धोखे की टट्टी नहीं है, कल्पना नहीं है। वैसी चीज होती नहीं। उस चीज को कभी कोई पाता नहीं जो दिखा सकें। यही है विज्ञान। उनका यही हुआ कवित्व। कवित्व के भीतर प्रवेश हुआ—सत्य में प्रवेश हुआ। सभी कवियों में यह चीज नहीं है। यह गुण रवीन्द्रनाथ में था। देवेन्द्रनाथ ठाकुर की कृपा थी। उस चीज को तुम समझ नहीं पा रहे हो। वह है—काल द्वारा क्लिष्ट सत्ता—वह कालातीत नहीं है। कालातीत होने पर तो वह 'ट्रांसेडेंट' हो जायगा। वह यही चीज है जब कि काल द्वारा 'अनटच्ड' है। अभी तक नहीं समझ सके। मान लो तुम एक आदमी से स्नेह करते हो, प्यार करते हो। तुम उसे आज जिस रूप में प्यार करते हो, अगर दस साल बाद उससे मुलाकात हो तो वह कालराज्य की घटना नहीं होगी—कालराज्य में यह नहीं रहती। दस वर्ष में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। भाव में, चेहरे में और गुणों में परिवर्तन हो जाते हैं। सब कुछ वहाँ हो जाता है। लेकिन वहाँ अगर यहाँ की चीजें रहें तो २० साल भी वहीं रहेगा। वह क्या है—वही है—कालराज्य। वह कौन सा राज्य है, यही है बड़ी चीज। कहा गया है श्रीकृष्ण नित्य किशोर हैं। उनका वय १४ वर्ष है—१४ वर्ष के बाद क्या वर्ष नहीं गुजरा? कालराज्य में जाने पर १४,१५,१६,१७,१८ होता है, पर वहाँ १४ ही है। २० वर्ष बाद भी देखोगे तो वहाँ १४ ही मिलेगा। भगवान् की नित्य लीला क्या है? जब वे नित्य लीला करते हैं तब क्या उनकी नित्यलीला बन्द हो जाती है? बन्द नहीं होती—वही है नित्यकाल—वास्तविक यह काल नहीं—वहाँ काल नहीं रहता। वह है हृदय राज्य। वह बाहर नहीं है, वह कल्पना में है, वह सत्य में आयेगा, प्रकट होगा। वही नित्यलीला होगी। तुम जिसे जिस रूप में चाहते हो, उसे उसी रूप में पाओगे। काल में कोई परिवर्तन नहीं होगा जब कि उसमें वही प्रवृत्ति, वही भाव मौजूद है। यह सब अभी कल्पना में है।

प्रश्न—हम लोग कालराज्य में जितनी परिणाम में बातें करते हैं, तब तो वह नहीं रहेंगी?

उत्तर—परिणाम वहाँ होता ही नहीं। जो चीज चाह रहे हो, वही चीज पाओगे। वहाँ काल नहीं है। जब वहाँ काल नहीं है तब परिणाम कहाँ है? काल नही है जब कि वह है। मान लो तुम्हारा एक बच्चा है, १० या १२ वर्ष का है। उसे गोद में ले रहे हो, प्यार कर रहे हो। शिशु तो काल राज्य में नहीं रहता। शिशु युवक हो कर बूढ़ा बन जाता है। लेकिन शिशु की क्रियायें, उसका कंठस्वर तो हजारों साल तक रहेगा—वहाँ काल स्पर्श नहीं कर सकेगा। काल की कोई क्रिया नहीं होगी। जिस स्थूल में है, उसी स्थूल में पाओगे। अद्भुत बात है। सहजिया लोगों ने इस बीज की उपलब्धि की है, पर विज्ञान को नहीं मिला है। किशोर अवस्था की उपलब्धि की है, पर विज्ञान को नहीं मिलता। नित्य किशोर अवस्था की उपलब्धि हुई है। हृदय-राज्य में ही प्रेम का स्थान है। घराना प्रेम। अन्यत्र प्रेम के लिए जगह नहीं है। यहाँ कर्मफल का स्थान है—काल-राज्य में ही कर्मफल का स्थान है, वहाँ प्रेम कैसे हो सकता है? प्रेम में परिवर्तन नहीं होता। भावराज्य अनेक को प्राप्त हुआ है, काल नहीं मिला, प्रेम नहीं मिला। 'टेनीसन' में है, रवीन्द्रनाथ के काव्यग्रन्थों में है, पर यह सब कल्पना की बातें हैं। वह चीज बहुत बड़ी चीज है।

प्रश्न—रवीन्द्रनाथ ने 'शाहजहाँ' में लिखा है—'काल के कपोल तले शुभ्र समुज्ज्वल, एक बिन्दु नयन जल'।

उत्तर—हाँ, यह तो ठीक है।

प्रश्न—योग विभूति और सत्य में पार्थक्य क्या है बाबा?

उत्तर—योग विभूति तैयार किया जाता है—यह कुछ भी नहीं है। इस बात को बुद्धदेव जानते थे। लेकिन उसे केवल वही जानते थे—जगत के लिए वह नहीं था।

प्रश्न—जैन-धर्म के प्रतिष्ठाता महावीर को यह प्राप्त हुई थी?

उत्तर—नहीं, उन्हें प्राप्त नहीं हुई थी। यहाँ सिद्ध पुरुष, असिद्ध पुरुष का प्रश्न नहीं है। यह जनरल है। वहाँ जो प्रवेश करेगा, उसी को मिलेगा—चाहे कोई भी हो—जगत के लिए। वहाँ काल तो रहता नहीं। जो काल जाकर रहा, वह वहाँ काल लेकर रह गया। उसके साथ बातें करेगा, आस्वादन करेगा, विनोद करेगा। वह आज करेगा, १० साल, २० साल बाद भी करेगा। उस वक्त वह शिशु रहेगा, काल्पनिक शिशु नहीं, वास्तविक शिशु। काल ने वहाँ प्रवेश नहीं किया है। वह हैं हृदयराज्य—यथार्थ प्रेम वहाँ हो सकता है। दूसरी जगह नहीं होता। आज जिसे तुम प्यार कर रहे हो, दो दिन बाद जब वह बूढ़ा हो जायगा तब भाव दूसरे प्रकार का हो जायगा। लेकिन जिसे तुम प्यार कर रहे हो, उसे पाया कहाँ? वह तो कल्पना में ही रह गया। पर यह कल्पना नहीं, वास्तव में रहेगा। रहेगा भी वह हमेशा, जितने दिनों तक इच्छा होगी। क्योंकि कोई बाधा—विघ्न नहीं है और न काल के अधीन है। काल के अधीन होने पर परिवर्तन हो जाता है। बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य आदि नहीं रहेगा। नित्य बालक—बालक है तो बालक ही है। युवक है तो युवक के रूप में है। यहाँ काल की क्रिया नहीं होती। बहुत अद्भुत है। वर्तमान विज्ञान इसके आगे क्या है? हमारे नित्यलीला से यह नहीं हुआ है। योगमाया से हुआ है।

प्रश्न—अगर योगमाया से हुआ है तो यह योगमाया किसके साथ—

उत्तर—योगमाया कार्य रूप में परिणत कर लेगी। अभी योगमाया की आवश्यकता नहीं है। 'नित्य किशोर एव (सः) भगवान् अन्तकान्तकः—नित्य ही किशोर—चिरकाल ही किसान बालक। यह सब बातें भाव राज्य में है, कविताओं में है, वैसा हृदय कहाँ पा रहे हो?

प्रश्न—जब परिवर्तन होगा, तब क्या वहाँ प्रवेश करने का अधिकार सभी आकृति-सम्पन्न मनुष्यों को प्राप्त होगा?

उत्तर—परिवर्तन होगा कैसे? तुम समझ नहीं पा रहे हो। परिवर्तन नहीं होगा (काल जो है वही रहेगा), वह चीज खुल जायगी। जब वह स्तर खुल जायगा तब वह अधिकारी बनेगा—इसके बाद उस हृदय-गुफा में प्रवेश कर सकेगा। आलोक—सूर्य का आलोक, आज भी है और १० वर्ष बाद भी रहेगा। दो सौ वर्ष पूर्व था और दो सौ वर्ष बाद भी रहेगा। यह कल्पना की बात नहीं, सत्य है। वह अभी नहीं है।

प्रश्न—अधिकारी बनने का 'क्राइटेरियन' क्या है?

उत्तर—भक्ति, प्रेम, 'क्राइटेरियन' कुछ नहीं है, वह समय अगर खुल जाय तो। इस समय रहने पर भी तुम प्राप्त कर नहीं सकते। अभी खुला नहीं है। भक्ति और प्रेम आदि चरम है वहाँ। सब मिलेगा। उसी को प्रेम-लीला कहते हैं। पहले के लोग व्यष्टिगत रूप से प्राप्त कर चुके हैं। उस स्तर तक पहुँचने के बाद भी उन्हें नहीं मिला। अब पायेंगे जब खुल जायगा।

प्रश्न—हम लोग परिवर्तन से कालराज्य की ओर बढ़ते हैं। क्या उस परिवर्तन के अन्तर्गत हमारे बाल्य, यौवन यथा वार्द्धक्य में मेरा एक 'कांटीन्यूइटी' रहता है?

उत्तर—वह तो 'रिफ्लेक्शन' है। कालराज्य में तुम किसी भी हालत में क्यों न रहो, उस अवस्था को लेकर तुम उसे ग्रहण कर सकते हो। वह चिरकाल रहेगा। बढ़ेगा नहीं, क्योंकि वहाँ काल नहीं है इसलिए उम्र बढ़ती है।

प्रश्न—कालराज्य में रहने के बावजूद मुझमें जो चिर-शिशु है, वहबीच-बीच में सर उठाता है। मैं अपनी उम्र को भूल कर बच्चों की तरह उछल-कूद करता हूँ या करने का प्रयत्न करता हूँ। बड़ा हो गया हूँ, इसका ख्याल उस समय नहीं रहता।

उत्तर—उस समय चेहरा एक ही रहेगा, कोई परिवर्तन नहीं होगा। कहने का मतलब काल-जगत् की चीज को अव्यय-जगत में ले जाकर 'एंजाय' कर 'एडीनफिनिटम'। असली उद्देश्य है साम्य प्राप्त करना। जो वैषम्य है, वह अपने आप हट जायगा। अगर स्वेच्छा से वैषम्य को हटाना चाहोगे तो ऐसा नहीं होगा। दूसरे भी आ जायेंगे। उसे अपने आप होना चाहिए। इस चीज को समझने में कठिनाई हो रही है, इसका मुझे दुःख है। दुःख का 'कान्सेप्शन' है—दुःख का अनुभव जब इस तरह का होता है कि यह संवाद अच्छा नहीं, भला नहीं—खराब नहीं लगता, बुरा नहीं लगता है—तब यह भला लगना और बुरा लगना जो दो बातें

हैं, जब तक रहेगा तब तक यह समझना पड़ेगा कि असली चीज अभी तक पकड़ में नहीं आयी है। जब असली चीज पकड़ में आ जायेगी तब अच्छा लगना, बुरा लगना आदि नहीं रहेगा। हर स्थिति में समान रूप से अच्छा लगेगा। अच्छा लगना—बुरा लगना में 'डिस्टिंक्शन' नहीं है। सुख जो है, वहीं दुःख भी है—एक है। स्थूल दुःख के ब्रेकग्राउंड में एक ऐसी चीज है जो 'ट्रांसेंडेंट' के रूप में है। इस बात को बहुत से लोग नहीं समझ पाते, गड़बड़ा जाते हैं। उस चीज को ठीक रूप में लेना चाहिए। दुःख तो है ही, उसमें आनन्द भी है। अगर इस आनन्द का उपभोग करते हो तो वह भोग हो गया। ऐसी हालत में स्वरूप में स्थिति नहीं होती। सुख के भीतर आनन्द है, सुख भी आनन्द है, पर उसका भोग हो गया। सुख सुख बना रहे, दुःख दुःख बना रहे, । इससे कुछ आता-जाता नहीं। जब, जहाँ, जिस रूप में रहता हूँ, ठीक रहता हूँ, यह भाव अपने में रहना चाहिए। माँ का लड़का, मां के पास जा रहा है। अगर तुममें यह भाव रहे कि तुम माँ के लड़के हो और माँ के पास जा रहे हो, दूर हो, दुःख है, तो यहीं विरोध हो गया। असली बात तो यह है कि मैं उन्हीं के पास हूँ। वे जिस रूप में रखे हुए हैं, उसी रूप में ठीक हूँ। यह जो भावगत भेद है, यह नहीं रहना चाहिए। इसे समझने की कोशिश करो। भेद रहने पर द्वन्द्व होता है। वहाँ द्वन्द्व नहीं रहना चाहिए। चाहे जिस रूप में हूँ, ठीक हूँ। यह बात कविताओं में होती है। वह स्थायी नहीं है। वास्तव में यही होना चाहिए।

प्रश्न—'इंटेलेक्चुअली' समझने का प्रयत्न करता हूँ पर समझ में नहीं आता।

उत्तर—असली बात यह है कि मैं जिस स्थिति में हूँ, ठीक हूँ, अपने में यह भाव रहना चाहिए। पर यह भाव नहीं रहता, रह नहीं सकता, क्योंकि स्वाभाविक अवस्था अभी नहीं आयी है। स्वाभाविक अवस्था आने पर यह होगा। जिस स्थिति में हो, ठीक हो। जिस रूप में रखे हो, मैं तुम्हारे साथ-साथ हूँ। तुम दूर हो, यह सत्य है, तुम पास हो, यह भी सत्य है। दूसरी ओर मैं तुम्हारे सामने हूँ, यह भी सत्य है। इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। सिर्फ 'इंटेलेक्चुअली' होने से काम नहीं बनेगा। संवेद होना चाहिए। इसकी जरूरत है।

एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में बाबा ने कहा—नाम करो। नाम करने से अगर आनन्द मिलता है तो अच्छी बात है, पर वह स्थिति अवस्था नहीं है, क्योंकि तुम आनन्द भोग कर रहे हो, किन्तु यह ठीक नहीं है। उसे करो, वही कर्त्तव्य है। यह आवश्यक है। नाम करते-करते एक समय ऐसी स्थिति आयेगी कि नाम अपने आप होगा। अच्छा लगता है इसलिए कर रहे हो, ऐसी बात नहीं है, अपने आप होगा। यही स्थिति की अवस्था है। नाम अगर नहीं होता है तो कोई हर्ज नहीं, अगर होता है तो कोई हानि नहीं। क्योंकि स्थिति की जो अवस्था है, उसमें किसी प्रकार का वैषम्य नहीं रहेगा। अगर वैषम्य है तो उसे हटाना पड़ेगा वर्ना काम नहीं होगा। जिससे अच्छा लगे, उनके प्रति अनुकूल भाव उत्पन्न हो, ऐसा करना पड़ेगा। इसके बाद अनुकूल-प्रतिकूल भाव नहीं रहेगा। न अनुकूल है और न प्रतिकूल। वह इसलिए कि तुम उसमें मिल गये हो। ऐसी हालत में अनुकूल-प्रतिकूल पाओगे कैसे? यहाँ अनुकूल नहीं रहता। जब तक कुछ दूर है तब तक अनुकूल-प्रतिकूल है। अनुकूल का अर्थ है दूर रहना, वर्ना अनुकूल होगा कैसे? प्रतिकूल का भी यही अर्थ है। अनुकूल एक प्रकार का है और प्रतिकूल दूसरे प्रकार का। किसी भी रूप में कोई रहे (कहना पड़ेगा) जिस तरह तुम रखते हो, मैं तुम्हें नहीं भूलूंगा। यह बात कहनी नहीं पड़ेगी, अपने आप हो जायगी। मैं जबानी बता रहा हूँ, यह है साधना का अभ्यास। वह नहीं रहेगा, अपने आप हो जायगा। यह सब टेस्ट हैं। बाहरी तौर पर मालूम होगा कि भगवान् का नाम नहीं लिया। यह कुछ नहीं है। नाम हो जाने पर बाहर से नाम लेने की जरूरत नहीं है। नाम करते-करते भीतर नाम हो जाता है। द्वन्द्व के भीतर मत रहो, द्वन्द्वातीत अवस्था होना आवश्यक है। केवल शान्ति चाहिए वर्ना मन अशान्त रहेगा। ठीक नहीं मालूम पड़ रहा है, अच्छा नहीं लग रहा है। एक शान्त वस्तु को, अच्छी चीज को, सात्विक चीज को पकड़े रहो। जब सत्वगुण दूर हो जायगा तब गुणातीत होगा। गुणातीत अवस्था ही आनन्द है। सत्वगुण हमारा लक्ष्य है, पर प्राप्य है गुणातीत। यह न होने पर अहंकार उत्पन्न होता है।

अगर ऐसी बात न हुई तो यह भी अहंकार होगा। अहंकार न आने पाये।

प्रश्न—गुणातीत अवस्था भी तो एक स्थिति है।

उत्तर—गुणातीत अवस्था आ जाने पर मेरी ओर से क्या बाकी रह गया? उस वक्त तो कुछ नहीं रहेगा। गुणातीत अवस्था में जा कर अगर स्थित हो जाए तो फिर डर किस बात का? गुणातीत होकर भी तुम गुणातीत हो, इसे तुम नहीं जानते। जैसे शिशु नहीं जानते। शिशु पवित्र होते हैं, पर वे यह नहीं जानते कि वे पवित्र हैं। चीज को पहचानना चाहिए। उसे पहचानने में समय लगता है। अनेक साधु अनेक स्तोत्रपाठ करते हैं, सिद्धि प्राप्त करते हैं, पर उन्हें ज्ञान प्राप्त नही होता। सिद्धि प्राप्त करने पर भी कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। समझना ही कठिन प्रक्रिया है। उनमें यह 'मेकेनिकली' हो जाता है।

●

विजय का त्याग

वह दिग्विजय का युग था। राजाओं के लिए तो दिग्विजय का युग समाप्त हो गया था, किन्तु विद्वानों के लिए दिग्विजय का युग था। संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान् बड़ी से बड़ी जो कामना कर सकते थे—वह दिग्विजय की कामना थी। यह दिग्विजय शस्त्रों से नहीं, पाण्डित्य से एवं शास्त्रार्थ करके प्राप्त की जाती थी।

व्रज में एक विद्वान् दिग्विजय करते हुए पहुँचे। व्रज के विद्वानों ने उनकी शास्त्रार्थ की चुनौती के उत्तर में कहा—'व्रज में तो सनातन गोस्वामी और उन के भतीजे जीव गोस्वामी ही श्रेष्ठ विद्वान् हैं। वे आपको विजय पत्र लिख दे तो हम सभी उस पर हस्ताक्षर कर देंगे।'

दिग्विजयी पहुँचे सनातन गोस्वामी के यहाँ। 'शास्त्रार्थ कीजिये या विजय पत्र लिख दीजिये।' उनकी सर्वत्र जो माँग थी, वही माँग वहाँ भी थी।

'हम तो विद्वानों के सेवक हैं। शास्त्रार्थ करना हम क्या जानें? शास्त्र का मर्म कहाँ समझा है हमने।' श्रीसनातन गोस्वामीकी नम्रता उनके ही उपयुक्त थी। उन्होंने दिग्विजयी को विजयपत्र लिख दिया।

दिग्विजयी आनन्द और गर्व से झूमते लौटे। मार्ग में ही जीव गोस्वामी मिल गये। दिग्विजयी ने कहा—'आपके ताऊ सनातनजी ने तो विजयपत्र लिख दिया है। आप उसी पर हस्ताक्षर करेंगे या शास्त्रार्थ करेंगे?'

जीव गोस्वामी युवक थे और थे प्रकाण्ड पण्डित। नवीन रक्त—अपने श्रद्धेय श्रीसनातन गोस्वामी के प्रति दिग्विजयी का तिरस्कार भाव उनसे सहा नहीं गया। वे बोले—'मैं शास्त्रार्थ करने को प्रस्तुत हूँ।'

बेचारा दिग्विजयी क्या शास्त्रार्थ करता? वह विद्वान था, किन्तु केवल विद्वान् ही तो था। महामेधावी जीव गोस्वामी—और फिर जिस पर व्रज के उस नवयुवराज का वरद हस्त हो, उसकी पराजय कैसी है? दो-चार प्रश्नोत्तरों से ही दिग्विजयी निरुत्तर हो गया। विजयपत्र उसने फाड़ फेंका। गर्व चूर हो गया। कितना दुखित होकर लौटा वह—कोई कल्पना कर सकता है।

जीव गोस्वामी पहुँचे श्रीसनातनजी के पास। दिग्विजयी की पराजय सुना दी उन्होंने। सुनकर सनातनजी के नेत्र कठोर हो गये। उन्होंने जीव गोस्वामी को झिड़कते हुए कहा—'जीव! तुम तुरन्त यहाँ से चले जाओ। मैं तुम्हारा मुख नहीं देखना चाहता। एक ब्राह्मण का अपमान किया तुमने। तुमसे भजन क्या होगा, जब कि तुममें इतना अहंकार है। किसी को विजयी स्वीकार कर बिगड़ता क्या है।'

●

समकालीन रेणुका तीर्थ

श्री नरेंद्र नीरव

'रिहन्द के पूर्व का मीरजापुर जनपद आज की स्थिति से अत्यन्त भिन्न और भयानक था। पहले जहाँ पुंडरघाघ रेंड़ (रिहन्द नदी) भोमा पहाड़ से छलांग लगा कर अगोरी की ओर झपटती थी वही अब इस अंचल का प्रथम, भारत में सबसे विशाल जलाशय वाला मानवनिर्मित पं० गोविन्द वल्लभ पंत सागर रिहंद बाँध है। यह स्वाधीन भारत में पं० जवाहरलाल नेहरू का प्रथम सपना है जिसका उद्घाटन करते हुए उन्होंने १९६३ में कहा था कि मीरजापुर जनपद का यह इलाका सिंगरौली किसी दिन हिन्दुस्तान का स्विट्जरलेंड बनेगा।

रिहन्द के बाद अगोरी सिंगरौली के इस गर्म विन्ध्य क्षेत्र में एक के बाद एक भारी से भारी कल-कारखाने लगते गये। पहाड़ों का मौन भंग हुआ तथा ओबरा, डाला, रेनुकूट, अनपारा, शक्ति नगर, बीना आदि औद्योगिक नगरों का उदय विगत बीस वर्षों के भीतर विद्युत-गति से हुआ। सीमेंट, अल्युमुनियम, कोयला, ताप बिजली तथा खनिज क्षेत्रों के विस्तार के साथ ही पाँच लाख श्रमिकों तथा उपजीवियों की आबादी विन्ध्य के कैमूर अंचल में गुच्छा-गुच्छा फैल गयी। बारूद के धमाकों ने औद्योगीकरण के लिए पहाड़ों को चूर कर दिया। वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं के साथ ही गुफाचित्रों और उपासना-स्थलों का भी विनाश हुआ। सड़कों, रेल लाइनों और टावर लाइनों के जाल बिछते रहे और विन्ध्य की मौलिक परंपरागत विशेषतायें लुप्त होती रहीं।

वनक्षेत्र में जब भारी मशीन पहुँचती है तब कभी मनुष्य मशीनों को अपनी सुविधा के लिये प्रयुक्त करता है तो कभी वह स्वयं मशीन का दास बन जाता है। वन की परिस्थितियों से उकताया हुआ आदमी मशीन के आतंक से और अधिक दुःखी और पलायनवादी होता है। इसीलिये वनवासी उपासना-स्थलों तथा उपासना-पद्धतियों से अपरिचित नये औद्योगिक मनुष्य ने स्वयं ही स्थान-स्थान पर अपनी शांति तथा मोक्ष की कामना से नये धार्मिक स्थान बनाये हैं। राबर्ट्सगंज से दक्षिण बिढमगंज और शक्तिनगर तक अनेक छोटे-बड़े कलात्मक उपासना केन्द्र बन गये हैं जहाँ लोग अपनी आधिभौतिक आकांक्षाओं की प्राप्ति करते हैं। कहना न होगा कि संतों ने ही इस धार्मिक शृंखला को अपनी इच्छाशक्ति से सम्पूर्ण किया है। अहिरौरा, सुकृत, विजयगढ़, अगोरी, रक्सहवा, तिलगुड़वा, सलखद, हाथीनाला, ओड़ी, पिपरी, ओबरा, चोपन, खड़िया आदि स्थानों के मंदिर किसी न किसी साधुपुरुष के संकल्प के सुफल हैं। तिलगुड़वा के गंगाराम साधु तथा हाथीनाला के त्यागी बाबा ने पहाड़ी-पथों को अब यात्रा पथ का सुख-दायक पड़ाव बना दिया है। इन स्थानों पर चौराहे हैं लेकिन पानी के अभाव के कारण कोई यहाँ रुकता नहीं था। इन साधु-पुरुषों ने घन और छेनी चलाकर विंध्य के गर्म यात्रा पथों को शीतल चुनौती दी है। इन स्थानों पर अब थके हुए यात्री विश्राम करते हैं तथा ट्रकों को भी यहाँ आराम मिल जाता है। गहरे पाताल-तोड़ कुओं को देखकर धार्मिक मूल्यों की गहराई का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी तरह मनेश्वर महादेव, खोड़वा पहाड़, अमिला, मच्छरमारा, भूतनाथ वनदेवी और पर्वत शृंगों पर बने उपासना-केन्द्रों को देखकर धार्मिक मूल्यों की ऊँचाई भी समझी जा सकती है। इस प्रकार विंध्य के इस अंचल में निर्मित अनेक उपासना-स्थल हमारी सांस्कृतिक तीव्रता को व्यक्त करते हैं। इस उद्देश्य से किये गये पैदल अध्ययन अभियान में आत्मिक सुख के साथ ही कहीं-कहीं कठोर पीड़ा भी तड़पाती है। ऐतिहासिक स्थानों की सुरक्षा न कर पाने की पीड़ा और यांत्रिक स्पर्धा में समाज की सूखती आध्यात्मिक स्रोतस्विनी की पीड़ा यात्रा-पथ में सदैव एक उलाहना देती रही है। जिन जगहों पर प्राचीन उपासना

स्थल नहीं होते वे अच्छे नहीं लगते। दक्षिणांचल में यात्राओं का आरम्भ जिस उत्तेजना से होता है—उनका अंत उतनी ही उदासी और थकान भरा होता है। इन यात्राओं की स्मृतियाँ भी इसीलिये आत्मा के आनन्द तक ही शेष सचेत रह पाती हैं। इन्हें हम मात्र भौतिक बौद्धिकता से आत्मीकृत नहीं कर पाते। एतदर्थ हम सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिक्रिया के साथ ही मानवीय और आध्यात्मिक संवेदना की भी आकांक्षा करते हैं।

रेणुका तीर्थ की भौगोलिक स्थिति वहाँ प्रतीत होती है जहाँ रेणुका नदी बहती है। 'रेवाखण्ड' स्वयं ही भारत के सांस्कृतिक युगों के अमिट प्रमाण अपने पथरीले व्यक्तित्व में सहेजे हैं। वर्त्तमान भीतरी सरगुजा (अम्बिकापुर) के पास से निकली रेणुका सन् १९५० तक अपने मौलिक स्वरूप में विद्यमान थी। तब रेणुका-तटों में सर्वाधिक संपन्न और समतल सिंगरौली का गहरवार क्षेत्र लगभग १८० वर्गमील का सुरम्य अचल पं० गोविंद वल्लभ पंत सागर रिहंद बाँध में जलमग्न नहीं हुआ था। रेड़ वृक्ष के मूल में स्थित एक कुंड से प्रवाहित होकर तीव्र वेग से झनकती-पटकती रेणुका गहरवार क्षेत्र के लंबे-चौड़े समतल में शांत-नीली रेखा सी होकर बहती थी। वह पिपरी में महरी घाट पर भीमा पहाड़ से अर्धचन्द्राकार कटान से नीचे फाँदती थी। उसे 'पुण्डर घाघ रेंड़', उसकी विद्युत-गति और भयानक गर्जना के कारण कहते थे। नीचे उतर कर वह बिजुल नदी के पूर्व—सोन से अगोरी में मिल जाती है। अगोरी के समीप के ऐतिहासिक-स्थल भी रेणुका के सर्वोत्तम तटों में एक है। मेंझरोट (डूब पूर्व की महरी कला) के शिक्षक श्री आदित्यपुरी के कथनानुसार जलमग्न सिंगरौली ही 'रेणुका तीर्थ' है क्योंकि प्राचीन रेणुका तीर्थ से तुलनीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक वैभव को सुरक्षा तथा स्नातकों का प्रशिक्षण इसी अंचल में सर्वथा उपयुक्त था।

इतिहास के क्रूर चक्र में विलुप्त 'रेणुकातीर्थ' की कल्पनाओं को मानसिक स्फूर्ति के साथ संजोकर मैं वर्तमान रेणुका तीर्थ की पदयात्रा पर चला था। यात्रा प्रारम्भ करने के पहले रेणुका रेंड़ या रिहन्द की ऐतिहासिक स्थिति को एक बार पुनः प्रत्यक्ष करना उचित होगा।

'रेणुका'—राजा प्रसेनजित् (रेणु) की कन्या, ऋषि जमदग्नि की पत्नी और परशुराम की माता थी। एक दिन जमदग्नि ने गन्धर्व चित्ररथ को अपनी पत्नी के साथ यौन-विहार करते देखा और उसके मन में पाप-भावनाओं का उदय हुआ। ऋषि जमदग्नि ने पत्नी को पतित हुई जान अपने पुत्रों को उसका वध करने का आदेश दिया। रुमण्वत्, सुषेण, वसु और परशुराम चारो पुत्रों में से प्रथम तीन ने माता को मारनें का गर्हित पाप करने से इनकार कर दिया। पिता ने उन्हें मूर्ख बना दिया। परशुराम ने पिता की आज्ञा से माता रेणुका का मस्तक अपने परशु से काट डाला। पिता प्रसन्न हुए और उन्होंने उनसे वर माँगने को कहा। परशुराम ने माँगा कि उनकी माँ फिर जी उठे, उसे अपनी मृत्यु अथवा वध करने वाले का कृत्य सर्वथा विस्मृत हो जाय और पवित्रता फिर से पूर्णतः स्थापित हो जाय और साथ ही उनके भाइयों का मस्तिष्क भी पूर्ववत् विलक्षण हो जाय। पिता के वरदान से जैसा परशुराम ने चाहा था, वैसा ही हो गया, वे स्वयं भी मातृवध के पाप से मुक्त हो गये।

'हैहयों' के राजा कीर्तिवीर्य अर्जुन ने (जो अपनी हजार भुजाओं के कारण सहस्रबाहु भी कहलाता था) महर्षि जमदग्नि की अनुपस्थिति में उनके आश्रम में प्रवेश किया। जमदग्नि की पत्नी रेणुका ने कीर्तिवीर्य का आतिथ्य सत्कार किया पर उसके बदले कीर्तिवीर्य ने आश्रम का यज्ञवत्स हरण कर लिया। परशुराम ने जब यह सुना तो कीर्तिवीर्य का पीछा कर उसकी सहस्र भुजाओं को काटकर उसे परलोक पहुँचा दिया। कीर्तिवीर्य के पुत्रों ने बदले में जमदग्नि को मार डाला। तब परशुराम ने क्षत्रियों का संहार करने के बाद उनकी भूमि ब्राह्मणों को दे दी।'

रेणुका और रेणुकेश्वर

मैंने अपने साथी पंचमगिरि के साथ मई १९८२ में रेणुका तट की पदयात्रा प्रारम्भ की तो एक अत्यन्त आनन्द-प्रद संयोग का साक्षात्कार पहले ही दिन हुआ। १८ मई १९८१ को, कड़ी धूप में भीषण हवाओं, भूख और थकान लिये हम रेणुकूट में ऊँची पहाड़ी पर निर्मित रेणुकेश्वर महादेव के विशाल मन्दिर पर पहुँचे तो सारी थकान और

भूख सहसा लुप्त हो गयी। मन्दिर के प्रवेशद्वार के सम्मुख दीवार पर जड़ित पट्ट पर लिखा है—'शुद्ध वैशाख षष्ठि गुरुवार वि० सं० १०२९, १८ मई १९७२। ठीक उसी दिन दस साल पहले रेणुकेश्वर महादेव की स्थापना हुई थी। हमारे जैसे यायावर यात्री के लिए यह संयोग ही सबसे मूल्यवान् उपलब्धि बन गयीं थी। उसी दिन अपराह्न मैंने बिरला जी के अल्युमिनियम कारखाने 'हिन्दुस्तान अल्युमिनियम कारपोरेशन-हिंडालको' के एक अधिकारी श्री निर्मल कुमार को अपनी प्रसन्नता के 'संयोग' से अवगत कराया। और हम कर ही क्या सकते थे !

रेणुकूट परिसर में स्थित कालोनियों के प्राकृतिक परिवेश और औद्योगिक प्रभाव में—सांस्कृतिक मूल्यों की खोज–स्थूल रूप से बहुत सरल है लेकिन आधिभौतिक आस्थाओं तथा आत्मिक संतोष की सूक्ष्म रेखाओं को रेखना बड़ा कुतूहलपूर्ण कार्य है। कहा जा सकता है कि अन्य समस्त श्रमिक क्षेत्रों की भाँति रेणुकूट-परिसर में भी सिर्फ एक बात पर सभी लोग एकमत हैं और वह है, सांस्कृतिक-धार्मिक एकता।

मुर्धवा की ढलान से जो जीवन शुरू होता है वह रिहन्द बाँध के उस पार चढ़ाई पर जाकर ठहरता है। हाथीनाला में संकल्पशाली, दृढ़ सन्यासी बाबा त्यागी ने चट्टानों को सैकड़ों फीट नीचे तक तोड़कर अमृत कूप का निर्माण किया है। वहाँ पंचमुखी हनुमान का दिव्य मन्दिर है। वे इसे आदर्श स्वरूप देने के लिए स्वयं को तपा रहे हैं। इसी प्रकार एक पातालतोड़ कुएँ का निर्माण तिलगुड़वा में बाबा गंगाराम साधू ने किया है तथा वहाँ शिव का दिव्य मन्दिर और धर्मशाला बनायी है। इन दो साधु-पुरुषों की निष्ठा तथा सामाजिक चेतना से न सिर्फ साधुजन, अपितु भारी अभियांत्रिकी और निजी पूंजी के कर्णधार भी प्रेरणा ले सकते हैं।

अगोरी के दक्षिण बहुत कुछ प्राचीन है जो अपने अस्तित्व का साक्षी है लेकिन समाप्त हो रहा है। अज्ञानता और स्वार्थ के कारण अगोरी-सोन के उत्तर-पश्चिम और पूर्व की ऐतिहासिक सम्पदा का विनाश मैंने बघ्वानाला से लमसरई, बरदिया, मध्यप्रदेश के सीमान्त, अगोरी दुर्ग, गोठानी का परिसर, रेणुका (रिहन्द के नीचे-दुबली-पतली लेकिन तीव्र गतिवाली), बिजुल के तटों तथा सोन के लगभग सौ किलोमीटर उत्तर-दक्षिण की पदयात्रा में देखा। सार्वजनिक निर्माण विभाग ने ऐतिहासिक अवशेषों तथा मूर्त्तियों से निर्माणाधीन सड़कों को सीलिंग तथा गिट्टी बनाने का घृणित-दण्डनीय कार्य किया है। इसी प्रकार क्षेत्र-विकास समिति के धृष्ट और स्वार्थी कर्मचारी मूर्त्तियों को बोल्डर बनाकर कुओं में लगवा रहे हैं। एक बार, पिछले वर्ष ट्रक पर डाकू आये और मूर्त्तियों को उठा ले गये।

अगोरी-यात्रा और सिंगरौली यात्रा में मन और तन की दुर्बलता का अन्तर है। बीजपुर, वैढ़न ताप-केन्द्रों के निर्माण, कोयला क्षेत्रों के विकास तथा शहरों की वृद्धि ने लगभग ढाई लाख वनवासियों के भविष्य को अन्धकार में धकेल किया है। वन-सभ्यता के इस पराभव के साथ ऐतिहासिक सम्पदा और धार्मिक आघातों को देखकर अपने तन और मन की थकान खो जाती है। शरीर अर्थहीन सा लगता है।

जब हम प्यास, भूख और थकान से त्रस्त शिवद्वार क्षेत्र में घूम रहे थे, मन पर इतिहास के पन्ने घायल पन्छियों की तरह पंख फड़फड़ा रहे थे। तब हमने एक हजारों वर्ष पुराने कुएँ का पानी पिया। यह कुआँ नहर की खोदाई में मिला था। गाँव के लोगों ने इसे सुरक्षित कर लिया। लाल अँगूठी की आकृति वाली ईंटों से बँधा यह कुआँ-सदैव हमें याद आता है।

इसी प्रकार डाला के अचलेश्वर महादेव के उच्च और भव्य शिखर पर पानी की सुविधा उस अकालग्रस्त अंचल का त्रास धो देती है। रेणुकूट में भी गुलाबी पत्थरों से निर्मित रेणुकेश्वर के ऊँचे स्थान पर पानी की अच्छी व्यवस्था है। अमेरिकन कालोनी तो आश्चर्यजनक है। इसकी ऊंची नीची गोल-मटोल सड़कों पर चलना तथा पहाड़ का नूतन अनुभव बहुत अच्छा है। वनों को जिस क्षेत्र में सुरक्षित रखा गया है वह देखकर प्राकृतिक वनस्पतियों का बहुरंगी वैभव स्पष्ट हो जाता है। मोर भी मिल जाते हैं—कोरई और फुलघवई भी। काश ! समस्त कालोनियों का पर्यावरण इसी प्रकार का होता है। रेणुकूट का परिवेश तथा कालोनियों की व्यवस्था पानी के मामले में अन्य स्थानों की अपेक्षा बेहतर है लेकिन अमेरिकन कालोनी और इसमें स्थित

संगमरमर का हनुमान मन्दिर तो बहुत ही शान्तिदायक है। नौ स्तम्भों पर संगमरमर का शीर्ष पत्थर का है जो संगमरमर के इस श्रृंगार-स्थापत्य को इसके पथरीले परिवेश से जोड़ देता है। अशोक के वृक्षों के बीच मुख्य पट्ट तथा प्रेरक आँखों वाली श्वेत प्रतिमा स्थित है। वहाँ बैठकर मैंने लिखा—

'श्री हनुमान मन्दिर से रुपहले स्वर्ण की यह नगरी अपने भौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप में व्यक्त हो जाती है। प्राकृतिक-वन अंचल में इतने सुन्दर हनुमान बैठे हैं—बाहर से कल्पना नहीं की जा सकती।'

रेणुकेश्वर महादेव को देखकर मध्यकालीन भारतीय संस्कृति मूर्तिमान हो जाती है। गुलाबी पत्थरों से मध्यकाल के और खासतौर से गुप्तकाल के शिल्प में देवताओं को व्यापक आयाम से प्रतिष्ठित किया गया है। गवाक्षों के भीतर बिजली की व्यवस्था बासठ सीढ़ियों तक है। सलई के वृक्ष चारों तरफ हैं और अन्य वृक्षों की पंक्तियाँ द्वार तक नीचे की ओर चली गयी हैं। मन्दिर का मुख्य भाग लगभग दस मीटर ऊँचा है जिसपर चारों ओर मूर्तियाँ स्थापित हैं। मुख्य प्रवेशद्वार पर लाल बरामदे के ऊपर चढ़ने पर मध्य से अल्मुनियम के गवाक्ष में काले रंग का शिव लिंग है। चारो तरफ गणेश, सरस्वती, कार्तिकेय, लक्ष्मी तथा सूर्य की मूर्तियाँ हैं। दो विशाल हाथी विराजमान हैं। मन्दिर के पूर्व चौकोर पत्थर से गर्भगृह में विशाल नंदी बैल है। यह इतना बड़ा और ओजपूर्ण है कि मन को मोह लेता है। बाहरी और भीतरी पार्श्व कला-कृतियों से सुसज्जित है। मन्दिर पर चतुर्भुज विष्णु, पार्वती, दुर्गा, नागकन्याओं, दशावतार के विभिन्न रूपों तथा जैन एवं बौद्ध मूर्तियाँ लगी हैं। पशुओं की आकृतियाँ भी मन्दिर के सम्पूर्ण प्रभाव में शान्ति की सर्जना करती हैं। बकरी के साथ ऋषि, वाद्ययन्त्रों के साथ स्त्रियाँ, त्रिमुखी ब्रह्मा, ताण्डव मुद्रा में शिव—इन का दर्शन मानसिक शान्ति के साथ धर्म के प्रति जागरूकता की प्रेरणा देते हैं। शीर्ष की ओर आँख उठाते हुए हमें इतनी अधिक और कलात्मक प्रतिमायें मिलती हैं कि ऊपर - अनंत आकाश भी अच्छा लगता है।

रेणुकेश्वर नाम से पिपरी में भी एक मन्दिर विद्यमान है। यह चौराहे से अतिगृह के पथ में बायें स्थित है। रेणुका के ईश्वर शिव हो गये हैं—उनकी प्रकृति है—जहाँ के हो जाते हैं वहाँ अपना नाम भी रख लेते हैं। वहाँ हनुमान भी एक नये भव्य मन्दिर में विराजमान हो गये हैं। आगे बढ़ने पर रेणुसागर के नव-निर्मित उपासना-केन्द्र तथा खड़िया के हनुमान मंदिर का उल्लेख किया जा सकता है। शक्तिनगर के पास स्थित ज्वाला देवी तथा श्रौड़ी के पाण्डवकालीन हनुमान मन्दिर का जीर्णोद्धार—उनकी पुरातात्विक शिल्प के अनुकूल वांछित है।

मुर्धवा के राधाकृष्ण मंदिर की विशेषतायें दर्शकों को तथा खासतौर से स्त्रियों और बच्चों को आकर्षित करती है। श्री देवी संपद् मंडल तथा शुकदेवानन्द आश्रम द्वारा निर्मित मंदिर में हिन्दू धर्म की समस्त ऊँचाइयाँ और संस्कारों के मिथक यहाँ छोटे-छोटे कमरों में मूर्तिमान हैं। मुख्य द्वार पर विष्णु-लक्ष्मी तथा गरुड़ के साथ नारद तथा गणेश हैं। मुख्य मंदिर में अलंकृत राधाकृष्ण की मनभावन प्रतिमा है। प्रतिमा के दोनों ओर दर्पणों को ऐसे कोण से लगाया गया है कि सहस्रों राधाकृष्ण अनंत तक होते गये हैं। दर्शक इस कुतूहल से आत्मिक आनंद स्वयं ही रच लेते हैं। श्री राधाकृष्ण मंदिर का निर्माण स्थानीय श्री देवी संपद्मंडल ने, श्री शुकदेवानंद आश्रम, परमार्थ निकेतन ऋषिकेश की प्रेरणा से श्री कृष्णानंद जी ने कराया है। उनका यहाँ व्यापार है। वे मीरजापुर जनपद के उत्तरांचल के निवासी हैं और अपना धन इस कार्य में लगा रहे हैं। कटक उड़ीसा के दो विकट मूर्तिकारों यदुमनी बेहरा तथा निरंजन बेहरा ने मंदिर के प्रांगण में सजीव कलाकृतियों का जीवंत उत्सव बना दिया है। विशाल कक्षों में मानस तथा महाभारत के मर्मस्पर्शी कथा-प्रसंगों के रंग बिरंगे परिधानों से सज्जित मूर्त्तियों को प्राणवान् बनाया गया है। मुख्य द्वार पर ही दायें-बायें बाजू में शबरी का भगवत् प्रेम और गिद्धराज जटायु भगवान श्रीराम तथा लक्ष्मण का कथा-दृश्य मूर्तिमान है। वनवासी अंचल में स्थित यह मंदिर वनवासी प्रकृति के परिवेश को अपने आंतरिक सौंदर्य में समेटे हुए है। श्वेतांग भगवान शंकर औढरदानी; लाल देहधारी श्री संकटमोचन हनुमान जी, हरित वस्त्र-

धारिणी जगतज्जननी माँ दुर्गा विराजमान हैं। भीतर दर्शन करते हुए आदमी भित्तियों में अंकित सुभाषित वाक्यों तथा चित्रों का भी मनन करता रहता है। मंदिर के पृष्ठ भाग में भी संत कवि तुलसी, कबीर, रहीम, रसखान आदि की रचनायें चित्रित हैं। कबीर का दोहा है—

'कबिरा आप ठगाइये
और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै
और ठगे दुःख होय॥'

श्री राधाकृष्ण मन्दिर में एक निर्माणाधीन विशाल कक्ष के बहिरंग दीवार पर विकलांगता, वनवासी विपन्नता और दारिद्र्य का दर्दनाक चित्रण हुआ है। नीचे हाथियों के झुंड से सीमांकन तथा लताओं से पट्टियाँ भरी गई हैं। युगल हनुमान द्वार पर खड़े हैं। भीतर प्रवेश करने पर वीरांगना महारानी लक्ष्मी बाई, छत्रपति शिवाजी महाराज तथा समर्थ गुरु रामदास, वनवासी राम और महर्षि वाल्मीकि, द्रौपदी का चीरहरण, श्रीकृष्ण का मथुरागमन तथा शिव की दो अद्भुत मुद्रायें निर्माणाधीन हैं। आगे शिव लिंग स्थापित है तथा समीप ही अखंड मानस पाठ भी चल रहा है।

मंदिर के बाहर देवप्रतिमाओं के साथ ही महात्मा गांधी की एक प्रतिमा तथा बन्दरों की अधूरी मूर्त्तियाँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्माण निरन्तर आगे बढ़ता रहेगा।

'रेणुका तीर्थ' शक्ति का तीर्थ है। रेणुकूट पिपरी होते हुए हम शक्ति नगर (कोटा) की ओर बढ़ गये।

●

सुखी गृहस्थी का मूल्यांकन

गार्हस्थ्य के आनन्द की मधुर व्यंजक एक सांस्कृतिक जापानी लोक-कथा का संक्षिप्त हिन्दी-रूपान्तर

कथा सत्रहवीं शताब्दी की है। तत्कालीन राज्यमन्त्री ओ-चो-सान का परिवार अपने सौहार्द के लिए समस्त जापान में विख्यात था। यद्यपि उसके परिवार में लगभग एक हजार सदस्य थे, पर उनके बीच एकता का अटूट सम्बन्ध स्थापित था। सभी सदस्य साथ रहते और साथ ही खाना खाते। कलह तो उस परिवार से इतना दूर था कि, इस सम्बन्ध में कई कथाएँ मशहूर हो गयी थीं। लोगों का यहाँ तक कहना था कि, ओ-चो-सान के घर का कुत्ता भी दूसरे कुत्तों की हड्डियाँ कभी नहीं चुराता।

ओ-चो-सान के परिवार के इस सौहार्द की कहानी सम्राट यामातो के कानों तक भी पहुँची और एक दिन इन 'दंतकथाओं' की सत्यता जाँचने के लिए वे स्वयं उस वृद्ध-मन्त्री के घर तक आ पहुँचे।

स्वागत-सत्कार और शिष्टाचार की साधारण रस्में समाप्त हो जाने पर उन्होंने पूछा—"महाशय! मैंने आपके परिवार की एकता और मिलनसारिता की कई कहानियाँ सुनी हैं। क्या आप मुझे बतलायेंगे कि, एक हजार से अधिक व्यक्तियों वाले आपके परिवार में यह सौहार्द और स्नेह-सम्बन्ध किस तरह बना हुआ है?"

वृद्धावस्था के कारण ओ-चो-सान अधिक देर तक बातें नहीं कर सकता था। अतः अपने पौत्र को संकेत से कागज और कलम-दावात लाने का उसने आदेश दिया और उन चीजों के आ जाने पर अपने कांपते हाथों से कोई सौ शब्द लिखकर सम्राट यामातो की ओर बढ़ा दिया।

सम्राट ने बड़ी उत्सुकता से कागज पर दृष्टि डाली, तो आश्चर्य से अवाक् रह गये। एक ही शब्द को कागज पर सौ बार लिखा गया था—'सहनशीलता।'

सम्राट को इस तरह चकित और अवाक् देख कर राज्य मन्त्री ओ-चो-सान ने अपनी कांपती हुई आवाज में कहा—"महाराज! मेरे परिवार के सौहार्द का रहस्य बस इसी एक शब्द में निहित है। 'सहनशीलता' का यह महा-मन्त्र ही हमारे बीच एकता का धागा अबतक पिरोये हुए है। इस महामन्त्र को जितनी बार भी दुहराया जाय, उतना ही कम है।"

नाम-महात्म्य

डा० विनयमोहन शर्मा

संत वाङ्मय में 'नाम' महिमा पर अत्यधिक बल निरूपित है। 'संतों' ने 'परमात्मा' का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए सबसे 'सहज' मार्ग नामस्मरण निर्देशित किया है। संतों के अनुभवों के बल पर ही शास्त्रों ने बार-बार कहा है—'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः'। नाम स्मरण परमात्म सत्ता के निर्गुणोपासकों को ही मान्य नहीं है, उसके सगुण रूप के उपासक भक्त को भी मान्य हैं। दोनों पंथ के सन्तों को जब मान्य है तब उसके पीछे केवल आप्तवचन का प्रमाण नहीं होना चाहिए—स्वानुभव प्रत्यक्ष-प्रमाण—का बल जान पड़ता है। आज विज्ञान का युग है। वह प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही विश्वास करता है। नाम-स्मरण सिद्ध कब होता है। परमात्म शक्ति को जिसे हमारे द्रष्टा ऋषियों ने 'विष्णु' कहा है, सहस्रनाम हैं। उनमें से कौन नाम स्मरणयोग्य है, इसे कैसे निश्चय किया जाय। यह ऐलोपेथी की पेटेंट गोली नहीं है जो सभी प्रकृति के रोगी के गले उतारी जा सके। पेटेंट औषधियाँ सभी को सभी स्थिति में लाभदायक नहीं होतीं। मनुष्य समान होते हुए भी प्रकृति में समान नहीं है।

आयुर्वेद में प्रमुख तीन भेद बतलाए गए हैं वे हैं—पित्त, कफ और वात। इन प्रकृतियों का व्यक्ति में जब संतुलन भंग हो जाता है तो उसके स्वास्थ्य में खराबी पैदा हो जाती है। वह 'स्वस्थ' नहीं रह जाता। 'स्वस्थ' शब्द पर ध्यान दीजिए। अपने में जो स्थिर होता है वह 'स्वस्थ' कहलाता है। शरीर के कफ, पित्त और वात का समभाव ही उसे अपने आपमें स्थिर रखता है। याने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था ही का नाम 'स्वस्थावस्था' है। हाँ तो किस 'नाम' के स्मरण से साधक 'स्वस्थ' रह सकता है? इसके लिए 'गुरु' से 'दीक्षा' लेने का संत-मत में प्रबल आग्रह है। 'निरगुनिया' गुण न जानने से ही भटक जाता है। उपनिषद्कार कहते हैं 'हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्य अभिहितं मुखम्'—सत्य का मुख सोने के पात्र से अर्थात् अज्ञानरूपी माया के पात्र से आवृत्त है। इसीलिए 'गुरु' की उपासना अर्थात् उसके निकट बैठने की आवश्यकता है। गुरु की नाम-दान-प्रविधि को ही 'दीक्षा' कहा जाता है। दीक्षा के उपरान्त नाम-कीर्तन आदि का जो उपदेश दिया जाता है उसे 'शिक्षा' कहते हैं। यों 'शिक्षा' का एक अन्य अर्थ भी है, जो यहाँ भी लागू होता है—वह है ध्वनिशास्त्र। वेद के मंत्रों के उच्चारण की विशिष्ट विधि का ज्ञान कराने वाली विद्या को 'शिक्षा' कहा जाता था। वेद को हमारे ऋषियों ने अपौरुषेय माना है और ठीक ही है। 'वेद' का अर्थ 'ज्ञान' है। ऋषि जब 'ध्यानावस्था' में थे—तभी उन्हें वेद ज्ञान स्फुटित हुआ था। वह कहीं 'बाहर' से उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था। उनकी आत्मा में जो परमात्मा का आवास था, वही ध्यान में मुखरित हो उठा। इसी अर्थ में 'वेद' को अपौरुषेय कहा जा सकता है। हमारे ऋषियों ने अपौरुषेय ज्ञान को अखंडित रखने, उसके प्रत्येक शब्द का यथावत् उच्चारण अक्षुण्ण रखने के लिए 'शिक्षा शास्त्र' की रचना की थी। क्योंकि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण-क्रिया का शरीर के भीतरी अवयवों पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। इसकी परीक्षा का परिणाम अमरीका के 'फिजीकल कल्चर' पत्र में बर्नर मेकफेडन ने प्रकाशित किया था। एक रोगी उदर-रोग से बुरी तरह पीड़ित था। अत्यन्त क्षीण हो बिस्तर पर महीनों पड़ा था। अतः कोई औषधि 'कारगर' नहीं हो रही थी। अंत में उसे दिनभर 'रा' 'रा' का धीरे-धीरे उच्चारण करने को कहा गया। कुछ ही दिनों में उसका पाचक यंत्र क्रियाशील होने लगा और वह 'स्वस्थ' हो गया। 'रा' के उच्चारण से उसका नाभि-चक्र (Solar Plexus) मणिपूरक चक्र प्रभावित हो उठा और उसपर उसका मन केन्द्रित रहने से यकृत (लीवर) छोटी-बड़ी अँतड़ियाँ आदि पाचन-अवयव सक्रिय हो उठे। ओंम्—ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रैं, ह्रौं, ह्रः के साथ सूर्य के बारह नामों के उच्चारण सहित जब 'सूर्य नमस्कार' किये जाते हैं तब शरीर के प्रत्येक अवयव जागृत हो उठते हैं, रक्त की प्रत्येक कोशिकाओं में रक्तसंचार गतिशील हो उठता है।

किस प्रकार का व्यायाम किस व्यक्ति के लिए अनुकूल होगा, इसका जिस प्रकार योग्य व्यायाम निर्देशक निर्णय कर शिष्य को परामर्श देता है उसी प्रकार किस व्यक्ति को किस 'नाम' के स्मरण से लाभ होगा इसका निर्णय 'सद्‌गुरु' ही कर सकता है। संतों ने 'गुरु' नहीं, 'सद्‌गुरु' के संधान की बात कही है, जो आसानी से उपलब्ध नहीं होते। वे भाग्य से प्राप्त होते हैं।

सद्‌गुरु शिष्य की पात्रता की परीक्षा करता है, उसकी प्रवृत्ति, प्रकृति और लगन के अनुसार उसे नाम की दीक्षा और शिक्षा देता है। 'नाम' का मनन होता है— इसीलिए वह 'मंत्र' बन जाता है। 'नाम' के वर्णों का उच्चारण अशुद्ध नहीं होना चाहिए। मान लीजिए किसी उपासक को गुरु से 'हरे राम, हरे कृष्ण हरे हरे' मन्त्र प्राप्त हुआ। यदि वह हरे के स्थान पर अरे और कृष्ण के स्थान पर किसन कहने लगे तो क्या वह फलप्रद होगा ? प्रत्येक 'वर्ण' का उच्चारण स्थान है, शरीर के भीतरी अवयवों पर उनका इष्टानिष्ट प्रभाव पड़ता है। 'ह' के स्थान पर 'अ' कहने से कृष्ण के स्थान पर किसन कहने से उच्चारण-स्थान बदल जाता है जिसके कारण मंत्र अभीष्ट फल नहीं दे पाता।

'क' वर्ण का उच्चारण स्थान जिव्हामूल है ऋ. ष्. ण् का उच्चारण स्थान मूर्धा है। जिह्वामूल से मूर्धा तक सजातीय तीन धाराएँ हैं। इसमें विषम गति नहीं है.... उनके भीतर 'स्' का प्रवेश हो जाने पर विजातीयता आ जाती है। 'स' का उच्चारण-स्थान दन्त है। मूर्धा और दन्त के बीच स्थानिक पार्थक्य ही नहीं, व्यावहारिक पार्थक्य भी है। दंताभिघातवृत्ति से जो स्वरगति उत्पन्न होती है उसे मिश्र-छन्द से सम्पृक्त नहीं किया जा सकता। समजात ध्वनियों में एक समयावत्व रहता है और इसका विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। कृष्ण की 'क्लीं' बीज समन्वित ध्वनि में जो शक्ति निहित है वह किसन की ध्वनि में नहीं रह जाती। इसी तरह यदि हम ओम नमः शिवाय के स्थान पर ओम नमः सिवाय उच्चारित करने लगें तो मंत्र का अवैध उच्चारण हो जायगा। ध्वनि के उदात्त, अनुदात्त और प्लुत भेद सर्वविदित हैं। 'हरिबोल' में 'बोल' का प्लुत उच्चारण ही श्रेष्ठ है। इसी से नाम स्मरण की मंत्र प्राप्त की सिद्धि के लिए सद्‌गुरु से 'शिक्षा' ग्रहण करने की आवश्यकता होती है।

'जप' की शिक्षा के मूल में वैज्ञानिकता है, इसे विस्मृत नहीं करना चाहिए। किसी भी कार्य को सिद्ध करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है जिसे अध्यात्म भाषा में विद्या, श्रद्धा और उपनिषद कहा जाता है। विद्या से तात्पर्य····प्रविधि (methodology) से है। श्रद्धा से तात्पर्य विश्वास (Faith) से है और उपनिषद् से रहस्यज्ञान से है।

नाम-स्मरण की विधि का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, उसे 'नाम' में प्रगाढ़ श्रद्धा होनी चाहिए, उपनिषद् (रहस्य-ज्ञान) से तात्पर्य नाम उच्चार के महत्त्व से अवगति। गुरु से साधक को विज्ञान सम्मत उपदेश मिलना चाहिए। तभी 'जपात् सिद्धि' की घोषणा सार्थक होगी। बार-बार 'नामोच्चार' के पीछे क्या रहस्य है ? इसे समझना होगा। नामोच्चार ध्वनि का सतत या कुछ समय तक प्रवाह है। जगत् 'शब्द' या ध्वनि से आपूर है। उसका प्रारम्भ ही शब्द (ध्वनि) से हुआ माना जाता है—उसी ने सृष्टि के कण कण को गति प्रदान की है—इसी से उसका नाम 'जगत' है क्योंकि वह सतत् गतिमान है—उसमें सतत चांचल्य है।

प्रत्येक अणु, परमाणु सभी में चांचल्य है, गति है—ध्वनि है। हम प्रत्येक ध्वनि को सुन नहीं पाते क्योंकि हमारी श्रवण शक्ति की एक सीमा है। यदि हमारे दिव्य श्रवण हों तो हम प्रत्येक ध्वनि को कर्णगत कर सकते हैं। योगी सूक्ष्म शब्द-ध्वनि को सुन सकते हैं इसलिए शांत कोने में बैठे बैठे जगत की गति का ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। विज्ञान कहता है कि कम्पन-वेग की निम्न संख्या है जिसे हमारे सामान्य कर्ण सुन नहीं पाते पर इसका यह अर्थ नहीं कि कम्पन-क्रिया बन्द हो गई—वह तो जारी रहती ही है। ध्वनि तभी ग्राह्य होती है जब कान और मस्तिष्क में नियमानुसार उत्तेजना होती है और मन का संयोग होता है। नाम-स्मरण का गुरूपदिष्ट विधि से प्रेम आदर के साथ उच्चारण होना चाहिए। यह उच्चारण वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाणियों से क्रमशः होता है। आप शंका कर सकते हैं कि पश्यन्ती—परा वाणी में ध्वनि कहाँ सुन पड़ती है। पर नहीं, मंत्र-शब्द का ध्यान भी ध्वनि तरंग उत्पन्न करने की क्षमता रखता है।

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

अप्रैल, १९८४

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, दाल, साग आदि १५००) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के व्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

स्थायी भण्डारा

श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	कच्चा	१-४-८४
श्रीमती गंगूबाई मधुकर शिन्दे, बम्बई	,,	५-४-८४
स्व० स्वामी केशवानन्द तीर्थ की आराधना ईश्वर मठ, मुमुक्षु भवन, वाराणसी	,,	१३-४-८४
स्व० श्रीमती विट्टो देवी, मुमुक्षु भवन	,,	१७-४-८४
स्व० श्रीमती वैराग्यवती देवी, मुमुक्षु भवन	,,	१९-४-८४
श्रीमती ललिता देवी शाह, भागलपुर	,,	२३-४-८४

अस्थायी भण्डारा

श्रीपाल पारिख द्वारा स्वामी गणेश्वरानंद तीर्थ ईश्वर मठ, वाराणसी	पक्का	१४-४-८४
श्री ललितकुमार झुनझुनवाला, कलकत्ता	,,	१६-४-८४
स्व० स्वामी विश्वनाथानन्द तीर्थ द्वारा श्रीविष्णुदत्त मिश्र नागपुर	,,	२२-४-८४

अन्नक्षेत्र

श्रीस्वामी प्रणवानन्द तीर्थ, मुमुक्षु भवन फरवरी-मार्च '८४	३००)
श्री सत्यनारायण रूँगटा, कलकत्ता मासिक	३००)
श्रीमती रुक्मिणी देवी गुटगुटिया, मधुपुर वार्षिक	१०१)
श्री गुरुदेव मानव ट्रस्ट, दिल्ली	३०००)

भण्डारा स्थायी कोष

श्री सन्तकुमार रमादेवी तिवारी चैरिटी एण्ड रेलिजस ट्रस्ट, जबलपुर (म० प्र०)	१५००)

भण्डारा उत्तर काशी, दण्डी क्षेत्र

श्रीइन्द्रमणी विजलवान, बाड़ागढ़ी उत्तरकाशी		१०-२-८४
श्रीपुरुषोत्तमदत्त रतूड़ी	,,	११-२-८४
श्रीहरिप्रसाद, कोटिपाल गाँव	,,	
श्रीपुरुषोत्तमदत्त रतूड़ी	,,	२८-२-८४
श्रीटीकाराम तिवारी	,,	
श्रीसुन्दर सिंह प्रधान,	,,	
श्रीसुरेन्द्र दत्त व्यास, इडाल गाँव	,,	१०-३-८४
श्रीरामकृष्ण पुजारी,	,,	१४-३-८४
श्रीपुरुषोत्तम दत्त रतूड़ी	,,	२४-३-८४

होम्योपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
२२७	१७५१	१९७८

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुलयोग
१६३	३९६	५६९

Regd. No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82 मई १९८४ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यता प्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२०१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा-कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद-वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी हैं। हर फ्लैट में तीन कमरे, रसोई, स्नान-घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन बिताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

•

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

मुमुक्षु

जून, १९८४

आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष ३ : अंक ९
ज्येष्ठ सं० २०४१
जून १९८४

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१ ००५

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

शरणागति

वर्तमान युग में गीता की प्रासंगिकता
डॉ० पी० एम० उपाध्याय ३

महात्मा योगेश्वरजी : एक संस्मरण
श्री बाबूभाई ना० महेता ५

श्रीमद्भागवत
महात्मा श्री योगेश्वरजी का अंतिम प्रवचन ७

विश्वरूप
श्री हरीन्द्र दवे ११

मृत्यु और उस पर विजय
शिवानन्द सरस्वती १५

भगवान् राम का प्राकट्य
डा० राय आनन्दकृष्ण १७

कनफ्यूशियस
डा० (श्रीमती) अरुणा बैनर्जी १८

गुरु मानुष करि जानते ते नर कहिये अंध
श्री विचारदास २१

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों की फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी है। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज कर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा,
अस्सी, वाराणसी—५

मुमुक्षु

वर्ष : ३] जून १९८४ [अंक : ९

शरणागति

त्याग और वैराग्य के द्वारा मनुष्य अध्यात्म के उन्नत स्तर में पहुँचता है और दिव्य वैभव और ख्याति के शिखर को प्राप्त कर लेता है।

भगवान् के प्रति सर्वात्मना अपने को समर्पित कर देना प्रपति या शरणागति कही जाती है। भगवान् ही भक्तों के एकमात्र आश्रय और रक्षक हैं। शरणागति में छः बातें हैं:- (१) निज व्यक्तित्व को ईश्वरार्पण करने के लिए आवश्यक गुणों का विकास, (२) भगवदिच्छा के विरुद्ध गुणों का निषेध, (३) यह श्रद्धा कि भगवान् उसकी रक्षा करेंगे, (४) रक्षा तथा दया के लिए अभ्यर्थना, (५) अपनी तुच्छता का अनुभव, तथा (६) पूर्ण समर्पण। पहले की पाँच बातें पूर्ण आत्मसमर्पण की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन रूप हैं।

इनकी साधना सच्चे भाव से, सही ढंग से की जाय तो सूक्ष्म अहंकार भी न रहेगा। अहंकार की निवृत्ति के लिए ही यह है। भक्ति-मार्ग में भी साधक को अन्त में आत्मसमर्पण करना ही होता है। भगवान् स्वयं यह करनेवाले नहीं हैं। वंशीधर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'सर्वात्मना मेरी शरण आओ, मुझ पर सारा भार छोड़ दो। तभी तुम मेरी कृपा पा सकोगे और मैं तुम्हें मुक्ति दूंगा।'

भगवान् के चरणों में अपना सर्वस्वार्पण करके कोई भी मोक्ष सिद्ध कर सकता है। समर्पण श्रद्धा-युक्त, सम्पूर्ण और निरपेक्ष होना चाहिए। भक्ति-मार्ग की सफलता का यह रहस्य है। पूर्ण भक्ति प्राप्त होने तक साधक को पहुँचे हुए महात्मा का सम्पर्क आवश्यक होता है। तभी वह अपना वैषयिक स्वभाव बदल सकता है और सारे पुराने संस्कारों को मिटा सकता है।

रोम नगर की वेश्या, मेरी मैगदालेन पर पत्थर फेंककर मारने के लिए हजारों लोगों की भीड़ जमा हो गयी। प्रभु ईसा ने लोगों से कहा—"पहला पत्थर वह मारे जिसने आज तक कोई भी पाप न किया हो।" प्रभु ईसा के शब्द सुन कर लोग चुप हो गये। वेश्या दूसरे ही क्षण साधु बन गयी। इसका कारण प्रभु ईसा की कृपा ही थी। यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि भगवान् की कृपा किसे, कब एवं कैसे मिल जायेगी। भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं—"हे पार्थ जो मेरी शरण आते हैं, भले पाप-योनी वाले हों, स्त्रियाँ हों, वैश्य हों, शूद्र हों, वे भी परमगति को प्राप्त कर लेंगे" (अ० ९-३२)। मित्रों, तो फिर निराशा क्यों? निराश न होओ। उठो, उद्यत हो आओ, जीवन-संग्राम में तत्पर हो जाओ। प्रयास करो। साधना में लगो। चलते चलो। साहसपूर्वक आगे बढ़ते चलो। करुणावरुणालय भगवान् आपके प्रयत्नों को सफल करेंगे। मनुष्य कितना भी नीच या पापात्मा हो, वह मुक्ति पा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसा हम सबको आश्वासन दिया है।

परमेश्वर आपसे कहीं अधिक जानते हैं कि आपके लिए क्या अच्छा है। भगवान् की पूजा करना, मन्दिरों में जाना, घंटी बजाना इत्यादि विविध विधि और कर्मकाण्डों की अपेक्षा

सर्वथा ईश्वरेच्छा पर निर्भर जीवन व्यतीत करना कहीं अच्छा है।

वे आपको गले लगाने के लिए मधुर प्रेम और करुणार्द्र हृदय से बाहें फैलाकर खड़े हैं। एक बार सिर उठाकर देखिए। बालसुलभ सरलता, भोलेपन और ऋजुता के साथ उनके पास जाइए। दिल खोलकर उनसे बोलिए। बिना प्रत्यपेक्षा के पूर्ण आत्म-समर्पण कर दीजिए। उनकी शरण जाइए।.

आप इस प्रकार प्रतिफलाकांक्षा छोड़ कर स्वेच्छा से सम्पूर्ण शरणागत हो जायें तो फिर आपका कोई उत्तरदायित्व या कर्तव्य नहीं रह जाता। सभी प्रकार से वे आपका सम्पूर्ण योग-क्षेम वहन करेंगे। आपको न कोई प्रयत्न करना होगा, न साधना ही करनी होगी। आपके लिए भगवान् सब-कुछ करेंगे।

अपने प्रत्येक कर्म में पूर्णतया ईश्वरार्पण बुद्धि रखना ही एक-मात्र आशास्पद दिखता है, परन्तु हो सकता है कि इसका प्रत्यक्ष अनुभव होने पर अहंकार और अभिमान बढ़ जाय। अतः उससे बचना चाहिए।

कुछ मन्त्र हैं जिनसे सर्वस्वार्पण सरल हो सकता है। 'हे भगवान्, मैं आपका हूँ। सब-कुछ आपका है। आपकी इच्छा ही पूर्ण हो। आप ही सब-कुछ हैं। आप ही सब-कुछ करने वाले हैं।' इसके बार-बार पाठ करने से अहंता और ममता के भाव समाप्त हो जाते हैं और कर्तृत्व का मान भी मिटता है।

भक्त अपने प्रभु से कहता है—'हे भगवन्, मैं आपका हूँ, आपही मेरा सर्वस्व हैं। कर्त्ता, शास्ता सब आप ही हैं। आप न्यायी हैं। मैं आपके हाथ का एक साधन मात्र हूँ। मेरा अस्तित्व और कुछ नहीं है। इस प्रकार उसका अहंकार मिटता है और प्रभु की शरणागति सिद्ध होती है।'

अहंकार पैदा होने के कई कारण हैं—कर्म (मैंने अच्छा काम किया), वर्णाश्रम (मैं ब्राह्मण हूँ, सर्वोच्च हूँ, संन्यासी हूँ, परिशुद्ध हूँ आदि), सम्पत्ति (शारीरिक बल, धन, बुद्धि, सौन्दर्य, सद्गुण आदि)। आध्यात्मिक साधना के द्वारा इस सारे अहंकार को मिटाना होगा, भगवान् के चरणों की शरण लेनी होगी।

सेवा भाव

महर्षि दयानन्द के हृदय में मानव-मात्र के प्रति असीम प्रेम भरा हुआ था। किसी के प्रति घृणा तो उन्हें छू भी नहीं गयी थी। एक बार एक मेले में उन्होंने एक अधमरे कोढ़ी को देखा, जिसके घावों पर कीड़े रेंग रहे थे और वह पानी की बार-बार याचना कर रहा था। चारों तरफ खड़ी भीड़ बड़ी घृणा से उसकी तरफ देखते हुए यह योजना बना रही थी कि किस तरह बिना उसके हाथ लगाये उसे कहीं दूर जंगल या नदी में फेंककर, मेले के वातावरण को शुद्ध रखा जा सकता है। पुलिस के सिपाही भी वहाँ थे। वे भी उसके निकट जाने या हाथ लगाने में संकोच कर रहे थे। वे यात्रियों से ही बार-बार सहयोग माँग रहे थे कि उनमें से कोई उसे उठाकर चिकित्सा केन्द्र तक पहुँचा दे। मगर उस घृणित व्यक्ति का कौन हाथ लगाता? कोढ़ी बार-बार, जो पानी की माँग कर रहा था उस ओर ध्यान देने की तो किसी ने आवश्यकता ही नहीं समझी। महर्षि दयानन्द यह सब देखकर सर्वप्रथम तो नदी किनारे जाकर अपना वस्त्र भिगो लाये और उस कोढ़ी के मुँह में निचोड़ कर उसकी प्यास बुझायी। इसके उपरान्त बिना किसी संकोच के उन्होंने उस कोढ़ी को पीठ पर लादा तथा चिकित्सा केन्द्र तक पहुँचा दिया।

वर्तमान युग में गीता की प्रासंगिकता

डॉ० पी० एम० उपाध्याय

गीता एक अलौकिक मानवेतर संगीत है। यह उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी श्रुति साहित्य है जो उपनिषदों और वेदान्त सूत्रों के साथ प्रस्थान त्रयी के नाम से विख्यात है। ये ही पुस्तकें सनातन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को प्रतिपादित करती हैं।

गीता उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति है। यह जितनी ही जनप्रिय है उतनी ही महत् भी। इस युग के महान् भारतीय विद्वान् एवं चिन्तक, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, श्री अरविन्द एवं रानाडे जैसे लोगों ने गीता का गहन अध्ययन किया। उन्होंने गीता में विश्व की उन दुर्दान्त समस्याओं के समाधान की खोज की, जिससे सारा विश्व जर्जरित है और जो मानव की वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति में बाधक है।

अर्जुन जो मानवमात्र का प्रतिनिधित्व करते हैं, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और कौटुम्बिक समस्याओं से विभ्रमित हो रहे थे, उनकी समस्याओं के समाधान के लिए ही श्रीकृष्ण ने उन्हें गीता सुनाई। श्रेष्ठतम आदर्शों की प्राप्ति की सार्वभौम और रचनात्मक व्याख्या हमें गीता में मिलती है। मध्य युग के शंकराचार्य और रामानुज जैसे दार्शनिकों के साथ ही आधुनिक काल के स्वामी रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द को भी 'गीता' में अपने विचारों के अनुरूप स्वस्थ समाज के निर्माण का मार्ग दृष्टिगोचर हुआ।

आज भारत के सामने अनेक सामाजिक और नैतिक चुनौतियाँ मुंह बाये खड़ी हैं—क्षेत्रवाद, सम्प्रदायवाद एवं जातिवाद देश की अखण्डता के लिए एक भयंकर खतरा बन गया है। आज के विश्व में पुरातन मानव-मूल्यों का चिन्ताजनक ह्रास हो रहा है। विज्ञान और तकनीकी ने न केवल हमारे रहन-सहन को ही प्रभावित किया है, प्रत्युत सामाजिक मूल्यों का भी अवमूल्यन कर दिया है। इनसे मानव-जीवन दुःखमय, जर्जर और भयाक्रांत होकर असुरक्षा का अनुभव करने लगा है। पर प्रश्न उठता है कि इस भौतिकवादी युग में किस प्रकार मानव-मूल्यों की रक्षा की जा सकती है। यदि हम गीता का सम्यक् अध्ययन करें तो निश्चितरूपेण औद्योगीकरणजन्य सामाजिक उलझनों के समाधान का मार्ग प्रशस्त होगा। गीता की शिक्षाओं का मूल्य शाश्वत है और वे मानवता का मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम हैं।

गीता में निष्काम कर्म का निरूपण किया गया है। मनुष्य को किसी प्रकार की फल-प्राप्ति की अभिलाषा न कर, मात्र अपना दायित्व मान कर कार्य करना ही निष्काम कर्म का अभिप्राय है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि मनुष्य अपने को सुख और समृद्धि से वंचित रखे, प्रत्युत सुख और समृद्धि का उपभोग करते हुए, उनके प्रति अनासक्त रहे। दौलत स्वयं में साध्य नहीं है। यह तो साध्य तक पहुँचने का एक साधन मात्र है। गीता के अनुसार कोई भी व्यक्ति कार्य के अभाव में जीवित नहीं रह सकता, यही नहीं, कार्य का त्याग कर कोई पूर्णत्व प्राप्त नहीं कर सकता।

गीता में हमें 'स्वधर्म' के परिपालन की प्रेरणा मिलती है। स्वधर्म ही सामाजिक और नैतिक जीवन की पृष्ठभूमि है। किसी भी आदर्श समाज में 'स्वधर्म' ही व्यक्ति के कर्तव्यों और अधिकारों का प्रतीक है। 'स्वधर्म' व्यक्ति के स्वभाव, आचरण और उसकी प्रकृति पर निर्भर है। गीता के अनुसार जो व्यक्ति अपनी प्रकृति द्वारा निर्देशित कार्य करता है, वह पाप का भाजन नहीं बनता, क्योंकि मानव प्रकृति मूल रूप में पवित्र और ईश्वरीय होती है। इस प्रकार मनुष्य स्वयं द्वारा पोषे गये अनुशासन से बँध जाता है। यही स्वानुशासन जनतन्त्र की रीढ़ है। इसी के साथ ही साधारण धर्म भी जुड़ा है जो सभी व्यक्तियों द्वारा प्रतिपालित होता है, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय या धर्म के अनुयायी हों।

गीता में सर्वज्ञ सर्वात्मा की ऐसी छवि दिखाई पड़ती है जिससे यह प्रतिभासित होता है कि मनुष्य के सारे कार्य ईश्वर को ही समर्पित होते हैं। इस प्रकार कर्तव्य कर्तव्य के लिए न होकर वह ईश्वर के लिए होता है। ऐसे कर्तव्य की ओर मानव का झुकाव होना प्रकारान्तर से धार्मिकता की ओर झुकाव माना जा सकता है। गीता ने कभी भी कर्तव्य का पूर्ण त्याग कर संन्यास की बात नहीं कही है। प्रत्युत गीता के लोकसंग्रह में जनकल्याण की भावना निहित है और इसे समाजवादी समाज की भावना से उद्भूत कहा जा सकता है, क्योंकि यह जनकल्याण के साथ ही समाज को विखराव से बचाने का विधान है। अस्तु, समाज के वरिष्ठ लोगों को अपने आचरण और कार्यों से अन्य लोगों के लिए उदाहरण प्रस्तुत करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। स्वयं भगवान भी विश्व कल्याण के कार्य में रत रहते हैं, उनका उद्घोष है कि यदि वे अपनी रचनात्मक गतिविधियों को बन्दकर दें, तो सारे विश्व का विनाश हो जाय। 'निष्काम कर्म की भावना' के तीन प्रतिफल हैं—(१) आत्मशुद्धि, (२) सामाजिक उन्नयन और (३) ईश्वरेच्छा के प्रति समर्पण। इस प्रकार कहा जा सकता है कि निष्काम कर्म नैतिक, सामाजिक और धार्मिक भावनाओं का प्रतिपादन करता है।

गीता के अनुसार ईश्वरत्व की प्राप्ति या आत्मज्ञान की उपलब्धि के लिए कार्य, ज्ञान और भक्ति आवश्यक हैं। इन्हीं मार्गों पर चल कर मनुष्य अपनी इच्छाओं को अनुशासित कर सकता है तथा अपनी बुद्धि और भावनाओं पर नियन्त्रण पा सकता है। इसीलिए गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय देखने को मिलता है।

गीता का आध्यात्मिक अनुशीलन हमें महत् के चमत्कार से अवगत कराता है। इसकी दृष्टि में भिन्न धर्मों द्वारा निर्देशित मार्ग एक ही बिन्दु पर मिलते हैं, इसीलिए सभी अध्यात्मवादी समवेत रूप से ऐक्य का ही उद्बोधन करते हैं। सर्वात्मा किसी को हेय दृष्टि से नहीं देखता, यहाँ तक कि एक महान् पापी भी आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है, यदि वह सब कुछ भूल कर शरणागत हो जाये। नीच से नीच नराधम भी मोक्ष पा सकता है, केवल सर्वात्मा का शरणागत बन कर। इसे हम प्रकारान्तर से सामाजिक समानता की संज्ञा दे सकते हैं। हर व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह अपने गुण, स्वभाव और कर्म के अनुसार कार्य करता रहे। समाज-सेवा ही कार्य की महत्ता को प्रतिपादित करती हैं, न कि अधिकारों और मान्यताओं के लिए होड़। ऐसी होड़ से सामाजिक प्रगति बाधित होती है।

हम भारतीयों को पूर्वजों की धरोहर विरासत के रूप में मिली है। साधुओं, महात्माओं, ऋषियों और मनीषियों की स्वस्थ परम्परा हमारा मार्गदर्शन करती है—फिर भी हमारी प्रगति पूर्वाग्रहों और सम्पत्ति तथा शक्ति के प्रलोभनों से कुंठित है। इनसे स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था बाधित होती है। इसीलिए आज सामाजिक परिवर्तन अपरिहार्य हो गया है। यदि हम गीता की शिक्षाओं का उनकी भावनाओं के अनुरूप अनुसरण करें, तो यह परिवर्तन सरलतापूर्वक आ सकता है। भारत जैसे विकासशील देश के लिए, सुविचारित, सामाजिक क्रान्ति लानेके लिए 'निष्काम कर्म' एक सुदृढ़ साधन बन सकता है। गीता का आदर्श है 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

किसी भी जनतान्त्रिक समाज में, धर्मनिरपेक्षता का महत्वपूर्ण सामाजिक मूल्य है। गीता सर्वत्र सहिष्णुता का उपदेश देती है। जिसे हम धर्मनिरपेक्षता का आधार मान सकते हैं। धर्मनिरपेक्षता का तकाजा है कि किसी व्यक्ति के धार्मिक विचार और विश्वास उसकी प्रकृति के अंग होते हैं, जिन्हें औरों पर थोपा नहीं जा सकता। यदि कोई गीता की शिक्षाओं के अनुसार धर्माचरण करता है, तो निःसन्देह उसका आचरण सामाजिक न्याय और व्यवस्थाके अनुकूल होगा।

गीता के पूर्व उपनिषद्, जिन्हें भारतीय दर्शन का सार कहा जाता है, मानव मानव की समानता के पोषक हैं। उपनिषद् मनुष्य के कर्म और आचरण को महत्व देते हैं न कि किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में उनके जन्म को। डा० राधाकृष्णन् का मत है कि उपनिषद् जाति, वर्ग और वर्ण की कट्टरता पर प्रहार करते हैं और सम्प्रदाय या जातिगत घृणा या अलगाव की निन्दा करते हैं।

आज के युग में निष्काम कर्म, सर्वभूतहित एवं दूसरों को अपने जैसा ही देखना, समय की पुकार है। यही गीता की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इस प्रकार गीता का महत्व

(शेष पृष्ठ १० पर)

महात्मा योगेश्वरजी : एक संस्मरण

श्री बाबूभाई ना० महेता

महात्मा योगेश्वरजी के जीवन में वाणी और कर्म की अद्भुत एकता थी। उनमें सामनेवालों के मन को पढ़ने की अपूर्व क्षमता थी।

महात्माजी के साथ मेरा पहला परिचय २० साल पूर्व हुआ था, १७ वर्ष पूर्व वे मेरे घर पर पहली बार पधारे थे और मेरे वृद्ध पिताश्री को उनके जीवन की संध्या में दर्शन देकर कृतकृत्य किया था। महात्माजी उन दिनों सांसारिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक तथा अन्य प्रसंगों में समान रुचि लेते थे। त्यागी-विरागी को इन सब जंजालों में क्यों दिलचस्पी लेनी चाहिए, ऐसा मैं सोचता था। इससे शुरू में उनके साथ मेरा सम्बन्ध कुछ उचका-उचका सा चलता था। लेकिन जब मैंने यह समझ लिया कि महात्माजी केवल नकारात्मक जीवन जीनेवाले त्यागी-विरागी न होकर अध्यात्मिकता की पुटवाले, सर्वत्र परमात्मा को देखनेवाले, रचनात्मक जीवन जीनेवाले संत हैं, तबसे मेरा सारा संकोच दूर हो गया। मैं उनका निकटतम शिष्य हो गया, उनको मैंने पूज्य गुरुदेव के रूप में स्वीकार किया।

मैंने यहाँ कांदीवली में नया फ़्लेट लिया। उन दिनों महात्माजी आम तौर से किसी के यहाँ जाते न थे। फिर भी जब वे बम्बई आये तब मैंने उनको मेरे घर पधारने की बिनती की। उन्होंने जवाब दिया : "आप तो जानते हैं कि मैं किसी के घर जाता नहीं हूँ। और मेरे वहाँ आने में क्या विशेष है ? मैं आपके साथ ही हूँ।" इस उत्तर से मुझे कुछ निराशा महसूस हुई, लेकिन मन में समाधान कर लिया। और 'मैं आपके साथ ही हूँ', के उनके वचन को परखने की इच्छा जगी। एक दिन रात को ठीक ढ़ाई बजे मैं जब अर्ध-निद्रावस्था में था तब वे मेरे घर में पधारे। दूसरी बार दिन में भी ठीक ढाई बजे मुझे सम्पूर्ण जागृतावस्था में उनके दर्शन हुए। दोनों समय उन्हें देखने, सुनने की व उनके स्पर्श की मुझे अनुभूति हुई। मेरी जागृत अवस्था में भी मेरी आँखें बन्द थीं। कितने भी प्रयत्नों के बावजूद मेरी आँखें खुली नहीं। चर्मचक्षु से उनके दर्शन न होते थे। इसने उनकी ओर मेरी श्रद्धा व भक्ति बढ़ी। मैं उनके ध्यान-शिविरों और अन्य प्रवृत्तियों में रस लेने लगा।

बम्बई में उनके प्रवचन व ध्यान-शिविर के आयोजन की चर्चा शुरू हुई। एक साधक के समक्ष महात्माजी ने कहा। "बाबू भाई हैं न, इसलिए प्रवचन के आयोजन में कोई कठिनाई नहीं होगी।" उनका यह विधान जब मुझे ज्ञात हुआ तो मेरा आत्म-विश्वास बढ़ा। मुझे लगा कि महात्माजी इन कार्यों को करना चाहते हैं लेकिन मुझे उनके लिए निमित्त बना कर, मेरे ऊपर उपकार करना चाहते हैं। इस मान्यता में मेरे मित्र डॉ० नरम ने भी साथ दिया। हमने बड़े उत्साह से कार्य किया और सहज रीति से ही माधवबाग व कांदीवली में पूज्य श्री० के प्रवचनों का आयोजन हो गया। इस कार्य में कु० प्रेरणा बहन, सौ० नीला बहन, मधु भाई, हरगोविन्द भाई, हरिश्चन्द्र भाई आदि का प्रशंसनीय योगदान रहा।

माधवबाग के प्रवचनों की समाप्ति के बाद कांदीवली के प्रवचनों के लिए मैं कार लेकर पूज्यश्री को लेने उनके बम्बई स्थित निवास-स्थान बालकेश्वर प्रवीणा बहन के यहाँ गया। कांदीवली में महात्माजी का निवास मेरे घर था। रास्ते में हमने महालक्ष्मी के मन्दिर में दर्शन किये। वहाँ से पारले बम्बई में ध्यान-शिविर के लिए पसन्द की गई जगह देखने गये।

हम लोग करीब सवा-छह बजे घर पहुँचे तो कई साधक वहाँ हमारी राह देखते बैठे थे। वहाँ महात्माजी व मा सर्वेश्वरी (उनकी समर्पित शिष्या) का सबने स्वागत किया तथा मेरी पत्नी सौ० कोकीला ने पूजन-आरती की। पूजन की शुरुआत में महात्माजी ने ही पूजन के मंत्रोच्चार किये। उसके बाद मेरे मित्र व रंग अवधूत के परम भक्त श्रीजगन्नाथ भाई ने मंत्रोच्चार के साथ विधि पूर्ण की। उपस्थित साधकों को प्रसाद बाँटा गया।

साधकों के साथ बातचीत के दौरान मैंने पू० श्री से कहा : "महात्माजी यह भी योगानुयोग है कि कल मेरी बेबी की सेकन्डरी स्कूल परीक्षा शुरू होती है। वह आपके आशीर्वाद के साथ परीक्षा के लिए जायेगी।" तब महात्माजी ने कुछ आवेश के साथ कहा : "माँग लो, जितना माँगना हो, सब कुछ मिलेगा। आज ही माँग लो, अभी माँग लो। कल के लिए न रखो, कल बहुत देर हो जायेगी।" जैसे कि वे अपनी कृपा बरसाने के लिए उद्यत थे। इस प्रकार जैसे उन्होंने यह संकेत दे दिया कि उनके लिए कल नहीं है। मुझे दिल में आघात जरूर हुआ, लेकिन मेरी पुत्री जब परीक्षा के लिए जायेगी तब पू० श्री का कक्ष साधना के लिए बन्द होगा और उसे राह देखने में देर हो जायेगी, ऐसा उनका कहना है, ऐसा मानकर मैंने मन का समाधान किया।

रात के भोजन में महात्माजी ने केवल खिचड़ी या आलू-चिवड़ा बनाने की आज्ञा की। उनके मेरे घर आने का प्रथम दिन होने से थोड़ा सा हलुआ लेने का मैंने आग्रह किया। उन्होंने हलुआ पसन्द किया और प्रसन्नतापूर्वक केवल हलुआ ही खाया।

पौने-नौ बजे हम स्थानीय लक्ष्मी नारायण मन्दिर के 'गीता-हॉल' में प्रवचन के लिए पहुँचे। मा सर्वेश्वरी के भजन से प्रवचन प्रारम्भ हुआ।

महात्माजी ने 'भक्तियोग' के बदले भागवत से प्रवचन की शुरुआत की। पन्द्रह मिनट के उनके उस अन्तिम प्रवचन में दृष्टान्तों के साथ उन्होंने प्रतिपादित किया : "प्रभु के यहाँ से अपने मूल से अलग होनेवाला परमात्मा का अंश रूप आत्मा, जब तक संसार की अपनी यात्रा पूरी करके अपने मूल धाम में वापस नहीं लौटता तब तक वह जन्मान्तर के फेरे करता रहता है। जब वह अपने मूल धाम में पहुँचता है तब उसकी यात्रा पूरी होती है। जीव शिव में विलीन हो जाता है। जीव और शिव का मिलन होता है।" इतना बोलते ही उनके हृदय की गति अवरुद्ध हो गई। चार बार 'राम-राम' बोल कर वे अपने आसन पर ही पीछे की ओर लुढक गये।

हम लोग मंच के सामने ही बैठे थे। हम दौड़े, उनको मंच पर ही लिटा दिया। प्रवचन में आये हुए डाक्टरों ने तुरन्त ही शुश्रुषा शुरू की। पाँच-छः डाक्टरों ने उनके परीक्षण के बाद एक ही निर्णय दिया। 'महात्माजी ब्रह्मलीन हो गये थे।'

उनकी देह को एम्बुलेन्स में रखकर मेरे घर लाया गया। ता० १८ मार्च रात को ११ बजे से ता० १९ की शाम को ५ बजे तक भजन, कीर्तन व 'सरल-गीता' का पाठ होता रहा। दूसरे दिन अहमदाबाद आदि स्थलों से भक्तों के आने पर उनको अहमदाबाद ले जाने का निर्णय लिया गया। शाम को करीब छ बजे उनके मृतदेह के साथ प्रवीणा बहन, भरत भाई, बाबू भाई केरा आदि के साथ एम्बुलेन्स अहमदाबाद की ओर आगे बढ़ी।

मैंने भी उनकी अन्तिम यात्रा में भाग लेने अहमदाबाद जाने का निश्चय किया। सबके चले जाने के बाद जब मैं अपने घर में ऊपर की मंजिल में पहुँचा तो मुझे लगा कि घर के प्रत्येक अणु में जैसे महात्माजी जीवन्त हैं। वह कक्ष प्रकाश से देदीप्यमान लगता था। मैं उनके जीवन्त सानिध्य का अनुभव कर रहा था। इसके बाद मैं अहमदाबाद नहीं गया। क्योंकि मेरे मन में महात्माजी जीवन्त थे। इसलिए उनके पार्थिव देह को भस्म होते हुए मैं नहीं देखना चाहता था।

मेरी तरह एक और अनजान भाई को भी महात्माजी के जीवन्त होने की अनुभूति हुई। ता० १९ की रात को दस बजे वे मेरे घर आये। पहले भी जब महात्माजी मेरे घर पधारे थे तब वे दर्शन को आये थे। वे आकर मेरे घर में शान्त खड़े रहे। अगले दिन उन्होंने महात्माजी के सदेह दर्शन किये। उनके शरीर में जैसे विद्युत का प्रवाह चल रहा था। उनकी आँखें बरस रही थीं। मैंने उनको आश्वासन दिया और जहाँ महात्माजी ठहरे थे वहाँ उनको ले गया। उन्होंने उस कक्ष में रखे महात्माजी के चित्र को दण्डवत् प्रणाम किया और चले गये।

अहमदाबाद में उनकी अन्तिम यात्रा में भाग लेनेवाले उनके भक्तों ने बताया कि अन्तिम यात्रा पर दो बार आकाश से चन्दन की वर्षा हुई थी।

ॐ शान्ति : ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

—(हिन्दी अनुवाद : भानुकुमार नायक 'भव्य')

श्रीमद्भागवत

महात्मा श्री योगेश्वरजी का अंतिम प्रवचन

(बम्बई में ता० १८-३-८४ को लक्ष्मीनारायण मंदिर, कांदीवली में दिया गया प्रवचन)

•

वंशीविभूषितकरान् नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुण-विम्बफला धरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविंदनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

श्रीमन्नारायण नारायण नारायण ।

एक प्रवासी अपने घर से प्रवास करने हेतु निकलता है, विविध प्रकार के पर्यटन स्थलों में प्रवास करता है, लेकिन उसके प्रवास की परिसमाप्ति तभी होती है जब वह अपने मूल घर में वापस लौटता है। तीर्थ अनेक प्रकार के होते हैं। सरिता व पर्वतों के सुन्दर प्रदेश में प्रवासी का मन प्रसन्नता का अनुभव करता है। लेकिन उसे संतोष तभी होता है जब वह अपने घर में प्रवेश करता है। पक्षी प्रभात के प्रथम प्रहर में अपने घोंसले को छोड़ कर बाहर वन में भ्रमण को निकल जाता है। दिन भर वह वन में विहार करता है, लेकिन संध्या होते ही वापस अपने घोंसले में आता है। रात्रि वह अपने घोंसले में ही व्यतीत करेगा। सरिताओं का जल बादल बनकर समुद्र से इकट्ठा होता है। फिर वही जल समुद्र की ओर अग्रसर होता है और समुद्र में विलीन होकर तभी संतोष प्राप्त करता हैं। एक पदार्थ जहाँ से निकलता है वहाँ पहुँचता हैं तभी उसका प्रवास संपूर्ण होता है।

आइजक न्यूटन ने एक दृश्य देखा। उनके पहले सभी उस दृश्य को देखते थे। न्यूटन ने देखा कि एक वृक्ष का फल नीचे गिरा। वे महान विज्ञानी थे। इसलिए इस छोटी सी घटना से वे सोचने लगे यह फल नीचे ही क्यों गिरा? वृक्ष के ऊपर का फल नीचे गिरने के बजाय ऊपर गया होता तो! बीच में ही रुक गया होता तो? नीचे ही क्यों यह फल गया? न्यूटन अपनी जिज्ञासा पूर्ण करने हेतु तुरन्त अपनी प्रयोगशाला में जुट गया। और संशोधन करते-करते उन्होंने यह साबित किया कि यह वस्तु का स्वभाव है, स्व-भाव है।

पदार्थ जहाँ से उत्पन्न होते हैं वहीं वापस जाते हैं। पदार्थ जब तक अपने मूल स्थान पर नहीं पहुँचते तब तक प्रवास पूर्ण होता ही नहीं। बीज जमीन से उत्पन्न होकर अङ्कुर के रूप में परिणत हुआ। अङ्कुर से पौधे का रूप बना। और पौधे से वृक्ष बना। वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं की विशाल सृष्टि हुई। उनसे पुष्प व फल प्रकट हुए। अभी जो फल एक बीज का ही परिणाम रूप है वह अपनी मूल माता—जननी—धरती माता, वहीं जायेगा तब उसे सन्तोष होगा। उससे उसका संक्रमण (अंग्रेजी में जिसे रोटेशन कहते हैं), वह पूरा होगा। वहाँ जब तक न पहुँचे तब तक परिसमाप्ति हुई नहीं कही जायेगी। वह वहीं नीचे की ओर ही जायेगा—वही उसका सहज क्रम है।

न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम का शोध किया। गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार सभी पदार्थ आकर्षण का अनुभव करके जहाँ से वे आये हैं वहीं जाने के लिए प्रयत्न करते हैं। यह सृष्टि का क्रम ही है। जाने-अनजाने सभी अपने मूल स्थान पर पहुँचते ही हैं। न्यूटन ने कहा मैंने इस नियम को देखा, मैंने नियम बनाया नहीं है। मैं उसका कर्ता नहीं। मैं तो द्रष्टा ही हूँ। ट्रु सी देखना। जो देखता है वह सीवर—देखनेवाला द्रष्टा। यह नियम तो मेरे पहले से चल रहा था। सभी फल पृथ्वी पर ही गिरते थे। लेकिन मुझसे पहलेवाले लोग उस पर सोचते न थे, मैंने सोचा। उसके पीछे कौन-सा नियम काम करता है उसकी जाँच की। मैंने समझा कि जमीन से उत्पन्न हुआ वृक्ष, उससे पैदा हुए पुष्प और फल जब तक धरती में जाते नहीं तब तक उनका प्रवास पूरा होता नहीं।

न्यूटन ने बहुत अच्छी बात कही "थ्योरी ऑफ ग्रेवीटी।" उनके बाद प्रो० आइनस्टाईन हुए। वे भी महान विज्ञानी थे। उन्होंने भी 'थीयरी ऑफ रीलेटीविटी' (सापेक्ष-वाद) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। ऊपर, नीचे और मध्य में यह सब तो मन के खेल मात्र हैं। मन के द्वारा ही देश व काल के अन्तर का निर्माण हुआ है। सचमुच तो अनन्त काल की सीमा में कुछ भी ऊपर नहीं, कुछ भी नीचे नहीं। कोई पूर्व दिशा नहीं, कोई पश्चिम दिशा नहीं। दिशाओं के नाम मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए दिये हैं। अनन्त काल का चक्र चलता ही है। अपने ऋषियों ने प्राचीन काल से इसी बात को दोहराया है कि पक्षी अपने घोंसले को छोड़ कर वन-विहार को जाता है जब तक वह अपने घोसले में लौटता नहीं तब तक उसका प्रवास सफल नहीं होता है। वैसे ही प्रवासी भी अपने मूल वतन को—घर को पहुँचता नहीं तब तक वह अपने प्रवास की परिसमाप्ति नहीं मानता है। सरिताएँ सागर में ही समा जाती हैं। और सरिता व सागर से बने घनघोर बादल अन्ततोगत्वा बरसात के रूप में सागर में जा मिलते हैं।

कुदरती कानून के अनुसार यह सब चलता ही रहता है। उसी प्रकार न्यूटन के कथनानुसार वृक्ष में से बने बीज से वृक्ष बनता है और फूल फिर से धरती में समा जाता है। यह सृष्टिक्रम है। ऋषियों ने कहा है कि यह जीव सच्चिदानंद-स्वरूप परमात्मा का अंश है। परमात्मा उसका मूल निवास, मातृ-भूमि है जिसको हम मदरलैण्ड कहते हैं। मदरलैण्ड कहें या फादरलैण्ड या मा-बाप दोनों को साथ में रखें तो "पेरन्शीयल लैण्ड" कहें। यह एक ऐसा प्रदेश है, जहाँ से जीव जन्म लेकर शक्ति प्राप्त करता है, और जीवन प्राप्त करता है। वेद कहते हैं: 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।' जिससे इन सब 'भूतानि जायन्ते', जीवों की उत्पत्ति हुई है; 'येन जातानि जीवन्ति' और पैदा होने के पश्चात् जो परमात्मा की परात्पर शक्ति की सहायता से—जीवन से धारण व पोषण प्राप्त करते हैं 'येन प्रयन्ति, अभिसरन्ति, विशन्ति।' और उनकी ओर प्रयाण करते-करते अन्त में विलीन हो जाते हैं। सरिता जिस प्रकार समुद्र में विलीन हो जाती है—उसी प्रकार सभी जीव परमात्मा में अपने मूल सच्चिदानन्द स्वरूप में समा जाते हैं।

वह परमात्मा की परमशक्ति है—तद् ब्रह्मेति व्यजानात् तद् विजिज्ञास्व। उपनिषद् में ऋषियों ने कहा है उस परमात्मा को पहचानो। तद् ब्रह्मेति व्यजानात्—उसे ही परमात्मा कहते हैं।

परमात्मा जो सबके आधार हैं, सबके मूल हैं और उनमें से प्रकट अनन्त कोटि जीव अन्ततोगत्वा जबतक परमात्मा की ओर अभिमुख न हों, परमात्मा में विलीन न हों, वह परमात्मा की प्राप्ति नहीं करेंगे; तब तक इस जन्म-मरण की शृङ्खला चलती ही रहेगी। जीवन व मृत्यु के इस चक्र से, गीता जिसे संसृति-चक्र कहती है, कोई भी जीव छूट नहीं सकता। कोई भी जीव शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। कोई भी जीव सम्पूर्ण सन्तोष का अनुभव भी नहीं कर सकता है। प्रत्येक जीव को अन्त में वहीं पहुँचना है, अपने गन्तव्य स्थान में, उद्भव स्थान में जहाँ से निकलकर जीव, जीवन को प्राप्त करता है, वहीं जाना है।

कोई जानते हुए जाता है, कोई अनजाने जाता है। कोई जन्मान्तर के बाद। कोई रसपूर्वक जाता है कोई जबरदस्ती से। लेकिन आखिर जाना तो वहीं है। और जब तक जीव जाता नहीं, परमात्मा के प्रति अभिमुख नहीं बनता तब तक वह शान्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा।

हमारे सभी शास्त्र एक स्वर से इसी बात को कहते हैं। हम कथाएँ सुनते हैं। सप्ताह की कथाएँ सुनें परन्तु सप्ताह की कथाएँ सुन कर न केवल शब्द का ही ख्याल करें। उसके अर्थ का ही विचार करें तब भी हमारे लिए बहुत हो जायेगा।

यह शास्त्र हमें क्या कहते हैं? भागवत। संस्कृत में 'भगवद्' शब्द है। भगवद् का क्या अर्थ है?—भगवान। उसके ऊपर से भागवत् शब्द हुआ। उसका अर्थ है भगवान् के। भगवान् के जो होते हैं उनको भागवत् कहते हैं। इस भागवत् ग्रन्थ को बँध करके सिर्फ श्रीमद्भागवत् नाम का ही विचार करने से मालूम होता है कि भागवत् के सभी स्कन्ध अन्त में हमें क्या कहना चाहते हैं? वही बात कहना चाहते हैं कि हे जीव! तू भागवत्—भगवान् का—हो जा। तू भगवान का नहीं हुआ इसलिए ही यह सब उपाधि है। तू माया का हो गया, माया में आसक्त हो गया। माया की ममता करके बैठ गया, जो शरीर तेरा नहीं उसे तेरा मान कर बैठ गया। जो घर तेरा नहीं, कुटुम्बी, स्वजन तेरे नहीं,

उन्हें अपना समझ बैठा है और जो अपना है, स्व है वह सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा, जिसका तू अंश है, जो तेरा मूलाधार है, उसका विस्मरण करके तू संसार में घूमा करता है। अगर तू शान्ति की संप्राप्ति चाहता है, जीवन को कृतार्थ करना है, तो जहाँ से तू भूला है वहीं से फिर से गिनना शुरू कर और भागवत्—भगवान् का हो जा। अब कथा को आगे सुनने की क्या आवश्यकता है ?

हमें आगे की कथा सुनने की आवश्यकता इसलिए है, कि हम मर्म को समझते नहीं। मर्म को समझने के लिए बार-बार उस बात का पुनरावर्तन करना पड़े। बार-बार जैसे लुहार हथौड़ा मार-मार कर लोहे को ठीक करता है वैसे ही अपना मन, जो लोहे से भी अधिक कठोर अंग है उसे ठीक करने के लिए एकाध भागवत् सप्ताह पर्याप्त नहीं है। हजारों भागवत सप्ताह हमें सुनने पड़ेंगे। इतने पर भी कभी हो सकता है कि हमारे मन पर का जंग न निकलने पाये। तब जप करने पड़ेंगे, पूरे जन्मभर देव-दर्शन करने पड़ेंगे, तीर्थयात्रा, शास्त्रार्थ और शास्त्रों का अध्ययन, वाचन, मनन, चिन्तन सब कुछ करना पड़ेगा। उसके बाद भी हमारे 'मनजीराम' ठिकाने पर न आये ऐसा भी हो सकता है।

और कभी-कभी थोड़े वक्त में ही ठिकाने पर आ जायें। मन में बराबर बैठ जाय कि हाँ, अब सब कुछ समझ में आ गया। हमें इस प्रकार करना ही चाहिए। तो, जब तक बुद्धि निश्चयात्मक न हो जाय वहाँ तक कथा-श्रवण चालू ही रखना होगा। तब तक शास्त्र का अध्ययन और श्रवण करना ही पड़ेगा।

परन्तु, उसका सार तो यही है कि भागवत्—भगवान का हो जा। हे जीव ! तू भगवान का हो जा। तभी व्याधि, क्लेश व अशान्ति से तुझे मुक्ति मिलेगी। और बाद में जो-जो जीव भगवान के हो गये उनके वर्णन भागवत् में शुरू होते हैं। क्योंकि मनुष्य पूछता है—भगवान का बनने से कोई लाभ है ?—कुछ फायदा है ? इसलिए श्रीमद्भागवत् बताता है—अब तुम ही सोच लो। हम तो जो लोग भगवान के हुए उनके रेखाचित्र आपके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अब नीर-क्षीर-विवेक से आप हीं देख लें कि इस प्रकार भगवान की शरण लेकर भगवान के होनेवाले जीव दुःखों से मुक्त हुए या नहीं ? उनको सुख-शान्ति मिली या नहीं। सोच लो तुम।

शुकदेवजी का पात्र श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही आता है। उनके बाद महर्षि व्यास, परीक्षित, समिक मुनि और शृङ्गी ऋषि के पात्र आते हैं। उसके बाद चार सनकादि कुमार—सनक, सनन्दन, सनातन, सनत कुमार। ये ब्रह्मकुमार जो सतत ब्रह्मनिष्ठा में मग्न रहते हैं उनके चरित्र आते हैं। उसके आगे की भागवत की कथा में पाँच साल के भक्तशिरोमणि ध्रुवजी, और आठ साल के भक्त प्रह्लाद की बात आती है। आगे चलते हुए महर्षि कपिल, माता देवहूति, महात्मा कर्दम वगैरह के चरित्रों की कथा आती है। आगे की कथा में भक्तिमार्ग की अनन्य उपासिकाएँ गोपियाँ, जो परमात्मा की परम कृपापात्र हैं उनका चरित्र-वर्णन दशम स्कन्ध में आता है। उससे हमें ख्याल आता है कि परमात्मा की प्रेम-भक्ति से मानव कैसे जी सकता है। एकादश स्कन्ध की कथा में नव योगेश्वरों की, उद्धवजी और भगवान् दत्तात्रय के २४ गुरुओं की कथा आती है। और बारहवें और अन्तिम स्कन्ध में परमात्मा के परमकृपापात्र महर्षि मार्कण्डेय की कथा आती है। अन्त में परीक्षित को भी मोक्ष मिल जाता है। तक्षक का भय उनके दिल से निकल जाता है। परीक्षित का तथा इन लोगों का जो भगवान के हो गये थे, उनका जीवन-वृत्तान्त भागवत में आता है इसलिए उस ग्रन्थ का नाम श्रीमद्भागवत रखा गया है।

और भागवत् कहता है देखो उनको कितना आनन्द हो गया ! कितना सुख हो गया, कितनी शांति मिली ! और आप उस सुख-शांति की अब तक तलाश ही करते रहे हैं। वे तो भगवान के हो गये, आप नहीं हुए। इस लिए आपके हृदय में निरंतर होली सुलगती है। उनकी होली तो हमेशा के लिए ठंडी हो गई और उनके जीवन में रोज की दीवाली हो गई थी। रोज का नया साल था। रोज का आनन्द था।

आपका नया साल तो बरस में केवल एक ही बार कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के दिन आता है। उनका नया साल तो हररोज होता है। रोज दीवाली या देव दीवाली होती है। ऐसे उनके जीवन हो गये थे।

भागवत यह भी कहता है कि भगवान के जो गुण, भगवान का जो रहस्य, भगवान की जो महिमा है उसका वर्णन भी इस ग्रंथ में है इसीलिए उसे भागवत कहते हैं।

उसके अंदर अत्यंत सुन्दर ढंग से बताया गया है कि जब तक जीव परमात्मा का नहीं होता है, परमात्मा का परम कृपापात्र नहीं होता है तब तक सुख व शांति की संप्राप्ति कर अपने जीवन का कल्याण नहीं कर सकता है। भागवत का यही सार है। रामचरित मानस का भी यही सार है। भगवान का जो चरित्र है उसका वर्णन रामचरित मानस में भी किया गया है।

(इन शब्दों के बाद हृदय की गति केवल तीन बार राम-राम-राम बोलते ही रुक गई थी।)

(गुजराती मासिक 'अध्यात्म' से) (हिन्दी अनुवाद : भानुकुमार नायक 'भव्य')

●

(शेष पृष्ठ ४ का शेषांश)

आज के युग में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक है। समाज जीवितों से बना है, मृतकों से नहीं। इसे शान्ति की आवश्यकता है न कि युद्ध की। समाज प्यार के धागे से आबद्ध है न कि घृणा से। अस्तु गीता के उपदेशों पर चल कर ही हम स्वस्थ, सुन्दर कलुषविहीन एवं सर्वहितकारी समाज की रचना कर सकते हैं।

●

सांसारिक ऐश्वर्य द्रुतगति से भागता है, केवल सद्कार्य ही स्थिर रहते हैं।

बहादुर आदमी आपत्तियों से घबराता नहीं, चाहे उसे उनसे जूझते हुए प्राणों की बलि क्यों न देनी पड़े।

—वाल्मीकि रामायण

वरदान

एक सन्त धर्मशास्त्रों के गहन अध्ययन में निरन्तर लगे रहते थे। रात हो या दिन वे निरन्तर अपनी साधना में तन्मय रहते। एक बार अर्द्धरात्रि में उनके दीपक का प्रकाश धुंधला पड़ गया। कई दिनों के निरन्तर अध्ययन व मनन से सन्त भी थके हुए थे। उन्होंने ग्रन्थ बन्द कर किया और लेट गये। सपने में उन्होंने देखा कि विद्या की देवी सरस्वती कह रही हैं—

"वत्स ! मैं तेरी साधना से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अब तुझे कठोर परिश्रम नहीं करना होगा। मैं तुझे समस्त विद्याओं का दान देने आयी हूँ"।

सन्त ने अपना सिर देवी के चरणों में झुकाकर कहा—"माँ, धृष्टता क्षमा करें। अभी मुझमें समस्त विद्याओं को पाने की पात्रता नहीं आयी है। निरन्तर अध्ययन-मनन से ही यह सम्भव है। इसलिए बिना तपस्या व परिश्रम के अपात्र के पास विद्या कभी सफल नहीं हुआ करती"।

सन्त का उत्तर सुन देवी प्रसन्न होकर बोली—"मैं तेरी परीक्षा ले रही थी। उसमें तू खरा उतरा। तू वास्तव में विद्या पाने का सच्चा अधिकारी है। मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ। जो इच्छा हो वर माँग ले।"

सन्त ने उत्तर दिया—"देवी ! अगर आप मुझसे प्रसन्न हैं तो यही एक वरदान दीजिये कि मेरा दीपक सदैव तेल से भरा रहे। जिसके प्रकाश में मैं निरन्तर अध्ययन करता रहूँ। ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में आने वाले कष्टों से विचलित न होऊँ। मैं निरंतर ज्ञानार्जन की साधना में जुटकर विद्या का सच्चा अधिकारी बनूं।"

देवि 'तथास्तु' कह अन्तर्ध्यान हो गयीं।

●

विश्वरूप

श्री हरीन्द्र दवे

●

कृष्ण की संधिवार्ता जितनी महत्वपूर्ण है, उतनी ही महिमा कुरुसभा में इस संधि-प्रस्ताव की बावत हुए विचार विमर्श की है। कृष्ण की प्रभावशाली वाणी सुनने के बाद किसी "पार्थिव" मनुष्य की हिम्मत न थी कि बोले। जब सभी राजनेता मूक हो गये, तब जमदग्नि के पुत्र परशुराम खड़े हुए।

परशुराम, कण्व और नारद एक एक कथाओं का आश्रय लेकर दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न करते हैं। परशुराम नरनारायण की कथा कहते हैं। दंभोद्भव राजा अपने बल के मद में उन्मत्त होकर मानने लगता है कि पृथ्वी पर उसके समान कोई नहीं है। गंधमादन पर्वत पर तप करते दो तपस्वी नर और नारायण के साथ मुकाबला करने में दंभोद्भव का मद उतर जाता है। परशुराम कहते हैं कि अर्जुन और कृष्ण इन्हीं नर और नारायण के अवतार हैं अतः इनके साथ युद्ध करने में दुर्योधन को श्रेय नहीं मिलेगा।

कण्व ऋषि ने राजा इन्द्र के सारथि मातलि की कथा कही। मातलि अपनी पुत्री के लिये वर ढूंढ़ने निकला, नागराज आर्यक के पौत्र सुमुख को उसने पसंद किया। सुमुख के पिता को गरुड खा गये हैं और अगले महीने सुमुख को खा जाने की धमकी दे गये हैं। मातलि उसे लेकर इन्द्र के पास जाते हैं। इन्द्र सुमुख को आयुष्य प्रदान करते हैं। गरुड इससे कुपित होते हैं, उन्हें अभिमान होता है। वह इन्द्र से कहते हैं कि भगवान विष्णु को धारण करने वाला बल मैं ही हूँ। इसी समय भगवान विष्णु अपना हाथ गरुड पर रखते हैं और गरुड के होश उड़ जाते हैं। वह तुरंत क्षमा याचना करते हैं। भगवान के समक्ष मद करने वाले की क्या हालत होती है इसकी भगवान परशुराम और कण्व मुनि जैसे लोगों द्वारा कही गयी ये बोधकथाएँ दुर्योधन पर असर नहीं कर सकतीं। अतः अंत में देवर्षि नारद उठ खड़े होते हैं।

ये सभी ऋषि दुर्योधन को सीधे प्रबोध नहीं करते। कारण यह कि सांप्रत राजकारण में पक्षधर होना इन ऋषियों को पसंद नहीं है, पर सत्य को छुपाना भी अभीष्ट नहीं है। इसीसे वे अभिमान के कारण कैसी दशा होती है और अभिमान का परित्याग करने से कैसे फल प्राप्त होते हैं इसकी कथा कहते हैं। प्रस्तुत दो कथाओं में तथा देवर्षि नारद जो तीसरी कथा कहते हैं उसमें मदोन्मत्त मानवी का गर्व खंडन होता है, पर प्रायश्चित्त के बाद उसके मान की पुनः स्थापना भी होती है। इन कथाओं द्वारा तीनों ऋषि चाहते हैं कि दुर्योधन भी अपना अभिमान त्याग कर गौरव की पुनः स्थापना करे।

नारद जो कथा कहते हैं उसमें हठाग्रह और अभिमान के दुष्परिणामों के साथ ही उस युग के समाज की कथा भी है, जिस समाज में द्रौपदी के साथ पाँच पतियों का विवाह धर्म द्वारा निर्वाह्य था, उसी समाज में माधवी चार भिन्न-भिन्न राजाओं को पुत्र प्रदान करे ऐसी भी घटना होती है। यह उपाख्यान अनेक प्रकार से खूब ही सुंदर है।

विश्वामित्र ऋषि तप कर रहे थे तब गालव ऋषि ने उनकी खूब ही प्रेम से परिचर्या की। विश्वामित्र ऋषि गालव की सेवा से अत्यंत प्रभावित हुए। विश्वामित्र ऋषि से बिदा लेते हुए गालव ऋषि ने कहा—'आप मुझे बतायें मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा प्रदान करूँ।' विश्वामित्र ने कहा—'तुम जाओ, गच्छ-गच्छ'। विश्वामित्र के ऐसे शब्दों के विरुद्ध गालव ने 'मैं क्या दूँ' (कि ददामीति) की जिद पकड़ ली। विश्वामित्र क्रोध में आकर बोले—'चन्द्रमा जैसे श्वेत रंगवाले तथा एक कान काला हो ऐसे आठ सौ अश्व मुझे दे।'

यह माँग सुनते ही गालव की स्थिति विचित्र हो गयी। अपने दुराग्रह का यह फल होगा इसकी उन्हें कल्पना भी नहीं थी और गुरुदक्षिणा न दे सकें तो अपनी विद्या व्यर्थ जायगी

ऐसी स्थिति थी। वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं। विष्णु की प्रेरणा से विनता का पुत्र गरुड गालव के पास आता है और कहता है कि आप कहें वहाँ मैं आपको ले जाऊँ। इसके बाद गरुड पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर इन चारों दिशाओं का जिस प्रकार वर्णन करते हैं वह अत्यंत रमणीय और काव्यात्मक है। भगवान सूर्य ने आचार्य कश्यप को दक्षिणा के रूपमें जिस दिशा का दान किया था वह दक्षिण। अत्यंत पूर्वकाल में पहले जो दिशा देवताओं से आवृत थी वह पूर्व। दिवस के अवसान के बाद सूर्यदेव जहाँ अपनी किरणों का विसर्जन करते हैं वह पश्चिम दिशा। जिस मार्ग पर चलते हुए मनुष्य के प्राणों का उद्धार होता है वह उत्तरायण मार्ग अर्थात् संसार सागर से पार उतारने वाला मार्ग वह उत्तर दिशा। दिशाओं के ऐसे अद्भुत वर्णन के चार अध्यायों के (उद्योग १०६-९) बाद गरुड़ की पीठ पर बैठे गालव को आकाशगति का अनुभव होता है। गालव अंत में गरुड से अपनी द्विधा कहते हैं कि ऐसी गुरुदक्षिणा न दे सकूं तो मैं प्राणों का परित्याग करना चाहता हूँ, तब विनतात्मज गरुड कहते हैं—

नाति प्रज्ञोसि विप्रर्षे योत्मानं त्यक्तुमिच्छसि।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो ही परमेश्वरः॥
(उद्योग, १११; २०)

हे विप्रर्षि, आप प्राणत्याग की इच्छा करते हैं अतः प्रज्ञ नहीं लगते। काल कभी भी कृत्रिम नहीं होता (मतलब यह कि आप जब चाहें तब नहीं आता)। काल तो परमेश्वर है। प्रभु हमारे समक्ष हम चाहे तब नहीं, वह स्वयं चाहें तब प्रगट होते हैं।

गरुड़ गालव को राजा ययाति की राजसभा में ले जाते हैं और राजा ययाति से गालव की परेशानी की बात बताते हैं। राजा ययाति भी परेशान होते हैं। उनके पास ऐसे अश्व नहीं है और ब्राह्मण याचक को वापस करने की वृत्ति भी नहीं है। अतः वे कहते हैं चार कुलों की स्थापना करने वाली देवकन्या जैसी मेरी पुत्री माधवी मैं गालव ऋषि को प्रदान करता हूं। इसे पाने के लिये राजा लोग अपना अपना राज्य भी दे देंगे, फिर आठ सौ अश्वों की बात ही क्या है?'

गालव माधवी को लेकर इक्ष्वाकु नृपतिशिरोमणि हर्यश्व के पास अयोध्या जाते हैं। हर्यश्व माधवी को देखकर विह्वल हो जाते हैं। पर उनके पास केवल दो सौ अश्व ही है। अतः वे कहते हैं यह कन्या मुझे दें। इससे मैं केवल एक संतान ही प्राप्त करूँगा और फिर कन्या आपको सौंप दूँगा। विकल होते ऋषि से कन्या कहती है—'मुनिवर, मुझे एक महात्मा ने वरदान दिया है कि प्रत्येक प्रसव के बाद तू फिर कन्या बन जायगी। और मुझे केवल चार ही पुत्र होंगे। अतः चार राजाओं से दो दो सौ घोड़े लेकर ही मुझे सौंपें।

हर्यश्व को माधवी से पुत्र प्राप्त हुआ फिर गालव माधवी को लेकर राजा दिवोदास के पास जाते हैं। उनसे दो सौ अश्व लेते हैं। इसके बाद भोजनगर के राजा उशीनर के पास जाते हैं। इन तीनों राजाओं को माधवी द्वारा तीन प्रतापी पुत्र प्राप्त होते हैं। और गालव को छ सौ अश्व मिलते हैं। इस बीच गरुड़ गालव से मिलकर बताते हैं कि इस प्रकार के कुल एक हजार अश्व ही थे। इनमें से चार सौ झेलम नदी की बाढ़ में बह गये—वे कहीं से भी प्राप्त नहीं हो सकते। अतः अब आप ये छ सौ अश्व और बाकी दो सौ के बदले में माधवी को ही विश्वामित्र ऋषि को गुरुदक्षिणा के रूप में प्रदान करें। गुरू यह दक्षिणा सहर्ष स्वीकार करते हैं। माधवी ऋषि विश्वामित्र को पुत्र प्रदान करके तपोवन में तपश्चर्या करने चली जाती हैं।

राजा ययाति अनेक पुण्य कर्म करके स्वर्ग में जाते हैं, पर स्वर्ग में अभिमानवश वे अपने आगे सबको तुच्छ गिनने लगते हैं अतः उनका पतन होता है। वे पृथ्वी पर आते हैं तब माधवी और उनके चारो दौहित्र अपना-अपना पुण्य-फल उन्हें देते हैं और ययाति पुनः स्वर्ग में स्थान पाते हैं। ययाति ब्रह्मा से पूछते हैं "मैंने अनेक यज्ञ और दान द्वारा जो महान पुण्य फल अर्जित किया था वह एकाएक क्षीण क्यों हो गया और मुझे स्वर्ग से पृथ्वी पर क्यों आना पड़ा?" ब्रह्मा कहते हैं, "तुम्हारे अभिमान के कारण ही तुम्हें स्वर्गलोक में से नीचे गिरना पड़ा था।"

नारद की यह कथा सुनकर भी दुर्योधन का हृदयपरिवर्तन नहीं होता।

ऋषिगण बोधकथा द्वारा दुर्योधन के दिमाग में धर्म की प्रेरणा हो इसका प्रयत्न करते हैं। पर दुर्योधन की मति तो युद्ध में स्थिर हो चुकी है। दुर्योधन पर इनमें से किसी के

कहने का कोई भी असर नहीं पड़ता। अतः धृतराष्ट्र कहते हैं, 'मैं अपने वश में नहीं हूँ। जो हो रहा है वह हमें प्रियकर नहीं है। आप यदि दुर्योधन को संधि के लिए राजी कर सकें तो हे पुरुषोत्तम, कहा जायगा कि आपने सुहृत्कार्य किया।'

कृष्ण जानते हैं कि दुर्योधन पर उनके अपने संधिवचनों का या इन तीन ऋषियों ने जो कुछ कहा उसका असर नहीं हुआ है। तब अपनी बात फिर से कहने का कोई असर नहीं होगा। फिर भी वे दुर्योधन को सलाह देनेको तत्पर होते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—'तुम्हारी विपरीत वृत्ति ही अधर्म है और यह घोर तथा प्राणहर है।' कृष्ण दुर्योधन के पराक्रम को कम करके नहीं कूतते। वे उसे पुरुषव्याघ्र कहकर सम्बोधित करते हैं और कहते हैं कि 'प्राज्ञ, शूर, महोत्साही और मानी ऐसे पांडवों के साथ तू सन्धि कर ले।'

कृष्ण नारायण के अवतार हैं, यह बात सभा में परशुराम सदृश ऋषि कह गये हैं। कृष्ण द्रौपदी से कह चुके हैं, 'आज तू रो रही है इसी प्रकार एक बार कौरवों की पत्नियाँ रणक्षेत्र में अपने वैधव्य को रोती होंगी।' इस प्रकार वे सब कुछ जानते हैं, फिर भी वे दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न करते हैं। धर्म के लिए मंथन करना इसी का महत्व है। सफल हो या निष्फल, यह अलग बात है। इसी से महाभारत युद्ध के समय कृष्ण ने धर्म-स्थापना के लिए या शान्ति के लिए मंथन नहीं किया ऐसा कोई भी कह सके ऐसा कुछ बचता नहीं है।

कृष्ण ने जो कुछ कहा उसकी पुष्टि में भीष्म, द्रोण वगैरह भी अपनी राय दे चुके हैं। भगवान वेदव्यास भी इस संधिवार्ता-सभा में उपस्थित हैं। वे भी पहले दुर्योधन को संबोधित कर चुके हैं। व्यास महाभारत के प्रणेता हैं। साथ ही महाभारत द्वारा वे अपने ही वंश की बात कर रहे हैं। कारण यह कि धृतराष्ट्र, पांडु तथा विदुर उन्हीं की सन्तान हैं। व्यास कवि के रूप में और व्यास पात्र के रूप में, दोहरी भूमिका में हैं, पर कवि अपने पात्र को कहीं भी अधिक उभारते नहीं हैं, इस हद तक वे सजग हैं। हम बहुत से उपन्यासों में आत्मकथा के अंश देखते हैं। इस महाकाव्य में व्यास अपनी ही कुलकथा अंकित करते हैं। फिर भी वे कितने निरपेक्ष रह सके हैं; यह तटस्थता अलग से अध्ययन का विषय है।

इतने सारे महानुभावों द्वारा कहने के बावजूद दुर्योधन के मन में अभी कोई बात उतरी नहीं है, वह तो अपने बल पर जमा है। उसका अभिमान, दंभोद्भव, गरुड़ या राजा ययाति से भी अधिक है। उसका हठाग्रह विश्वामित्र से गुरुदक्षिणा माँगने का हठ करते गालव जैसा पवित्र या निःस्वार्थ नहीं है। उसका हठाग्रह स्वार्थी है। इसी से वह कहता है :

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण माधव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति॥
(उद्योग. १२५; २६)

सुई की सूक्ष्म नोक द्वारा छेदी जा सके इतना भी भूमि का अंश पांडवों को नहीं मिल सकेगा।

दुर्योधन एक ओर से ऐसी सूच्यग्र—सुई की नोक खड़ी रह सके इतनी—जमीन भी पांडवों को न देने को कृत-संकल्प था, दूसरी ओर उसे भय था कि कृष्ण के वचनों के प्रभाव में आ गये स्वयं उसके पिता और गुरुजन उसे कैद करके कृष्ण के हवाले कर देंगे। ऐसा कुछ हो उससे पहले ही कृष्ण को कैद कर लेने का विचार दुर्योधन के मन में प्रगट होता है और उस पर अमल कैसे करना इस बाबत शकुनि आदि साथियों से मंत्रणा करने के लिए वह सभा से बाहर जाता है।

कृष्ण दूत के रूप में आये हैं। दूत का सन्देश अप्रिय हो तो भी उसे अवध्य मानने की परम्परा है; हनुमान जैसे नटखट को दूत जानकर रावण ने उनका वध न करने को ही उचित माना था। इसी प्रकार दूत को पकड़ा भी नहीं जा सकता। परन्तु दुर्योधन इन नियमों की परवाह करे ऐसा नहीं है, यह बात कृष्ण अच्छी तरह जानते थे। इसी से उन्होंने सात्यकि को और अपनी सेना को साथ लिया था। सात्यकि दुर्योधन का आशय तत्काल समझ गया। उसने अपने सैनिकों को सावधान किया और सभा में आकर धृतराष्ट्र आदि को इस बाबत चेतावनी दी।

इस प्रसग में कृष्ण कहते हैं :

एतान्हि सर्वान्संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे।
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथंचन॥
(उद्योग. १२८; २५)

यों तो क्रोध से उफनते सभी कौरवों को बंदी बनाने की मेरे पास शक्ति है, पर मैं कोई भी निंदित कर्म या पाप नहीं कर सकता।

कृष्ण दूत के रूप में अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत हैं। दूत युद्ध की घोषणा करे यह उचित नहीं है, वह युद्ध करे यह भी अनुचित है। कृष्ण में यह कर्त्तव्य भावना सतत विद्यमान है। यह संधिवार्ता भी कर्त्तव्याभास से प्रेरित होकर की गयी है। भविष्य के इतिहास में कृष्ण ने युद्ध के निवारण के प्रयत्न नहीं किये ऐसा न लिखा जाय इस हेतु वे यह संधिवार्ता करने आये हैं। सहदेव जैसे त्रिकालज्ञ ने वह युद्ध करेंगे ही ऐसा कहा, तब सबके समक्ष इतना तो स्पष्ट हो ही गया था कि युद्ध होकर ही रहेगा। कृष्ण अकेले ही कौरवों को पराजित करने की शक्ति रखते हैं। वे सिर्फ यह बात कहते ही नहीं, करके भी बता देते हैं। दुर्योधन सभा में पुनः आता है तब कृष्ण अपना विश्वरूप प्रगट करते हैं। यह रूप आगे चलकर कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को भी देखने को मिलने वाला है। कौरवों के समक्ष यह विश्वरूप सबसे पहले प्रगट होता है। दुर्योधन को संबोधित करके वे विश्व रूप प्रगट करते हैं।

अर्जुन के समक्ष कुरुक्षेत्र में विश्वरूप दर्शन होता है तब वह अर्जुन की सांत्वना के लिए है। कुरुसभा में 'मैं अकेला नहीं हूँ' कहकर कृष्ण अट्टहास करके, अपना विश्वरूप दुर्योधन के समक्ष प्रगट करते हैं, तब दुर्योधन को डराने का वह निमित्त बन जाता है। भगवान का एक ही रूप धर्म मार्ग पर चलनेवाले के लिए सांत्वना बनता है, तो धर्ममार्ग पर न चलनेवाले के लिए काल बन जाता है। कृष्ण दुर्योधन से कहते हैं :—

इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः।
इहादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः॥
(उद्योग. ११९; ३)

देख, सभी पांडव यहीं हैं, अंधक तथा वृष्णीवंश के समस्त वीर यहीं है। आदित्य, रुद्र, वसु और महर्षिगण भी यहीं है।

विश्वरूप के इन दो दर्शनों को निकट से देखना चाहिए। अर्जुन भी भौतिक आँखों से यह रूप नहीं देख सकता। अतः कृष्ण उसे दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं। इस सभा में भी कृष्ण का यह घोर रूप और दुःसह तेज सभी राजपुरुषों को अंधा कर देता है। केवल द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय और तपस्वी महर्षिगण ही, जिन्हें जनार्दन ने दिव्य चक्षु दिये हैं यह विश्वरूप देख सकते हैं।

कुरुसभा के विश्वरूप दर्शन के पीछे कृष्ण परमात्मा है और वे जिस पक्ष में हों उसके साथ लड़ने में सर्वनाश होगा ऐसी अनुभूति से प्रेरित होकर दुर्योधन युद्ध से विरत रहने हेतु तैयार हो जाय इसका प्रयत्न है; जबकि कुरुक्षेत्र में अर्जुन के समक्ष प्रगट किये गये विश्वरूप में अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने की प्रेरणा है। इस प्रकार यह दोनों विश्वरूप-दर्शन एक दूसरे से भिन्न हैं। एक युद्ध के निवारण हेतु तो दूसरी बार युद्ध हो इस हेतु कृष्ण अपने विराट स्वरूप का दर्शन कराते हैं।

कृष्ण की यह संधिवार्ता तो विफल हो गयी। वे कुरु-सभा से विदा लेते हैं तब संधिवार्ता विफल हुई पर कृष्ण का उद्देश्य सफल हो गया है। कारण यह कि वे शान्ति के लिए अपना यथाशक्य प्रयत्न कर चुके हैं। वे कहते हैं :

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वृत्तं कुरु संसदि।
यथा चाशिष्टवन्मन्दो रीषादस कृदुत्थितः॥
(उद्योग. १२९;३०)

कौरव सभा में जो हुआ है वह आप सबने अपनी आँखों से देखा है। अब कोई किसी को दोष नहीं दे सकेगा। कृष्ण के शान्ति प्रयत्न और उनके सामने अशिष्ट तथा मंदमति दुर्योधन का व्यवहार।

कृष्ण इस प्रकार अपने कार्य की साक्षी के रूप में समूची कुरु सभा को रखकर बिदा लेते हैं, तब उसमें निष्फलता नहीं, सफलता के आसार दिखते हैं।

आपृच्छे भवतः सर्वान् गमिष्यामि युधिष्ठिरम्।
(उद्योग. १२९; ३१)

मैं आप सबकी आज्ञा लेकर युधिष्ठिर के पास जाता हूँ।

उन्हें बिदा देने हेतु रथ तक पहुँचाने जो कुरुगण जाते हैं उनकी सूची भगवान व्यास देते हैं। यह सूची महत्वपूर्ण है। इसमें ऐसे लोग हैं जो दुर्योधन के पक्ष से लड़े पर जिनकी भक्ति कृष्ण में थी। ये वीर हैं—भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर,

(शेष पृष्ठ २० पर)

मृत्यु और उस पर विजय

शिवानंद सरस्वती

मृत्यु केवल एक रूप-परिवर्तन है। भौतिक शरीर और अदृश्य तत्वों के विभाजन का नाम ही मृत्यु है। प्रिय विश्वनाथ ! आप मृत्यु से इतना क्यों घबराते हैं ?

निद्रा के बाद जाग्रति की तरह मरण के अनन्तर जनन भी है। पिछले जीवन में आपने जो-कुछ अधूरा छोड़ा है, उसे पुनः आपको पूरा करना ही है, इसलिए मृत्यु से डरने की आवश्यकता नहीं।

धर्म और धार्मिक जीवन में मृत्यु का विचार हमेशा एक प्रबल प्रेरणा-स्रोत रहा है। मनुष्य मृत्यु से डरता है। वृद्धावस्था में वह भगवान का चिन्तन करने लगता है।' यदि वह अपने बाल्य-जीवन से ही भगवान् का चिन्तन करने लगे तो वृद्धावस्था में बहुत बढ़िया आध्यात्मिक फल प्राप्त कर सकता है। मनुष्य मरना नहीं चाहता है। वह सदैव जीवित रहना चाहता है। यहीं से दर्शन आरम्भ होता है। दर्शन का काम है जिज्ञासा और शोध। दर्शन बड़े जोरों से दावे के साथ कहता है—"हे मानव ! मृत्यु से मत डरो, तुम्हारे लिए एक अमर आधार है और वह है ब्रह्म। वही तुम्हारी आत्मा भी है जो तुम्हारे हृदय-गह्वर में निवास करती है। तुम अपने हृदय को शुद्ध करो और उस परिशुद्ध, अमर और अपरिवर्त्तनीय आत्मा का चिन्तन करो। तब तुम्हें अमरत्व की प्राप्ति होगी।"

हे मनुष्यो ! आपको मृत्यु से बिलकुल डरने की आवश्यकता नहीं। आप अमर हैं। मृत्यु जीवन का विरोधी नहीं है। वह जीवन का ही एक रूप है। जीवन का प्रवाह अनन्त रूप में बहता ही जाता है। फल का नाश भले हो, पर उसके बीज में जीवन भरा रहता है। इसी प्रकार बीज जब नष्ट होता है तब उसमें से विशाल वृक्ष पैदा होता है। वृक्ष विनष्ट होता है और कोयला बनता है। उस कोयले में जीवन भरा है। पानी अदृश्य होता है, पर वह अवश्य भाप बनता है जो कि नये जीवन के बीजरूप में होता है। पत्थर समाप्त हो जाता है, किन्तु नये जीवन से भरा हुआ चूना बन जाता है। भौतिक शरीर-रूपी म्यान फेंक दिया जाता है, परन्तु जीवन स्थायी रहता है।

क्या कोई कह सकता है कि इस धरती पर मृत्यु से न डरने वाला कोई एक भी व्यक्ति है ? क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जब वह स्वयं बड़े कष्ट में हो या उसकी पत्नी के प्राण छटपटा रहे हों या वह अपार वेदना भोग रहा है तब भगवान् का नाम न ले ? तो फिर यह क्या सनक है कि आप भगवान् के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं जब कि दुःख में होने पर आप ही उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं ? विपरीत बुद्धि तथा सांसारिक उन्माद के कारण आप एक नास्तिक बन चुके हैं। क्या यह महान् मूर्खता नहीं है ? गम्भीरतापूर्वक सोचें और विवाद छोड़ें। भगवान् का स्मरण करें तथा इसी क्षण अमरत्व तथा शाश्वत शान्ति प्राप्त करें।

गरुड़पुराण तथा आत्मपुराण में यह वर्णन किया गया है कि मृत्यु का कष्ट ७२,००० बिच्छुओं के डंक की अपेक्षा अधिक होता है। इस प्रकार भयानक वर्णन केवल इसलिए किया है कि श्रोताओं तथा पाठकों के मन में भय उत्पन्न हो और वे मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हों। अध्यात्मवाद में सभी ज्ञानी पुरुषों का निरपवाद मन्तव्य है कि मृत्यु के समय रत्तीभर भी दुःख नहीं होता है। वे मृत्यु की स्थिति का स्पष्ट वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि 'मृत्यु के कारण इस भौतिक शरीर के भार से मुक्त हुए हैं और स्थूल शरीर का विघटन होते समय उन्होंने अत्यन्त शान्ति और समाधान अनुभव किया है। ऊपर से देखने वालों के मन में शरीर के अचानक टूट जाने की विलक्षण कल्पना पैदा करके माया व्यर्थ का भय पैदा कर देती है। माया का यह स्वभाव है, प्रकृति है। तुम मृत्यु-दुःख से मत डरो। तुम अमर हो।'

जप, कीर्तन, गरीबों की सेवा तथा ध्यान के द्वारा परमेश्वर में ही निरन्तर निवास करने का प्रयास करें। तभी आप काल तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकेंगे।

जब आपका प्राण लेने के लिए यमदूत आयें उस समय यदि आप क्षमा-याचना करें कि मेरे पास अपने जीवन में भगवान् की पूजा करने के लिए समय नहीं था, वे आपकी क्षमा-याचना को नहीं मानेंगे।

हमें अज्ञान की ग्रन्थियों तथा मृत्यु से बचा सकने वाला एकमात्र ब्रह्म-ज्ञान ही है। यह ज्ञान ध्यान के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त होना चाहिए। केवल पाण्डित्य से, बुद्धि-शक्ति से या धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन से उस परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह तो प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु है, न कि तर्क या विवाद की।

सूक्ष्म समस्याओं का निरन्तर अध्ययन करने से हम अपर-संसार में पहुँचते हैं जहाँ सूक्ष्म विचार करने की शक्ति भली प्रकार विकसित होती है। जब एक विषय पर भागने वाले विक्षिप्त विचार हों तो परिणाम यह होगा कि आगामी जन्म में हमारा मन अशान्त और अनियन्त्रित रहेगा।

आत्मसात्क्षाकार मनुष्य के दुःखों का मूल कारण अविद्या अथवा अज्ञान को नष्ट करेगा तथा आपमें आत्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न करेगा जो दुःख, भ्रान्ति तथा संसार-चक्र-रूपी जन्म-मृत्यु की भयानक व्याधि के उन्मूलन का साधन है।

आपके हृदय-स्थल में शुद्ध ज्ञानरूपी सूर्य प्रकाशित हो रहा है। यह आध्यात्मिक सूर्यों का सूर्य स्वयं प्रकाश है। वाणी और मन को प्रकाशित करने वाला यह आत्मा प्राणी-मात्र का आत्मा है। यदि आप इसे प्राप्त कर लेते हैं तो आप पुनः इस मर्त्यलोक को नहीं लौटेंगे।

यह संसार मायानटी का एक नाटक है। इसमें जन्म और मृत्यु-रूप दो दृश्य हैं। वास्तव में न तो कोई आता है और न कोई जाता है। केवल आत्मा ही सर्वदा रहती है। आत्मा-नुसन्धान द्वारा मोह और भय का नाश करें तथा शान्ति में विश्राम करें।

"मैं उस सर्वशक्तिमान पुरुष को जानता हूँ जो सूर्यवत् ज्योतिर्मय है, अज्ञानान्धकार का विनाशक है। केवल उस आत्मा को जानकर मृत्यु पर विजय पाते हैं। मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है" (यजुर्वेद ३१-१८१)।

योग की दिशा में कोई भी प्रयत्न विफल नहीं होता है। अत्यल्प यौगिक साधना से भी आपको फल प्राप्त होगा। यदि आपने इस जन्म में योग के यम, नियम तथा आसन, इन तीन अंगों पर सफलता प्राप्त कर ली है तो आगामी जन्म में चतुर्थाङ्ग अर्थात् प्राणायामसे आपकी साधना आरम्भ होगी। जो वेदान्ती इस जीवन में विवेक और वैराग्य इन दो साधनों को प्राप्त कर लेता है, वह आगामी जन्म में शम, दमादि षट्-सम्पत्ति से अपनी साधना आरम्भ करेगा। अतः इस जीवन में यदि आप कैवल्य या मुक्ति अथवा अन्तिम असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने में असफल होते हैं तो आपको थोड़ा भी हताश नहीं होना चाहिए।

थोड़े समय का अत्यल्प अभ्यास भी आपको अधिक शक्ति, शान्ति, सुख और ज्ञान प्रदान करेगा।

आप मर नहीं सकते, क्योंकि आप कभी पैदा नहीं हुए। आप अमरात्मा हैं। माया के इस मिथ्या नाटक में जन्म और मृत्यु ये दो असत्य दृश्य हैं। उनका सम्बन्ध केवल भौतिक कांश से है जो पञ्चतत्वों के मिश्रण से बना हुआ है। जन्म और मृत्यु का विचार केवल अन्ध-विश्वास है।

यह भौतिक शरीर, जो कि मिट्टी का पुतला है, उस परमेश्वर की लीला का क्रीड़ामृग मात्र है। ईश्वर सूत्रात्मा है। जब उसकी इच्छा होती है, तब वह इस क्रीड़ा-मृग को तोड़ देता है। दो का खेल समाप्त होता है। एकत्व मात्र अवशिष्ट रहता है। यह जीवात्मा उस परमात्मा में विलीन हो जाता है।

आत्मा का बोध होने पर मृत्यु का भय जाता रहता है। लोग व्यर्थ ही मृत्यु से चौंकते हैं। मृत्यु निद्रा के समान है। प्रातः निद्रा से जैसे जागते हैं, वैसे ही जन्म है। जिस प्रकार आप नये वस्त्र पहनते हैं, उसी प्रकार मृत्यु इस प्रक्रिया की एक स्वाभाविक घटना है। आपके विकास के लिए वह आवश्यक है। जब इस जीवन की भावी प्रवृत्तियों के लिए यह शरीर असमर्थ तथा अनुपयोगी हो जाता है तब भगवान् रुद्र इसका नाश करते तथा दूसरा नया शरीर देते हैं। मृत्यु के समय कोई कष्ट नहीं होता। अज्ञानी लोगों ने मृत्यु के सम्बन्ध में अत्यन्त भय और आतंक पैदा कर दिया है।

(शेष पृष्ठ २४ पर)

भगवान् राम का प्राकट्य

डा० राय आनंदकृष्ण

मेरे जीवन में कई एक ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिनका कोई ठीक उत्तर नहीं मिलता। कोई दूसरा व्यक्ति मुझे इन्हीं घटनाओं को सुनाये तो मैं इन्हें सरासर कपोल कल्पना कहकर छुट्टी पा लूंगा। हाल ही में तीन बार मृत्यु का साक्षात् कर चुका और फिर भी बचा रहा, सिवा इसके कि मैं इन्हें ईश्वरीय कृपा मानूं, मेरे पास कोई उत्तर नहीं है। संपादक जी चाहेंगे तो मैं उन्हें आपके समक्ष उपस्थित करूँगा।

इस समय मैं एक ऐसी घटना देना चाहता हूँ जो मुझसे संबंधित तो नहीं है, पर मैं साक्षी हूँ। अतः मैं इसे स्वीकार कर रहा हूँ अन्यथा मैं भी इसे एक स्वप्न मानकर चलता।

स्वर्गीय कलंबूर शिवराम मूर्ति उद्‌भट विद्वान् थे, पर अंग्रेजी पढ़े-लिखे सामान्य विद्वान के समान दर्प से ग्रस्त न थे। जिन लोगों ने उनकी विद्वत्ता और बालसुलभ सौजन्य को देखा है वे उनके व्यक्तित्व को समझ सकते हैं। सर्वोपरि वे परम भक्त थे, भगवान् का स्मरण करते ही वे गद्‌गद् हो जाते। एक बार मुझे उनके साथ केरल में रहने का अवसर आया। सचमुच वे स्मरणीय क्षण थे। हम लोग एक मीटिंग में गये थे। वहाँ पहुँचते ही शिवराम मूर्ति जी ने कहना शुरू किया कि ३० या ४० मील दूर बडक कन्नूर मंदिर में भगवान् राम ठीक दोपहर को साक्षात् प्रकट होते हैं और भक्तों को दर्शन देते हैं। इसमें से कुछ इस बात को यों ही टाल रहे थे पर, उत्सुकतावश साथ हो लिये। रास्ते भर शिवराम मूर्तिजी कहते रहे कि आज से कई सौ वर्ष पहले किसी भक्त कवि ने देवविग्रह संस्कृत में कुछ सुन्दर स्तुतियाँ लिखी थीं जो ३० या ४० वर्ष पूर्वप्रकाशित भी हुई थीं, अब यह अनुपलब्ध है; कहीं किसी प्रकार से एक भी प्रति मिल जाये तो कितना अच्छा हो।

हम लोग मंदिर के विस्तृत आँगन में पहुँचे। भक्तों की बड़ी भारी भीड़ थी कोई ३०० या ४०० आदमी थे। स्थान-स्थान पर चार-चार, छह-छह की टोलियों में लोग बैठे दर्शन खुलने की प्रतीक्षा कर रहे थे। हम लोगों का दल भी शिखर की छाया में एक ओर बैठा। इतने में एक गौर वर्ण व्यक्ति जिसकी ३ या ४ दिनों की बढ़ी बिल्कुल सफेद दाढ़ी एक अनोखी प्रकार की दीप्ति प्रकट कर रही थी। श्वेत लुंगी पहने, कंधे पर श्वेत उत्तरीय डाले न जाने कहाँ से आया और शिवराम मूर्ति को स्तुति की छपी हुई प्रति हाथ में देकर चला गया। ये सब सहसा हुआ कि हम लोग समझ ही नहीं पाए कि कब क्या हो गया! बस इतना देखा कि इसके बाद शिवराम मूर्तिजी तन्मय होकर स्तुतियों का पाठ कर रहे थे। दो चार क्षणों के बाद हम लोगों की तंद्रा टूटी। हममें से कुछ अन्य लोग भी पुस्तक चाहते थे पर बहुत खोज करने पर भी वह गौरवर्ण व्यक्ति नहीं मिला।

यह सब कोई स्वप्न नहीं। लौटते समय रास्ते भर शिवराम मूर्ति जी उस पुस्तक से पाठ करते गए। आज भी वह प्रति उनके उत्तराधिकारियों के पास सुरक्षित है।

स्मरणीय

हम अन्न का एक भी ग्रास खायें, तो हमें यह याद रखना चाहिए कि, उस पर आस-पास रहनेवाले सारे मानव-समाज की वासना चिपकी रहती है। इसलिए सबको खिला कर खाओगे, तभी हजम होगा।

—छांदोग्योपनिषद् से।

कनफ्यूशियस

डा० (श्रीमती) अरुणा बैनर्जी

जिसे हम अपने लिए नहीं चाहते, उसे दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए। यह पारस्परिकता का नियम पाँच प्रकार के सम्बन्धों पर विशेषतया आधारित होना चाहिए। ये परिवार, राज्य, माता-पिता, पति-पत्नी, भ्रातृभाव एवं सखा के सम्बन्ध के रूप में प्रगट होते हैं। चीन देश के महान् दार्शनिक तथा धर्मसंस्थापक कनक्यूशियस चरित्र और व्यवहार की सचाई पर बहुत जोर देते हैं। उनका यह विश्वास है कि यदि व्यक्ति को आरम्भ से ही उचित शिक्षा दी जाय, ठीक से व्यवहार करना उसे आ जाय तो वह बड़ा होने पर भी उसी प्रकार से व्यवहार करेगा। शिक्षा का अर्थ केवल पुस्तकज्ञान से अथवा नैतिक उपदेशों से नहीं है। इसका अर्थ है—मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का, उसके आचरण-व्यवहारों का सुनियन्त्रित होना उतना ही आवश्यक है, जितना बड़े से बड़े कार्यों का।

चीन देश के महान् धर्मसंस्थापक कनफ्यूशियस द्वारा स्थापित धर्म इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। यह कनफ्यूशियस मत या धर्म कहलाता है। कनफ्यूशियस का जन्म ई० पू० ५५० के लगभग 'लू' राज्य में हुआ, जो अब शांगतुंग प्रान्त का एक भाग है। चीनी भाषा का इनका नाम कुंगत्से है, जिसका लैटिन रूप है कनफ्यूशियस। कुंगत्से शब्द का अर्थ है गुरु या दार्शनिक। कनफ़्यूशियस नये धार्मिक मूल्यों के आविष्कर्ता नहीं हैं। उन्होंने परम तत्व तथा ईश्वर के विषय में कोई मौलिक विचार नहीं प्रस्तुत किया है। वे प्राचीन धार्मिक रीतियां तथा विधि-विधानों के पालन के समर्थक हैं। उनके विचार से मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति तभी संभव है जब नैतिक मूल्यों पर आधारित एक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित समाज हो। ये नैतिक मूल्य व्यक्तिविशेष के नहीं, बल्कि प्राचीन परम्परा से सामाजिक व्यवस्था को आधार देने व सुदृढ़ बनाने वाले मार्गनिर्देशक सार्वभौम नियम हैं। उनका विश्वास है कि व्यक्ति का समाज से पृथक् अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी भावना, संवेग व व्यवहार के सुनियन्त्रित आचरण द्वारा सुव्यवस्थित समाज का निर्माण कर सकता है।

कनफ्यूशियस का जीवन स्वयं इस बात का उदाहरण है। लू राज्य के सम्राट ने उन्हें उच्च शासकीय पद प्रदान किया। उनके पथ-प्रदर्शन से लू राज्य अत्यधिक शक्तिशाली एवं समृद्ध हो गया। दैनिक जीवन में वे अत्यन्त नम्र थे, जैसे कि बोलना ही न जानते हों। पर विद्वानों की सभा एवं राजदरबार में वे महान् वक्ता थे जिनमें उनके भाषण नियन्त्रित होते थे। अपने से उच्च अधिकारियों से संयत व्यवहार करते थे। राजप्रासाद के अन्दर जाने पर वे सिर नीचा करके तथा द्रुत गति से चलते थे। राजा के बुलाने पर सवारी की प्रतीक्षा किये बिना ही घर से चल देते थे। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहार करना ही कनफ्यूशियस का स्वभाव था। कनफ्यूशियस ने अपने कार्यों व व्यवहार द्वारा मनुष्य के समक्ष शिष्टाचार का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया।

कनफ्यूशियस ने अनालेक्ट्स नामक ग्रन्थ में यह स्वीकार किया है कि वे धार्मिक महात्मा अथवा पैगम्बर नहीं हैं। इनका सिद्धान्त 'ताओ' की तरह है। वह पारमार्थिक तत्व जिससे सभी वस्तुओं का निर्माण होता है तथा जिसमें उन्हें रहना चाहिए, ताओ अथवा मार्ग है। मानव इच्छा का दैवी अथवा स्वर्ग के 'मार्ग' से विरोध होना विनाशकारक है। अतः प्राकृतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के प्रति उचित व्यवहार ही मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। कनफ्यूशियस परंपरा से प्राप्त धर्म के मानने वाले थे। चीन में प्राचीन समय में ही बहुदेववाद में विश्वास के साथ ही एकदेववाद की स्थापना हो चुकी थी। ईसा से कई शताब्दी पूर्व का प्राचीन ग्रंथ शूकिंग में अपने से चौदह सौ वर्ष पुरानी घट-

नाओं का उल्लेख है कि सम्राट् शन ने परम देवता शांग-ती के निमित्त यज्ञ किया था। ये शांग-ती सबकी सृष्टि करनेवाले हैं तथा शासन करने वाले हैं। धर्मपालक पर कृपा तथा बुरे कर्म करने वाले पर दंड का आदेश करने वाले हैं। यह एकेश्वरवादी धर्म के ईश्वर के समान हैं। स्पष्ट है कि प्राचीन समय में ही सुविकसित नैतिक आचरण की स्थापना हो चुकी थी। प्राचीन ग्रंथों में शांग-ती के सब गुणों का उल्लेख 'त्सीन' शब्द से किया गया है और कनफ्यूशियस ने भी त्सीन शब्द का प्रयोग ईश्वरीय कृपा अथवा ईश्वरीय विधान के लिए किया है।

पृथ्वी एवं स्वर्ग की द्वैतवादी व्याख्या जो प्राचीन धर्म में प्रतिपादित हुई है वह महत्वपूर्ण तार्किक समस्या उत्पन्न करती है। जगत की सभी वस्तुएँ दो शक्तियों की पारस्परिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती हैं। एक उष्ण, प्रकाशित, सक्रिय तथा सजीव, दूसरी शीतल, प्रकाशरहित निष्क्रिय एवं जड़। स्वर्ग पुरुषतत्व है जो गत्यात्मक है, पृथ्वी स्त्रीतत्व है जो स्थिर है। इन दोनों के संयोग से प्रकृति उत्पन्न होती है। इनके साथ जल, अग्नि, धातु, लकड़ी, पृथ्वी पाँच तत्व हैं जो चार दिशाओं में स्थित हैं और दिशाओं, देवों तथा ऋतुओं द्वारा प्रकाशित होते हैं। ये दोनों शक्तियाँ 'योग' और 'इन' कहलाते हैं। नैतिक क्षेत्र में 'योग' सद्गुण तथा 'इन' दुर्गुण को जन्म देते हैं और इस प्रकार इन दोनों से शुभ-अशुभ प्रगट होता है।

कनफ्यूशियस ने अपनी विचारधारा में इस प्राचीन धार्मिक ज्ञान का प्रवर्तन किया। इसी ज्ञान के द्वारा वे राज्य तथा व्यक्तियों के आचरण को सुधारना चाहते थे। मृत्यु के बाद वे चीनी संस्कृति के मुख्य आधार बन गये। ईश्वर के रूप में उनकी पूजा की जाने लगी एवं प्रत्येक नगर में उनके मन्दिरों का निर्माण होने लगा। यद्यपि कनफ़्यूशियस ने कभी भी अपने को आध्यात्मिक प्रभु के रूप में नहीं रखा। उनके प्राचीन धार्मिक भावनायुक्त पथ-प्रदर्शन से लू राज्य अत्यधिक समृद्ध एवं शक्तिशाली हुआ। उन्होंने अपने समय के विशाल किन्तु अव्यवस्थित रूप में उपलब्ध साहित्य की महत्वपूर्ण बातों का संकलन किया और ग्रन्थों के रूप में सम्पादन किया। यह ग्रन्थ पाँच किंग के नाम से चीनी भाषा के महान शास्त्रीय ग्रन्थ माने जाने लगे। ये ग्रन्थ हैं—दी शु-किंग, दी-शी-किंग, दी ली किंग, दी चुन-च्यू, दी ली की। इन ग्रन्थों में धार्मिक रीतियों, विधियों एवं कविता व इतिहास आदि का प्रतिपादन हुआ है। कनफ़्यूशियस साहित्य के चार अन्य आधार-ग्रन्थ हैं—महान ज्ञान (दी ग्रेट लर्निंग) मध्यमार्ग का सिद्धान्त (दी डाक्टरीन आफ दी मीन), कनफ्यूशियन अनालेक्ट्स (कनफ़्यूशियस के उपदेश जो विभिन्न शिष्यों द्वारा उल्लिखित हैं)।

कनफ़्यूशियस मत में मानव व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था व संतुलन को आवश्यक माना गया है। स्वाभाविक, पूर्ण, सुसंस्कृत मानव-व्यक्तित्व का विकास तभी सम्भव है जब कि मनुष्य के अन्दर करुणा का संचार हो। मनुष्य 'जेन' या धर्म के पालन द्वारा ही पूर्ण बन सकता है। जेन वह गुण है जिससे सर्वांगीण नैतिक उत्कर्ष प्राप्त होता है।

कनफ्यूशियस मनुष्य को धार्मिक बनाने व उसे सन्मार्ग पर चलाने के लिए स्वर्ग रूपी पुरस्कार अथवा नरक रूपी भय या दंड के विधान का आश्रय नहीं लेते हैं। उनके विचार से मनुष्य स्वभाव से अच्छा होता है। वह अपने से बड़ों को एवं समाज तथा राज्य के उच्च पदस्थ व्यक्तियों को यदि धार्मिक एवं नैतिक आचरण करते देखता है तो स्वयं भी उसी का अनुसरण करता है। कनफ्यूशियस एक पूर्ण विकसित, विशेष और असाधारण मानव की कल्पना करते हैं जिसमें चरित्र और व्यवहार के सभी नैतिक गुणों का लोकोत्तर विकास हुआ हो। जैसा कि भारतीय साहित्य में भगवान् राम के चरित्र में एक लोकोत्तर पुरुष का दर्शन होता है। मनुष्य में ज्ञान, करुणा एवं धैर्य के आध्यात्मिक गुण हों तो समाज में दृढ़ता आती है। ये गुण और शक्तियाँ तभी कार्य कर पाती हैं जब समाज में एकता तथा समरूपता स्थापित हो। इस तत्व का प्रतिपादन मध्यम मार्ग के सिद्धान्त जिसे 'चुंगपुंग' कहा गया है उसी में हुआ है। जिस समाज में मानव के संवेगों एवं भावनाओं की संयत अभिव्यक्ति हो तथा एक दूसरे के प्रति आदर व सहानुभूति हो वह महान् सुविकसित समाज है और कनफ्यूशियस सुनियन्त्रित समाज में ही व्यक्ति का समुचित विकास होना संभव समझते हैं। एक स्वशासित एवं उत्कृष्ट व्यक्तित्वपूर्ण मनुष्य स्वतंत्र तथा सुव्यवस्थित समाज का स्तम्भ बन सकता है। इसके लिए

मनुष्य के हृदय में करुणा तथा अनुकम्पा होनी चाहिए। अपने प्रति जिस व्यवहार को वह उचित नहीं समझता वह दूसरे के प्रति भी न करे।

कनफ्यूशियस द्वारा प्रतिपादित धर्म की शिक्षाएँ उनके महान् ग्रन्थों द्वारा उपलब्ध होती हैं। उनका कहना था कि सज्जनता तथा करुणापूर्ण होने का अर्थ है दूसरों के प्रति सहानुभूति व प्रेम रखना एवं स्वार्थ का त्याग करना। सज्जन मनुष्य अपनी कमी पर दुःखी होता है और दूसरे की कमी पर ध्यान देता है। जो स्वयं गिरा होता है वह दूसरों को उठा नहीं सकता। जो व्यक्ति छोटी वस्तुओं के पीछे दौड़ता है वह महान् कार्य नहीं कर सकता। मनुष्य का सबसे बड़ा रोग है स्वधर्म का पालन न करना तथा पर धर्म को अपनाना। जैसा कि गीता में भाव व्यक्त है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" इसका ज्ञान मानव में होना आवश्यक है।

मनुष्य का दोष यह है कि वह दूसरों का शिक्षक होना चाहता है। छोटा मनुष्य अपने दोषों को कभी नहीं देखता। छोटा मनुष्य भलाई के छोटे-छोटे कार्यों को करने में जो लाभ है उसे नहीं समझता, न ही यह समझता है कि बुरे कार्यों से हानि होती है। फलतः उसकी बुराई इतनी बढ़ जाती है जो छिपती नहीं तथा अक्षम्य हो जाती है। यदि व्यक्ति अपने से अधिक आशा करता है और दूसरों से कम तो वह कभी किसी की घृणा का पात्र नहीं होता। मनुष्य को किसी पद को प्राप्त करना हो तो उसकी चिन्ता छोड़कर अपने को उस पद के योग्य बनाने की चिन्ता करनी चाहिए। अपनी प्रसिद्धि न होने के बारे में चिन्ता न करके अपने को प्रसिद्धि प्राप्त करने के योग्य बनाना चाहिए। कनफ्यूशियस मानव को यह सूचित करते हैं कि जगत में सेवाएँ अनेक हैं। परन्तु अपने माता-पिता की सेवा करना उन सबका मूल है। सचाई तो ईश्वरीय मार्ग है। पूर्ण सचाई वाला कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ है जिसने दूसरों को प्रभावित न किया हो। और विना सचाई के कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जिसने दूसरों को प्रभावित किया हो। उनका कहना था कि बिना विचार का अध्ययन निरर्थक होता है तथा विना अध्ययन का विचार खतरनाक होता है। सत्य कभी मनुष्य के स्वभाव से अलग नहीं होता। जो सत्य समझा जाता है वह यदि मनुष्य से अलग हो जाय तो वह सत्य नहीं है। कनफ्यूशियस का कहना है मनुष्य को अपनी वाणी, विचार और व्यवहार पर ध्यान देना आवश्यक है। सदा उसे स्मरण रखना है कि ईश्वर की उपस्थिति सभी जगह है।

●

(पृष्ठ १४ का शेषांश)

धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, विकर्ण और युयुत्सु। विकर्ण का नाम लेने के साथ ही द्रौपदी-वस्त्रहरण के समय वही एक मात्र महारथी था जो द्रौपदी के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए खड़ा हुआ था यह बात भूलने लायक नहीं है।

इतने वीर जिसे रथ तक विदा देने आये ऐसे कृष्ण की संधिवार्ता विफल हो गयी ऐसा कौन कह सकता है?

(कृष्ण अने मानव संबंधो से
डा० भानुशंकर मेहता द्वारा अनूदित)

●

"मेरे प्यारे देशवासियो, आज भारतमाता के जहाँ भी मुझे दर्शन होते हैं, वहाँ सर्वत्र वह काली के रूप में मुझे दीखती है। मैं उसकी वाणी सुनता हूँ; कहती है—"मुझे बलि चाहिए, नरबलि चाहिए।" भाइयो, आओ, संगठन बनाकर चलें। माँ को बलि चढ़ावें—जागो, उठो, हिमालय से लेकर रामेश्वरम् तक के वीर-पुत्रो! बलि के लिए माँ का आह्वान हुआ है। केसरिया पहनकर, पंक्ति बाँध चलो! स्वयं व्यासदेव तुम्हारा इतिहास लिखने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं!" —**स्वामी रामतीर्थ**

●

गुरु मानुष करि जानते ते नर कहिये अंध

श्री विचारदास

मानव-जीवन की सफलता, चाहे किसी भी क्षेत्र में हो, बिना गुरु के सम्भव नहीं है। गुरु ही मनुष्य को अज्ञान के अंधकार से निकाल कर ज्ञान का प्रकाश देता है। मृत्यु से अमृत की यात्रा और साथ ही अनन्त शास्त्र, अनेक विद्याओं के सारभूत तत्व को गुरु ही प्राप्त कराता है। जिनसे हमें ज्ञान अथवा शिक्षा प्राप्त हो वही हमारे गुरु होते हैं। जो जीवन का उद्देश्य है वही शिक्षा का भी उद्देश्य होना चाहिए। मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है आत्मसाक्षात्कार करना। आत्मा अजर और अमर है, वह अनन्त ज्ञान तथा आनन्द का भण्डार है। जीव ईश्वर का अंश होते हुए अज्ञान और संचित शुभाशुभ संस्कारवश यावत् प्रपञ्चों को यथार्थ समझता है, तथा अपने को सीमित और अल्पज्ञ मान नाना दुःख सहता रहता है। सद्गुरु की कृपा से सभी दुख-द्वन्द्व मिट जाते हैं और आनन्दस्रोत परमात्मा से मिलन हो जाता है। कबीर साहब इसी स्थिति का वर्णन करते हैं :

सतगुरु के परताप से, मिटि गयो दुख दंद।
कह कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रामानन्द॥

गुरु का कार्य अत्यन्त पुनीत और महान है। क्योंकि वही जीवन की क्षुद्रता को दूर कर पूर्णता प्रदान करता है। संसार की समस्त परम्पराओं में गुरु की महत्ता मान्य है। भारतीय संस्कृति में तो गुरु सर्वथा पूजनीय रहा है। यही कारण है कि यहाँ के सभी कार्यारम्भ गुरुवन्दना से ही हुए हैं। बौद्ध, जैन, वैष्णव, नाथ आदि सभी धर्मों और सम्प्रदायों में गुरु को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। संतमत में तो गुरु ही सब कुछ मान लिया गया है। गुरु-महिमा का भारत में बहुत प्राचीन इतिहास है।

अथर्ववेद में कहा गया है : "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" जिसकी परमेश्वर में अत्यन्त भक्ति है, और जैसी परमेश्वर में वैसी ही गुरु में भी हो तो उसे ही ज्ञान प्राप्त होता है। इसके भाष्य में आचार्य शंकर श्वेताश्वतरोपनिषद में कहते हैं—जैसे तपे हुए मस्तक वाले पुरुष के लिए जलाशय के सिवा और कोई उपाय नहीं है, तथा क्षुधातुर मनुष्य के लिए भोजन के सिवा शान्ति का और कोई साधन नहीं है, उसी प्रकार गुरु-कृपा के बिना ब्रह्म विद्या की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है।

अपनी महत्ता के कारण ही गुरु को ईश्वर पद का ही नहीं, ईश्वर से भी अधिक महत्व प्रदान किया गया है। गुरु ब्रह्मा है; क्योंकि वह शिष्य को बनाता है। गुरु विष्णु है, वह रक्षा भी करता है। गुरु साक्षात् शिव है क्योंकि वह शिष्य के सभी दोषों का संहार करता है। इसलिए शास्त्र में गुरु को ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप—में स्वीकार किया गया है।

गुरु तो साक्षात् 'परब्रह्म' है। वही माननीय और पूजनीय है। अगर कभी गुरु तथा ईश्वर एक साथ उपस्थित हो जायें तो किसे पहले प्रणाम किया जाय। संतमत के प्रवर्तक कबीर साहब ने इसका समाधान गुरु की महत्ता के पक्ष में प्रस्तुत किया है :

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय॥

यह कितनी बड़ी बात है कि गुरु ने गोविन्द को बता दिया। यदि गुरु की यह कृपा न हुई होती तो गोविन्द के साक्षात्कार का प्रश्न ही नहीं उठता। गुरु की महत्ता का कोई पारावार नहीं है। कभी हरि रूठ भी जायें तो गुरु रक्षा करने में समर्थ है किन्तु गुरु के रुठ जाने पर कोई बच नहीं सकता :

हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहीं ठौर॥

इस प्रसंग में कागभुशुण्डि जी ने गरुड़ से अपना प्रसंग बताया है, जो मानस में गुरुमहिमा का सर्व श्रेष्ठ आख्यान है।

गुरु और शिष्य की परिभाषा करते हुए शंकराचार्य कहते हैं : "को वा गुरुर्यो हितोपदेष्टा, शिष्यस्तु को वा गुरुभक्त एव।" गुरु वही हो सकता है जो हित का उपदेश करे, तथा शिष्य वही हो सकता है जो गुरुभक्त हो, गुरु का

अनुसरण करता हो। गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा और विश्वास से ही शिष्य को सफलता मिल सकती है। एकलव्य ने अपने अभ्यास में गुरु की भावना भरकर ही सफलता प्राप्त की थी। इसलिए गीता ने गुरुपूजा को शारीरिक तपों में सम्मिलित किया है।

पुराणों में कहा गया है—विना गुरु के जो कुछ यज्ञ, दान, क्रिया, कर्म किये जाते हैं, सभी निष्फल होते हैं। हमारे शास्त्रों की तो यहाँ तक घोषणा है कि विना गुरु किये मनुष्य को मुक्ति नहीं मिल सकती। महामुनि शुकदेव अपने त्याग, तपस्या के बल पर स्वर्ग जाने लगे तो देवताओं ने उन्हें इसलिए वापस कर दिया कि उन्होंने गुरु नहीं किया था। जव शुकदेव ने अपनी पिता की आज्ञा से जनक को गुरु बनाया तो वे स्वर्ग के अधिकारी हुए। 'मंत्रपञ्चरात्र' में कहा गया है जिसने गुरु न किया हो उसके बैठने पर जमीन अपवित्र हो जाती है, वहाँ की मिट्टी हटाकर ही वहाँ बैठा जा सकता है।

इस प्रकार हमारे शास्त्र गुरु की महत्ता से आप्लावित हैं। एक गुरु की पूजा में सभी पूजायें समाहित हो जाती हैं। जैसे वृक्ष की जड़ को सीचने से समस्त शाखा-पत्र सहित वृक्ष हरा-भरा हो जाता है। किन्तु यदि शाखा और पत्तों को अमृत से भी सींचते रहें तो भी सूखने से नहीं बचा सकेंगे। इसलिए सन्तों ने गुरु की ही पूजा को सर्वश्रेष्ठ माना है :

पूजा गुरु की कीजिए सव पूजा जेहि माँहि।
जैसे सींचे मूल को, शाखा पत्र अघाहि॥

गुरुपूजा एक पर्व

वैसे तो गुरु हमेशा ही पूज्य हैं, 'गुरु पूजा सव ठौर'। लेकिन आषाढ़ पूर्णिमा गुरुपूजा के लिए एक विशेष पर्व के रूप में मान्य है। इसी तिथि को व्यासपूजा की भी मान्यता है। हिन्दू ग्रन्थों में साढ़े चार सौ विभिन्न व्रत तथा त्योहारों की गणना है जिसमें होली, दीवाली, दशहरा, रक्षावन्धन आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं। गुरु पूर्णिमा भी इसी प्रकार एक विशेष 'गुरुपूजा' पर्व के रूप में देशभर में मनायी जाती है। जो ज्ञान दे वह गुरु होता है। शास्त्रों द्वारा भी ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिए शास्त्रकर्त्ता व्यास जी विशेष पूजनीय हैं। पुराणों में आख्यायिका आती है कि एक बार नैमिषारण्य के पुष्कर तीर्थ में अट्ठासी हजार ऋषि चतुर्मास के समय एकत्रित थे। एक दिन (आषाढ़ पूर्णिमा को) महामुनि व्यास जी उनके बीच पधारे। व्यास सवके पूज्य थे। ज्ञानगुरु समझ सभी ऋषियों ने उनकी धूम-धाम से पूजा की। तब से इस तिथि को ज्ञानगुरु व्यास की पूजा की परम्परा प्रारम्भ हुई।

गुरुपूर्णिमा के आरम्भ के विषय में एक और अनुश्रुति विद्वान वताते हैं। पहले सन्तों में किसी एक जगह स्थायी होकर रहने की परम्परा नहीं थी। वर्ष भर भ्रमण ही किया करते थे। "करतल भिक्षा तरुतल वास" ही उनका आदर्श था। भगवान बुद्ध, महावीर ने अपने भिक्षु-जीवन में कोई दो वरसात एक स्थान पर नहीं बिताई हैं। लेकिन बुद्ध के निर्वाण के ढाई सौ वर्ष बाद जब बौद्ध धर्म महायान से होते हुए जनता के बीच प्रचलित हुआ तो श्रद्धास्पदों द्वारा पूजा, भेंटें मिलना स्वाभाविक था। कुछ विशेषताओं के कारण धन्नासेठों तथा राजाओं का झुकाव इधर हुआ। जिससे बड़े-बड़े मठ तथा विहार वने। यहीं से मठ-निर्माण की परम्परा प्रारम्भ हुई। फिर भी संत भ्रमणशील ही रहते हैं। वर्षा ऋतु के चार माह कहीं आना-जाना अत्यन्त कष्ट-कर हो जाता है। इसलिए सन्तों ने वर्षा के चार माह किसी एक जगह विताने की परम्परा वनाई है। जिसे चतुर्मास कहते हैं। बहुत से पुराने संतों का अभी भी मानना है कि चतुर्मास में नाला या नदी आदि पार नहीं होना चाहिए। यहाँ तक माना गया है कि इस चतुर्मास के चार महीने भगवान विष्णु शयन करते हैं। आषाढ़ शुक्ल एकादशी को "हरिशयनी एकादशी" होती है। इसी दिन क्षीरशायी भगवान विष्णु सोते हैं, तथा चार माह बाद "देवप्रबोधिनी एकादशी" (कार्तिक शुक्ल एकादशी) को जागते हैं। यही चतुर्मास का समय होता है।

चतुर्मास के ये चार महीने यों ही विताना उपयुक्त नहीं था। इसलिए ऐसी व्यवस्था बनायी गयी कि यह समय अध्ययन-अध्यापन में बीते। श्रावणी पूर्णिमा को अध्ययन करने की तिथि शास्त्रों में निर्धारित की गयी है। इसी दिन रक्षावन्धन भी पड़ता है। श्रावणी पूर्णिमा को अध्ययन प्रारम्भ हो सके, इसके लिए गुरु का निर्धारण पहले से होना आवश्यक था। इसीलिए यह सामान्य नियम बनाया गया कि एक माह पूर्व ही आषाढ़ पूर्णिमा को गुरु निर्धारित कर

लिया जाय। इस तिथि को विधिवत् गुरु की पूजा की जाय। आषाढ़ पूर्णिमा को गुरुपूजा की परम्परा धीरे-धीरे रूढ़ होने लगी तो केवल अध्ययन से सम्बन्धित गुरुओं की ही नहीं, आध्यात्मिक या जिस किसी भी तरह शिक्षा से सम्बन्धित गुरुओं की पूजा की जाने लगी।

याज्ञवल्क्य संहिता में पाँच गुरुओं की गणना की गयी है। किसी के माता, पिता, आचार्य, मामा, तथा श्वसुर ये पाँच गुरु होते हैं। इनमें माता तथा आचार्य तीन मुख्य कहे गये हैं। उनमें भी परमार्थ के ज्ञाता आचार्य अत्यन्त मुख्य होते हैं। माता, पिता, गुरु आदि वन्दनीय और पूजनीय पुरुषों की पूजा तथा शुश्रूषा करना सर्वमान्य धर्मों में से एक प्रधान धर्म है। जब शिष्य अध्ययन पूरा कर अपने घर जाने लगता है तब प्रत्येक गुरु का उसे यही उपदेश होता है: 'मातृदेवो देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।' परन्तु इसमें भी कभी-कभी अकल्पित बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं। मनु जी ने कहा है—दश उपाध्यायों से आचार्य एवं सौ आचार्यों से पिता और हजार पिताओं से माता का गौरव अधिक है। इतना होने पर भी यह कथा प्रसिद्ध है कि परशुराम की माता ने कुछ अपराध किया था। पिता ने आज्ञा दी बेटा! अपनी माता का सिर काट लाओ और परशुराम ने बिना कारण पूछे माता का सिर तुरन्त उपस्थित कर दिया।'

हमारे शास्त्रों में कहा है कि जिसने पचहत्तर वर्ष की आयु पूर्ण कर ली हो उसका दर्शन पुण्यदायी होता है, वह पूजनीय हो जाता है। फिर भी श्रेष्ठता के क्रम में अवस्था पर नहीं, ज्ञान और कर्म पर विशेष ध्यान दिया गया है। यह तत्व मनु और व्यास को ही नहीं, बुद्ध को भी नहीं मान्य था। 'धम्मपद' में कहा गया है 'जो केवल अवस्था से ही वृद्ध हो गया हो उसका जीना व्यर्थ है। यथार्थ में धर्मिष्ठ और वृद्ध होने के लिए सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणों का पालन आवश्यक है।' 'चुलवग्ग' नामक ग्रंथ में भगवान् बुद्ध की स्वयं आज्ञा है कि यद्यपि धर्म का निरूपण करनेवाला भिक्षु नया हो तथापि वह ऊँचे आसन पर बैठे और उन वयोवृद्ध भिक्षुओं को भी उपदेश करे, जिन्होंने उसके पहले दीक्षा पायी हो।

तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रथम 'आचार्य देवो भव' कहकर उसी के आगे कहा गया है, हमारे जो कर्म अच्छे हों उन्हीं का अनुसरण करो, औरों का नहीं। इससे उपनिषदों का यह सिद्धान्त प्रकट होता है कि यद्यपि पिता और आचार्य को देवता के समान मानना चाहिए तथापि यदि वे शराब पीते हों तो पुत्र और शिष्य को अपने पिता या आचार्य के इन दुर्गुणों का अनुसरण नहीं करना चाहिए। इसलिए यह नीति है कि "श्रेष्ठ जन जो कहें उसका अनुसरण करना चाहिए जो करते हैं उसको अपने सामर्थ्य और सीमा में ही अनुकरण करना चाहिए।

गुरु पूर्णिमा हमारे लिए चेतना का प्रेरणास्रोत है। बिना गुरु के जीवन धन्यता को प्राप्त नहीं हो सकता है। मानव जन्म से मृत्युपर्यन्त विद्यार्थी ही रहता है। शिक्षा वही श्रेष्ठ है जो मुक्ति के लिए हो "सा विद्या या विमुक्तये।" यह सच्चे सदुपदेशक गुरु के द्वारा ही प्राप्त होती है। जिनको ऐसे मार्गप्रदर्शक सद्गुरु नहीं मिलते हैं वे लोग दुःख से व्याकुल हो दशों दिशाओं में भटकते हैं और विवेक के बिना उन बावरों को आँख से देखने पर भी कुछ समझ में नहीं आता है। इससे काम, शोक आदि परायण हो दुःख पाते हैं। उनकी वैसी ही स्थिति होती है जैसे कोई अपने जलते हुए घर को छोड़कर तापने की अग्नि वाले घूर को बुझा रहा हो।

जाको सतगुरु ना मिला, व्याकुल दहूँ दिस धाय।
आँखि न सूझे बावरा, घर जरे घूर बुताय॥

इस स्थिति से उबारने में गुरु की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सद्गुरु के समान कोई दूसरा अपना मित्र, सगा, हितैषी नहीं है। क्योंकि जिस रास्ते से कल्याण सम्भव है वह तो गुरु ही बताते हैं। कबीर साहब कहते हैं:

बिन सतगुरु अपनो नहीं कोई, जो यह राह बतावे॥

जब गुरु मिल जाते हैं तो ज्ञान प्रकाशित हो जाता है। तब यही प्रयत्न करना होता है कि जिस गुरु के द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ है उन्हें किसी भी प्रकार भुला न दूँ। ऐसे गुरु का बिना गोविन्द की कृपा के प्राप्त होना दुर्लभ है। कबीर साहब संसार की रात्रि के अन्धकार में ज्ञान का प्रकाशन करने वाले दीपक के रूप में गुरु की प्राप्ति को भगवान् का कृपाप्रसाद मानते हैं और गुरुकृपाप्रसाद से भगवान् की प्राप्तिः—

ज्ञान प्रकास्या गुरु मिल्या, तो जिनि विसरि जाय।
जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरु मिलिया आय॥

सद्गुरु की महिमा और उपकार अनन्त हैं। कबीर साहब कहते हैं कि गुरु कृपा से ही मेरे अन्तर नेत्र खुल गये और हमने अनन्त के दर्शन कर लिये।

संत चरणदास बड़े गुरुभक्त थे। एक बार उनसे किसी ने पूछा चरणदास जी, आप वर्षों से गुरु की तनमन से सेवा करते हैं। आप के गुरु तो बड़े सिद्ध हैं। तो उनकी कौन सी विशेषता आप को प्राप्त हुई? तब चरणदास ने कहा कि मेरे ऊपर गुरुजी ने एक ही कृपा की और वही कृपा मैं अपने जीवन में अनुभव करता हूँ:

चरणदास गुरु कृपा कीन्हीं।
उलटि गयी मोरी नयन पुतरिया॥

संसार की घटनाओं को जिस दृष्टि से देखने का मैं अभ्यस्त हो गया था गुरुदेव की कृपा से उन घटनाओं को अब मैं एक अलग ही दृष्टि से देखता हूँ। मेरी दृष्टि अन्तर्मुखी हो गयी है।

मनुष्य जीवन की सफलता के लिए दो चीजों की आवश्यकता होती है और वह दोनों गुरुकृपा से ही मिल सकती हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी गुरु की वन्दना करते हुए इन्हीं दो चीजों की मांग करते हैं। पहली मांग है:

श्री गुरु नख मनि गन जोती,
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥

श्री गुरु के चरण नख की वन्दना करता हूँ जिसके सुमिरण से हृदय में दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। तथा दूसरी मांग है:

श्री गुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुर सुधार॥

श्री गुरु के चरण रज की वन्दना करता हूँ जिससे मेरा मन रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाय। मनुष्य की जो बुद्धि है वही उसकी आन्तरिक दृष्टि है तथा उसका मन ही दर्पण है। जब तक दृष्टि तथा दर्पण दोनों का सदुपयोग हमारे जीवन में नहीं होगा, तब तक हमें सच्चे अर्थों में परिपूर्णता की उपलब्धि नहीं हो सकती। जैसे हमारे पास नेत्र होते हुए भी अगर रोगी हो जाते हैं तो वस्तुओं को सही रूप में ग्रहण नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार जो हमारे पास बुद्धि की दृष्टि है, विवेक की दृष्टि है उन दोषों को दूर करना आवश्यक है और इसके लिए: "सद्गुरु वैद्य वचन विश्वासा" ही रास्ता है।

●

(पृष्ठ १६ का शेषांश)

सत्य एक ही है—ब्रह्म। यह संसार और यह शरीर ब्रह्म में उसी प्रकार आरोपित है जिस प्रकार रज्जु में सर्प का आरोप किया जाता है। जब तक रज्जु का ज्ञान नहीं होता और सर्प की भ्रान्ति दृढ़ रहती है, तब तक आप भय से मुक्त नहीं होते हैं। उसी प्रकार आपके लिए इस संसार की ठोस वास्तविकता तब तक है जब तक आपको ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता है। जब आप प्रकाश से रज्जु को देखते हैं, सर्प का भ्रम तथा भय नष्ट हो जाता है। इसी तरह जब आपको ब्रह्मज्ञान हो जाय तो आपके लिए इस संसार का लय हो जायेगा और जन्म तथा मृत्यु के भय से मुक्ति होगी।

कभी-कभी आप स्वप्न में देखते हैं कि आपकी मृत्यु हो गयी है और आपके सगे-सम्बन्धी रो रहे हैं। उस कल्पित मरणावस्था में भी आप उनको रोते हुए देखते और सुनते हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्यक्ष मृत्यु के अनन्तर भी जीवन का अस्तित्व रहता है। वह अस्तित्व ही आत्मा या महान् 'अहं' है।

यदि अपने हृदय में छिपे हुए इस अमर आत्मा को आप जानते हैं तो अविद्या, काम तथा कर्म-रूप त्रिविध ग्रन्थियाँ सुलझ जायेंगी। यदि अविवेक, अहंकार, राग-द्वेष, कर्म, शरीर आदि के अज्ञान की शृंखला तोड़ दी जाय तो आप जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होंगे तथा अमर लोक में प्रवेश प्राप्त करेंगे।

●

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

मई, १९८४

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, दाल, साग आदि १५००) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के व्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

स्थायी भण्डारा

श्री गोपीराम अग्रवाल कलकत्ता कच्चा १-५-४४

ब्रह्मलीन श्री १०८ स्वामी घनश्यामानन्दजी तीर्थ श्री आराधना (संस्थागत) (समष्टि भण्डारा) पक्का ३-५-८४

श्री हजारीप्रसाद अग्रवाल, कलकत्ता कच्चा ९-५-७४

श्रीमती वसन्त सुन्दरी देवी द्वारा डा० गंगासहायजी पाण्डेय, वाराणसी पक्का १२-५-८४

श्री कैलाशचन्द्र गोयल कलकत्ता कच्चा २०-५-८४

श्रीमती रुक्मिणी देवी गुटगुटिया, संथाल प० ,, २२-५-८४

श्री गोपीरामजी अग्रवाल कलकत्ता ,, ३०-५-८४

अस्थायी भण्डारा

पं० यदुनन्दन दीक्षित, मुमुक्षुभवन वाराणसी ,, ५-५-८४

ब्रह्मलीन स्वामी गोपेश्वरानन्द तीर्थ ईश्वर मठ ,, ६-५-८४

श्री कैलाश गुरेका कलकत्ता ,, ७-५-८४

श्री श्यामलाल सुरेका, कलकत्ता ,, ८-५-८४

श्री छोगामल श्यामलाल, कलकत्ता ,, १०-५-८४

ब्रह्मलीन श्री स्वामी राधेश्वरानन्दजी तीर्थ, वाराणसी ,, १३-५-८४

श्री १००८ शंकराचार्यजी महाराज कामकोटि पीठाधीश्वर, मद्रास-८० (समष्टि) पक्का १४-५-८४

श्रीरामजीलाल डिडवानियाँ, वाराणसी कच्चा १५-५-८४

श्रीस्वामी दशरथानन्द तीर्थ, ईश्वरमठ ,, १६-५-८४

श्रीमती सूरजकला देवी, बम्बई ,, १७-५-८४

ब्रह्मलीन स्वामीरामरमेश्वरानन्द द्वारा डा० पारसनाथ चतुर्वेदी, गाजीपुर ,, १८-५-८४

श्रीमती बर्जी देवी अग्रवाल, वाराणसी ,, १९-५-८४

स्व० श्री हरनारायण चौबे द्वारा श्री गौरीशंकर चौबे, वाराणसी ,, २१-५-८४

श्रीमती रामप्यारी बाई खण्डेलवाल, मीरघाट, वाराणसी ,, २३-५-८४

श्रीमती रुक्मिणी बाई, वाराणसी ,, २४-५-८४

श्री बद्रीप्रसाद, बाँदा ,, ३१-५-८४

अन्नक्षेत्र

श्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, मुमुक्षु भवन १५०-००

श्रीमतीचन्द्रलेखा कटारुका, संथाल परगना १२५-००

श्री ताराचन्द्र गुप्ता, कमला नगर नई दिल्ली ५००-००

होमियोपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
३६४	१६८४	२०४८

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
१९४	५४२	७३६

सहायता

श्री विश्वनाथ सेवा ट्रस्ट, कलकत्ता १०,०००)

श्री हरिराम अजीत सरिया, गौहाटी ११००)

Regd. No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82 जून १९८४ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

जुलाई १९८४

आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ३ : अंक १०
आषाढ़ सं० २०४१
जुलाई १९८४

●

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१ ००५

●

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

प्रार्थना १

माध्वमतानुसार मोक्षलाभ
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ३

जब हिमालय ने भी सिर नवाया था ७

रूप और स्वरूप
श्री घनश्यामदास बिड़ला १२

संत एकनाथ : जीवन और सन्देश
श्री एम० एन० सुब्रह्मणियम् १५

श्री भगवतीप्रसाद खेतान अभिनन्दन १७

कृष्ण-कर्ण संवाद
श्री हरीन्द्र दवे १९

पवित्र गंगा को प्रदूषण से बचाइए
श्री वीरभद्र मिश्र २३

●

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों की फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी है। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज कर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा,
अस्सी, वाराणसी—५

मुमुक्षु

वर्ष : ३] जुलाई १९८४ [अंक : १०

प्रार्थना

•

भगवत्-सान्निध्य के लिए मनुष्य का प्रयास ही प्रार्थना है। वह प्रचण्ड अध्यात्म-बल है। प्रार्थना की शक्ति भी उतनी ही सत्य है जितनी कि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति।

प्रार्थना के लिए महान पाण्डित्य या योग्यता की आवश्यकता नहीं है। इसमें केवल आपका भाव अपेक्षित है। एक सुयोग्य विद्वान के धारावाही शब्दों और व्याख्यानों की अपेक्षा एक अशिक्षित व्यक्ति के नम्रतापूर्ण, शुद्ध अन्तःकरण से निकले हुए कुछ शब्द भगवान् को अधिक प्रिय लगते हैं।

प्रार्थना-काल में आप भगवान् के साथ एकलय हो जाते हैं। आप अक्षुण्ण वैश्व शक्ति के भण्डार (हिरण्यगर्भ) से सम्बन्धित होते हैं और इस भाँति उनसे ओज, शक्ति, प्रकाश तथा बल प्राप्त करते हैं।

भगवान् से दिव्य ज्योति के अवतरण के लिए कातर प्रार्थना करो। उनकी दया की याचना करो। उनके विरह में रोओ। उनके सहवास के लिए मचलो। दिव्य प्रेम की आग में मन को तपाओ। प्रगाढ़ शान्ति में विलीन हो जाओ। भक्ति की अग्नि में शरीर को जला दो और प्रेमामृत पीओ। दिव्य प्रेम की मदिरा पान करके प्रमत्त हो जाओ तथा अमरत्व और परमानन्द का उपभोग करो।

नित्य प्रार्थना और सेवा के द्वारा भगवान् के साथ हृदय की एकलयता साधो। उनके सामने अपने हृदय को खोल कर रख दो। कोई बात न छिपाओ। एक बच्चे की तरह वार्त्तालाप करो। नम्र और सरल रहो। अपने पापों के लिए आर्द्र हृदय से उनसे क्षमा-याचना करो। अपनी कृपा बरसाने के लिए उनसे आग्रह करो। मनुष्य की सहायता का अवलम्ब न लो। एकमात्र ईश्वर पर ही निर्भर रहो। आपको सब कुछ प्राप्त होगा। उनके दर्शन भी होंगे।

नित्य प्रार्थना से जीवन में क्रमिक परिवर्तन होता है, जीवन ढलता है। प्रार्थना आपकी प्रकृति ही बन जानी चाहिए। प्रार्थना की यदि आदत हो जाय तो बिना प्रार्थना के आप जी नहीं सकते।

नियमित रूप से प्रार्थना करने वाला मनुष्य उस आध्यात्मिक यात्रा में चल पड़ा है जो शाश्वत शान्ति और परम सुख के राज्य को जाती है।

प्रार्थना करते समय पहले मन में भगवान् के रूप का ध्यान करना चाहिए और फिर उनके नाम, मन्त्र और स्तोत्रों का पाठ करना चाहिए। स्तोत्रों के पाठ से मन उन्नत होता है और प्रेरणा प्राप्त होती है। भगवान् के साथ मन का मेल सधता है और मन में आनन्द, शान्ति और सुख का निर्माण होता है। प्रतिदिन भजन-गान द्वारा भगवान् की कृपा प्राप्त करो और उनमें ही निवास करो।

प्रह्लाद के सिर पर उबलता तेल डाले जाने पर प्रार्थना के ही बल से वह ठण्डा हो गया। मीरा के काँटों की सेज को फूल की सेज में परिवर्त्तित करनेवाली, साँप को फूलमाला में बदल देने वाली प्रार्थना ही थी।

द्रौपदी ने अनन्य भाव से प्रार्थना की। श्रीकृष्ण को उसकी रक्षा के लिए द्वारका से दौड़कर आना पड़ा। गजेन्द्र

ने हृदय से पुकारा, भगवान् हरि को उसको बचाने के लिए सुदर्शन चक्र के साथ आना पड़ा।

किसी स्वार्थ अथवा भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए प्रार्थना मत करो। भगवान् की दया के लिए प्रार्थना करो। प्रकाश, चित्त-शुद्धि और मार्ग-दर्शन के लिए प्रार्थना करो।

अनन्य भक्ति और आत्मसमर्पण द्वारा भगवान् की कृपा प्राप्त की जा सकती है। परमेश्वर कितने दयालु हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी बने, उन्हें गीता सुनाई, द्रौपदी और मीरा की रक्षा की, अन्धे सूरदास को रास्ता दिखाया, दामाजी के लिए नवाब की हुण्डी सकरायी तथा नरसी मेहता की रकम चुकायी। उनके चरणकमलों में अपने हृदय और मन को समाहित करो। उनकी स्तुति करो। उनका नाम-स्मरण करो। वे आपके लिए सब कुछ करेंगे। भगवान् कृष्ण अपने भक्तों के दास हैं।

प्रार्थना से मन उन्नत होता है। उससे चित्त शुद्ध होता है। उसका सम्बन्ध परमात्मा के यशोगान से होता है। उससे मन सन्तुलित और ईश्वर-लीन रहता है। प्रार्थना की पहुँच वहाँ तक है जहाँ तक बुद्धि या विचार नहीं पहुँच सकते। प्रार्थना से पहाड़ हिल जाता है, अद्भुत चमत्कार होते हैं। प्रार्थना भक्त को भय और मृत्यु से मुक्त करती है, भगवान् के समीप लाती है, दिव्य ज्ञान की प्राप्ति करा देती है तथा उसको अमरता एवं आनन्दमयता का अनुभव करा देती है।

प्रार्थना से मन और शरीर में अद्भुत शक्ति का सञ्चार होता है, चित्त शुद्ध होता है, बुद्धि सूक्ष्म और तेज होती है, शरीर और मन में स्वस्थ आध्यात्मिक तेज प्रवाहित होता है। उससे विचार-शक्ति विकसित होती है। सच्ची और निष्ठापूर्ण प्रार्थना से असाध्य रोग भी अच्छे हो जाते हैं।

प्रार्थना से अध्यात्म-लहरियों का सञ्चार होता है और मन में शान्ति स्थापित होती है। प्रार्थना की शक्ति अनिर्वचनीय है। उसकी महिमा अगम्य है। सच्चे भक्त ही उसके लाभों और गुणों से परिचित होते हैं। प्रार्थना श्रद्धा, विश्वास और निष्काम भाव तथा भक्ति-स्निग्ध हृदय से करनी चाहिए। हे अज्ञानी मानव ! प्रार्थना की शक्ति के बारे में विवाद मत करो। तुम भ्रम में बह जाओगे। अध्यात्म में विवाद का कोई स्थान नहीं है। बुद्धि सीमित और दुर्बल साधन है। उस पर निर्भर न रहो। अपने अन्दर के अज्ञानान्धकार को प्रार्थना-ज्योति से दूर करो।

●

सच्चा धर्म

लखनऊ स्टेशन पर यात्रियोंकी चहल-पहल। स्टेशनमास्टर के कार्यालय के सामने कितने ही व्यक्ति एकत्रित होते जा रहे थे और ऐसे में स्टेशनमास्टर का क्रोध देखते ही बनता था। वह वृद्धा को धमका रहा था और वह हाथ जोड़े खड़ी थी। बेचारी गिड़गिड़ा रही थी। जो भी आकर वहाँ थोड़ी देर रुकता वह अपने पड़ोसी से पूछता 'क्या बात है ?' और बात कुछ नहीं बड़ी साधारण थी। सुबह सर्दी से ठिठुरने के कारण बाबूजी के कार्यालय में अंगीठीके सामने वह आकर बैठ गई थी। यदि एक अंगीठीसे दो व्यक्तियों की अपेक्षा तीन ने अपने हाथ सेंक लिये तो क्या ? पर ईसाईस्टेशन मास्टर की जिद्द जो ठहरी।

आखिर एक व्यक्ति से न रहा गया। उसी भीड़ में स्वर फूटा "आप बाइबिल का नित्य पाठ करते हैं। ईसा मसीह के अनुयायी होने का आपको गर्व है। जिस महापुरुष ने प्राणी मात्र की सेवा में ही अपने को उत्सर्गकर दिया और एक आप हैं जो ऐसा क्रूर कर्म कर रहे हैं। इस असहाय वृद्धा के प्रति आपके हृदय में तनिक भी सहानुभूति नहीं ?'

इतना कह कर उस व्यक्ति ने अपने कंधे से ऊनी चादर उतारी और उस वृद्धा के कंधों पर डाल दी। यह सज्जन थे दीनबंधु एण्ड्रूज परदुःखकातरता जिनके जीवन का प्रमुख गुण था। ●

माध्वमतानुसार मोक्षलाभ

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

परमेश्वर के अनुग्रह से अपरोक्ष ज्ञान या भगवद्दर्शन होता है। भगवान् का दर्शन पाने से उनकी अनन्त कल्याण-गुणराशि का ज्ञान होता है तथा उनके प्रति अखण्ड प्रेम-प्रवाह उत्पन्न होता है। यह प्रेम कितना गम्भीर है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसके उदय से अपनी आत्मा और आत्मीयवर्ग की स्मृति तक लुप्त हो जाती है। जगत् के जितने भी प्रकार के व्यवधान हैं, सबकी मिली हुई शक्ति से भी उसका प्रवाह रुद्ध नहीं होता। इस प्रेम का पारिभाषिक नाम है 'परम भक्ति'। इसका फल है भगवान् का आत्यन्तिक प्रसाद या परम अनुग्रह। इसी अनुग्रह से परमार्त्ति-रूप संसार से जीव को मुक्ति मिलती है। स्वर्गलाभ और जनलोक आदि ऊर्ध्वलोकों में गति भगवान् के अधम और मध्यम अनुग्रह के फलस्वरूप होती है। परन्तु, प्रकृति, अविद्या आदि के आवरण से छुटकारा उनके परम अनुग्रह के विना सम्भव नहीं। भगवद्दर्शन से आत्मसंश्लिष्ट प्रकृति, सत्त्व आदि गुण, कर्म और सूक्ष्मदेह दग्ध होती है। परन्तु, जबतक प्रारब्ध कर्म रहता है, वह दग्ध ईंधन की भाँति बार-बार आविर्भूत और तिरोहित होता है। अज्ञान का आश्रय जीव ही है, अन्तःकरण नहीं। जीव यद्यपि स्वप्रकाश है, तथापि ईश्वर की इच्छा से स्वप्रकाश वस्तु भी अविद्या से आवृत हो सकती है।

यह मुक्ति चार प्रकार की है। यथा : कर्मक्षय, उत्क्रान्ति-लय, अर्चिः आदि मार्ग और भोग। उनमें अपरोक्ष ज्ञान से सारे संचित पाप और अनिष्ट पुण्यकर्म का सम्यक् विनाश होता है—यही कर्मक्षय है। विनाश शब्द से केवल ध्वंस या विनाश ही नहीं समझना चाहिए। किसी-किसी कर्म का अवश्य ध्वंस होता है। परन्तु कोई-कोई विशिष्ट अनिष्ट पुण्य सुहृदों में और कोई-कोई पाप शत्रुओं में संचारित होता है। प्रारब्ध कर्म अपरोक्ष ज्ञान से भी विनष्ट नहीं होता। उसका क्षय एकमात्र भोग से ही होता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र आदि देवता भी प्रारब्ध कर्म के फलभोग के लिए बाध्य हैं। ब्रह्मा का प्रारब्ध पुण्यात्मक है। उसका फल है सत्यलोक का आधिपत्य और भोगानुभव तथा भोगकाल है सौ ब्रह्मकल्प। इसी प्रकार, गरुड़ और शेष का प्रारब्ध है पुण्य-पापात्मक और भोगकाल है पचास ब्रह्मकल्प। इन्द्र और काम का बीस ब्रह्मकल्प तथा चन्द्र-सूर्य का दस ब्रह्मकल्प तक अपने-अपने पुण्य-पापात्मक प्रारब्ध का फलभोग होता है। श्रेष्ठ मनुष्य का भोगकाल एक ब्रह्मकल्प होता है। प्रारब्ध के क्षय हो जाने पर ब्रह्मनाड़ी के अवलम्बन से जीव का उत्क्रमण होता है। यह ब्रह्मनाड़ी और सुषुम्णा-नाड़ी मूलाधार से मस्तक तक श्वेतवर्ण सरल रेखा जैसी देह के भीतर विराजमान है। इसके पाँच भेद हैं। देह आदि प्रतीक का अवलम्बन न करके जिन जीवों का अन्यत्र अपरोक्ष उदय होता है, उनमें कोई-कोई सुषुम्णा-पथ से उत्क्रमण करता है। उस समय जीव को कोई बोध नहीं रहता—विष्णु के अपने तेज से हृदय का अगला भाग उज्ज्वलता से प्रकाशित होता है। इसी को ब्रह्मद्वार कहते हैं। उसी राह से जीव को साथ लेकर हृदयस्थ भगवान् बाहर होते हैं। प्राण उनका अनुगमन करता है—अन्यान्य देवता, विद्या, कर्म और योग्यता उसी प्रकार प्राण का अनुसरण करते हैं। चलते-चलते रास्ते के लोकों के वासी ऊर्ध्व को जाती हुई मुक्तात्मा को देखकर, यह सोचकर कि उनके साथ भगवान् अवश्य हैं, तरह-तरह से उनका सत्कार करते हैं। इस प्रकार, क्रमशः वैकुण्ठलोक की प्राप्ति होती है और वहाँ भगवान् के तृतीय रूप का साक्षात्कार होता है। माण्डूक्य-भाष्य में है कि भगवान् का यह तृतीय रूप का साक्षात्कार होता है। माण्डूक्यभाष्य में है कि भगवान् का यह तृतीय रूप व्यवहार-जगत् में नहीं दिखाई देता—यह द्वादशान्त में अवस्थित एवं मुक्तात्मा का उपलभ्य है। देह आदि प्रतीक के अवलम्बन से जो अपरोक्ष ज्ञान लाभ करते हैं, अन्तकाल में उनमें भगवत्स्मृति अवश्य जाग उठती है। अज्ञानियों के मृत्यु-काल में भगवत्स्मृति नहीं जगती—यहाँ तक कि जिन ज्ञानियों का प्रारब्ध क्षय नहीं हुआ, उनके भी नहीं जगती। कर्ममिश्र ज्ञानियों का मन देहत्याग के समय वैष्णवी माया के प्रभाव से

बहिर्मुख हो पड़ता है। उस समय भगवत्प्रकाशमय सुषुम्णा-पार्श्वस्थ नाड़ी से जाना होता है और क्रमशः अर्चिः आदि लोक की प्राप्ति होती है। और फिर, वायुलोक में जाने से वायु द्वारा चालित होकर ब्रह्मलोक में गति होती है। स्वदेह में लय के बाद ब्रह्मा ज्ञानी को वैकुण्ठ तक पहुँचा देते हैं। अर्थात्, ब्रह्मलोकवासी सभी ब्रह्मा के प्रारब्ध-भोग के अन्त में उनके साथ ही समान परमपद लाभ करते हैं।

पर, जो अपरोक्ष ज्ञानी एकगुणोपासक हैं, वे ज्ञान प्राप्त करके देह से उत्क्रमण नहीं करते—प्रारब्ध के अवसान से देहत्याग होने पर पृथ्वी आदि स्थानों में परमानन्द भोग करते हैं। परन्तु, उपदेश-लाभ सबको ही सत्यलोक में ब्रह्मा से होता है। सभी को श्वेतद्वीप में वासुदेव का दर्शन और ध्रुवलोकस्थ अनन्त जगत् के आधारभूत शिशुमार का दर्शन करना होता है। एकगुणोपासक श्वेतद्वीप में नारायण का दर्शन करके उनकी अनुज्ञा से पृथ्वी आदि पर सदा आनन्द से विहार करते हैं। तमोयोग्य जीव द्वेष-परिपाक के बाद देह से उत्क्रान्त और कलिग्रास होता है। ब्रह्मा के देहान्तकाल में इन जीवोंकी लिंगदेह वायु के गदा-प्रहार से टूट जाती है।

जो सब जीव नित्य संसारी हैं, उनका लिंग-शरीर भी निवृत्त होता है। परन्तु लिंगदेह के भंग होने पर भी उनकी संसार-योग्यता नष्ट नहीं होती। संसार-अवस्था में वे जैसे दुःखमिश्र सुख का अनुभव करते हैं, लिंगदेह के विनष्ट होने पर भी वैसे ही सुखमिश्र दुःख का भोग करते हैं। इसीलिए, इस कोटि के जीव को नित्यसंसारी कहा जाता है। इनका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—मुक्तियोग्य जीव के लिए वैकुण्ठ आदि लोक हैं, तामस जीव का भी एक तमोमय स्थान है, पर जो नित्यसंसारी हैं, वे स्वर्ग, नरक, भूलोक आदि सब जगह सदा संचरण करते हैं। इसीलिए, शास्त्र में उन्हें अनेक स्थलों पर 'नित्यबद्ध' कहा गया है। लेकिन एक बात है। वास्तविक संसार में, अर्थात् लिंगभंग की पूर्वावस्था में, दुःख और सुख का भोग पर्याय-क्रम से होता है। किन्तु मुक्ति में. एक ही समय सुख और दुःख, दोनों के मिश्रित स्वरूप का अनुभव होता है।

नित्यसंसारी जीव दो प्रकार के हैं। बहुतेरे केवल स्वर्ग में रहते हैं, बहुतेरे स्वर्ग और नरक, दोनों ही स्थानों में जाते-आते हैं। दोनों ही प्रकार के जीव लिंगदेह निवृत्त होने पर स्व-स्वरूप का अनुभव कर सकते हैं।
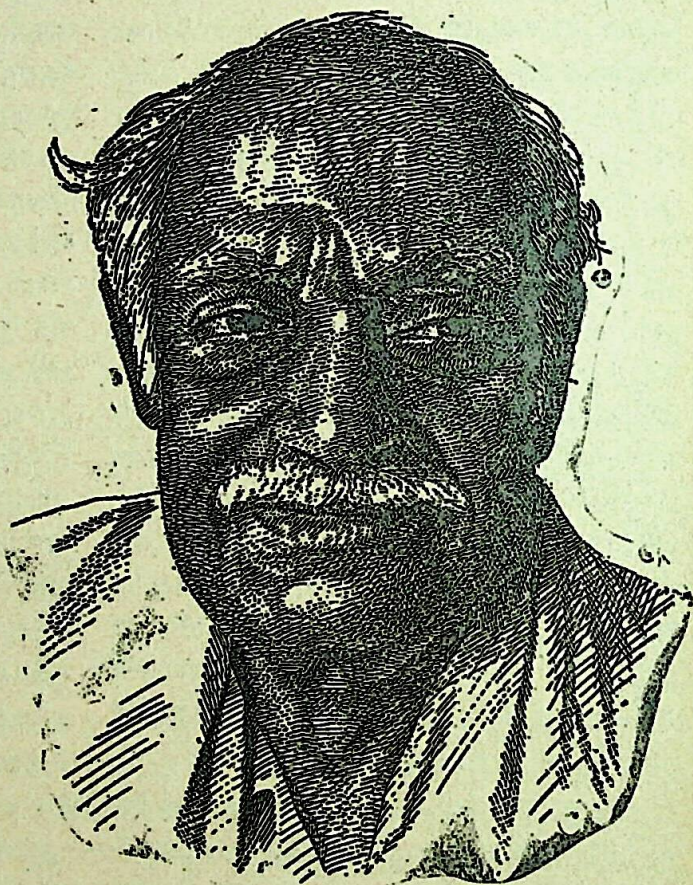
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

माध्वमतानुयायी कहते हैं, भू-लोक से स्वर्ग तक तीनों लोक पुनरावर्त्तनशील हैं। अर्थात्, सुकृति के फलस्वरूप स्वर्ग मिलने पर भी वह अवस्था स्थायी नहीं होती। पुण्य के क्षय होते ही स्वर्ग से पतन अवश्यम्भावी है। इसलिए, स्वर्गप्राप्ति की आकांक्षा उचित नहीं है। स्वर्ग के ऊपर महर्लोक है। इन स्थान तक उठ सकने से कुछ हद तक निश्चित हुआ जा सकता है। परन्तु यहाँ भी पतन की शंका न्यूनाधिक है ही।

महर्लोकवासियों का आयुष्यकाल एक कल्प है, स्वर्ग की आयु का परिमाण एक मन्वन्तर। ज्ञान के सिवा केवल कर्म से स्वर्ग के ऊपरी स्तर तक नहीं उठा जा सकता। ज्ञान के संचार-मात्र से ही त्रिलोक-भेद होकर पुनर्जन्म की शंका जाती रहती है। ज्ञान परिपक्व होने से भगवत्-धाम में, अथवा कुछ न्यूनता रहने से वायुलोक में गति होती है, नहीं तो स्थान-मात्राश्रित होकर काल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वास्तव में, जनलोक से ही पुनरावृत्ति की आशंका निवृत्त होती है। जनलोकवासियों को एक ब्रह्मकल्प तक भोग होता है। महा-मेरुस्थ ब्रह्मसदन और जनलोक से सब लोक पुनरावर्त्तनरहित हैं। इन लोकों में जा पाने से फिर जन्मग्रहण का भय नहीं रहता। पर, अंश द्वारा जन्म आदि हो सकते हैं, परन्तु उससे मूलरूप की कुछ क्षति नहीं होती। वस्तुतः ऐसी स्थिति में भी अवतीर्ण अंश यथासम्भव शीघ्र स्वस्थान में पुनरागमन करता है। जो ब्रह्मनाड़ी का अवलम्बन करके उत्क्रमण करते हैं और अर्चिः आदि मार्गों से वैकुण्ठलोक को प्राप्त करते हैं, उनका पुनरावर्त्तन नहीं होता। हाँ, अन्य लोक में गमन कर सकते हैं। राजा रैवत सत्यलोक से भूमि पर अवतीर्ण हुए थे। राजा परीक्षित शुकदेव के उपदेश से अपरोक्ष ज्ञानलाभ करके भी अर्चिः आदि पथों से वैकुण्ठ प्राप्त करके वहाँ से व्यास के आदेश से भू-लोक अवतीर्ण हुए थे और उन्होंने जनमेजय आदि को दर्शन दिया था, ऐसा सुनने में आता है। भगवान् की अचिन्त्य शक्ति से सब कुछ सम्भव है।

देवगण का उत्क्रमण नहीं होता, अर्चिः आदि पथों से गति भी नहीं होती। परन्तु, मनुष्य-रूप में जन्म लेने से उन्हें उत्क्रान्ति आदि हो सकती है, पर उससे मुक्तिलाभ नहीं होता। देवों की मुक्ति एकमात्र उत्तम देह में अपनी देह के लय से हो सकती है। यह लयमार्ग दो प्रकार का है: गरुड़मार्ग और शेषमार्ग। पहला मार्ग है—अग्नि सूर्य में लीन होता है, सूर्य गुरु में, गुरु इन्द्र में इन्द्र सौपर्णी में और सौपर्णी गरुड़ में लीन होता है। दूसरा मार्ग है—वरुण सोम में लीन होता है, सोम अनिरुद्ध में, अनिरुद्ध काम में, काम वारुणी में और वारुणी शेष में। अन्यान्य देवताओं में, कोई गरुड़मार्ग में, कोई शेषमार्ग में प्रविष्ट होकर विलीन होता है। जैसे, भृगु आदि देवगण दक्ष में, दक्ष इन्द्र में लीन होता है, वैसे ही आकाश के अधिष्ठाता गणेश और पृथ्वी की अधिष्ठात्री धरा गुरु में लीन होती है। यह गरुड़मार्ग के अन्तर्गत है। कर्मज देवगण, प्रियव्रत और जय स्वायम्भुव मनु में और मनु इन्द्र में लीन होता है। मरुद्गण और जय आदि सभी इन्द्र में लीन होते हैं। निर्ऋति और पितृगण यम में एवं यम इन्द्र में लीन होता है। आजानज और शेष देवगण अग्नि में लीन होते हैं। यह भी गरुड़मार्ग है। गन्धर्वगण कुबेर में, कुबेर सोम में, सनक आदि काम में और विष्वक्सेन अनिरुद्ध में लीन होता है। यह शेष-मार्ग है। गरुड़ और शेष सरस्वती में, सरस्वती ब्रह्मा में एवं ब्रह्मा लक्ष्मी द्वारा परमात्मा में लय होते हैं। इधर, उमा रुद्र में, रुद्र भारती में, भारती वायु में एवं वायु लक्ष्मी में लीन होती है। इनका परमात्मा में लय या मुक्ति नहीं होती। ब्रह्मकल्प का अवसान हो जाने पर ये व्युत्थित होकर वायु ब्रह्मरूप में, भारती सरस्वती-रूप में, रुद्र शेषरूप में एवं उमा वारुणी-रूप में प्रकट होती हैं। इसके बाद अवश्य ही स्वाभाविक क्रम से उनकी मुक्ति होती है।

उपर्युक्त प्रकार से लय हो जाने पर जीव ब्रह्मा के साथ विरजा में स्नान करके परम मोक्षलाभ करता है। विरजा में स्नान करते ही लिंगदेह का ध्वंस होता है और जीव भगवद्-धाम में प्रवेश करता है। अतएव विरजा उत्तीर्ण न होने तक ही प्रारब्ध कर्म रहता है। विरजा प्रधान और परव्योम या अव्याहत आकाश की मध्यवर्त्ती एवं लक्ष्मी-स्वरूपा है। इसे वैकुण्ठ की परिखा भी कहा जा सकता है। दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण और मन—इन षोडशकलाविशिष्ट सूक्ष्म देह को लिंगदेह कहते हैं। जीव से जब लिंग का सम्बन्ध टूट जाता है, तभी कहा जा कि लिंगभंग हुआ। वास्तव में प्रकृत्यात्मक होने के कारण लिंग का स्वरूपगत विनाश नहीं है, यद्यपि कोई-कोई यह भी स्वीकार करते हैं। जो स्वरूप ध्वंसवादी हैं, वे कहते हैं कि लिंग यद्यपि अनादि है, तथापि उसका ध्वंस हो सकता है। दृष्टान्त के रूप में वे प्रागभाव; अविद्या आदि का उल्लेख करते हैं।

प्रलयकाल में सभी जीव भगवान् के उदर में समाते हैं। उस समय केवल स्वरूपानुभूति मात्र होती है, विषयभोग नहीं होता। नूतन सृष्टिकाल में जब बहिर्गति होती है, तब विषय-भोग होता है। सृष्टि या प्रलय के समय मुक्त पुरुषों के ज्ञान, आनन्द आदि का कोई परिवर्त्तन नहीं होता। मुक्तों के लिए बाहर-भीतर समान है। पर, एक बात है। माध्वमतानुयायी

मुक्ति में जीवमात्र के आनन्द-साम्य को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं, आनन्द का भोग जीव की स्वकीय योग्यता से होता है। योग्यता का तारतम्य होने से मुक्ति में भी भोग का तारतम्य अवश्यम्भावी है।

सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—भोग चार प्रकार के हैं। समान ऐश्वर्य-भोग का नामान्तर है सार्ष्टि—यह सायुज्य का ही अवान्तर भेद है। भगवान् में प्रविष्ट होकर भगवद्देह के द्वारा जो भोगसाधन होता है, वही सायुज्य है। देवता इसके अधिकारी हैं। देवता अपनी-अपनी उत्तम देह एवं परमात्मदेह में प्रविष्ट होकर भोग कर सकते हैं। ब्रह्मा का भोग केवल परमात्मा के शरीर में ही निष्पन्न होता है। प्रलयकाल में सबको ही भगवद्देह में प्रवेश करना पड़ता है। अन्य समय मुक्तजीव अपनी इच्छा के अनुसार स्वरूप से बाहर आ सकते हैं और फिर स्वरूप में प्रवेश कर सकते हैं। वे स्वाधीन हैं। सालोक्य में मुक्त जीव भगवल्लोक के जिस किसी भी स्थान में रहकर इच्छानुरूप भोग-सम्पादन कर सकते हैं। कोई-कोई उत्क्रमण न करके वहीं मुक्तिलाभ करते हैं और वहीं रहते हैं। कोई अन्तरिक्ष में अथवा स्वर्ग, महः आदि लोकमें या क्षीरोदसागर में रहते हैं। सामीप्य और सारूप्य-भोग को भी उक्त प्रणाली से समझ लेना होगा। मुक्तों के भोगस्थान का अन्त नहीं है। क्षीरसागर, अश्वत्थवन, क्षुधासमुद्र, मद्यसरोवर, ब्राह्म उपवन आदि विचित्र भोगस्थानों के वर्णन मिलते हैं। उन उपवनों में जो वृक्ष हैं, उनकी प्रत्येक शाखा से अपूप (पुए) आदि गिरते हैं। वहाँ का कादो ही सुस्वादु पायस-स्वरूप है।

मुक्तजीव में कोई स्त्रीभोगी, कोई घोड़े आदि पर धावनशील और कोई दिव्य भूषण से भूषित होकर स्त्रियों के साथ जलकेलि में मग्न हैं, कोई स्फटिक और इन्द्रनील आदि बहुमूल्य प्रस्तरों से निर्मित विचित्र प्रासाद में विराजमान हैं। उनमें कोई यज्ञ आदि क्रियाओं में, कोई वेदध्वनि के साथ भगवान् के स्तवन में लीन हैं और कोई शुद्धसत्वमय लीलाशरीर धारण करके क्रीड़ा कर रहे हैं। कोई पिछले जन्म और मरण का स्मरण करके हर्ष प्रकट कर रहे हैं, तो कोई इच्छामात्र से ही पितृलोक-मातृलोक आदि के दर्शन कर रहे हैं। भगवान् का गुणगान, नृत्य वाद्य—किसी-न-किसी एक भाव में सभी निमग्न हैं। किन्तु, इसमें कोई भूल नहीं कि सभी आनन्द में डूबे हुए हैं। लेकिन, आनन्द का तारतम्य है। ईर्ष्या आदि कुवृत्ति से सभी निर्मुक्त हैं। अपरोक्ष ज्ञान के बाद जो कर्म-उपासना आदि अनुष्ठित होती है, उनके वैचित्र्य के कारण आनन्द की अभिव्यक्ति का तारतम्य होता है। यदि ऐसा न होता, तो अनुष्ठान की सार्थकता नहीं रहती। अपरोक्ष ज्ञान के बाद भी रुद्र, इन्द्र, सूर्य, धर्म आदि के कर्मानुष्ठान का वर्णन मिलता है।

जीव स्वरूपतः अणु-परिमाण है। उसके द्वारा मुक्ति में भोग कैसे सम्भव है? कोई-कोई ऐसा पूछ सकते हैं। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि जीव के अणु होने पर भी उसकी इच्छा के अनुसार भगवान् उसके लिए कल्याणतम महत् रूप निर्माण कर देते हैं। पितृजीव, गन्धर्वजीव, देवता, ब्रह्मा आदि अनेक प्रकार के जीव हैं। भगवान् प्रत्येक मुक्त जीव को ही उसकी योग्यता के अनुसार, स्वभाव के अनुरूप नवीन आकार देते हैं। सुनार जिस प्रकार, आग में तपाकर सोने का मल मिटाकर उसे शुद्ध करता है और जैसा चाहता है, वैसा ही आकार देता है, उसी प्रकार भगवान् जीव की अविद्या, काम-कर्म आदि मलों को आत्माग्नि में जलाकर जीव को योग्य कल्याणरूप प्रदान करते हैं। उनकी कृपा से मुक्तावस्था में जीव का अष्टैश्वर्य अभिव्यक्त होता है।

वैकुण्ठ आदि सभी भगवत्-धाम लक्ष्यात्मक हैं, इसलिए चिन्मय और नित्य हैं। इतना ही नहीं, धाम के लीलोपकरण-रूप सारे पदार्थ ही उसी प्रकार अप्राकृत एवं नित्य हैं। ब्रह्मा आदि जीव के मुक्त हो जाने से उनके, जगत्सृष्टि आदि व्यापार कुछ भी नहीं रहते, केवल अपने अधिकार के मुक्त जीवों पर आधिपत्य रहता है। नियम्य-नियामक भाव मुक्ति के बाद भी रहता है। परन्तु, मुक्तगण संसार में आवर्त्तन नहीं करता। अवश्य, वैकुण्ठवासी जय-विजय आदि सनक आदि के शाप से पृथ्वी पर आये थे, यह बात पुराण में है। परन्तु वे मुक्त नहीं थे, केवल अधिकारस्थ थे। मुक्त होने से शाप की योग्यता नहीं रहती।

परमात्मा स्वयं वैकुण्ठ में रहते हैं—मुक्त ब्रह्मा आदि कोटि-कोटि जीव उनकी स्तुति करते हैं। वह अनन्त शक्ति, अनन्तगुणसम्पन्न और परिपूर्ण भोगी हैं। लक्ष्यात्मक विमिताख्य पर्वत पर उनकी शय्या है, सुनन्द, नन्द आदि उनके पार्षद हैं और स्वयं महालक्ष्मी उनके प्रिय कर्मों के गान और बहुविध सत्कार के कार्यों में संलग्न हैं।

जब हिमालय ने भी सिर नवाया था

(श्रीशंकराचार्य जब अपने गुरू के पास ज्ञान-दीक्षा के लिए पहुँचे, तो गुरू ने पूछा—"तुम कौन हो ?" शंकर ने तत्क्षण उत्तर दिया—"चिदानन्द रूप : शिवोऽहम् शिवोऽहम्—मैं चिदानन्दरूप स्वयं शिव हूँ।" शताब्दियों बाद अद्वैतवादी शंकर के इस अमर सूत्र-वाक्य को राम बादशाह ने स्वयं आत्मसात् कर लिया—इतना ही नहीं, उन्होंने दुर्लभ अद्वैत-भावना का सर्व-जन-सुलभ भाष्य भी दिया। यहाँ हम उन्हीं स्वामी रामतीर्थ का संक्षिप्त जीवन-वृत्त विविध प्रासंगिक सामग्री के आधार पर दे रहे हैं।)

पर्वतीय मार्ग के दोनों पार्श्व में ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की कतारें खड़ी हैं। उनकी हरियाली और सघनता, दोनों आपस में इतनी घुल-मिल गयी हैं कि लगता है, रात की काली लटें बिखरी पड़ी हों। चारों ओर एक गहन सन्नाटा है, मानो वन-सुषमा पार्वती-सी ध्यान-मग्न किसी शंकर के लिए तपःसाधना में आत्मस्थ हो।—अनन्तनाग (कश्मीर) के एक ऐसे ही सौन्दर्यांचल में एक अश्वारोही अपनी मस्ती में चला जा रहा है। उसके घोड़े की टाप की आवाज इस गम्भीर निस्तब्धता में गूंज उठती है—टप्-टप्-टप्-टप्। इसी समय पीछे से वंशी की मधुर ध्वनि मुखरित हो उठी। खामोशी का आलम संगीत की मधुरिमा से अभिषिक्त हो गया। अश्वारोही भी मस्ती में गा उठा—

वह आयी, वह आयी, आयी घटा
गुलिस्ताने आलम पर छायी घटा।
घटा काली-काली धनुष लाल-लाल
कन्हैया के ऊपर है जैसे गुलाल।

उसके गीत के हर शब्द में उसके जीवन में परिव्याप्त मस्ती बोल रही थी। घोड़ा भी गीत के ताल-से-ताल मिलाकर अपनी रौ में बढ़ा जा रहा था।

शायद आपका अनुमान हो कि, यह अल्हड़ अश्वारोही कोई कल्पनाचारी कवि होगा या होगा कोई अलमस्त गायक। आपका अनुमान सर्वथा गलत भी नहीं कहा जा सकता। वह कल्पनाचारी अवश्य है, पर ऐसा कल्पनाचारी, जो अपने विस्तृत पंखों में समस्त भूमा को समेट ले—वह अलमस्त गायक जरूर है, पर ऐसा अलमस्त गायक कि, उसकी अलमस्ती का अन्दाज दूसरा कोई नहीं पा सकता। और, इन्द्रधनुषी गुलाल से रंगे अपने कन्हैया में वह इस कदर रमा हुआ है कि खुद 'राम' बन गया है, अपने को राम ही कहता है और समस्त विश्व में राम ही का रूप देखता है। तभी तो वह अपनी बुलन्द आवाज में उद्घोषित करता है—

नो सेल्फिश एम, नो टाई, नो बाण्ड
टु मी टु ईच ऐंड आल रिस्पाण्ड
इम्पर्सनल् लार्ड इन फो ऐंड फ्रेंड
टु मी डेथ एवरी आब्जेक्ट बेंड।

—न है कोई स्वार्थपूर्ण लक्ष्य, न है कोई गाँठ और न है किसी प्रकार बन्धन। विश्व के प्रत्येक प्राणी पर है मेरा उत्तरदायित्व। शत्रु और मित्र सबमें व्याप्त वह निराकार स्वामी मुझे प्रणाम करता है।

न केवल इतना कि, वह राम आप में और अपने में परमात्म-दर्शन ही भर करता है वरन् वह आपको कहता भी है—"अपनी परमेश्वरता का अनुभव करो और फिर तुम्हें स्वयं इस बात का ज्ञान हो जायगा कि, हरेक बात अपने-आपमें पूर्ण है।"

अब तो आप इस अश्वारोही को पहचान ही गये होंगे—ये ही हैं वे राम बादशाह, जिन्हें आप स्वामी रामतीर्थ के नाम से जानते आये हैं।

आज से ८० साल पूर्व की २ अक्तूबर को गुजरांवाला (पंजाब-पाकिस्तान) के एक छोटे-से गाँव में स्वामी रामतीर्थ का जन्म हुआ था। बचपन में वैष्णव धर्मावलम्बी पिता

श्री हीरानन्द गोसाईं ने उनका नाम रखा—तीर्थराम। ९ महीने की उम्र में ही तीर्थराम मातृहीन हो गये। उसके बाद उनके पालन-पोषण का सारा भार उनकी बड़ी बहन तथा बुआ पर पड़ा। दोनों महिलाएँ अत्यन्त धर्मनिष्ठ थीं, अतः बालक तीर्थराम को भी उसी समय से कृष्ण-भक्ति का चाव लग गया।

तीर्थराम की उम्र अभी दो वर्ष की भी न हो पायी थी कि, पिता ने उनकी सगाई कर दी और दस साल की उम्र होते-न-होते व्याह भी। व्याह के साथ ही तीर्थराम को अपनी प्राइमरी पढाई समाप्त करके गुजरांवाला हाई स्कूल में नाम लिखाना पड़ा। वहाँ इनका संरक्षण-भार इनके पिता के एक मित्र भगत धन्नाराम पर पड़ा। भगतजी वास्तव में भगवद्भक्त थे और उनके संसर्ग में रहने से बालक तीर्थराम की भी भगवद्-निष्ठा विकसित होती गयी। यहाँ तक कि, तीर्थराम भगत जी को भगवान् का ही रूप मानने लगे।

गुजरांवाला से इन्ट्रेंस (आधुनिक मैट्रिकुलेशन) की परीक्षा में ससम्मान उत्तीर्ण हो पिता की इच्छा न होते हुए भी तीर्थराम लाहौर चले गये और वहाँ एफ० ए० में नाम लिखाया। वहाँ उनको अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था और साथ ही आर्थिक कष्ट का भी सामना करना पड़ता था। किन्तु तब तक अपने परिश्रम तथा भगवान् पर उनका इतना दृढ़ विश्वास जम गया था, कि वे निश्चिन्त हो अपने निर्धारित पथ पर अग्रसर होते रहे। एफ० ए० के दूसरे वर्ष में अधिक परिश्रम की वजह से स्वास्थ्य खराब होने पर उन्होंने अपने मौसा को जो पत्र लिखा था, उससे हमें उनके तत्कालीन मनोभावों का स्पष्ट पता चलता है। उन्होंने लिखा था—

"मेरी सबसे भारी जरूरत तनहाई (एकान्त) और वक्त की है। हे परमात्मन्, मेहनती मन, एकान्त स्थान और वक्त—इन तीनों चीजों का मेरे लिए कभी अकाल न हो। यही मेरा संकल्प है। आगे परमेश्वर मालिक है।"

अपने घोर परिश्रम और सच्ची निष्ठा के परिणामस्वरूप तीर्थराम एफ० ए० की परीक्षा में कालेज भर में सर्वप्रथम रहे तथा सरकारी छात्रवृत्ति लेकर उसी कालेज में बी० ए० की पढ़ाई जारी रखी।

पिता ने दो वर्षों तक तो तीर्थराम का आज्ञोल्लङ्घन सहन किया, लेकिन तीसरे साल भी जब नौकरी की ओर प्रवृत्त न होकर पढ़ने ही लगे, तो पिता का रोष बढ़ गया। वे तीर्थराम की स्त्री को लाहौर लाकर छोड़ गये तथा स्वयं किसी भी तरह सहायता करने को तैयार न हुए। घर का किराया, पढ़ाई, किताब और फिर दो-दो आदमियों का खर्च—दूसरा होता, तो अपने संकल्प से डिग गया होता, मगर तीर्थराम को परिश्रम और परमेश्वर दोनों में अचल आस्था थी—वे भला कब डिगने वाले थे। फाके भी करने पड़े, तो समझा, ईश्वर धैर्य की परीक्षा ले रहा है।

लेकिन धैर्य की परीक्षा आसान थोड़े ही है। तीर्थराम, जो अपने सभी विषयों में सुतीक्ष्ण और विशेष कर गणित में तो एक ही माने जाते थे, बी० ए० की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये। अंग्रेजी में तीन नम्बर कम था। तीर्थराम की अनुत्तीर्णता का छात्रों को तो अलग, स्वयं प्रिंसिपल और प्रोफेसरों को महान् आश्चर्य था। प्रिंसिपल ने स्वयं उनके परचे की दो बार जाँच के लिए कोशिश की, अखबारों में इसे लेकर लेख-पर-लेख निकले। बाद में, इसके परिणाम-स्वरूप यूनिवर्सिटी के नियम में परिवर्तन हुआ जरूर, पर तीर्थराम को तो उस साल बी० ए० में रह ही जाना पड़ा। वे बड़े व्याकुल हुए कि, अब कैसे पढ़ाई आगे चलेगी। लेकिन यह व्याकुलता अस्थायी थी, उनके अटूट धैर्य एवं असीम ईश्वर-निष्ठा ने उन्हें तुरत नवीन स्फूर्ति प्रदान की और उन्होंने एकान्त में अपने प्रभु से प्रार्थना की—

कुन्दन के हम डले हैं, जब चाहे तू गला ले,
बावर न हो, तो हमको ले आज आजमा ले।
जैसी तेरी खुशी हो, सब नाच तू नचा ले,
सब छान-बीन कर ले, हर तौर दिल जमा ले।
राजी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रजा है,
यहाँ यों भी वाहवा है और वों भी वाहवा है।

सच्चे हृदय की व्याकुल प्रार्थना निष्फल कैसे जाती? स्वयं प्रिंसिपल ने बुलाकर तीर्थराम को यथासाध्य सहायता का वचन दिया, अन्य स्नेही मित्रों ने तसल्ली दी। तीर्थराम फिर दुगुने उत्साह से पढ़ाई में जुट गये, घोर परिश्रम किया तथा अगले साल वे पंजाब यूनिवर्सिटी की बी० ए० परीक्षा में सर्वप्रथम रहे।

छात्रवृत्ति मिल जाने पर एम० ए० की पढ़ाई में कुछ सुविधा जरूर हुई, पर परिवार आदि के कारण खर्च की

हमेशा किल्लत ही रही। मगर तवतक उनमें ईश्वरनिष्ठा और आत्मविश्वास इतने प्रवल हो गये थे कि, वे पूर्णतः निश्चित थे। एम० ए० में ससम्मान उत्तीर्ण होकर कुछ दिनों तक प्राइवेट ट्यूशन किया, वाद में स्यालकोट के मिशन स्कूल में उप-प्रधानाध्यापक तथा वहाँ के छात्रावास के अवीक्षक नियुक्त हुए। वहाँ कुछ दिनों तक काम करने के वाद वे लाहौर के मिशन कालेज (जहाँ वे स्वयं विद्यार्थी रह चुके थे) में प्राध्यापक होकर चले गये। तव तक उनके वेदान्त-ज्ञान और ईश्वर-निष्ठा की पंजाव भर में धूम हो चुकी थी और उनको सनातन धर्म सभा का मन्त्री भी चुना गया था। इस समय उनके हृदय में कृष्ण-भक्ति कि उच्छलता लहरा रही थी। प्रकृति के उदात्त, मनोरम दृश्यों को देखते ही उनके मन में वनमाली के वृन्दावन की याद सताने लगती और वे व्याकुल हो जाते। छुट्टियों में वे प्रकृति के साथ आत्म-साक्षात्कार करने के लिए प्रायः पार्वत्य प्रदेशों में जाया करते थे।— और, ऐसे ही किन्हीं छुट्टियों में वे अनन्तनाग की सैर में गये थे, जहाँ की घटना लेख के आरम्भ में ही वर्णित है।

१८९८ के ग्रीष्मावकाश में वे हरिद्वार, हृषीकेश होते हुए तपोवन गये थे। वहाँ गंगा का आदि प्रवाह देख वे इतने भावविभोर हो गये कि, कई दिनों तक वहीं के एक मन्दिर में बैठे आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न करते रहे। व्यग्र हो गये, किन्तु आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ। 'जलवए-कोहसार' (पर्वतीय दृश्य) नामक अपनी उर्दू पुस्तक में उन्होंने अपनी इस समय की अनुभूतियाँ निम्नलिखित शब्दों में प्रकट की हैं—

"गंगे ! क्या वह तेरी ही छाती है, जिसके दूध से ब्रह्म-विद्या पोषण पाती है ? हिमालय, क्या वह तेरी ही गोद है, जिसमें ब्रह्मविद्या खेला करती है ? नंगे सिर, नंगे पैर, नंगे शरीर, उपनिषदें हाथ में लिये आत्म-साक्षात्कार की मौजों में दीवाना बना राम पहाड़ी जंगलों में, गंगा-किनारे फिर रहा है।"

लेकिन कई दिनों की व्यग्र तपश्चर्या के वाद भी जब आत्म-साक्षात् नहीं हुआ, तो उन्होंने प्रतिज्ञा की—"या तो राम की आनन्दघन तरंगों में सब धन-धाम निमग्न होगा, या राम का शरीर गंगा की तरंगों में समर्पित होगा।"

बन के परवाना तेरा आया हूँ
ऐ शमए-नूर (परमज्योति!)
वात वह फिर छिड़ न जाय, यह तकाजा और है।

और, इसी धीर-प्रतिज्ञा के साथ रामतीर्थ एक प्रवाह-मार्ग की चट्टान पर ध्यानमग्न वैठ गये। लहरें ऊपर चढ़ीं और चट्टान को डुवो दिया, राम स्थिर ही रहे। थोड़ी देर वाद पानी जव उतर गया, तो राम ने विजय-घोष किया—

मैं कुश्तगाने-इश्क में 'सरदार' ही रहा,
सर भी जुदा किया, तो 'सरदार' ही रहा।

—प्रेम-युद्ध में मैं सरदार ही वना रहा। धड़ से सिर अलग कर दिया, फिर भी मैं सिर-वाला ही रहा।

कहा जाता है कि, राम को यहीं आत्म-साक्षात्कार हुआ और वे आत्मविभोर हो गा उठे—

आजादा अम्, आजादा अम्, अजरंज दूर उफ्तादा अम्,
अज ईश्वर जाले-जहां आजादा अम्, वाला स्तम्।
तनहा स्तम्, तनहा स्तम्, चेह वुलअजव तनहा स्तम्,
जुज मन न वाशद हेच शैं, यकता स्तम्, तनहा स्तम्।

—मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ, दुःख और सुख के स्पर्श से दूर हूँ। मैं जगत-रूपी बुढ़िया की चटक-मटक से दूर हूँ।

—मैं अकेला हूँ, मैं अकेला हूँ, कैसा आश्चर्य है, अकेला मैं ही हूँ। मेरे सिवा और किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। मैं 'एकमेवाद्वितीयम्' हूँ, विलकुल अकेला हूँ।—

इसी समय से राम को अपने में 'राम' की पूर्णानुभूति हुई और वे स्वयं 'राम' बन गये। अव घर-बार, स्त्री-पुत्र किसी से उनका आन्तरिक सम्वन्ध नहीं रहा हालांकि नौकरी अभी करते रहे और 'अभावों का संसार' अभी भी पूर्ववत् चलता रहा। अपने बाह्य अभावों को अपनी आंतरिक मस्ती के सामने चुनौती देते हुए उन्होंने अपने गुरुजी (भगत धन्नाराम) को १८९८ के अन्त में लिखा था—'राम इस बाहरी गरीबी की वजह से लाइंतहा (असीम) दर्जे की अमीरी व बादशाही कर रहा है।'

इस समय राम की आन्तरिक अनुभूति इस कदर असीम थी कि, वे क्लास में गणित पढ़ाते-पढ़ाते वेदान्त और सूफी के सिद्धान्त बताने लगते, सूफी कविताएँ गाकर सुनाने लगते। अथवा वहीं ध्यानस्थ हो जाते। वे अब हमेशा भगवान् शंकराचार्य का यह श्लोक झूम-झूम कर गाया करते—

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राण-नेत्रे।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुः
चिदानंदरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।

—न मैं मन, बुद्धि, अहंकार अथवा चित्त हूँ और न मैं कान, जीभ, नाक या आंख हूँ, मैं पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेज भी नहीं—मैं तो बस चिदानन्दरूप शिव हूँ, शिव हूँ।

इसी बीच कुछ मित्रों की सहायता से उन्होंने 'अलिफ' नामक एक उर्दू की आध्यात्मिक पत्रिका भी निकाली। लेकिन धीरे-धीरे उनका मन इतना विरक्त होता जा रहा था कि, अब 'राम' के सिवा उन्हें और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। निदान, सन् १९०० में उन्होंने पूर्ण वानप्रस्थ ले लिया। जिस समय उन्होंने संन्यासी-वेश में अपनी मातृ-भूमि से विदा ली, उनके भक्त, प्रेमी और आत्मीय हर्ष और वियोग के आँसू नहीं रोक सके। राम ने सबको सप्रेम अलविदा दी—

अलविदा मेरी रियाजी अलविदा
अलविदा ऐ प्यारी रावी अलविदा
अलविदा ऐ अहले-खाना अलविदा
अलविदा मासूमें-नादां अलविदा।

लाहौर छोड़ने के बाद वे हरिद्वार आये। उनके पत्नी-पुत्र भी साथ थे। किसी तरह छः महीनों तक वे सबको साथ लिये रहे और एक दिन उनको छोड़ एकान्तवास में चले गये। १९०१ ई० के शुरु में, स्वामी विवेकानन्द जी के शरीर-त्याग के कुछ दिन पूर्व गंगा तीर पर उन्होंने पूर्ण संन्यास ले लिया और तभी से वे गोसाई तीर्थराम के स्थान पर स्वामी रामतीर्थ कहलाने लगे।

संन्यास लेने के एक साल बाद टिहरी-नरेश के आग्रह पर स्वामीजी उनके यहाँ ठहरे हुए थे। वहीं पर उन्होंने जापान में होने वाली 'अखिल-विश्व धर्म-महासभा' का समाचार पढ़ा। स्वयं टिहरी-नरेश ने उनसे इस सम्मेलन में भाग लेने का आग्रह किया और आवश्यक अर्थ-व्यवस्था कर दी। जापान जाने पर स्वामी जी को पता चला कि, 'धर्म-महासभा' की खबर मनगढ़न्त थी। वहीं पर टोकियों में प्रोफेसर छत्रे नामक सरकस-मास्टर से स्वामी जी की मुलाकात हुई। प्रो० छत्रे स्वामीजी की शिक्षा से इतने प्रभावित हुए कि, उन्होंने भी संन्यास ले लिया और वहां से दोनों गुरु-शिष्य वेदान्त-प्रचार के लिए अमेरिका गये।

अमेरिकावासी स्वामीजी के व्यक्तित्व और भाषणों से अत्यधिक प्रभावित हुए कि वहाँ के कई पत्रों ने स्वामी जी के चित्र के साथ समाचार छापा—'जीवित ईसा मसीह अमेरिका आये हैं।' स्वामी जी के व्याख्यानों को बांच कर तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति इतने प्रभावित हुए कि, उन्होंने स्वयं स्वामी जी के दर्शन किये। इस समय न्यूयार्क के एक पत्र ने लिखा था—'अमेरिका में एक विचित्र भारतीय साधु आया है, जो अपने चश्मे के अलावा और किसी धातु को नहीं छूता। अपने साथ कोई खाद्य पदार्थ तक नहीं रखता। जब सैर को निकलता है, तो एक साधारण वस्त्र में कई दिनों तक अत्यन्त शीतल स्थानों में निर्बाध घूमा करता है। जब व्याख्यान देता है, तो दिन में कई बार और एक-एक बार में तीन-तीन घंटे धाराप्रवाह बोला करता है। उसका दिव्य आकार, बाल-सुलभ मुस्कराहट और सर्वात्म-भाव ईसा की भाँति सबका मन मोह लेता है।'

अमेरिका में जगह-जगह घूमकर स्वामीजी ने केवल वेदान्त-प्रचार ही नहीं किया, बल्कि उन्होंने दासता-पीड़ित भारत की मुक्ति-साधना में सहायता प्रदान के लिए भी अमेरिकावासियों से अपील की। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था—'मेरे आत्मास्वरूप' अमेरिकावासियो, भारतवासी तुम्हारे आत्म-बन्धु हैं। तुम्हें उन्हें मुक्ति-मार्ग पर लाने के लिए वैसे ही प्रयत्न करने चाहिए, जैसे तुमने अपने देश को स्वतन्त्र करने के लिए किये थे।—भारतीय आज अपनी ही दुर्बलताओं से गुलामी का दुःख भोग रहे हैं। गुलामी का दुःख सबसे बड़ा दुःख है। अब तुम्हारा यह कर्त्तव्य होता है कि, उनमें आत्म-चेतना जाग्रत करो और उन्हें मुक्त होने दो। फिर देखो, वे तुम्हारे कंधे-से-कंधे मिला कर किस तरह समस्त विश्व को अज्ञानांधकार से मुक्त करते हैं।'

कहा जाता है कि, अमेरिका में 'नास्तिक-समाज' नामक संस्था की विदुषी नेत्री पर समाधिस्थ रामतीर्थ के दर्शन-मात्र से इतना प्रभाव पड़ा कि, उन्होंने तत्काल संन्यास-वृत्ति ले ली और वेदान्त-प्रचार में अपना शेष जीवन यापित किया।

अमेरिका से जिब्राल्टर होते हुए स्वामी जी मिस्र आये। वहाँ एक मस्जिद में उन्होंने फारसी में इतना विद्वत्तापूर्ण

और मार्मिक व्याख्यान दिया कि, वहाँ के बड़े-बड़े विद्वान् और दार्शनिक भी उसे सुन कर बिलकुल दंग-से रह गये।

सन् १९०४ के अन्त में स्वामी जी भारत में पुनः वापस आये। तब तक उनकी काफी प्रसिद्धि हो चुकी थी। स्वामी जी का स्वदेश-प्रत्यावर्तन के बाद का पहला व्याख्यान बम्बई में हुआ। इस व्याख्यान में उन्होंने भारतवासियों को सभी भेदभाव भूल, सर्वात्मवादी बन कर मुक्ति-साधना का आदेश दिया था।

स्वामी जी जब बम्बई से मथुरा पहुँचे तो उनके कुछ भक्तों ने उनसे आग्रह किया—"आप अपने नाम से अपने मत प्रचार के लिए कोई संस्था स्थापित कीजिए।" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"भारतवर्ष में जितनी संस्थाएँ हैं, वे सब राम की हैं, राम सबमें काम करेगा। सब राम के हैं, सब मेरे आत्म-स्वरूप हैं।" और, उसके बाद दो वर्षों तक स्वामी जी सब स्थानों में घूम-घूम कर भारतीयों को मुक्ति-सन्देश सुनाते रहे।

१९०६ ई० की कार्तिक अमावस्या को मध्याह्न समय स्वामी जी टिहरी से थोड़ी दूर भृगु-गंगा में स्नान करने गये थे। उस समय वे कुछ दिनों से टिहरी-नरेश के आग्रह पर वहीं ठहरे हुए थे।

गंगा अपनी प्रखर धारा में बह रही थी। स्वामी जी ने 'ओम्-ओम्' का गान करते हुए नदी में प्रवेश किया। डुबकी लगायी ही थी कि, पैर के नीचे का पत्थर खिसक गया और वे भँवर में जा पड़े। लगता था, मानो गंगा, स्वामी जी की परमप्रिय गंगा मैया—अपने शिशु को सदा के लिए आत्मलीन करने को ही उस दिन उच्छ्वसित हो रही हो।

जल-समाधि के पूर्व ही स्वामी जी को इस भवितव्य का संकेत मिल चुका था। स्नान के लिए जाने के कुछ ही देर पूर्व लिखे गये अधूरे लेख की ये पंक्तियाँ इसकी साक्षी हैं—

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, गंगा, भारत।

"ऐ मौत। बेशक उड़ा दे इस एक जिस्म को, मेरे और रूप ही मुझे कुछ कम नहीं। सिर्फ चाँद की किरणें और चाँदी की सितारों को पहन कर ही चैन से रहूँगा। नदी-नालों के वेश में गीत गाता फिरूँगा।—मेरी यह सूरते-सैलानी (भ्रमणशील रूप) हर वक्त रवानी में रहती है। इस रूप में पहाड़ों से उतरा, मुरझाते पौदों को ताजा किया, गुलों को हँसाया, बुलबुल को रुलाया, दरवाजों को खटखटाया, सोते हुओं को जगाया, किसी के आँसू पोंछे, किसी का घूंघट उठाया। इसको छेड़ा, उसको छेड़ा तुझको छेड़ा। वह गया। यह गया। वह गया।—न कुछ साथ रखा, न किसी के हाथ आया।...."

●

सड़क एक पाठशाला

स्वामी रामतीर्थ बचपन से ही बहुत अध्ययनशील विद्यार्थी थे, इसी कारण उन्हें एक आदत पड़ गई थी कि जब भी कभी उन्हें एकान्त मिलता या वे किसी बाग-बगीचे में होते, तो कोई न कोई पुस्तक पढ़ने में तल्लीन हो जाते थे। जब छोटे थे तब लोग उनका 'पढ़ाकू है,' 'किताबी कीड़ा है' कहकर मजाक उड़ाया करते थे।

स्वामी जी जब कुछ बड़े हुए तब की बात है, एक दिन वह किसी बाग में एकांत देखकर अपनी किसी प्रिय पुस्तक को पढ़ने में मग्न थे। उन्हें पता ही न चला कि कब दिन डूब गया। पास ही बैठा एक आदमी उन्हें काफी देर से घूर रहा। जब उससे न रहा गया तब वह झुंझलाहट भरे स्वर में स्वामी जी का मजाक उड़ाते हुए बोला, "भाई साहब, अब तो पढ़ना खत्म करिये। रात होने जा रही है।"

फिर कुछ रुककर उसने पुनः कहा, "भाई, यह बाग है। यहाँ लोग मौज मजे के लिये आते हैं। यह कोई पाठशाला नहीं, जो आप यहां अध्ययन में जुटे हुए हैं।"

●

रूप और स्वरूप

श्री घनश्यामदास बिड़ला

'आम खाना या पेड़ गिनना' ऐसा कहने वाले व्यक्ति को अक्सर लोग समझदार मानते हैं। पर हम ज़रा ज़्यादा सोचेंगे तो पता लगेगा कि इस उपदेशक ने शायद दूरदर्शिता की बात नहीं कही, न वह गहरे पानी में उतरने की फिक्र में था। इसलिए सम्भव है कि आलस्यवश झंझट में न पड़ने की फिक्र में उसने यह कह डाला हो कि आम खाना ही अभीष्ट है तो फिर पेड़ गिनना निरी मूर्खता और समय की बरबादी है। यदि वह थोड़ी मेहनत से काम लेता तो अवश्य सोचता कि आम का बाग खरीदना है तो केवल एक दो आम खाकर झटपट बिना पेड़ गिने ही थैली खोल कर रुपया गिन देना और पीछे जब पता चले कि पेड़ बहुत कम थे और सो भी जीर्ण-शीर्ण, तब पछताना यह भयंकर मूर्खता होगी। ऐसा सोचता तो वह आम खाकर पेड़ भी अवश्य गिनवाता।

बात यह है कि रूप और स्वरूप का यह पुराना झगड़ा है। साधारण मनुष्य जो चीज सामने दिखाई देती है, उसे ही स्वीकार करके उस पर इमारत बनाता है, तो तत्ववेत्ता जो द्रष्टा है उसे भूलकर अदृष्ट की बातें करता रहता है। तत्ववेत्ताओं ने समझाया कि ऊपरी शक्ल में कुछ नहीं रखा है, जो रूह है, वही सच्चा स्वरूप है, उसकी कीमत है और वही ग्रहण करने योग्य है। "गुलाब किसी भी नाम से पुकारा जाय, आखिर गन्ध तो देगा ही।" ऐसा कह कर उन्होंने नाम की अवहेलना करके तत्व की महिमा गाई।

कबीर ने भी, "तू कत बंमन हम कत सूद, हम कत लोहू तू कत दूध" कह कर नाम और रूप दोनों की अवहेलना करके स्वरूप पर जोर दिया। तू ब्राह्मण क्यों और शूद्र क्यों? आखिर दोनों ही में तो लोहू है। यह तो है नहीं कि मेरी नसों में तो लोहू है और तेरी नसों में दूध? तो फिर ऊपर की शक्ल तुम्हारी ब्राह्मण की हो, गले में जनेऊ हो, ललाट पर तिलक हो और मेरी शक्ल शूद्र की हो तो भी क्या? जब भीतर वही रक्त, वही हाड़-मास है तो हम दोनों ही समान हैं, न तू ब्राह्मण और न मैं शूद्र। ब्राह्मण और शूद्र को उसकी वृत्ति से पहिचानो। वृत्ति ही असली स्वरूप है।

पर यह तत्ववेत्ता के वाक्य हैं। संसारी लोग कबीर की तरह संसार को खुर्दबीन, माइक्रोस्कोप या एक्सरे से नहीं देखते। संसार को यह आम खाने और पेड़ न गिनने की आदत के पक्ष में काफी मसाला है। तत्ववेत्ता वस्तु का असली रूप उसे ही मानता है, जो दृष्ट के पीछे अदृष्ट है। उसे मनुष्य की एक्सरे तसवीर ज्यादा आकर्षित करती है, बजाय उसकी बाहरी तसवीर के। भीतर फुसफुस, गुर्दा, लीवर, हृदय इत्यादि अंग-प्रत्यंग अपना-अपना काम कैसे करते हैं, इसमें एक प्रकांड चिकित्सक को ज्यादा दिलचस्पी होती है, बजाय बाहरी रूप के। मनुष्य-शरीर तत्ववेत्ता की दृष्टि में हाड़, मांस, रक्त, मज्जा, मेद इत्यादि का एक भांड है। मनुष्य का असली स्वरूप उसकी आत्मा है, पर साधारण मनुष्य यदि इस तरह सब चीज़ों को देखे तो अवश्य ठोकर खा जाय। इसलिए वह झंझटों में नहीं पड़ता और जो सामने है, उसे ही देखता है।

यह मान भी लें कि चाहे किसी भी नाम से पुकारो, गुलाब की गन्ध में कोई फर्क नहीं पड़ता, तो भी यह मानना होगा कि गुलाब को यदि हम नरक के नाम से पुकारें तो अवश्य एक सूग पैदा होगी, चाहे उसमें सुगन्ध कितनी ही आती रहे। इसलिए साधारण मनुष्य गन्ध के साथ-साथ नाम और रूप पर भी मोहित है और उसने गुलाब का नाम गुलाब ही रख कर रूप की पूजा और स्वरूप का तिरस्कार भी नहीं किया।

संसारी मनुष्य नाम और रूप की पूजा करके तत्ववेत्ता के मुकाबले में हल्का उतरता है, ऐसी बात भी नहीं है। आखिर रूप का भी तो महत्व है ही।

राम, कृष्ण, जिन्हें हम अवतार मानते हैं, उन पर पुराने शास्त्रकार इसलिए मुग्ध नहीं हुए कि रामचन्द्र जी या कृष्ण

जो चोटी के नेता थे, जिन्होंने समाज और राष्ट्र की सेवा की या उनका रहन-सहन अत्यन्त सादा था अथवा वे समाज और राष्ट्र की बड़ी सेवा की या उनका रहन-सहन अत्यन्त सादा था अथवा वे निरामिष भोजी और त्यागी थे और उनमें वह वक्तृत्व-शक्ति थी कि जनता चित्रांकित और मन्त्रमुग्ध हो जाती थी या उन्हें शरीर और कपड़ों की कोई सुध नहीं थी। इन बातों में उनकी कोई तारीफ नहीं थी। उलटे, उनके महात्मा का जो वर्णन है, वह या तो उनके सौन्दर्य का है, या उनके बाहुबल का।

दोनों-के-दोनों अवतारसौन्दर्य के ही तो रूप थे। स्त्रियाँ उन्हें देख कर मोहित हो जाती थीं और पुरुष देख कर विस्मय करते थे। अच्छे वस्त्र और आभूषणों को स्वीकार करके उन्होंने सादगी का भी तिरस्कार किया। कमल-लोचन, विशाल बाहु, उन्नत स्कन्ध, कठोर जंघा इत्यादि की प्रशंसा करने में न तो उन्हें और न उनके प्रशंसकों को ही संकोच हुआ। इसी तरह उनके बाहु-पराक्रम का वर्णन करते समय भी कवि ने उनके द्वारा की गयी हिंसा का खूब ठाठ से वर्णन किया। राम-कृष्ण ने तो बात-की-बात में दुष्टों का नाश इस तरह किया मानो घास काट रहे हों। किसी को बाणों से, तो किसी को वज्र से और किसी को गदा से मार गिराया।

आज की-सी रुचि यदि उस जमाने की होती तो क्या मजाल कि कवि उनके सौन्दर्य या उनके हिंसक पराक्रम का इस तरह रस-भरा वर्णन करता। जिस बुरी तरह से राम-कृष्ण दुष्टों को काटते थे। उस तरह तो क्या, आज का नेता यदि साधारण बेंत से भी किसी पर प्रहार कर दे तो देशी और विदेशी अखबारों में तहलका मच जाय और नेता को गिड़गिड़ा कर माफी मांगनी पड़े।

इसके यह माने नहीं कि आज के लोग अहिंसक और अत्यन्त सादे हैं या आज का नेता स्वयं अहिंसक या सादा बन गया है। बात यह कि लोगों का दृष्टिकोण और मूल्य आँकने का तरीका बदल गया है और इसलिए ग्राहकी में फर्क पड़ गया है।

सौन्दर्य की उपासना तो कम नहीं हुई, पर नेताओं से तकाजा सौन्दर्य का नहीं है। उनसे चाह कुछ दूसरी ही शक्ल की है। इसलिए नेता ने भी बाध्य होकर सौन्दर्य और हिंसा से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। नेता को सजावट और बनावट में दिलचस्पी हो भी तो उसकी हिम्मत नहीं कि वह दिलचस्पी प्रकट करे। इसलिए उसे अपनी शक्ल को भी बदलना पड़ा है। एक विख्यात नेता के बारे में तो यहाँ तक कहा जाता है कि उनके मीटिंग के कपड़े अलग होते थे और साधारण समय की पोशाक अलग। आज कोई नेता, कितनी भी उसकी सेवा हो, यदि रंगमंच पर सूट-बूटधारी होकर खड़ा हो तो लोगों के दिल पर जबरदस्त धक्का लगेगा और लोग उसके बारे में कानाफूसी करने लगेंगे।
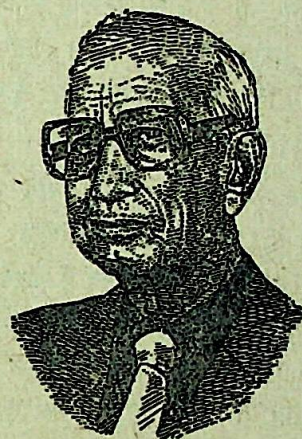
श्री घनश्यामदास बिड़ला

यह भी यही सिद्ध करता है कि हम स्वरूप के नहीं, रूप के ही उपासक हैं। हम कहाँ नेता के भीतर प्रवेश करते हैं? कहाँ हम देखते हैं कि नेता तमोगुणी है या सतोगुणी, चरित्रवान है या सैलानी जीव? हम तो इतना ही देखते हैं कि उसने क्या कहा, कब जेल गया, कैसा भाषण दिया और उसका बाहरी आडम्बर क्या है और अखबारों ने उसको कैसा चित्रांकित किया है।

प्राचीन लोगों ने जहाँ अपने आदर्श पुरुष को सुन्दर, आभूषणों से सजा हुआ, कसा हुआ धनुषधारी देखना चाहा तो उस समय का नेता भी उनके सामने उसी शक्ल में आया। आज के लोग अपने नेताओं की गिरी हुई शक्ल, मैले कपड़े, झुकी हुई कमर, कुछ-कुछ खाँसी की ठनक के साथ देख कर खुश होते हैं, तो नेता भी जब मंच पर चढ़ता है तो कुछ अलग ही सूरत में आता है। उसके दिल में अहंकार, गरूर

और प्रलयंकारी क्रोध भी हो तो जनता के सामने विनम्र, झुका हुआ और मुस्कान के साथ ही अभिवादन करता हुआ प्रकट होता है। नेता को खांसी न भी आती हो, तो भी मंच पर उसे पैदा करना ही शायद अच्छा लगता है।

स्त्रियों को भी इस जमाने के लोग एक खास तरह से सजी हुई देखना चाहते हैं। नतीजा यह है कि नूपुर और ताम्बूल गया और ऊंची एड़ी का जूता और लिपस्टिक आया। सोना और मोती-मणियों के आभूषण गये, कौड़ी और हाड़ों की मालाएँ आईं। यूरोप और अमरीका में ताम्रवर्णी स्त्रियाँ सुन्दर मानी जाने लगीं तो लाखों युवतियाँ समुद्र तट पर सूर्य को सेन्से कर अपना रंग बदलती हैं। यहाँ भी यदि यह फैशन चल जाय कि रंग तो श्यामल ही अच्छा तो फिर शायद स्त्रियाँ मुँह पर कोयला भी पोतने लगें।

पुराने समय में ऋषि-मुनियों को लोग जटाजूटधारी, भस्मी लपेटे हुए और रुद्राक्ष की माला सहित देखना पसन्द करते थे तो ऋषि-मुनि भी उसी शक्ल में फिरते थे। ऋषि को राजा की लड़की ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं होता था, पर दिमाग पर इतने बड़े बालों का बण्डल लेकर फिरना और नाहक गन्दगी मोल लेना उसे नहीं अखरता था। सेफ्टी-रेजर न सही, पर उस जमाने में उस्तरे की कोई कमी नहीं थी। पर क्या मजाल कि ऋषि जटा काटें। ग्राहक जो मांगता है, वही तो दुकान पर रखना पड़ता है।

पुराने ग्राहक अवतार को जिस रूप में चाहते थे उसी में अवतार सामने आया। ऋषि को जैसी सूरत में देखना चाहते थे उसी सूरत में ऋषि आया। इसी तरह आज के लोग जिस रूप में नेता को देखना चाहते हैं, उसी रूप में नेता को आना पड़ता है। रूप की महिमा हजारों साल के बाद भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

क्या करे पुराना नेता और क्या करे नया। फसाद तो सारा यह जनता का है। इस दृष्टि से किस रूप को सिंहासन पर बैठाना और किसको गिराना, यह भी बड़े महत्व का विषय है। 'विद्यातपो वित्तवपुर्वयः कुलैः सतां गुणैः षड्भिरसोत्तमेतरैः', विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्चकुल यह किसी जमाने में सत्पुरुषों की निशानी थी। अब यह सब बदल रहा है। विद्या तो बुनियादी तक और तप जेल तक सीमित हो गया। जवानी का सम्मान सोशलिस्ट लोगों तक ही सीमित है। धन, सुदृढ़ शरीर और उच्चकुल तो दूषण हैं। इन्हें गुण बताना फटकार सुनना है।

यह बदली हुई भावना अच्छी है या बुरी, यह तो विचारने की बात है।

नेता के नसीब में से कसरती शरीर, सौन्दर्य, अच्छे वस्त्र और योगक्षेम तो उसी जमाने में चला गया जब कि नेता कारावासी था। उस समय नेता ने गरीबी मेटने की ललकार तो लगाई, पर उल्टे दरिद्रनारायण की प्रशंसा में पड़कर दरिद्रनारायण, और उसके साथ-साथ कुरूपनारायण, रोगनारायण, मलिननारायण को भी सिंहासन पर आसीन कर दिया, चाहे 'हाथु सुमरनी काख कतरनी' ही रही हो। अब नेता राजा बन गया। इसलिए राजसी ठाठ के साथ कई तरह के ये विचित्र, दरिद्र, मलिन, कुरूपनारायण इत्यादि कहाँ तक निभेंगे, यह सोचने की बात है।

जो हो, रूप का मोह संसार ने न छोड़ा, न कभी छोड़ेगा। "पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ स्वकन्यां चर्माम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः," समुद्र ने पीताम्बर पहने देख कर अपनी कन्या लक्ष्मी को तो विष्णु को दे डाला और बेचारे शिव को चमड़ा लपेटे हुए देखकर जहर अर्पण किया। इस तरह का घोटाला फिर न हो, इसलिए स्वतन्त्रता के बाद अब नेता को भी चर्माम्बरी न होकर पीताम्बरी बनने के लिए सत्साहस करना अच्छा लगता है। बाकी जनता और सरकार की मर्जी।

रूप और स्वरूप में कुछ समन्वय भी होना जरूरी है। एक तरफ यह राजसी ठाठ, दूसरी ओर यह अजीब वेशभूषा और धधकती हुई अभिलाषा का सम्मिश्रण। कुछ दिन बाद ऐसा लगेगा जैसे हलुवे में नीम या लंगोटी पर मुकुट।

पर बात तो यह थी कि आम खाना तो पेड़ क्या गिनना। इतनी बक-झक के बाद भी मुझे यही लगता है कि आम भी खाना चाहिए और पेड़ भी गिनने चाहिए। रूप भी ठीक चाहिए और स्वरूप भी। 'विषकुम्भं पयोमुखम्' भी बुरा और 'पयोकुम्भं विषमुखम्' भी बुरा। जरूरत तो यह है कि पयोकुंभम् भी हो और पयोमुखम् भी हो।

●

संत एकनाथ : जीवन और सन्देश

श्री एम० एन० सुब्रह्मणियम्

जब महाराज कृष्णदेव रायजू विठोवा की मूर्ति पंढरपुर से विजय नगर ले गये, तो सारा नगर शोकातुर हो उठा, किन्तु महान् वैष्णवभक्त भानुदास अपनी जान की बाजी लगा कर इस मूर्ति को पुनः पंढारी ले आये। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर विष्णु ने उन्हें वर दिया कि वे उसके परिवार में अवतरित होंगे। फलतः गोदावरी के रम्य तट पर अवस्थित प्राचीन एवं पवित्र नगर पैठण में भानुदास के पौत्र सूर्यनारायण के घर सन् १५३३ में एकनाथ का जन्म हुआ। विश्व के उद्धार के लिए पाण्डुरंग अवतरित हुए।

एकनाथ बाल्यकाल में ही अनाथ हो गए। उनका लालन-पालन वड़े प्यार के साथ उनके पितामह द्वारा किया गया। पैठण किसी समय में शालिवाहन राजाओं की राजधानी के रूप में विकसित हुआ था। यह नगर कट्टरपंथियों और संस्कृत के विद्वानों का गढ़ था। इसे दक्षिण का 'वाराणसी' कहा जाता था। एकनाथ को प्रारम्भिक शिक्षा उनके पितामह चक्रपाणि द्वारा मिली थी। चक्रपाणि एक महान् विद्वान् और सन्त थे।

जब एकनाथ बारह वर्ष के हुए, तो उन्हें शिवमन्दिर से दैवी आदेश प्राप्त हुआ जिसमें कहा गया था कि वे जनार्दन स्वामी से दीक्षा लें। गुरु से मिलने की प्रबल उत्कण्ठा से वे अपने गृहनगर से लगभग ६३ किलोमीटर दूर, देवगिरि (दौलताबाद) की ओर पैदल ही चल पड़े। इस उतावली में वे अपने पितामह से भी आज्ञा नहीं ले सके। जनार्दन स्वामी एक बड़े किलें के सर्वोच्च अधिकारी थे। मुसलमान वादशाह जो किलों का मालिक था, स्वामी जी का बड़ा सम्मान करता था। हर बृहस्पतिवार को बादशाह के आदेश से अवकाश रहता था, ताकि जनार्दन स्वामी अपने आराध्य देवता दत्तात्रेय की निर्विघ्न पूजा अर्चना कर सकें। एकनाथ लगातार छः वर्षों तक बड़ी ही भक्ति एवं निष्ठापूर्वक स्वामी जी की सेवा करते रहे।

एक रात एकनाथ काफी रात तक स्वामी जी के एकाउण्ट में एक साधारण सी भूल का पता लगाते रहे। अन्ततोगत्वा उन्होंने भूल निकाल ली। सहसा उनकी मुखाकृति चमक उठी और प्रसन्नतापूर्वक वे तालियाँ बजाने लगे। जनार्दन स्वामी, एकनाथ पर बराबर सतर्क दृष्टि रखे थे। वे कह उठे कि जिस निमग्नता और एकाग्रता से यह कार्य सम्पन्न किया है यदि उसी तन्मयता और एकाग्रता से वे सर्वात्मा के चरणों में लीन हो जाएँ तो उन्हें सर्वात्मा निश्चित ही सुलभ होगा।

एक दिन जनार्दन स्वामी एकनाथ को देवगिरी के उत्तर में घने जंगलों के बीच पर्वतश्रृङ्ग पर अवस्थित एक झील के पास ले गये। उन्होंने कहा, "दत्तात्रेय प्रायः किसी-न-किसी वेष में इस स्थान पर आते हैं। यदि वे किसी भयावने रूप में प्रकट हों तो उन्हें डरना नहीं चाहिए।" उसी समय वहाँ एक हट्टा कट्टा फकीर एक भयानक कुतिया के साथ दृष्टिगोचर हुआ। वह चमड़े का आवरण ओढ़े था। उसने जनार्दन स्वामी को एक मिट्टी का वर्तन देकर आदेश दिया कि स्वामी जी उसी बर्तन में कुतिया का दूध दुहें। इसके बाद उसने उस बर्तन में कुछ रोटी के टुकड़े डाले और दोनों उसी बर्तन से रोटी ले लेकर एक साथ ही खाने लगे। भोजनोपरान्त एकनाथ उस बर्तन को धोने के लिए झील के पास गये। लौटने पर एकनाथ ने देखा कि फकीर वहाँ नहीं हैं, उसके स्थान पर स्वयं भगवान् दत्तात्रेय सगुण रूप में खड़े हैं—उनको छः भुजाये हैं और आँखें बड़ी-बड़ी अत्यन्त तेजस्वी। उनकी मुखाकृति दृश्य जगत की शोभा है और वह कुतिया कामधेनु के रूप में खड़ी है। दत्तात्रेय ने एकनाथ को आशीर्वाद दिया और वे पुनः अदृश्य हो गये।

देवगिरि के समीप ही सुलभा (शूलभंजन) पर्वतश्रृङ्खला है जहाँ ऋषि मार्कण्डेय रहा करते थे। उस पर्वत पर चढ़ कर एकनाथ ने सूर्यकुण्ड झील में स्नान किया। वे एक निर्जन स्थान में बैठ कर पाण्डुरंग के नाम की आवृत्ति

करने लगे। प्रकृति के सौन्दर्य ने उन्हें सम्मोहित कर लिया और वे ध्यानावस्थित हो गये जब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिया। कहा जाता है कि एक बड़ा सर्प, यह जानकर कि एकनाथ समाधिस्थ हो गये हैं, उनकी ओर काटने के लिए झपट पड़ा। पर ज्यों ही वह एकनाथ के चारों ओर कुण्डली लपेट रहा था, उसकी बुरी प्रवृत्ति वदल गयी और उसने अपना फण उनकी रक्षार्थ उनके सिर के ऊपर कर दिया।

अपने सद्गुरु के आदेश से वे एक लम्बी तीर्थयात्रा पर गये और पैठण लौटने पर वे गिरिजा बाई के साथ प्रणय सूत्र में बंध कर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने लगे। उनका जीवन इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए कोई व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। भोर में ही उठकर वे गोदावरी में स्नान करते थे और पाण्डुरंग की पूजा अर्चना करते थे। उनके द्वारा भागवत और ज्ञानेश्वरी का पाठ सुनने के लिए दूर-दूर से लोगों की भीड़ एकत्र होने लगी। स्वयं भगवान् केशवनाम के ब्राह्मण के रूप में एकनाथ के सम्मुख बैठ कर उनका पाठ सुनते थे। रात्रि में जब एकनाथ कीर्तन करते थे तो भगवान् विठोबा के रूप में सामूहिक भजन का नेतृत्व करते थे।

एकनाथ जी का कीर्तन सुनने के लिए एक भक्तहृदय दम्पति नित्य आता था। ये थे रण्या महार और उनकी पत्नी। ये लोग अपनी जाति से निष्कासित थे। वे एकनाथ के इस कथन से प्रभावित थे कि ईश्वर की दृष्टि में सभी बराबर हैं। उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की कामना से उन्होंने एकनाथ जी को अपने साथ भोजन पर आमन्त्रित किया। जब उन्होंने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, तो पूरा ब्राह्मण वर्ग क्षुब्ध हो उठा। वे लोग एकनाथ को उस जातिच्युत दम्पति के यहाँ भोजन करते पकड़ना चाहते थे, जिससे उन्हें जाति से बहिष्कृत किया जा सके। वे रण्या की झोपड़ी और एकनाथ के आवास पर बराबर दृष्टि लगाये रहे, उन्हें यह देखकर महान् आश्चर्य हुआ कि एकनाथ अपने आवास एवं उनकी झोपड़ी में एक साथ बैठे दिखाई पड़े। पाण्डुरंग स्वयं एकनाथ के रूप में यह दिखाना चाहते थे कि वे सर्वव्यापी हैं और सभी के साथ भोजन में सम्मिलित रहते हैं।

एकनाथ प्रत्येक जीव में सर्वात्मा की झलक पाते थे। वे शान्ति और दया के महासागर थे। एक उद्दण्ड मुस्लिम युवक ने एकनाथ के ऊपर उस समय थूक दिया जब वे गोदावरी में स्नान कर लौट रहे थे। पर एकनाथ की विनम्रता के आगे उसे झुकना पड़ा। एकनाथ सहिष्णुता, धैर्य और क्षमा के प्रतीक थे। एकदिन जब एकनाथ ने पूर्वजों के श्राद्ध निमित्त पकवान तैयार करवाया तो सहसा तीन फकीर अतिथि के रूप में उनके यहाँ आ धमके। एकनाथ ने पूर्वजों के श्राद्ध के लिए बने पकवान से उनका स्वागत किया। एक बार अपने निवास में घुसे कुछ चोरों को देखकर उनका हृदय दया से भर गया और उन्होंने उन चोरों से निवेदन किया कि जिन सामानों की उन्हें आवश्यकता हो, वे उठा ले जाएं।

उनकी दयालुता की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। वे किस प्रकार एक महार बालक को गोदावरी तट पर पड़े जलते सिकतासमूह से गोद में उठाकर ले आये और उसे उसकी माँ के पास पहुँचा दिया। उन्होंने एक बार एक जेल से भगे कैदी की रक्षा की और स्वयं उसकी सेवा सुश्रुषा कर उसे स्वस्थ बनाया साथ ही शासन से उसके लिए क्षमादान भी प्राप्त कर लिया। एक बार उन्होंने एक गधे की प्यास उस गंगाजल से तृप्त की जो जल उन्होंने रामेश्वरम् में शिवपूजा के निमित्त मंगवाया था।

कट्टरपंथियों को उनकी दया भावना से चिढ़ हो गयी। उनका कहना था कि चोर की सेवा करना उसे और जबरदस्त चोर बनाना है। किन्तु उनका शिष्य उद्धव और उनकी पत्नी गिरजा बाई सदैव उनके कार्यों के प्रति निष्ठावान रहे। उन्होंने चतुश्लोकी भागवत पर मराठी में टीका लिखी। भागवत् पुराण के ग्यारहवें स्कन्द का भी उन्होंने मराठी में भाषान्तर किया, मात्र इसलिए कि जनसाधारण इस भक्तिमय ग्रन्थ का रसपान कर सके।

उन्होंने मराठी भाषा में 'रुक्मिणी स्वयंवर' लिखा। महाराष्ट्र में नवयुवतियों को इस ग्रन्थ को पढ़ने की सलाह दी जाती है ताकि उन्हें अच्छा वर प्राप्त हो। एक बार जब एकनाथ 'आलन्दी' की तीर्थयात्रा पर गये तो ज्ञानेश्वर ने स्वप्न में उन्हें दर्शन दिया और कहा कि वे उनकी समाधि

(शेष पृष्ठ १८ पर)

❀ श्री भगवतीप्रसाद खेतान अभिनन्दन ❀
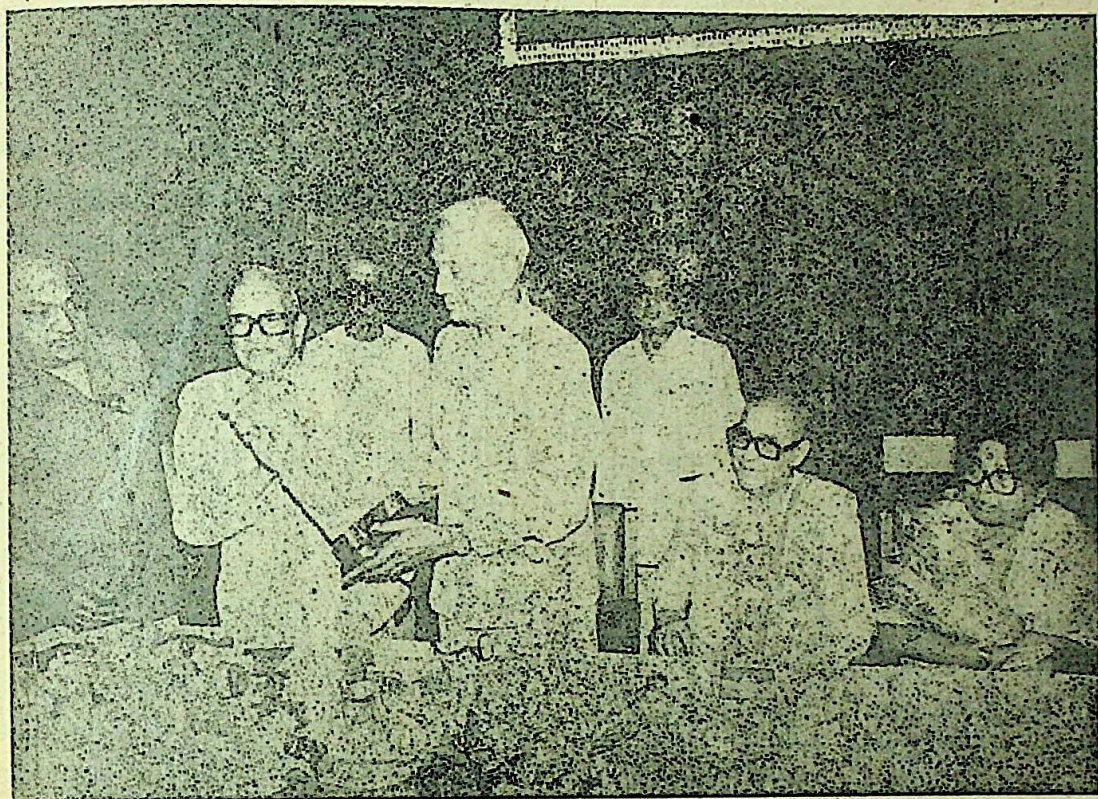
बाँए से : सर्वश्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका (उपहार देते हुए) भगवतीप्रसाद खेतान, स्वामी लोकेश्वरानन्दजी, न्यायमूर्ति श्रीमती मंजुला बोस।
पीछे की तरफ : श्री अभिमन्यु भुवालका तथा श्री भगवतीप्रसाद हिम्मतसिंहका।

कलकत्ता के विख्यात विधिवेत्ता, काशी मुमुक्षु भवन सभा के शासक मण्डल के प्रमुख सदस्य और कलकत्ता ही नहीं, देश की अनेक समाज सेवी संस्थाओंके प्राण श्री भगवतीप्रसाद खेतान ने ९–७–१९८४ को अपने सेवामय जीवन के ८० वर्ष पूर्ण किये। इस अवसर पर कलकत्ता के विद्यामन्दिर सभागार में श्री खेतान के सम्मान में एक समारोह का आयोजन हुआ। इस समारोह की अध्यक्षता श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका ने की जो अपने जीवन के ९० वर्ष से अधिक पूर्ण कर चुके हैं और शतक की ओर अग्रसर हैं। मुख्य अतिथि श्री रामकिशन मिशन इंस्टीट्यूट आफ कल्चर के प्रधान स्वामी लोकेश्वरानन्द जी महाराज ने शुभकामना व्यक्त करते हुए कहा कि खेतान जी को अपनी उम्र के कारण नहीं, बल्कि अपने सद्‌गुणों और सेवा कार्यों के लिए स्मरण किया जाता है। कलकत्ता हाई कोर्ट की न्यायाधीश मान्या श्रीमती मंजुला बोस ने कहा "भगवती बाबू अपने विधि-व्यवसाय कार्य और कर्तव्य के प्रति पूरी तरह जागरूक, निष्ठावान् और धर्मपरायण व्यक्ति हैं। मानव कल्याण और शिक्षा प्रसार के लिए सदैव समर्पित रहते हैं।"

पश्चिम बंग के मुख्य मन्त्री श्री यतीन चक्रवर्ती ने उन्हें पुष्प गुच्छ भेंट करते हुए कहा कि श्री खेतान भारतीय परम्परा, संस्कृति एवं नैतिक मूल्यों के प्रति सदैव निष्ठावान हैं। उन्होंने उनके शतायु होने की कामना की। कलकत्ता के शेरीफ श्री दिलीप राय चौधरी ने श्री खेतान जी की देशभक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा कि उनमें संकीर्णता की

भावना कभी नहीं रही, इसका उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि वे जिन-जिन ट्रस्टों से सम्बन्धित हैं, उसके धन को उन्होंने अच्छे उद्देश्यों के लिए लगाया है, जरूरतमन्द को मदद दिलवायी है, चाहे वह किसी समुदाय के क्यों न हों। श्री राधाकृष्ण कानोड़िया ने खेतान जी की न्यायप्रियता की प्रशंसा करते हुए कहा कि भगवती बाबू बराबर नेक सलाह देने में विश्वास करते हैं एवं साधु, संत महात्माओं के प्रति श्रद्धालु हैं। इस अवसर पर श्री कल्याणमल लोढा ने कहा कि खेतान जी की सेवा एवं निस्पृह समर्पण भावना बरबस ही मानव मन को मुग्ध कर लेती है। वे बहुजन हिताय बहुजन सुखाय के लिए नहीं, वरन् सर्वजन हिताय की भावना से लोकसेवा में लीन हैं। उन्होंने कहा कि भगवती बाबू ने राजनीति में नीति एवं सत्ता के स्थान पर सेवा को सदैव प्रमुखता दी। श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका ने श्री खेतान को चन्दन की लकड़ी की लक्ष्मीनारायण की एक प्रतिमा भेंट की। विभिन्न संस्थाओं की ओर से भगवती बाबू को पुष्पहार से सम्मानित किया गया। श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका ने कामना की कि श्री खेतान सदैव अच्छे कार्यों को सम्पादित करें। श्री कन्हैयालाल सेठिया ने उन्हें असाधारण प्रतिभा का धनी बताया। अपने सम्मान का उत्तर देते हुए श्री भगवतीप्रसाद खेतान ने कहा कि वे ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि मुझे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे, एवं आप सबका सहयोग मुझे सदैव मिलता रहे।

प्रारम्भ में श्री मदनलाल सराफ ने स्वागत भाषण पढ़ा। श्री भगवतीप्रसाद हिम्मतसिंहका ने धन्यवाद दिया। कार्यक्रम का संचालन श्री विमल लाठ ने किया। समारोह को सफल बनाने में श्री अभिमन्यु भुवालका का विशेष योगदान रहा।

(पृष्ठ १६ का शेषांश)

पर परिवेष्ठित 'अजना' लता को हटा दें। इस कार्य को सम्पन्न कर एकनाथ ने ज्ञानेश्वरी की एक प्रामाणिक प्रति प्रकाशित कराई। इस प्रति में उन गलतियों को जो तीन सौ वर्षों के अन्तराल में इसमें आ गयी थीं, छोड़ दिया और इसका स्वच्छ रूप प्रकाशित किया।

एकनाथ ने अपने अन्तिम ग्रन्थ के रूप में 'भावार्थ रामायण' की रचना की—युद्ध काण्ड के चौवालिसवें अध्याय तकतो उन्होंने स्वयं लिखा और शेष अपने शिष्य 'गावाजी' पर छोड़ दिया। उनका अन्त निकट था। उन्होंने भविष्यवाणी की कि फाल्गुन कृष्ण छठ को वे महाप्रयाण करेंगे। उस दिन अपने गुरु की पवित्र दीक्षा के स्मरण के साथ, वे घर से निकल पड़े। वे बराबर 'नाम' जप करते रहे, उनके शिष्य पीछे-पीछे चल रहे थे। गोदावरी तट पर लक्ष्मीतीर्थ में गोदावरी को धारा में विलीन होकर जलसमाधि ले ली। उनका अन्तिम सन्देश था, 'कलियुग में ईश्वर नाम के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने का कोई अन्य साधन नहीं है। हर जीव के प्रति दया भावना रखो।'

❀ 'भक्ति जड़ है जिसका पुष्प वैराग्य है और फल 'आत्मज्ञान'।

❀ यदि हम ईश्वर के ऊपर अपना भार छोड़ दें तो वह कठिनाइयों में हमें अवश्य सहारा देगा। वह अपने भक्तों की उसी प्रकार सेवा करता है जिस प्रकार कृष्ण ने सारथी बन कर अर्जुन की सेवा की थी।

❀ हम किसी भी भाषा में सर्वात्मा की स्तुति करें, वह सदैव उसे ग्राह्य होगी। क्योंकि वही सभी भाषाओं का कर्ता है।

❀ कुछ लोग अपने ज्ञान के अहंकार में आध्यात्मिक जीवन को भूल जाते हैं, कुछ लोग तो अभीष्ट प्राप्ति में असफल होकर, इससे वंचित रह जाते हैं, कुछ अन्य सदैव उपयुक्त समय की तलाश में आध्यात्मिक जीवन से दूर होते जाते हैं।

❀ कुछ भले लोग कुसंगति में पड़ कर अपने सद्‌गुणों को खो देते हैं। यदि हम नीम की जड़ में चीनी से सिंचन करें, तो भी उसके फल कड़वे ही होंगे।

❀ ईश्वर का नाम हमें स्वर्गिक आनन्द देता है। यह सभी शारीरिक और मानसिक व्याधियों से हमें मुक्त करता है।

—'अभंग', सन्त एकनाथ

कृष्ण-कर्ण संवाद

श्री हरीन्द्र दवे

●

राम-रावण के बीच भी युद्ध हुआ था, फिर भी गीता पांडव-कौरव युद्ध के समय ही क्यों लिखी गयी? पांडव-कौरव युद्ध को व्यास भगवान ने 'ज्ञाति-समागम' के रूप में पहिचनवाया है। इतना ही नहीं, पर ऐसे महाभारत युद्ध में कोई भी दिल लगाकर नहीं लड़ा था। कृष्ण जब संधिवार्ता के लिये गये तब भी भीम जैसे वीर ने भी उन्हें संधि करने का प्रयत्न कीजियेगा यह विनती की थी। धृतराष्ट्र-गांधारी भी दुर्योधन से इस युद्ध से हटने के लिये कहते हैं। माता धृतराष्ट्र-गांधारी युद्ध में शामिल नहीं हुए थे; पर कौरवों के सर्व प्रथम सेनापति भीष्म भी कहते :

शुश्रुषुमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यसंगरम्।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थं अतो दुःखतरं नु किम्॥

(उद्योग. १३७; ३)

सुश्रुषा-सेवा करने वाले, असूया बिना के, ब्रह्मनिष्ठ सत्य-वक्ता पार्थ के साथ मुझे युद्ध करना पड़े, इससे बड़ा दुःख और कौन सा हो सकता है?

भीष्म कुरुओं के सेनापति होनेवाले हैं; पर इस युद्ध में वे दुख के साथ उतरते हैं। कारण यह कि वे स्वयं जिसके साथ लड़ रहे हैं उसके पक्ष में सत्य है, यह बात भीष्म अच्छी तरह जानते हैं। इसीसे भीष्म दत्तचित्त होकर नहीं लड़े। गीता का विषादयोग केवल अर्जुन के संदर्भ में है, पर यह विषादयोग प्रत्येक पात्र कभी न कभी अनुभव किये बिना नहीं रहता।

द्रोण कुरुओं के शस्त्रगुरु हैं, वे कहते हैं :—

तं चेत्पुत्रात्प्रियतमं प्रतियोत्स्ये धनंजयम्।
क्षात्रधर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम्॥

(उद्योग. १३७; ५)

धनंजय मुझे अपने पुत्र से भी अधिक प्रिय हैं। मैं उसके विरुद्ध लड़ूं? क्षत्रिय धर्म के पालन में अटल अर्जुन—उसके विरुद्ध युद्ध करना पड़े तो इन क्षत्रियों के जीवन को धिक्कार है। द्रोण के कथनानुसार क्षत्रिय धर्म में निष्ठावान अर्जुन के साथ युद्ध करना क्षत्रियों के लिये वर्ज्य है। और स्वयं वे ब्राह्मण हैं, पर उनका अपना अर्जुन के साथ संबंध कैसा है? अर्जुन उन्हें अश्वत्थामा से भी अधिक प्रिय है।

द्रोण दुर्योधन से कहते हैं कि तुम युधिष्ठिर से जीत नहीं सकोगे क्योंकि—

मंत्री जनार्दनो यस्य भ्राता यस्य धनंजयः।

(उद्योग. १३७; १९)

जनार्दन जैसे जिसके मंत्री हैं, और धनंजय जैसा जिसका भाई है, ऐसे युधिष्ठिर को जीतने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। द्रोण को एक अतिरिक्त कारण भी मिलता है। 'तपोघोरव्रता' 'सत्यवादिनी' जैसी द्रौपदी जिसकी विजय के लिये अभिलाषा करती हो उसका पराजय किसी के द्वारा भी हो सकता है क्या?

कुरुक्षेत्र का युद्ध आरंभ हो उसकी पूर्वभूमिका के रूप में ऐसे अनेक विषादयोग आते ही जाते हैं; इस 'ज्ञातिसमागम' में शायद ही कोई दिल लगाकर लड़ा है। भीष्म, द्रोण वगैरह तो ठीक, पर दुर्योधन के आस-पास के, उसके अंतरंग साथियों में से कर्ण—वह भी मन से लड़ा था क्या?

कर्ण महाभारत का अनूठा पात्र है। प्राचीन काल से अब तक अनेक कवि और साहित्यकार इस पात्र की ओर आकर्षित होते रहे हैं। कितने ही लोग उसे सामाजिक अन्याय के प्रतीक के रूप में देखते हैं तो कोई उसे पराक्रम, वीरश्री के प्रतीक के रूप में देखते है। मैत्री-संबंध की दृष्टि से कर्ण की परीक्षा करना सबसे संगत है। प्रसिद्ध अंग्रेज रचनाकार श्री ई. एम. फोर्स्टर ने एक बार कहा था कि अपने देश और अपने मित्र के बीच द्रोह करने में चयन करने का अवसर आये तो हे भगवान! मुझे देश के प्रति द्रोह करने का बल प्रदान करना। कर्ण के जीवन में ऐसा ही चयन करने का

अवसर आया था और उसने मित्र के प्रति द्रोह करने की अपेक्षा देश से द्रोह को ज्यादा पसंद किया था।

भीष्म या द्रोण की सलाह का दुर्योधन पर कुछ भी असर नहीं होता। भीष्म या द्रोण किसी समय दुर्योधन के पक्ष से हट भी जायें तो दुर्योधन को इसकी परवाह नहीं है, पर कर्ण यदि युद्ध करने से इन्कार करे तो दुर्योधन भी युद्ध करने को तत्पर न हो। इस तरह कर्ण व्यूहात्मक विंदु पर है। वह चाहे तो इस महाभारत युद्ध को रोक सकता है, और उसके फलस्वरूप सृष्टि का साम्राज्य भी भोग सकता है, यह संभव है। पर कर्ण क्यों यह कदम नहीं उठाता? उसके जीवन में मैत्री, स्नेह, वात्सल्य का अधिक मूल्य है।

कृष्ण संधि-वार्ता के बाद नगर से बाहर जाते हैं, तब कर्ण को अपने रथ में बैठाते हैं। इस समय कर्ण और कृष्ण के बीच जो संवाद होता है, वह हमारे युग में रवीन्द्रनाथ ने और गुजराती भाषा में सुन्दरम, उमाशंकर जैसे कवियों ने, अपने ढंग से काव्यस्थ किया है। पर आइये हम तो व्यास भगवान द्वारा आलेखित कृष्ण-कर्ण संवाद की ओर ही देखें। कृष्ण बात शुरू करते हैं कर्ण के धर्म की बाबत ज्ञान से। कर्ण अधर्म के पक्ष में है इसका कारण यह नहीं है कि धर्म क्या है इसका उसे ख्याल नहीं है। कृष्ण उससे कहते हैं:

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान्सनातनान्।
त्वं ह्येव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः॥

(उद्योग. १३८; ७)

हे कर्ण, तू सनातन वेदवाद का जानकार है, तू धर्म-शास्त्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मर्म को भी जानता है।

फिर कृष्ण कर्ण से उसके जन्म का रहस्य बताते हैं। कुंती अविवाहित थी तब उसने कर्ण को जन्म दिया था। परन्तु शास्त्रविद् लोग 'कानीन'—विवाह से पहले पैदा हुए पुत्र का पिता, कन्या का पाणिग्रहण करने वाला पुरुष ही माना जाय ऐसी व्यवस्था देते हैं। अतः कर्ण पांडु पुत्र है और धर्मशास्त्र के अनुसार वह युधिष्ठिर का बड़ा भाई है तथा राजा होने का हकदार है। कर्ण से कृष्ण कहते हैं, तू सूतवंशी नहीं है—

पितृपक्षे हि ते पार्थाः मातृपक्षे च वृष्णयः,

(उद्योग. १३८; १०)

पितृपक्ष से तू पृथावंशी है और मातृपक्ष से वृष्णवंशी है। ऐसे दो समर्थ कुलों की तुझे सहायता प्राप्त है।

कृष्ण कर्ण से कहते हैं कि इसी क्षण तू मेरे साथ चल। पांडवों को जानकारी होगी कि तू कुंती का पुत्र है, तो पाँचों पांडव, द्रौपदी के पाँचों पुत्र और सुभद्रानन्दन अभिमन्यु, ये सब लोग तुझे प्रणाम करेंगे, तेरा चरण-स्पर्श करेंगे।

इतना ही नहीं—

षष्ठे च त्वां तथा काले द्रौपद्युपगमिष्यति।

(उद्योग. १३८; १५)

वर्ष का छठा भाग, द्रौपदी तुझे पांडुपुत्र मानकर तेरी सेवा में तेरे पास रहेगी।

पांडवों के पुरोहित धौम्य तेरा राज्याभिषेक करेंगे। तू राजाओं का राजा होगा। युधिष्ठिर तेरा युवराज होगा। भीम तुझे चंवर डोलायेगा। अर्जुन तेरा रथ हाँकेगा। अभिमन्यु तेरी सेवा करेगा। और मुझ सहित असंख्य राजा तेरे अनुयायी बनेंगे।

कर्ण के समक्ष कृष्ण ने जो प्रलोभन रक्खे हैं वे कोई मामूली नहीं है। एक तो राजलक्ष्मी, दूसरे द्रौपदी जैसी काम्य चारुसर्वांगी स्त्री का सहवास, और सबसे बड़ा प्रलोभन तो यह था कि कृष्ण जैसे कृष्ण उसके अनुयायी बनेंगे।

शायद ही किसी मनुष्य के आगे ऐसे प्रलोभन आये होंगे। और प्रलोभन यदि मार की ओर से रक्खें जायं तो बुद्ध की भाँति उनका प्रतिकार करना सरल है, कारण यह कि ये आसुरी प्रलोभन हैं। पर यहतो भगवानस्वयं यह प्रलोभन दिखा रहे हैं। अभी कुछ ही समय पूर्व कुरु सभा में जिनके विराट स्वरूप का दर्शन हर किसी ने किया है ऐसे कृष्ण कर्ण से यह सब कह रहे हैं। कच्चे और दुर्बल व्यक्ति के लिये तो इतना ही बहुत है। राजपद, द्रौपदी का भर्तापद तथा कृष्ण का सखापद ये तीनों एक साथ पा सकें ऐसा विरल योग कोई हाथ से जाने ही नहीं दे सकता। पर कर्ण तो और ही मिट्टी का बना है। कर्ण अधर्म के पक्ष में है, पर इसी में उसका धर्म है। वह मूल्यहीन दुर्योधन का साथ करता है; पर इसमें उसके जीवन के मूल्य निहित हैं। कर्ण जो उत्तर देता है वह मानवसंबंधों के आदर्श के रूप में युगों से टिका हुआ है और युगों तक बना रहेगा।

कृष्ण ने जो कहा उसके पीछे छल नहीं है, पर सौहार्द, प्रणय तथा कर्ण का श्रेय करने की वृत्ति है। इस बावत अपनी प्रतीती से कर्ण का उत्तर आरंभ होता है। इतना ही नहीं, पर कर्ण कहता है—

सर्वं चैवाभिजानामि पाण्डुपुत्रोस्मि धर्मतः।

(उद्योग. १३९; २)

वह तो सब कुछ जानता है। स्वयं पांडु का पुत्र है, इतना ही नहीं, वल्कि धर्म के सूक्ष्म मर्म के जानकार होने के कारण उसे इस वात का भी ज्ञान है कि धर्म की कसौटी पर ज्येष्ठ पांडुपुत्र के रूप में उसका दावा मान्य हो सकेगा। कृष्ण जो कहते हैं उसमें से बहुतकुछ कर्ण जानता है। सूर्य देव के अंश स माता कुंती ने उसे जन्म दिया था और फिर त्याग दिया था, इससे भी कर्ण वाकिफ है।

एक ओर धर्मशास्त्र है। इस धर्मशास्त्र के अनुसार कर्ण ज्येष्ठ पांडुपुत्र के रूप में राजपद पा सकता है यह सही है।

दूसरी ओर मानव-संवंध है। कुन्ती द्वारा त्यक्त इस वालक का अधिरथ और राधा ने पालन-पोषण किया था। उसका मलमूत्र धोया था।

धर्म हमेशा शास्त्र में नहीं होता। मानव संवंध में ज्यादा वड़ा धर्म है। अधिरथ-राधा के स्नेह का अनादर करके कर्ण धर्म का पालन करने का दावा कर सकता है क्या?

यहाँ एक समानान्तर वात याद आती है। कृष्ण के जीवन में भी यह द्विधा आयी थी। कृष्ण वसुदेव-देवकी के पुत्र थे और जसोदा-नन्द ने पुत्र मानकर पाला पोसा था। कृष्ण जव समय आया तो नन्द-जसोदा को त्याग सके। तो कर्ण भी अधिरथ राधा को त्यागकर कुन्ती के पास, पाण्डवों के पास क्यों नहीं जा सकता?

देखने में दोनों परिस्थितियाँ समान प्रतीत होती हैं पर इनके ऊपर एक वहुत वड़ी असमानता है। कृष्ण के लिए एक बहुत बड़े कार्य का आवाहन आया था। कंस, जरासंघ, कालयवन इत्यादि अधर्मियों को नाश करने का और प्रतिकार-हेतु कृष्ण के लिए व्रजभूमि छोड़ना अनिवार्य था। जब कि कर्ण की परिस्थिति भिन्न है, उसके सामने ऐसा कोई आवाहन नहीं है। वैभव, काम और सुख की आकांक्षा से ही वह अपने पालक माता-पिता का त्याग कर सकता है। और इसी से कृष्ण ने इस प्रकार की परिस्थिति में भिन्न ही निर्णय लिया। अक्रूर के रथ में वैठकर कृष्ण कंटक-शय्या की तरफ गये थे। कृष्ण के रथ पर वैठकर कर्ण सुख की सेज की ओर जा सकता था। अतः प्रगट परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में कृष्ण ने जो निर्णय लिया, वह अपने स्थान पर सही था, और कर्ण ने जो निर्णय लिया वह उसकी दृष्टि से ठीक था।

कर्ण के कारण और भी है, वह कहता है:—

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः।
हर्षाद् भयाद् वा गोविन्द अनृतं वक्तुमुत्सहे॥

(उद्योग. १३९;१२)

यह समूची पृथ्वी, या स्वर्ण का ढेर मिले, हर्ष हो या भय—ऐसे किसी भी प्रलोभन द्वारा मैं असत्य वोलूंगा ऐसा नहीं है।

कर्ण मूल्य-भावना से प्रेरित है। वह राजा है। तेरह वर्ष से निष्कंटक राज्य कर रहा है। इसके लिए वह दुर्योधन का कृतज्ञ है। दुर्योधन ने पाण्डवों के साथ युद्ध करने की जो हिम्मतकी है, उसका कारण यहहै किउस के पीठ पीछे कर्ण का बल है। अर्जुन के विरुद्ध जीत भले नसके पर डटकर मुकावला कर सके ऐसा वीर कौरवों के पक्ष में एक मात्र कर्ण ही है। इसी से कर्ण कहता है: 'वध, वन्धन भय या लोभ से विचलित होकर धीमान धृतराष्ट्रपुत्र के साथ मैं असत्य व्यवहार नहीं कर सकता।'

इतना ही नहीं, कर्ण और अर्जुन के वीच जो प्रतिस्पर्धा की भावना स्थापित हुई है उसके परिपेक्ष्य में अव यदि कर्ण और अर्जुन युद्ध में आमने सामने न उतरें तो दोनों का अपयश होगा।

इतना ही नहीं, कर्ण पाण्डवों की धर्मप्रीति जानता है, अतः कृष्ण से कहता है; मैं कुन्तीपुत्र हूँ यह बात आप पाण्डवों से छुपा रक्खें क्योंकि धर्मात्मा युधिष्ठिर को इसकी जानकारी होगी तो मुझे राज्य सौंप देंगे। और मेरे हाथ में यह राज्य आया तो मैं उसे दुर्योधन को सौंप दूंगा। पुनः कर्ण कहता है:—

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः॥

(उद्योग. १३९; २३)

वह धर्मात्मा युधिष्ठिर शाश्वत राजा बना रहे—जिसके नेता हैं हृषीकेश और जिसके योद्धा हैं धनंजय।

इसके बाद कर्ण एक अद्भुत काव्य-रचना करता है। समूचे महाभारत-युद्ध के परिणाम को कर्ण अपनी आर्षदृष्टि से देखता है। वह कहता है : धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने शस्त्र-रूपी यज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ किया है। कृष्ण इस यज्ञ को कराने वाले ब्रह्मा हैं, इतना ही नहीं, यज्ञ के अध्वर्यु हैं। अर्जुन होता है। शस्त्रविद्या के मंत्र यज्ञ के मंत्र हैं। अभिमन्यु ग्रावस्तोत्र गानेवाला होगा। वीरों का रक्त इसका हवि बनेगा। और :—

यदा द्रक्ष्यसि मां कृष्ण निहतं सव्यसाचिना।
पुनश्चितिस्तदा चास्य यज्ञस्याथ भविष्यति॥
(उद्योग. १३९;४६)

हे कृष्ण, सव्यसाची द्वारा हने गये मुझे आप देखेंगे तब मेरी मृत्यु यज्ञ की पुनश्चिति के समान होगी।

और कर्ण मानो भविष्य में देख रहा हो इस भाँति कहता है :

दुर्योधनं यदा हन्ता भीमसेनो महाबलः।
तदा समाप्स्यते यज्ञो धातृराष्ट्रस्य माधव॥
(उद्योग. १३९; ४९)

जब महाबली भीमसेन के हाथों दुर्योधन मारा जायगा तब धृतराष्ट्र के पुत्रों द्वारा आरंभ किया यह यज्ञ समाप्त होगा।

कृष्ण इसके बाद भी कर्ण को लुभाने का प्रयत्न करते हैं। कृष्ण अच्छी तरह जानते हैं कि कर्ण दुर्योधन का पक्ष छोड़ दे तो यह महायुद्ध नहीं होगा। और कृष्ण यह भी जानते हैं कि यह महायुद्ध होकर रहेगा।

कर्ण को अब कोई प्रलोभन के वश में नहीं कर सकता। कर्ण कृष्ण द्वारा पुनः कही बातों के उत्तर में कहता है कि शुभ शकुन की दृष्टि से या सभी दृष्टियों से विजय तो पाण्डवों की ही है। दुर्योधन को तो सभी दिशाएँ सुलगती दिखायी पड़ती हैं। उसकी पराजय निश्चित है, इतना ही नहीं, वह अपने द्वारा देखे गये एक स्वप्न की चर्चा करता है।

कर्ण के स्वप्न में युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ हजार खम्भेवाले एक ऊँचे महल पर चढ़ रहा है। इन सब लोगों ने श्वेत वस्त्र पहन रक्खे हैं; उनका छत्र श्वेत है, उनके आसन भी श्वेत हैं। स्वप्न के अन्त में कर्ण देखता है कि पृथ्वी रक्त से भर गयी है। और युधिष्ठिर हड्डियों के ढेर पर बैठे सुवर्णपात्र में घी और दूध पी रहे हैं।

कर्ण के स्वप्न में पाण्डवों की विजय सुनिश्चित है। पर उसमें वह केवल विजय ही नहीं देखता, विजय का विषाद भी देखता है। हड्डियों के ढेर पर बैठकर सुवर्णपात्र में घी-दूध पीने में युधिष्ठिर को कौन सा आनन्द प्राप्त होने वाला है? और श्वेत वस्त्र, श्वेत छत्र, श्वेत आसन : कर्ण के स्वप्न में स्वर्गारोहण पर्व का ही आर्ष हो रहा है, क्या ऐसा प्रतीत नहीं होता?

कर्ण अधर्म के पक्ष में है। वह कृष्ण से कहता है कि दुर्योधन के पक्ष में रहकर मैंने आपको, पाण्डवों को अनेक कटुवचन कहे हैं। पर साथ ही उसे इस बात की श्रद्धा भी है :—

विदितं मे हृषिकेश यतो धर्मस्ततो जयः।
(उद्योग. १४१; ३३)

हे कृष्ण, मैं यह भी जानता हूँ कि जिधर धर्म है, उधर ही जय भी होगी। कर्ण तिसपर भी अंत में कहता है :

अपि त्वां कृष्ण पश्यामः जीवन्तोऽस्मान्महारणात्।
समुत्तीर्णा महाबाहो वीरक्षत्रविनाशनात्॥
(उद्योग. १४१; ४५)

फिर भी हे कृष्ण, वीरों का विनाश करनेवाले इस महायुद्ध को पार करके यदि मैं जीवित बचा, तो आपसे मिलूँगा।

नहीं तो—

अथवा संगमः कृष्ण स्वर्गे नो भविता ध्रुवम्।
तत्रेदानीं समेष्यामः पुनः सार्धं त्वयानघ॥
(उद्योग. १४१; ४६)

अथवा तो हे कृष्ण स्वर्गलोक में हम अवश्य मिलेंगे। हे निष्पाप, अब तो उसी स्थान पर आपका और मेरा मिलाप सम्भव है।

कर्ण 'जीते रहेंगे तो मिलेंगे' कहता है। पर यह तो "कैसे हैं—अच्छी तरह से" जैसा रूढ़िगत कथन है। इसी से वह उसी साँस में कहता है, "नहीं तो हम स्वर्ग में मिलेंगे"।

उसे स्वर्ग निश्चय ही प्राप्त होगा ऐसा कर्ण मानता है। इस युद्ध में अर्जुन के हाथों अपना वध निश्चित है। यह भी

(शेष पृष्ठ २४ पर)

पवित्र गंगा को प्रदूषण से बचाइए

श्री वीरभद्र मिश्र

"गंगा भारत की ऐसी सरिता है जिसके प्रति इस देश के लोग असीम श्रद्धा रखते हैं, जिसके साथ इस देश की जातीय स्मृतियाँ जुड़ी हैं। इसके उत्थान-पतन, इसके शौर्य के गीत और विजय तथा पराजय का इतिहास जुड़ा है। यह भारत की अति प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की प्रतीक है। नित्य परिवर्तनशील, सदैव प्रवहमान रहने के बावजूद यह वही गौरवमयी गंगा है।" पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी अन्तिम वसीयत के प्रलेख में माँ गंगा के संबंध में उक्त उद्गार प्रकट किये थे। गंगा के संबंध में पंडित नेहरू के उक्त उद्गार करोड़ों भारतवासियों की भावनाओं के सशक्त प्रतिविम्ब कहे जा सकते हैं।

करोड़ों भारतवासियों की श्रद्धा की अनन्य केन्द्रविन्दु यही गंगा आज प्रदूषण का शिकार बनती जा रही है। अभी तक इसके धाराक्षेत्र को स्वच्छ बनाए रखने के लिए कोई योजना नहीं बनी है। कूड़ा-कर्कट और अपरिष्कृत औद्योगिक मलबे इसमें सीधे ही डाले जा रहे हैं, इसमें से असीम मात्रा में निरन्तर जल का दोहन किया जा रहा है, इसके तटवर्ती क्षेत्रों से बड़े पैमाने पर वृक्ष काटे जा रहे हैं जिसके कारण भूमिक्षरण और बाढ़ों की मात्रा बढ़ रही है। गंगा की स्वयं-सिद्ध पवित्रता में लोगों का ऐसा अगाध विश्वास बना हुआ है कि इस नदी पर निर्भर रहनेवाली बड़ी जनसंख्या इसकी बिगड़ती हुई स्थिति से अनभिज्ञ है। अक्सर वे स्वयं भी जाने-अनजाने इसके जल को अस्वास्थ्यकर ढंग से प्रयोग करके जल प्रदूषण की प्रक्रिया को अधिक बढ़ा देते हैं।

इस मामले में गंगा की स्थिति भारत और विश्व की अन्य प्रमुख नदियों से भिन्न नहीं है। इसलिए नदियों के प्रदूषण की यह समस्या विश्वव्यापी है और यह स्थिति हम सबकी स्वास्थ्यदशाओं के लिए चुनौती है। परिस्थितियों की माँग है कि इस संबंध में सुनियोजित और अविलम्ब पग उठाए जायें। समस्या इतनी विराट है कि इसके समाधान हेतु व्यक्तिगत और सार्वजनिक क्षेत्रों के विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त करना जरूरी है।

इस समय सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि जनसाधारण की आस्था को बिना ठेस पहुँचाए इस प्रदूषण की समस्या के बारे में उन्हें जागृत किया जाय। इसी उद्देश्य से भारत की धार्मिक राजधानी वाराणसी में एक लोक-शिक्षण कार्यक्रम तैयार किया गया है। इसके द्वारा देश की धर्मप्राण जनता और गंगा के तटवर्ती क्षेत्र में रहने वाले लोगों को गंगा को प्रदूषण से बचाने हेतु निर्मित योजना में समर्थन और सहयोग के लिए शिक्षित किया जायेगा।

पर्यावरण, गंगा और समाज

वास्तव में पर्यावरणजनक प्रदूषण तो एक प्राकृतिक घटना ही है। पौधे, पशु और मानवसमुदाय अपने अस्तित्वकाल से ही अपनी नियमित जीवन प्रक्रिया के द्वारा पर्यावरण-प्रदूषण को जन्म देते रहे हैं। कुछ दशाब्दियों पहले तक प्रकृतिमाता अपनी अदृश्य संशोधक क्षमताओं के कारण केवल इन तीन सृष्टि रूपों के बीच सन्तुलन ही कायम नहीं रखती रही बल्कि इनके नियमित जीवनचक्र द्वारा उत्पन्न प्रतिबलों को वहन करने में भी सक्षम रही। प्रकृति की इस क्षमता को सभी प्राचीन समाजों ने आदर से देखा था और प्रायः सभी ने इसे अपने धर्म का अंग भी माना। विशेषकर भारतीय भूभाग में जन्मे और विकसित हुए सभी धर्म-पंथों ने सृष्टि के सभी रूपों और प्रकृति को आदर से देखा। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के बजाय उन्होंने प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की भावना को ही महत्व प्रदान किया और इसके विविध रूपों की देवी-देवताओं के रूप में पूजा भी की।

गंगा के संबंध में भारतीय लोगों की यही भावना बड़े स्पष्ट रूप में प्रकट हुई है जिसे आदर और श्रद्धा से "देवी", "माँ गंगा" अथवा "गंगा मैया" भी कहा जाता है। प्रतिदिन लोग इसमें पवित्र स्नान करते हैं, इसका जल पीते हैं। अपनी प्रार्थनाएँ और पुष्पांजलि इसे अर्पित करते हैं और पारिवारिक शुभ अवसरों के लिए इसका पवित्र जल दूर-दूर के स्थानों तक ले जाते हैं। गंगा की तीर्थ यात्रा अनेक भारतीयों की चिर आकांक्षा होती है। लगभग भारत की आधी जनसंख्या गंगा के उपजाऊ मैदानी क्षेत्र में रहती है और अपने अस्तित्व के लिए इस पर निर्भर है। गंगा उनकी धमनियों में बहने वाला रक्त है।

गंगा की ऐसी यशस्विता और पवित्रता है कि पश्चिमी इतिहासकारों और विचारकों ने भी इसका बड़ी भावप्रवणता से वर्णन किया है। विश्व-विजेता सिकन्दर की विजय का चरम लक्ष्य भी यही थी जो इसे धरती की दूरस्थ सीमा मानता था। वर्गिल, ओविड, दांते—इन सभी पाश्चात्य महाकवियों ने अपनी कृतियों में इसका वर्णन किया है।

अग्निपुराण में कहा गया है :

गंगाया पूजितायां तु पूजिताः सर्वदेवताः।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पूजयेदमरापगाम् ॥

अर्थात, केवल मात्र गंगा की उपासना करने से सब देवताओं की उपासना का फल प्राप्त हो जाता है। इसलिए आवागमन के चक्र से मुक्ति के लिए प्रयत्नपूर्वक गंगा की उपासना करनी चाहिए।

इस प्रकार के विश्वास और आस्थाओं के कारण न केवल स्वच्छ पर्यावरण बने रहने में सहायता ही मिली, बल्कि इसके कारण युगों तक हमारा प्राकृतिक सन्तुलन भी यथावत बना रहा।

गंगा की पर्यावरण समस्या

औद्योगीकरण द्वारा समाज के आधुनिकीकरण से केवल पौधों, पशुओं और मानव-समाज के बीच का सन्तुलन ही नहीं बिगड़ गया है, बल्कि इसके कारण पुरानी मान्यताओं को भी आघात पहुँचा है। इसी का परिणाम है कि अब अंधाधुंध जंगलों को काटने में कोई संकोच नहीं रहा है। इसके साथ ही गंगा के किनारे बसे सभी नगरों का कूड़ा-कचरा और नालों का गन्दा पानी भी इसी में उडेला जाता है। केवल वाराणसी में ही इस नगर का २ लाख गैलन गन्दा पानी प्रतिदिन गंगा में उडेला जाता है जहाँ नित्य हजारों लोग इसमें स्नान करते और इसका पानी पीते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप गंगा के किनारे बसे नगरों में विषाणुजनक पेचिस एवं यकृतशोथ जैसे रोगों में वृद्धि हो रही है। बाढ़ के दिनों में तो हैजे का प्रकोप भी बढ़ जाता है।

इसी प्रकार गंगा के किनारे अवस्थित अनेक कारखानों का औद्योगिक कचरा भी इसमें भारी मात्रा में बहाया जाता है। इसके अतिरिक्त सिंचाई के लिए गंगा के पानी का अधिकतम दोहन करने से इसके जलस्तर में कमी होने से जल बहाव कम होकर प्रदूषण बढ़ने लगता है।

•

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

वह जानता है, और मृत्यु के बाद उसकी गति जहाँ कृष्ण होंगे वहीं होनेवाली है, यह भी उसका दृढ़ मत है। यह केवल कृष्ण की श्रद्धा नहीं है। कृष्ण ने कहा उसके जैसा ही कर्ण धर्मशास्त्र के गूढ़ मर्मों का ज्ञाता है। इस कारण वह प्रतीति सहित ये वाक्य कहता है।

कर्ण तथा कृष्ण का यह सम्वाद मानवसम्बन्धों में एक नया आदर्श स्थापित करता है। कर्ण के दो पहलू हैं। एक कर्ण दुर्योधन, शकुनि और दुःशासन के साथ हाँ में हाँ मिलाता है। पर कृष्ण के पास आता है तब अहम् के सभी पर्दे हट जाते हैं, निरावृत सत्य प्रगट होता है और कर्ण का यह दूसरा पहलू अधिक मनोरम है—इसी से शायद कवियों को, मनुष्यमात्र को वह आकर्षित करता है।

(डा० भानुशंकर मेहता द्वारा अनुदित)

•

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

जून १९८४

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, दाल, साग आदि १५००) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के ब्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

स्थायी भण्डारा

श्रीबालकृष्ण जगदीशप्रसाद केडिया, कलकत्ता	कच्चा	२६-६-८४
श्रीमुरेशकुमार ड्रोलिया, कलकत्ता	कच्चा	२७-६-८४
श्री गोपीरामजी अग्रवाल, कलकत्ता	कच्चा	२९-६-८४

अस्थायी भण्डारा

श्रीमती लक्ष्मी बाई राजगढ़िया, राजगढ़	कच्चा	७-६-८४
श्रीगोपाल पण्डित-राजगढ़िया, राजगढ़	कच्चा	८-६-८४
श्रीमोहन लाल सुरती बाई राजगढ़िया, राजगढ़	कच्चा	१०-६-८४
श्रीमती लक्ष्मी बाई राजगढ़िया, राजगढ़	कच्चा	१२-६-८४
श्रीमोहन लाल बगड़िया, कलकत्ता	पक्का	२८-६-८४

अन्नक्षेत्र

श्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, काशी मुमुक्षु भवन, वाराणसी	१५०-००
श्रीसत्यनारायण रुँगटा, द्वारा प्रह्लादराय रुँगटा काशी मुमुक्षु भवन, वाराणसी (मई)	३००-००
श्री मुरारीलाल केजरीवाल, वाराणसी	२५०-००

होमियोपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
३९३	१७७०	२१६३

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
१५१	४१४	५६५

Regd. No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82 जुलाई १९८४ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

अगस्त १९८४

आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष ३ : अंक ११
श्रावण सं० २०४१
अगस्त १९८४

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१ ००५

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दोसौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

ब्रह्म क्या है ?
स्वामी शिवानन्द सरस्वती १

भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकट्य
स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती ३

श्री गुरवे नमः
डॉ० सम्पूर्णानन्द ६

दुःख क्यों ?
स्वामी रामतीर्थ ११

लोक-लोक में पूजित गणेश
श्री अनाम १३

समुद्रसंगम : कन्याकुमारी
श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी १५

भक्ति मुक्ति से भी बड़ी है
स्वामी अखंडानंद जी सरस्वती १७

कर्ण और कुंती
श्री हरीन्द्र दवे १९

जीवन्मुक्त भक्त हरिबाबा
डॉ० रामावतार २३

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों की फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी है। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज कर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा,
अस्सी, वाराणसी—५

मुमुक्षु

वर्ष : ३] अगस्त १९८४ [अंक : ११

ब्रह्म क्या है ?

स्वामी शिवानन्द सरस्वती

ब्रह्म देश-काल-कारणातीत परमात्मा है। वह असीम है, शान्त है तथा सभी शरीरों में समान रूप से प्रतिभासित होता है। वह कोई निर्दिष्ट पदार्थ नहीं हो सकता। वह चैतन्य है। वह वस्तु है। वह गुप्त निधि है। वह मणियों का मणि है, रत्नों का रत्न है। वह अविनाशी अनन्त परम निधि है जो न चुराया जा सकता है, न लूटा जा सकता है। वह चिन्तामणियों का चिन्तामणि है जो मनुष्य को सभी वांछित पदार्थ देता है।

जो स्वयं सबको देखता है, पर दूसरे जिसे नहीं देख पाते, जो बुद्धि को प्रकाश देता है, परन्तु जिसे कोई प्रकाश नहीं दे सकता, वह ब्रह्म है, वह आत्मा है।

ब्रह्म स्वयं-प्रकाश है, शुद्ध सत्ता है, विश्वाधार है, चैतन्य रूप है, परमानन्द रूप है और अपरिवर्तनशील है।

वह परम सत्ता ही एक सत्ता है। वह है परमात्मा। वह है परब्रह्म। वह अविनाशी है, अजन्मा है. [illegible]र है, अमर है। वह सनातन है। वह एक है। व[illegible] [illegible] आनन्दघन है।

ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द का महान् [illegible] ओर मन, प्राण, आकाश और तन्मात्राओं[illegible]

वह अश्रुत श्रोता, अदृष्ट द्रष्टा, अचिन्त्य [illegible] अज्ञात ज्ञाता है। ब्रह्म अज, अजर, अमर और [illegible] है। यह सारा विश्व जिसमें से निष्पन्न हुआ है, [illegible] लीन होनेवाला है, वह है ब्रह्म।

आत्मा नित्य है, निर्विकार है, प्रज्ञानघन, चिद्घन अथवा विज्ञानघन है, अक्षर है। आत्मा काल-देश-सीमाविहीन है। वह ज्ञानमय है, शान्त और स्वयं ज्योति है, ज्योतिर्मय है। वेदान्त के सभी साधक ब्रह्मानुभव प्राप्त करने के लिए इसी का ध्यान करते हैं। वह परम वस्तु कहलाता है। वह अमरत्व प्रदान करता है।

ब्रह्म में न पूर्व है न पश्चिम, न प्रकाश है न अन्धकार, न सुख है न दुःख, न भूख है न प्यास, न हर्ष है न शोक, न लाभ है न हानि।

आत्मा निरवयव है, अतः वह निष्क्रिय है। निरवयव आत्मा में कर्त्तापन का आरोप भला कैसे किया जा सकता है? आत्मा का कोई शरीर नहीं है। वह अतनु है, निराकार है, फिर उसे जरा, मरण कहाँ से आयें? आत्मा अजर है, अमर है, अविनाशी है। आत्मा मन, शरीर आदि की तरह उत्पन्न नहीं है। नित्य चैतन्य ही उसका स्वभाव है। जीवात्मा और परमात्मा एक ही है।

आत्मा ज्ञानमात्र का द्रष्टा है, साक्षी है, क्योंकि वह [illegible]मीम और स्वयंज्योति है। वह न तो स्वयं प्रकट होता है [illegible]न किसी के द्वारा प्रकट किया जा सकता है। उसे [illegible]नुभव से, अन्तर्ज्ञान से या अपरोक्षानुभूतिसे जाना [illegible]है।

[illegible]नन्द के रूप में ही बुद्धि ब्रह्म को समझ सकती [illegible]है कि उसमें वे गुण माने जाते हैं, किन्तु ब्रह्म

वस्तुतः सच्चिदानन्द से भी भिन्न है। इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म अस्तित्वहीन या शून्य है, अभावात्मक विचार या आत्म-विषयक रहस्य है। नहीं, एकमात्र वही जीवन्त सत्य है। उसकी ही सत्ता है। वही सार वस्तु है।

मन सदैव आनन्द की खोज में भटकता है, क्योंकि वह आनन्द में से निष्पन्न हुआ है। हमें आम इसलिए पसन्द है कि हमें उससे सुख मिलता है। प्रत्येक वस्तु से आत्मा सर्वाधिक प्रिय है। यह जो आत्मप्रियता या आत्मप्रेम है, यह इस बात का द्योतक है कि आनन्द आत्मा का स्वभाव है।

वह अद्वितीय परम सत्ता जो प्रत्येक के हृदय में अन्तर्यामी है, सूत्रधार है, साक्षी, है, अन्तरात्मा है, जिसका आदि-मध्य-अन्त नहीं है, जो विश्व, वेद, मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि का मूलस्रोत है, जो सर्वव्यापी है, निर्विकार है, एकरस है. भूत, भविष्य, वर्तमान में समान रूप से है, जो स्वयंभू, स्वतन्त्र और स्वयं-ज्योति है, वही भगवान् है, आत्मा है, ब्रह्म है, पुरुष है, चैतन्य है, पुरुषोत्तम है।

आत्मा ज्ञेय मात्र से भिन्न है। अज्ञेय से भी वह परे है। वह अगम्य है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह कुछ है ही नहीं. शून्य है। वह चिद्घन है। चैतन्य एक पत्थर. हीरा या स्वर्ण से भी अधिक ठोस है। वही एक वास्तविक जीवित सत्ता है, सबका एकमात्र आधार है।

आत्मा मनुष्य के अन्दर का अमर तत्त्व है। आत्मा ही विचारों, इच्छाओं तथा तर्कों का उद्गम-स्थान है। आत्मा आध्यात्मिक तत्व है, क्योंकि शरीर और मन से वह परे है। वह अवश्य ही अमर है, क्योंकि वह देश-काल-कारणातीत है, अनादि, अनन्त, अकारण और असीम है।

आत्मा या ब्रह्म अक्षुण्ण, सनातन और अविनाश तत्व है, जो सर्वजगदाधार है. जो जाग्रति, स्वप्न. सुषुप्ति अवस्थाओं का मौन साक्षी है। आत्मा को जाननेवाला अमर हो जाता है, अमृतानन्द प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्म को आत्मा और पुरुष भी कहते हैं। पुरुष इसलिए कहते हैं कि वह इस शरीर में है, वह अपने-आपमें पूर्ण है। जो-कुछ हम देखते हैं, सब में वही है। आत्मा ही चरम सत्य है। वही चरम दार्शनिक सिद्धान्त है। वह सर्वाधार है। वही एक जीवन्त सत्य है। वह उपनिषदुक्त ब्रह्म है, जग का सहारा है, इस शरीर और प्राण का आश्रय है। वह अव्यक्त है, शुद्ध है।

ब्रह्म स्वयंज्योति है। ब्रह्म किसी अन्य से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। ब्रह्म सबको प्रकाशित करता है। स्वयंज्योतित्व एक ऐसा मूलभूत सिद्धान्त है जिसके आधार पर वेदान्त का सारा महल खड़ा है। आत्मा से ही सूर्य, चन्द्र, तारा, बिजली, अग्नि, बुद्धि, इन्द्रिय—सबको प्रकाश मिलता है। आत्मा के प्रकाश से ही सारे प्रकाशित होते हैं, किन्तु ये आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकते।

एकमात्र आत्मा की ही सत्ता है। जिस प्रकार हम रस्सी को साँप के रूप में देखते हैं, उसी प्रकार वही आत्मा विभिन्न पदार्थों के रूप में दिखता है। आत्मा दृश्य पदार्थों को रूप प्रदान करता है। वह अपने-आप प्रकाशित होता है। वह स्वयंज्योति है। स्वयंज्योति आत्मा से प्रकाश लेकर ही शेष सारे पदार्थ प्रकाशित होते हैं।

मनुष्य का आत्मा ब्रह्म है। वह सारे विश्व का आत्मा है। ब्रह्म ही एक असीम है। असीम दो पदार्थ नहीं हो सकते। यदि दो असीम पदार्थ होंगे तो वे आपस में झगड़ेंगे। एक कुछ पैदा करेगा तो दूसरा कुछ मिटाता रहेगा। अतः असीम तो एक ही होना चाहिए। आत्मा ही एकमात्र असीम ब्रह्म है, शेष अन्य सब उसी की अभिव्यक्ति हैं।

ब्रह्म अज, अविनाशी, निर्विकार, अतनु और निर्भय है। उसका कोई नाम-रूप नहीं है। उसमें संकोच-विकास नहीं हैं, सुन्दर-असुन्दर नहीं है। वस्तुतः निर्भयता ही ब्रह्म है। जो ब्रह्म को जानता है, वह अमर और अभय हो जाता है।

अन्तर में झांको। वहीं आनन्द का स्रोत है। वहीं सच्चा जीवन है। सच्चा 'मैं' क्या है? वही आत्मा है। वह ब्रह्म है, शुद्ध चैतन्य है।

जिन बुराइयों के लिए हम दूसरों को लांछित करते हैं, उन्हें अपने अन्दर संजोये रखना, यह प्रमाणित करता कि हम मूर्ख ही रहना चाहते हैं।

—पोप

भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकट्य

स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती

भगवान् जब साधक के हृदय में प्रकट होते हैं तब उसकी एक विशेष स्थिति हो जाती है। साधना के पक्ष में उसको कहते हैं चित्त की शुद्धि। इसी तरह जब सगुण, साकार, जगत् का कल्याण और भक्तों का पक्षपात करने वाले भगवान प्रकट होते हैं तब समग्र सृष्टि में, प्रकृति में, एक विलक्षणता आ जाती है।

इसीलिए श्रीमदभागवत में श्री शुकदेव जी महाराज ने बताया कि भगवान् के प्राकट्य के समय काल सर्वगुण-सम्पन्न हो गया—बाहर से सुहावना और भीतर से अन्तःकरण-शोधक। दिशाएँ निर्मल हो गयीं। आकाश में चमचमाते तारे उग आये। शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु बहने लगा। अग्नि शान्त होकर प्रज्वलित हो गयी। नदी-नद-समुद्र सब-के-सब वर्षा ऋतु में ही निर्मल हो गये। पृथिवी में चारो ओर मंगल हीं मंगल होने लगा। सबके मन प्रसन्न हो गये। साधु-देवताओं की आत्मा आनन्द से भर गयी। तात्पर्य यह कि प्रकृति ने भगवान् के शुभागमन के अवसर पर अपने को उन्मुख करके भगवान् के प्रति अर्पित कर दिया।

देवकी सूक्ष्म बुद्धि हैं, वसुदेव विशुद्ध अन्तःकरण हैं और इन दोनों के संयोग से भगवान् श्रीकृष्ण का अवतरण होता है।

श्रावण के बाद भगवान् के प्रकट होने का मंगलमय अवसर आता है। इसीलिए श्रावण के बाद भाद्र मास आता है, जो भद्रमय होता है—'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम।' भद्र उसे कहते हैं, जो अपनी उपस्थिति के साथ-ही-साथ आनन्द देता है। फिर जो भाद्रमास का कृष्णपक्ष है, वह तो भगवान् के नाम का ही है। जहाँ घनघोर अन्धकार छाया रहता है, वहीं भगवान् प्रकट होते हैं।

कृष्णपक्ष में जो अष्टमी तिथि है, वह मध्यवर्तिनी तिथि है। सात तिथियाँ उसके पहले हैं और सात तिथियाँ बाद में हैं। मध्य तिथि में भगवान् का जन्म हुआ। अष्टमी तिथि की मध्यरात्रि में भगवान् का जन्म क्यों हुआ? इसलिए हुआ कि भगवान् चन्द्रवंश में उत्पन्न हुए हैं। चन्द्रमा की मुख्य पत्नी निशा है और चन्द्रमा निशानाथ हैं। अतः निशा के सन्धिकाल में परमात्मा का प्रकाश होता है।

इसके अतिरिक्त रोहिणी नक्षत्र अजन्मा ब्रह्मा का नक्षत्र है। बलराम जी की माता का नाम है रोहिणी। इसलिए भगवान् ने रोहिणी नक्षत्र में जन्म लिया।

भगवान् के प्रगट होने पर उनकी ओर सबसे पहले वसुदेव जी की दृष्टि गयी। वे उनका दर्शन करके चकित हो गये और सोचने लगे कि अरे, हमारे घर में भगवान् का जन्म हो गया। आश्चर्य महादाश्चर्य। भगवान् कितने छोटे हैं। ऐसा तो कोई बालक सृष्टि में पैदा ही नहीं होता।

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्।
उद्दामकांच्यङ्गदकंकणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥
(१०.३.९-१०)

वासुदेव जी ने कहा—अद्भुत है यह बालक। कमल के समान तो इसकी खुली-खुली आँखें हैं, जब कि बच्चे पैदा होते हैं तो उनकी आँखें बन्द रहती हैं, उनके हाथ दो होते हैं, यह तो चतुर्भुज है। अवश्य ही चारों हाथों से भक्तों के कल्याण में लगा हुआ, चारों पुरुषार्थों को देने वाला और चारों अवस्थाओं का भोक्ता प्रभु हमारे सामने प्रकट हुआ है। इसके चारों हाथों में शंख-चक्र-गदा-पद्म हैं और यह समग्र आभूषणों से आभूषित है।

वसुदेव जी ने जब बालक का यह रूप देखा तब उनका सिर झुक गया, उनके हाथ जुड़ गये और उन्होंने यह निश्चय करके कि ये साक्षात् भगवान् हैं, उनकी स्तुति की।

निरुक्त का यह कथन है कि यदि तुम परमात्मा को पहचानोगे नहीं तो वह तुम्हारी रक्षा कैसे करेगा।

इसलिए वसुदेव जी ने कहा कि महाराज, मैंने आपको पहचान लियां। आप साक्षात् जगत् के कारण हैं। केवल निमित्त कारण अर्थात् बनाने वाले ही नहीं, बननेवाले भी आप ही हैं। बनने वालों की विशेषता यह होती है कि वह अपने कार्य में विद्यमान होता है। जैसे घड़े में उपादान कारण के रूप में मिट्टी मौजूद होती है, वैसे ही विश्व-सृष्टि के रूप में भगवान् बना है। इसलिए कण-कण में भगवान् भरपूर है। बनाने वाला है चेतन और बनने वाला है सत्। सत्-चित् का जो अविनश्वर रूप है, अविनाशी रूप है, वह आनन्दघन परमात्मा है।

जब वसुदेव जी ने स्तुति कर ली तब देवकी की आँखें खुलीं और उसने भी साक्षात् नारायण के दर्शन किये। फिर देवकी ने उनकी स्तुति करते हुए कहा कि हमारे हृदय में रह कर अध्यात्मदीप प्रकाशित करने वाले साक्षात् ब्रह्म तुम्हीं हो। यह कितने बड़े आश्चर्य का विषय है कि जो सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि को अपने भीतर धारण करता है, वह मेरे गर्भ में आया। भला दुनिया में कौन इस पर विश्वास करेगा? बुद्धिमान् लोग तो कहेंगे कि नहीं, कहीं अवतार होता ही नहीं। लेकिन यहाँ तो भगवान् का अवतार बिलकुल प्रत्यक्ष है, हमारी आँखों के सामने है। यदि संसार का कोई राजा है और वह अपने राज्य में दौरा नहीं करता, प्रजा से नहीं मिलता तो राजा जिन्दा है या मर गया……इसका पता कैसे चले?

इसलिए भगवान् ऐसे हैं, जो सृष्टि के रूप में बनते हैं, बनाते हैं और स्वयं उसको देखते रहते हैं। फिर प्रकट होकर भक्तों को दर्शन देते हैं। हमारा हृदय भगवान् रूपी सरोवर में अवतरण करे, उतरे, इसके लिए अवतार रूप सोपान हैं……'अवतरणं अवतारः'। इसी सोपान के द्वारा हम ब्रह्मह्रद में अवतीर्ण हो सकते हैं। जो अन्तर्यामी हमारे स्वरूप में बैठे हुए हैं, वही हमारे अन्तःकरण के द्वारा, हमारी इन्द्रियों के द्वारा बाहर देखने में आते हैं। यदि प्रभु का अवतार न हो तो उनको कौन पहचाने?

देवकी ने कहा कि प्रभो, हम तुमको पहचानते तो हैं, लेकिन डर भी लगता है कि यदि अभी कंस आ जाय तो क्या होगा?

भगवान् ने कहा कि तुम लोगों ने अपने पूर्व-पूर्व जन्मों में मेरे लिए बड़ी तपस्या की थी। जब मैं वर देने के लिए तुम्हारे सामने आया तब तुम लोगों ने मेरे जैसा पुत्र मांगा। लेकिन मेरे जैसा तो दुनिया में कोई है नहीं……

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्। (१०.३.४१)

फिर मैं अपने समान पुत्र कहाँ से देता? तुम्हारी माँग मैं पूरी नहीं कर सका। इसलिए जैसा तुमने माँगा था, उसका तिगुना होकर, तीन बार तुम लोगों का पुत्र बना। क्योंकि कोई उदार व्यक्ति किसी को उसकी माँगी हुई चीज न दे सके तो उसी चीज के समान तीन चीजें दे देता है। मैंने तुम लोगों को अपना चतुर्भुज रूप दिया है, यह पूर्वजन्म की याद दिलाने के लिए है।

इसके बाद भगवान् ने वसुदेव-देवकी को यह प्रेरणा कर दी कि तुम लोग अब मुझको गोकुल में ले चलो।

असल में भगवान् जब तक गोकुल में न जाएँ तब तक गोकुल की सार्थकता नहीं है। भगवान् केवल इन्द्रियों के पीछे रहने के लिए नहीं हैं। केवल अन्तःकरण में ध्यान करने के लिए नहीं हैं, भगवान् तो हमारी इन्द्रियों के साथ खेलने के लिए हैं। इसीलिए भगवान् का, परब्रह्मपरमात्मा का साधारणीकरण होकर हमारी आँखों के सामने आ गया।

अब जब वसुदेवजी ने भगवान् को गोकुल पहुँचाने का संकल्प किया तब ऐसी लीला हुई कि भगवान् वसुदेव जी की गोद में आ गये। वसुदेव जी की हथकड़ी बेड़ी छूट गयी। भला भगवान् जिसकी गोद में हों, उसके लिए हथकड़ी-बेड़ी का बन्धन और फाटक बन्द होने की बाधा क्या चीज है। सब-के-सब बन्धन छूट गये, फाटक खुल गये।

इसके बाद जब वसुदेव जी भगवान् को लेकर गोकुल की ओर चले तब विमुखजन-मोहिनी माया मथुरा में प्रगट हो गयी। थोड़ी-थोड़ी फुहियाँ गिरने लगीं। मथुरा के जो लोग बाहर सोये थे, अपनी खाट उठाकर घर के भीतर चले गये। रास्ता साफ हो गया। भगवान् नगर के बाहर निकल गये। उन पर फूहियों का जो पानी पड़ रहा था, उसका निवारण शेष भगवान् अपने फनों से करने लगे।

इधर यमुना जी ने देखा कि एक साँप तो मेरे जल के भीतर पहले से ही है, यह दूसरा साँप भी मेरी ओर बढ़ता चला आ रहा है। अब क्या होगा ? उन्होंने अपनी धारा को तेज कर दिया और कहा कि मैं इस साँप को बहाकर बाहर कर दूंगी। लेकिन जब उनकी दृष्टि भगवान् पर पड़ी तब उन्होंने सोचा कि यदि मैं. कोई उद्दण्डता करूँगी तो ये मेरे साथ ब्याह कैसे करेंगे ?

आप जानते ही हैं कि भगवान् आगे चलकर कालिन्दी जी अथवा यमुना जी से ब्याह करने वाले हैं। वे व्रज में भी भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेयसी हैं और समुद्र के, रत्नाकर के द्वारा द्वारका में पहुँचती हैं तो वहाँ भी चतुर्थ पटरानी होती हैं।

इसलिए भगवान् के सामने कालिन्दी ने अपना हृदय खोल कर रख दिया। वे सूख-सी गयीं, उनमें कहीं घुटने भर, कहीं टखने भर और कहीं जांघ भर पानी रह गया। वसुदेव जी आराम से उस पार चले गये। जब गोकुल पहुँचे तब वहाँ भगवान् की स्वजन-मोहिनी माया ने ऐसी लीला रची कि नन्दभवन के सारे किवाड़ खुल गये। यशोदा मैया सो गयीं और सारे गोकुलवासी भी निद्राग्रस्त हो गये।

वसुदेव जी ने भगवान् को यशोदा मैया के पास सुला दिया और उनके पास जो माया प्रकट हुई थी. उसको उठा कर साथ ले गये। इस पर भगवाम् ने विचार किया कि देखो, ये भक्त हो कर मुझको तो छोड़े जा रहे हैं और माया को लिये जा रहे हैं। इधर मैं जिसके पास पहुँच कर लेटा हूँ, वह तान दुपट्टा सो रहा है। यहाँ न मेरा स्वागत है, न सत्कार है। ये न आओ बोलते हैं, न जाओ बोलते हैं, यह कितना आश्चर्य है।

इसलिए भगवान् रोने लग गये। उनके रोने की आवाज़ से यशोदा मैया की नींद टूट गयी।

जब वसुदेव जी माया को लेकर कंस के कारागार में लौटे तब वहाँ क्या हुआ ? भगवान् गोद में आये तो हथकड़ी-बेड़ी छूट गयी और माया गोद में आयी तो फिर हथकड़ी-बेड़ी का बन्धन लग गया।

जब वसुदेव जी बँध गये तब माया देवी रोने लग गयीं। कंस के पहरेदार जग गये। उन्होंने कंस को खबर दे दी। कंस तो प्रतीक्षा में था ही। वह बिना जूता पहने, बिना टोपी लगाये, नंगे पांव, नंगे सिर तलवार हाथ में लेकर वसुदेव-देवकी के पास पहुँच गया। उसको देख कर देवकी ने सोचा कि हमारे बेटे की रक्षा इसी की वजह से हुई है, इसलिए हमारा धर्म है कि हम इसको बचायें। इसलिए उन्होंने उसको छोड़ देने के लिए कंस से बहुत अनुनय-विनय की। लेकिन कंस किसीकी अनुनय-विनय को कहाँ मानता है ? उसने तत्काल उस माया देवी को उठाकर पत्थर पर पटक देने का प्रयास किया लेकिन माया देवी पत्थर पर गिरी नहीं, कंस के हाथ से छूट कर आकाश में उड़ गयी। बाद में वही विन्ध्यवासिनी देवी के नाम से चारों ओर प्रसिद्ध हो गयीं।

●

पारस का त्याग

बहुत दूर बर्दवान से चलकर एक ब्राह्मण आया था ब्रज में। वह पूछता हुआ सनातन गोस्वामी के पास पहुँचा। उसे पारस पत्थर चाहिये। कई वर्ष से वह तप कर रहा था। भगवान् शंकर ने स्वप्न में आदेश दिया था कि ब्रजमें सनातन गोस्वामी को पारस का पता है, वहाँ जाओ।

ब्राह्मण की बात सुनकर सनातनजी ने कहा—'मुझे अकस्मात् एक दिन पारस दीख गया। मैंने उसे रेत मे ढक दिया कि आते-जाते भूलसे कुचल न जाय।'

●

श्री गुरवे नमः

डा० सम्पूर्णानन्द

●

मनुष्यके जीवनके कुछ ऐसे पहलू होते हैं जिनका वह परदेमें ही पड़ा रहना पसन्द करता है। कुछ ऐसी घड़ियाँ होती हैं जो जीवनकी धाराको बदल देती हैं परन्तु उनकी याद अपनेतक ही सीमित रखना अच्छा लगता है। कुछ ऐसी मधुर स्मृतियाँ होती हैं जो बाहरवालोंकी दृष्टि पड़ते ही कुम्हला जाती हैं। कुछ ऐसी अनुभूतियाँ हैं जिनको हृदयके अन्तःस्तलके बाहर निकालनेको जी नहीं चाहता। असूर्यम्पश्या रमणियोंकी भाँति ऐसी चीजोंको परायी आँखोंसे बचा कर रखना ही भला लगता है। ऐसी गोप्य बातोंमें प्रथम स्थान आध्यात्मिक अनुभूतिका है। अध्यात्म धर्म या मजहबका पर्याय नहीं है। मनुष्य किन ग्रन्थोंको प्रामाणिक मानता है, उन ग्रन्थोंमें क्या लिखा है, कौन-कौन से व्रतोपवासादि उसके लिए करणीय हैं, मरने के बाद क्या गति होती है, इस प्रकार के प्रश्नोंके उत्तरके अनुसार मनुष्यका धार्मिक या मजहबी वर्गीकरण होता है। मजहबका कुछ-न-कुछ आध्यात्मिक आधार होता है परन्तु अध्यात्म और मजहब या सम्प्रदायमें वही सम्बन्ध है जो चीनीको चखने और चीनीके सम्बन्धमें पुस्तक पढ़नेमें है। सम्भव है पुस्तक लिखनेवालेने चीनीको चखा हो परन्तु वह चीनीके स्वादको पाठकतक नहीं पहुँचा सकता। स्वाद तो स्वयं चखनेसे मिलता है। आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा शुद्ध, अपरोक्ष, अतीन्द्रिय ज्ञान होता है और वह वर्णनातीत है। उसकी चर्चा करना अनुचित और बेकार है। अपनेको सत्यकी, उस सत्य पदार्थकी जो देश और कालके परे है, जिसमें यह जगत् ओतप्रोत है, जो जगत्के, द्रष्टाके, भीतर और बाहर है, जो अपनी आत्मासे अभिन्न है, उस सत्यकी क्या अनुभूति हुई, कैसी झलक मिली, इसकी क्या चर्चा की जाय, ऐसी अनुभूतिका एकमात्र मार्ग योग है। योगका प्रत्येक अभ्यासी तत्वद्रष्टा नहीं हो जाता परन्तु जैसा कि श्रीकृष्णने गीतामें कहा है :

जिज्ञासुरपि योगस्य, शब्दब्रह्मातिवर्तते।

योगकी पहली सीढ़ीपर पाँव रखनेवालेका भी स्थान दूसरी सब उपासना, यज्ञ, याग करनेवालोंके लोकसे ऊँचा है। कभी-कभी सच्चे कलाकारको भी एक झलक मिल जाती है, कलाकार उस अमूर्त झलकको राग, पद्य, मूर्ति और चित्रमें साकार बनानेका प्रयास करता है और कलाका इतिहास असम्भवको सम्भव बनानेके ऐसे प्रयत्नोंका इतिहास है।

मैं चाहता था कि इस अध्यायको न लिखूं। अपने जीवनके इस अध्यायको परदेमें ही रखूं। परन्तु यह पूर्णतया सम्भव प्रतीत नहीं हुआ। जो लोग मुझको जानते हैं उनमेंसे बहुतोंका यह खयाल है कि मेरा झुकाव 'धार्मिक' या 'आध्यात्मिक' बातोंकी ओर है। मिलने-जुलनेवालोंके सामने यदा-कदा ऐसी बातें मुँहसे निकल ही जाती हैं। शराबका नशा कहाँतक छिपाया जा सकता है ? मेरी पुस्तकोंमें इन विषयोंका जिक्र है। 'चिद्विलास' में जहाँ शास्त्रीय विचार हैं वहीं, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, योगकी सर्वोपरि प्रामाण्यतापर असन्दिग्ध भाषामें जोर दिया गया है। ऐसी बातोंको देखकर बहुत-सी कल्पनाएँ उठती हैं, जिनमेंसे कई निराधार भी होंगी। अतः अनिच्छन्नपि मैंने इस अध्यायको लिखना उचित समझा। इसमें मेरी कोई अनुभूति नहीं बतलायी गयी है, यदि किसी रहस्यका मुझे किंचित् ज्ञान है भी तो उसका अनावरण नहीं किया गया है, केवल इस बातकी चर्चा है कि अनुभूतिके मार्गपर मैं किस प्रकार आरूढ़ हो सका।

छोटी उम्रसे ही मैं धार्मिक पुस्तकोंको पढ़ा करता था। कहानियोंके सिवाय उस उम्रमें और क्या समझमें आता, और सब कहानियोंका भाव भी समझना कठिन था। मुझे अच्छी तरह याद है कि 'देवीभागवत' की एक कहानी मुझे बहुत अच्छी लगी। उसको कहानीरूपसे तो समझ गया परन्तु कहानीके पीछे कुछ और है, यह उस समय भी लगता था। मनमें कई प्रश्न उठते थे। कहानी वह है जिसमें यह बताया

गया है कि एक बार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र यह ढूंढ़ने चले कि हमारे ब्रह्माण्डके बाहर क्या है। जब अपने ब्रह्माण्डके बाहर निकले तो उनको बहुत-से त्रिदेव मिले। वे सब एक ओर जा रहे थे तो यह भी उधर ही हो लिये। बहुत दूर जाते-जाते इनको कुछ प्रकाश दीख पड़ा। वहाँ ही देवीका लोक था। देवीकी सब परिचारिकाएँ स्त्रियाँ थीं। ज्यों-ज्यों यह लोग आगे बढ़े त्यों-त्यों इनमें परिवर्तन होने लगा, यहाँतक कि कुछ ही देरमें सब स्त्री हो गये। कुछ और चलकर यह लोग अपना पृथक् अस्तित्व ही भूल गये। लड़कपनकी पढ़ी हुई है परन्तु कथा कुछ ऐसी ही है। ऐसी पुस्तकोंको पढ़नेसे दो शंकाएँ विशेष रूपसे उठती थीं। एक तो यह थी कि सभी पुस्तकें कहती थीं कि जगत्का मूल, चाहे उसको ईश्वर या विष्णु या देवी या महादेव कुछ भी कहें, कोई सर्वव्यापी पदार्थ है। तब वह उन जगहोंमें भी होगा जहाँ दूसरी वस्तुएँ हैं, जहाँ अपना शरीर है। यह कैसे हो सकता है? एक जगहमें दो पदार्थ कैसे रह सकते हैं? इसका किसी प्रकार पिताजीने उत्तर दिया था। मुझे अबतक स्मरण है कि उन्होंने वह उपमा दी थी जो इस दोहार्धमें है : ज्यों मेंहदीके पातमें लाली लखी न जाय। अस्तु इसका तो कुछ निवारण हुआ परन्तु मेरी दूसरी शंकाका कोई समाधान नहीं कर सका। जगत्की उत्पत्तिका वर्णन बड़ा रोचक लगता था। इतना ही समझमें आता था कि प्रारम्भमें सब जल-ही-जल था। मूल संस्कृतमें 'सलिल' शब्द आता है। यह अप्तत्त्वका वाचक है और इसका प्रयोग दार्शनिक प्रसंगमें ही आता है। उस समय तो यह सब नहीं जानता था। इतना ही समझमें आया कि किसी प्रकार उस अनन्त जलमेंसे मनुष्य जैसा शरीर निकल आया और ईश्वरने उसमें प्राण फूंक दिया। मैंने सैकड़ों बार इस दृश्यका मानसचित्र बनाया। गंगाजीसे बड़ा जलसमूह तो मैंने देखा नहीं था। मैं यह सोचता था कि किसी प्रकार पानीमेंसे निकला हुआ मनुष्यका एक शरीर किनारेपर खड़ा है और कोई उसकी नाकमें फूंक रहा है। तसवीर कुछ बनती तो थी परन्तु सन्तोष नहीं होता था। वह सारा पानी कहाँ गया? वह स्वयं कैसे बना था? वह बिना साँसकी देह उसमेंसे रेंगकर बाहर कैसे निकली? प्रश्न तो उठते थे परन्तु यह स्पष्ट ही है कि यदि उस समय कोई जानकार मुझको समझानेका यत्न करता भी तो मैं भला क्या समझ पाता!

कुछ बड़े होनेपर बचपनकी इस दार्शनिक जिज्ञासामें कमी हो गयी। बहुत-से धर्मोंकी पुस्तकें देखीं। सभीकी ओर कुछ दिनके लिए आकृष्ट भी होता था, परन्तु चित्त कहीं जमता न था। कॉलेजमें आकर मुझे इंग्लैण्डके रैशनलिस्ट प्रेस एसोसिएशनकी पुस्तकें देखनेको मिलीं। प्रामाणिक पुस्तकोंको, जिनके मूल संस्करणोंका मूल्य बहुत होता था, इस मालामें बहुत सस्ते मूल्यपर प्रकाशित करते थे। प्रो० अर्न्स्ट हैकल तथा दूसरे अनीश्वरवादियोंकी रचनाओंने मुझे कुछ कालके लिए कट्टर अनीश्वरवादी और जड़वादी बना दिया। उनके तर्क सबल होते थे और श्रद्धा उत्पन्न करते थे। लोग समझते हैं कि सदाचारको धर्म और ईश्वरका सहारा चाहिए। इस मालाकी कर्तव्यशास्त्रपर प्रकाशित एक पुस्तकके लेखकका कहना है कि जगतमें तो यह देख पड़ता है कि :

> ट्रुथ फारएवर आन दि स्कैफोल्ड,
> रॉंग फारएवर आन दी थ्रोन।

(सच्चे आदमी सूलीपर चढ़ाये जाते हैं और दुराचारी सिंहासनपर बैठने हैं।)

परन्तु यदि कोई ईश्वर हो और वह ऐसी आज्ञा दे तब भी सत्पुरुष सत्य और न्यायके पक्षपर अडिग रहेगा।

सच बात तो यह है कि मुझे अपने भीतर कुछ शून्य-सा, कुछ अभाव-सा लगता था; उसकी तृप्ति किसी पुस्तकसे, किसी मतसे नहीं होती थी। सूनापन कैसा था, किस वस्तुकी कमी प्रतीत होती थी, मैं क्या चाहता था, यह मैं स्वयं नहीं बता सकता था। स्वामी विवेकानन्दकी रचनाएँ पढ़ीं, संस्कृत तो जानता नहीं था, ब्राह्मण और उपनिषदोंके अंग्रेजी अनुवाद देखे, शांकर वेदान्तकी ओर चित्त झुका, परन्तु प्यास नहीं बुझी।

मेरे पड़ोसमें एक बंगाली परिवार रहता था। वे सभी लोग राधास्वामी सम्प्रदायके सदस्य थे। उनमें श्री हरेन्द्रनाथ मेरे समवयस्क थे। सन् १९०० में मेरी उनकी घनिष्ठता बढ़ी। उनकी कृपासे राधास्वामीमतकी वे पुस्तकें देखनेको मिलीं जो बाहरवालोंको दी जाती हैं। इनके साथ ही सन्तमतके अन्य महात्माओंकी रचनाएँ देखीं। कबीर, नानक, पलटू, दादू, दरिया, जगजीवन आदि सन्तोंके 'साखी और 'शब्द' पढ़नेमें आये। एक नया विश्व सामने आया, जिसमें तर्क

और शाब्दिक इन्द्रजालके लिए स्थान नहीं है, जिसमें व्याकरण और निरुक्तका प्रवेश नहीं है। इस जगत्में सत्यका सीधा साक्षात्कार होता है, उसके विषयमें शास्त्रार्थ नहीं होता। यह ऐसी दुनिया है जिसमें रंग, वर्ण, वर्ग, राष्ट्र, सम्प्रदायका भेद माना नहीं जाता, स्त्री और पुरुष समानकक्षमें रखे जाते हैं। इस लोकमें सत्यका निवारण प्रत्यक्ष होता है। मैं स्वभावतः इस ओर खिचा। खिचनेके साथ डरा भी, घबराया भी। यहाँ सद्गुरुकी कृपाके बिना प्रवेश असम्भव है और प्रगति योगाभ्यास और वैराग्यपर निर्भर करती है। सतत सतर्कता चाहिए क्योंकि मनको बहकते देर नहीं लगती। कबीरने कहा है :

साध संग्राम है विकट बेड़ा मती,
सती औ सूरकी चाल आगे।
सती संग्राम है पलक दो-चारका,
सूर संग्राम पल एक लागे।
साध घमसान है रैन दिन जूझना,
देह पर्यन्तका काम भाई।
कहत कबीर टुक बाग ढीली करै,
उलट मन गगनसे जमीं आई॥

मैं साधारण गृहस्थ, विरक्त कहाँतक हो सकूँगा, संयमी कैसे बन पाऊँगा? और फिर गुरु कहाँ मिलेगा? गुरुमें जैसी श्रद्धा होनी चाहिए वह मुझमें कहाँ है? अंग्रेजी पढ़ा हुआ, विज्ञानमें चंचुप्रवेश पाया हुआ व्यक्ति, अपने झूठे विद्याभिमान और शंकावृत्तिको कहाँ भुला पाऊँगा। कबीरने कहा है :

पहिले दाता शिष भया, जिन तनमन अरपा शीष।
पीछे दाता गुरु भया, जिन नाम किया बखशीश॥

मैं इतनी अनन्य निष्ठा कहाँ दिखला सकता हूँ?

मैंने उन्हीं दिनों संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। विशेषतः योगपर पुस्तकोंको देखने लगा। योगदर्शनका तो कहना ही क्या है, उसको कमसे कम ढाई सौ बार पढ़ गया हूँ, फिर भी उसके अर्थमें गूढ़ता निकलती आती है। योगकी अन्य पुस्तकें भी अच्छी लगीं। पर जो कठिनाई सन्त-साहित्यमें थी, वही इनमें भी। इनकी भाषा कुछ और ही थी। अर्थ लगानेकी कुंजी मेरे पास नहीं थी।

मैंने साधु महात्माओंसे भेंट करना आरम्भ किया। जहाँ किसी साधुका पता लगता, मैं उनके दरबारमें उपस्थित होता। जो लोग मूर्तिपूजाकी, मन्त्रजपकी बात करते थे उनके यहाँ तो जी नहीं लगता था, परन्तु जहाँ योगकी चर्चा होती, वहाँ चित्त लगता था। एक-एक जगह कई-कई बार गया। निश्चय ही उनमें कुछ अच्छे लोग रहे होंगे परन्तु मैं उनसे लाभ न उठा सका, अतृप्ति बनी ही रही। इसके साथ ही मेरी व्याकुलता भी बढ़ती गयी। अपनी अपात्रतापर क्रोध आता, विचित्र किंकर्तव्यताकी दशा थी। कई बार यह विचार उठा कि अपने मित्र श्री हरेन्द्र सेनकी भाँति राधास्वामी सम्प्रदायमें दीक्षा ले लूँ। वह लोग भी सन्तमतके ही पोषक थे। परन्तु उधर भी प्रवृत्ति न हुई। एक कारण तो यह था कि मैंने योगीका जो चित्र मनमें बना रखा था उसके अनुकूल उनको नहीं पाता था। मेरी ऐसी धारणा थी, और जो अब अधिक पुष्ट हो गयी, कि योगी गम्भीर भी हो सकता है और हँस भी सकता है, दूसरोंको भी हँसा देता है। उसके चारों ओर प्रसन्नता और प्रफुल्लताका वातावरण होता है। इस मतके जो लोग मुझे मिले वह सदैव गम्भीरतामें डूबे रहते थे, जैसे हँसना जानते ही न हों। फिर उन लोग का एक विश्वास मुझको घबराता था। वह इस दोहेमें गुम्फित है :

जन्म एक गुरुभक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्तिपद, चौथेमें निज धाम॥

यह ठीक है कि अध्यात्मके मार्गमें कोई अवधि नहीं बाँधी जा सकती, अपने संवेग, वैराग्य, लगन, परिश्रम, तन्मयतापर सफलता निर्भर है, परन्तु यह चार जन्मकी अवधि तो बहुत लम्बी है। किसीको दस जन्म लग जायँ परन्तु एक जन्म भी पर्याप्त होना चाहिए, चार जन्मकी चर्चा ही साधकको सुस्त बना देगी। इन बातोंने मुझे उस सम्प्रदायसे पराङ्मुख कर दिया। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यहाँ राधास्वामी मतकी आलोचना नहीं कर रहा हूँ और न उसके दोष दिखला रहा हूँ। कुछ बातोंकी मेरे ऊपर जो प्रतिक्रिया हुई उसीका जिक्र कर रहा हूँ। बहुत सम्भव है कि प्रतिक्रिया बिलकुल निराधार हो। ऐसी दशामें मैं उन सब लोगोंसे क्षमा माँगता हूँ जिनको मेरे लिखनेसे ठेस लगी हो।

मेरी अवस्था यों ही असन्तोषजनक होती जा रही थी। मैं अपनेको निःसहाय पाता था। कोई उपाय सूझता नहीं था जिससे उस रससागरकी एक बूंद चखनेको मिल जाय

जिसकी चर्चा सन्तसाहित्यमें, योग वाङ्मयमें थी। घण्टों न जाने क्या सोचा करता, कभी-कभी रो पड़ता था। स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो गया। पढ़ने-लिखनेमें जी नहीं लगता था। बी० एससी० में फेल हो गया। जीवनमें इस प्रकारकी यह पहिली घटना थी। निश्चय ही दुःख हुआ। घरपर लोग मेरी मानसव्यथासे परिचित थे, किसीने एक शब्द नहीं कहा। यह उनकी उदारता थी। परन्तु माता-पिताको जो दुःख हुआ होगा उसे सोचकर मुझे और भी ग्लानि होती थी। परन्तु बेबसी थी, मैं कर भी क्या सकता था।

एक दिन मेरी माताने मुझसे कहा 'तुम दादाके पास क्यों नहीं जाते? वे तुम्हारी सहायता करेंगे।' मैं एक बार तो इस बातको सुनकर अवाक्-सा रह गया। मेरे मातामह (नाना)को लोग दादा कह कर पुकारते थे। मैं भी उन्हें दादा ही कहता था। यह जानता था कि वह साधु हैं और बाबा रामलालके शिष्य हैं। बाबाजी बड़े प्रसिद्ध योगी थे। मैंने उनको लड़कपनमें देखा था। रामनगरमें महाराजा बनारसके किलेके पीछे अपनी माताके साथ एक टीलेपर रहते थे। उनकी 'बाणी' छपी थी। उसको देखकर मैंने अनुमान किया था कि वह भी सन्तमतसे ही सबद्ध रहे होंगे।

दादा बड़े ही हँसमुख व्यक्ति थे। खूब हँसते थे, हँसाते भी थे। शरीर पुष्ट था, वृद्धावस्थामें भी डण्ड-बैठक करते थे। दिनमें एक ही बार भोजन करते थे। फूलोंका शौक था। जहाँ रहते थे वहाँ फूल लगा रखे थे। उनको अपने हाथोंसे सींचते थे। तीस-चालीस घड़े पानी डालते थे। गरमीमें उन्हीं फूलोंके बीचमें पत्थरके तख्तपर सोते थे। सर्दियोंमें कमरेमें जमीनपर। स्मरणशक्ति बहुत अच्छी थी। घण्टोंतक संस्कृत, फारसी, उर्दू और हिन्दीके योगवेदान्तपरक तथा वैराग्योद्दीपक वाक्य, गद्य और पद्य, सुना सकते थे। संगीतसे प्रेम था। गेरुआ वस्त्र पहिनते थे, परन्तु यज्ञोपवीतका परित्याग नहीं किया था। उसको कण्ठीकी भाँति गलेमें पहिनते थे।

मैं यह सब जानता था, पर न जाने क्यों अबतक उनके यहाँ अपने विशेष उद्देश्यको लेकर जानेका विचार मनमें नहीं आया था। माँके कहनेसे उनकी सेवामें गया, एक-दो दिन नहीं, प्रायः प्रतिदिन जाने लगा। पहिले तो उन्होंने हँसकर टाल देना चाहा, इसके आगे मार्गकी कठिनाईकी चर्चा चली। मार्ग कठिन है, इसके विषयमें दो सम्मतियाँ हो नहीं सकतीं। प्राचीन, अर्वाचीन, सभी सन्त-महात्माओंने ऐसा कहा है। उपनिषद्का वाक्य है:

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथः तत्कवयो वदन्ति।

(योगीजन कहते हैं कि वह मार्ग कठिन है, छूरेके तीखी धारके समान दुर्गम है।) इसपर चलनेवाला वह नहीं हो सकता जो 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः' है।

(जो दुश्चरितोंको छोड़ नहीं चुका है, जिसने इन्द्रियोंको नहीं दबाया है, जिसका चित्त एकाग्र नहीं है।) और फिर गोविन्द साहबके शब्दों में:

पहिले कसै अहार, ताहिपर निद्रा बाँधै।
तब सद्गुरुकी शरण बैठि पद्मासन साधै॥
ऐसी रहनी होय ताहि गोविन्द उपदेसै।
बिन बाती बिन तेल अगिन बिन दीया लेसै॥

यह बातें साहस हिला देनेवाली थीं, परन्तु उत्साह टूटा नहीं। मैं कभी-कभी झुँझलाकर यह कह उठता था कि यदि शिष्य यों ही सब गुणोंसे सम्पन्न हो तो गुरुकी आवश्यकता ही क्या है। वह हँसकर चुप हो जाते थे।

इस कथाको यहीं समाप्त करना है। मुझे कभी कोई दीक्षा मिली या नहीं मिली, उसका क्या परिणाम हुआ, यह सब सार्वजनिक चर्चाका विषय नहीं है। मैं योग्य, अयोग्य, जैसा कुछ भी था, पर मुझे फिर साधु-महात्माओंके यहाँ एक द्वारसे दूसरे द्वार भटकनेकी आवश्यकता नहीं रही। मुझे मार्ग बतानेवाला, हाथ पकड़कर पथपर ले चलनेवाला मिल गया। जीवन बदल गया। सत्यका लहराता सरोवर सामने आया, उसमें अवगाहन करना अब मेरा काम था।

इस मार्गपर एकाकी ही चलना होता है। गुरुका बहुत बड़ा महत्त्व है। कहा गया है कि 'परमेश्वरसे गुरु बड़े', हैं उपनिषद्में भी कहा है:

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(जिसकी ईश्वर और गुरुमें समान रूपसे परा श्रद्धा होगी उसपर ही यह रहस्य प्रगट होंगे।)

यह सब ठीक है, गुरुकृपासे ही आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग सुगम होता है, परन्तु अन्ततोगत्वा अपने ही अध्यवसाय,

अपनी ही लगनसे काम चलता है। बुद्धदेवके प्रिय शिष्य आनन्दकी कथा प्रसिद्ध है। बुद्धदेव उनको बहुत मानते थे, इसीके भरोसे आनन्दने विशेष परिश्रम नहीं किया। बुद्धके शरीरत्यागके बाद उनको यतमान होना पड़ा तब अर्हत् पद प्राप्त हुआ। इसी प्रकार श्रीकृष्णके सखा और कृपापात्र उद्धवको कृष्णसाहचर्यसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हुई। स्वयं श्रीकृष्णने उनको आदेश दिया कि तुम बदरिकाश्रममें जाकर तप करो, तभी कषायोंका नाश होकर आत्मज्ञान प्राप्त होगा।

मैंने 'चिद्विलास'में तथा अन्यत्र भी लिखा है कि ज्ञानका सर्वोपरि साधन, एकमात्र अचूक और असन्दिग्ध साधन, योग है। साधारण अवस्थामें हमारी बुद्धि राग-द्वेषसे कलुषित रहती है। शुद्ध, सम्पूर्ण ज्ञानकी हमको अपेक्षा भी नहीं है। उससे कष्ट भी हो सकता है। यदि हमारी चक्षुरिन्द्रिय इतनी तेज हो जाय कि हम दूसरोंके शरीरके भीतरकी क्रियाओंको देख सकें तो किसीसे प्रेम करना तो दूर रहा, बात करना कठिन हो जाय। मनुष्यमें ऐसी शक्ति है पर वह अपनी इन्द्रियोंसे पूरा काम नहीं लेता, लेना चाहता भी नहीं। हमारी पुस्तकोंमें तो ऐसी शक्तियोंकी चर्चा है ही, आजकल प्रो० राइनके प्रयोगोंके फलस्वरूप ई० एस० पी० (एक्स्ट्रा सेंसरी पर्सेप्शन—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष) पर पाश्चात्य देशोंमें भी विश्वास होने लगा है। योगाभ्यासके समय रागद्वेषादिके आवरण हट जाते हैं और निर्बाध ज्ञान होता है, सत्यका आवरणहीन रूप सामने आता है। अपने अनुभवको कहाँ तक व्यक्त किया जा सकता है, यह अनेक बातोंपर निर्भर करता है।

मुझसे लोग कभी-कभी पूछते हैं कि मैं विभूतियों, सिद्धियोंमें विश्वास करता हूँ या नहीं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तिके सामने यह प्रश्न बहुत आता है। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे इसपर विश्वास है। मनुष्य अपार शक्तिका भण्डार है परन्तु वासनाओंने चित्तमें परदे बना रखे हैं, दहकते अंगारेपर राखकी तह बैठ गयी है। ज्यों-ज्यों राख उड़ती है, अभ्यासके बलसे परदे उडते हैं, त्यों-त्यों अंगारेकी छिपी आँच प्रकट होती है। सिद्धि कहीं बाहरसे नहीं आती, अपनी ही छिपी शक्ति प्रकट होती है। प्रत्येक अभ्यासीको इस बातका अनुभव होगा।

मैंने बार-बार सन्तमतका नाम लिया है। इसे सुरत शब्द योग भी कहते हैं। ब्योरा नहीं दिया जा सकता, यद्यपि इस विषयमें बहुत-कुछ लिखा गया है। इतना ही कहना चाहता हूँ कि यह किसीका आविष्कार नहीं है। सात-आठ सौ वर्षसे निकली कोई नयी चीज नहीं है। प्राचीनकालसे चली आ रही है। योगके वाङ्मयमें इसकी बराबर चर्चा है। संस्कृतमें इसे नादानुसन्धानके नामसे संकीर्तित किया गया है। उपनिषदोंकी सारी उद्गीथविद्याका यही रहस्य है, इसीके लिए कहा गया है :

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यम् चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि, ॐमित्येतत् ॥

(सब वेद जिसका वर्णन करते हैं, सब तपस्वी जिसको कहते हैं, जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है, वह पद तुमसे संक्षेप में कहता हूँ—वह ॐकार है।)

मेरी ऐसी धारणा है कि योगाभ्यास ही उपासनाका सच्चा मार्ग है। और किसी उपायसे वांछित फल नहीं प्राप्त हो सकता। यह कहना गलत है कि आजकलका मनुष्य इसका अधिकारी नहीं है। बुद्ध, गोरक्ष, भर्तृहरि, कबीर, नानक, रामकृष्ण आदि सब तथोक्त कलियुगमें ही हुए हैं, इनमेंसे कई तो पिछले सात-आठ सौ बरसोंके भीतर ही हुए हैं। आजका मनुष्य किसी बातमें भी दूसरे कालके मनुष्योंसे छोटा नहीं है।

●

बुरा कार्य नीच प्रकृति का प्रतीक है और बिना खतरा उठाये अच्छा कार्य कर देना साधारण बात है। पर एक अच्छा आदमी तो अपने जीवन की भी बाजी लगाकर सद्कार्यनिरत रहता है। —प्लूटार्क

●

दुःख क्यों ?

स्वामी रामतीर्थ

•

जगत् के दुःख का प्रधान कारण यह है कि हम आंतरिक अवलोकन नहीं करते। हम स्वयं अपनी सम्मति स्थिर नहीं करते। बहुत-सी बातों को हम यों ही मान लेते हैं। हम अपने सोचने का काम वाह्य शक्तियों के भरोसे छोड़ देते हैं। हम लोग भीतर बैठकर नहीं देखते अपने बल पर भरोसा नहीं रखते। दूसरे जो कुछ कह देते हैं, उसे ही स्वयंसिद्ध मान लेते हैं। मुहम्मद, बुद्ध और कृष्ण में विश्वास रखने के अतिरिक्त हमने वेहिसाब 'अपूज्य देवताओं' को भी गढ़ रखा है, जिनके आगे हम सिर झुकाते हैं। एक बालक ही यदि हमारे आचरण की टीका-टिप्पणी करता है, तो बस, उतना ही हमारी शांति को भंग करने के लिए, हमें क्लेश पहुँचाने के लिए काफी है। हम दूसरों के विचारों की दूसरों के आलोचनाओं की हद से ज्यादा परवाह करते हैं, और उनकी कृपा संपादन करने में बेहिसाब समय बरवाद करते हैं। वस्तुतः, अपने सच्चे स्वरूप पर स्वयं ध्यान न देना, बल्कि दूसरों की ही दृष्टि से अपना निरीक्षण करना, यह जो स्वभाव है, यही हमारे सारे दुःखों का कारण है।

अपने नेत्रों से देखो

दूसरों की दृष्टि से अपने को देखने की जो आदत है, उसे ही वृथा अभिमान, आत्मश्लाघा कहते हैं। हम दूसरों की नजरों में अत्यन्त भले जँचना चाहते हैं। यही समाज का सामाजिक दोष है और सभी धर्मों का प्रधान अवगुण है। किन्तु, याद रहे, जगत् के मत, पंथ, धर्म तथा सभी दम्भी, अभिमानी और फैशनेबुल लोग ऐसी ही विकट असंभव बातें कर रहे हैं। न तो वे अपने नेत्रों से देखते हैं और न अपने मस्तिष्क से सोचते हैं।

यही देखिये, आपकी अपनी आत्मा, आपका सत्य स्वरूप, प्रकाशों का प्रकाश, निरंजन, परम पवित्र, स्वर्गों का स्वर्ग, आपके भीतर विराजमान है। आपका अपना आप, आपकी आत्मा सर्वदा जीवित, अजर, अमर, नित्य उपस्थित है। फिर भी आप रो-रोकर आँसू ढारते हुए कहते हैं—'अरे, हमें सुख कब प्राप्त होगा?' और, देवताओं का आह्वान करते हो कि वे आकर विपत्ति से तुम्हें उबार दें। आप देवताओं के आगे प्रणिपात होते हो, नीच भिखारी का अवलम्बन करते हो और स्वयं अपने को तुच्छ समझते हो। क्योंकि, अमुक संत, कवि, अमुक उपदेशक या महात्मा अपने को पापी कह गया है। वह अपने को कीड़ा-मकोड़ा कहकर पुकारता था, इसलिए हमें भी वही करना चाहिए। इसलिए, अपने को मृतक समझने में ही हमारी मुक्ति है। इसी तरीके से लोग सभी चीजों पर दृष्टि डालते हैं। पर, इससे काम चलने का नहीं। इससे कोई प्राप्ति होने को नहीं।

दिव्य स्वरूप का अनुभव

अपने निज का अनुभव करने लग जाओ, अपने निजात्मा का भान करना आरम्भ कर दो। इस नशे की हालत को विदा कर दो जो आपको अपनी मृत्यु पर रुला रही है। अपने पैरों पर आप खड़े हो जाओ। चाहे आप छोटे हों या बड़े, चाहे आप उच्चपद पर हों या नीचपद पर, इसकी तनिक परवाह न करो। अपनी प्रभुता का, अपनी दिव्यता का साक्षात्कार करो। चाहे कोई हो उसकी ओर निःशंक दृष्टि से देखो, हटो मत। अपने आपको औरों की दृष्टि से अवलोकन मत करो, बल्कि अपने आपमें देखो। आपका अपना आप आपको बार बार यह उपदेश देगा कि "सारे संसार में आप सबसे महान् (आत्मा) हो।' क्योंकि, आपके अन्तर्स्थित स्वर्ग से यह वाणी निकल रही है कि आप अपने आपको क्षीण, जीर्ण और पापिष्ठ कभी मत समझो। अपने भीतर के दिव्य स्वरूप का अनुभव करो। सदैव आनंदित और प्रसन्नचित रहो।

मुक्तिभाव से सुख

लोग कहते हैं कि विश्वास आपका उद्धार करेगा। परन्तु, बाह्य सिद्धांतों का विश्वास आपका उद्धार नहीं

करेगा। आपके अपने निजी स्वरूप का विश्वास आपका उद्धार करेगा। अपने दिव्य स्वरूप में निश्चय रखते हुए विश्वास करो, आत्मसम्मान करो, तब प्रत्येक मनुष्य आपका सम्मान करेगा।—आप जगत् में किसी के अधीन नहीं हो, यदि कोई अपनी ही इच्छाओं के अधीन है, तो ऐसी अवस्था में आप जगत् में किसी के अधीन नहीं। बाह्य अधीनता तो केवल भ्रम है। वास्तव में तो हम केवल अपने ही अधीन हैं।

अतः आप अपनी स्वतंत्रता का अनुभव करो, उसे प्राप्त करो, तुम अपने को किसी देवता या ईश्वर, मुहम्मद वा कृष्ण अथवा संसार के किसी महात्मा के अधीन क्यों समझते हो? तुम सबके सब स्वतन्त्र हो, मुक्त हो। मुक्ति के भाव ग्रहण करते ही वह तुम्हें सुखी बना देगा।

अन्धकार दूर होने दो

लोग क्यों दुःख सहते हैं? वे दुःख भोगते हैं निज आत्मा की अज्ञानता के कारण। जिससे उनको अपना सत्य स्वरूप भूल जाता है, और जो कुछ दूसरे उनको कहते हैं, वही वे अपने को समझ लेते हैं। और यह दुःख तब तक बराबर बना रहेगा, जब तक मनुष्य आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर लेगा, जब तक यह अज्ञान दूर नहीं हो जायेगा।

वास्तव में अज्ञान ही अंधकार है। यदि किसी अंधेरे घर में आप जाओ तो दीवार अथवा और किसी चीज से आप अवश्य ही टकरा जायेंगे। अवश्य किसी प्रकार की चोट खायेंगे। यह अनिवार्य है। आप इससे बच नहीं सकते। यदि उस घर में सिर्फ चिराग जला दो, तो फिर आपको परेशान होने की जरूरत नहीं। जो जहाँ है उसे वहीं रहने दो, आप एक जगह से दूसरी जगह बिना चोट खाये आ जा सकते हो।

संसार की भी यही दशा है। यदि आप अपने दुःखों का अंत करना चाहें तो इसके लिए अपनी बाह्य परिस्थिति पर या अपने सामाजिक पद (ओहदे) के समाधान पर भरोसा करना चाहिए, वरन् अन्तर्स्थित सूर्य के समीकरण के उपाय पर भरोसा रखना चाहिए। सब लोग, मानो सांसारिक पदार्थों को इधर से उधर फेर कर, द्रव्य इकट्ठा कर या बड़े-बड़े महल बनवाकर अथवा दूसरों की जमीन मोल लेकर, दुःख से पीछा छुड़ाना चाहते हैं। अपनी परिस्थिति के सुधारने एवं चीजों को इस या उस तरह सजाने से आप कभी दुःख से बच नहीं सकते। केवल अपने घर में दीपक जलाने से, प्रकाश से प्रकाशित करने से, केवल अपने हृदय की अंधेरी कोठरी में ज्ञान का प्रवेश करने से ही दुःख छूट सकता है, हटाया जा सकता है या दूर किया जा सकता है। अंधकार दूर होने दो, फिर कोई आपको हानि नहीं पहुँचा सकता।

अज्ञान के दूर होने का तात्पर्य है ईश्वरदर्शन, अपने यथार्थ स्वरूप का दर्शन, तत्वमात्र का साक्षात्कार, आत्मा का अनुभव और सभी भयों तथा चिन्ता से छुटकारा।....तत्व का साक्षात्कार करो, उसका अनुभव करो, उसे अपना जीवन बनाओ, और जब आप उसकी पराकाष्ठा या पूर्णसत्ता का अनुभव कर लोगे, तब कोई भी, कुछ भी आपको विचलित नहीं कर सकता चाहे करोड़ों सूर्यों का प्रलय हो जाए। अगणित चन्द्रमा भले ही गलकर नष्ट हो जाएँ, पर अनुभवी ज्ञानी पुरुष मेरु की तरह अटल और अचल रहता है। उसे क्या हानि हो सकती है? भला, संसार में ऐसा है ही क्या जो उसे कष्ट दे सके।

●

हमारी जो उपलब्धि हों कठिनाइयों को झेलने के बाद प्राप्त होती हैं, वह बहुत दिनों तक हमारी बनी रहती हैं। जो लोग स्वयं सम्पत्ति अर्जित करते हैं, वे इसके बारे में अत्यधिक सावधान रहते हैं, पर जो लोग वंशानुगत सम्पत्ति का स्वामित्व पा जाते हैं, वे इसकी रक्षा नहीं कर पाते। —गिबन

●

लोक-लोक में पूजित गणेश

श्री अनाम

समस्त लोक में गणेश को अग्रपूजा प्राप्त है। उनके गजशीश, एक भग्नदन्त, निरावरण शरीर, कन्धे पर यज्ञोपवीत पुष्प, मोदक करकमल, विशाल उदर, मूषक का वाहन सर्पकटि-सूत्र में सम्पूर्ण श्रृङ्गार का एक रूप है। उनके तान्त्रिकों के तो ये मुख्य देवता माने जाते हैं। उनके नाम हैं—विनायक, वक्रतुण्ड, एकदन्त, गणेश, गणपति, हेरम्ब, गजानन, लम्बोदर, मूषकवाहन आदि।

गणेश में सफलता और विफलता दोनों ही प्रदान करने की शक्ति है। महर्षि व्यास ने अपने महाभारत की रचना में लेखन-कार्य के लिए गणेश को आमन्त्रित किया था। व्यासजी कहते जाते और गणेश सुन्दर अक्षरों में लिखते जाते।

गणेश पहले अनार्यों के देवता थे। वे 'पिल्लेयर' नाम से प्रसिद्ध थे। यजुर्वेद में गणपति शब्द जरूर है, पर यह अश्वमेघ के घोड़े के लिए प्रयुक्त हुआ है। रामायण में भी गणेश का उल्लेख नहीं है।

प्रारम्भ में गणेश की कल्पना विघ्न के अथवा भयानक देवता के रूप में हुई। आर्यों ने गणेश को स्वीकार किया तो 'विघ्नहर' बना लिया। फिर वे सारे भारत में सबके प्रिय ऋद्धि-सिद्धि के दाता बने। उनके स्वरूप से साम्य के कारण हाथी भी पूजनीय माना जाने लगा।

हजारों वर्षों तक गणेश कृषि-उत्पादन के देवता थे और विशाल वट वृक्ष की छाया में पत्थर की मूर्ति के रूप में इनकी पूजा होती थी। बाद में गण बने और अन्त में गणों के नायक 'गणपति'। शिव के गणों में उनकी गणना हुई और स्वयं शिवपुत्र माने गये। 'वाराह पूजा' में उल्लेख है कि इनकी उत्पत्ति स्वयं भगवान् शिव ने ही अपने संकल्प से दुःख-भंजक देव के रूप में की। तब पार्वती अपनी इच्छा के बिना उत्पन्न हुए इस शिशु पर नाराज हो गईं और तुरन्त उसे शाप दिया कि उसका मस्तक हाथी जैसा और पेट एक बड़े गोले के समान बन जाय।

'मत्स्य' पुराण के अनुसार पार्वती जी ने अपने उबटन से गणेश की मूर्ति बना कर उसे स्नान घर के द्वार पर स्थापित किया। स्नानगृह के रास्ते में अवरोध बने उस शिशु का शिव ने त्रिशूल से वध कर डाला। बाद में दुःख हुआ तो एक गण को कहा कि दक्षिण दिशा में सबसे पहले जिस प्राणी का मस्तक दिखे, उसे उतार लाओ। सबसे पहले उसे हाथी का मस्तक ही दिखा। गण उसे उतार लाया और शिव ने उसे गणेश के सिर पर लगा दिया।

एक पौराणिक कथा के अनुसार एक बार पार्वतीजी ने गणेश से प्रश्न पूछा कि 'तुम कैसी स्त्री से विवाह करोगे?' उन्होंने उत्तर दिया 'तुम्हारी जैसी।' पार्वती भड़क उठीं और शाप दे दिया। गणेश का मस्तक लोप हो गया। शिव के डर से पार्वती ने एक गण को तत्काल मस्तक लाने को कहा। गण जंगल में जाकर एक हाथी का सिर उठा लाया। इस मस्तक को रख कर पार्वतीजी ने उसे जीवित किया। उस शाप के कारण गणेश ब्रह्मचारी रहे।

वाहनमूषक और दाँतों के संबंध में कथा है कि गज-मुखासुर नामक राक्षस मनुष्यों तथा देवों से भी अजेय बन गया। उसे पराजित करने के लिए गणेश को भेजा गया। युद्ध में उनका एक दाँत टूट गया और उस टूटे दाँत से उन्होंने दैत्यों पर आक्रमण किया। दैत्य भयाक्रांत होकर मूषक के रूप में भागने लगा। गणेश ने तुरन्त उस पर सवारी गाँठ ली! गणेश को मोदक बहुत प्रिय है। मोदक बुद्धि और विद्वत्ता का प्रतीक है।

देश के कोने-कोने में स्थित दुर्गों, प्राचीन देवालयों, पीठों आदि के द्वारों पर ललाट-बिम्ब के रूप में गणेश की मूर्ति है। दक्षिण भारत के शिव और विष्णु मंदिरों में तो

गणेश की मूर्ति रहतो ही है। त्रिचनापल्ली के पहाड़ी शिखर पर 'उची पिल्लेयर' का गणेश मन्दिर उच्चकोटि का है। गणेश की मूर्तियों में सूँढ़ बायीं ओर मुड़ी रहती है। परन्तु दक्षिण भारत के कारु पाथुर में 'सिहपुरीश्वर' मन्दिर में दाहिनी ओर सूँडवाली मूर्ति है। वे 'वाचमचुसी पिल्लेयर' कहलाते हैं।

भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी 'गणेश चतुर्थी' के रूप में मनाई जाती है। नेपाल में गणेश की पूजा सामूहिक रूप से की जाती है। वहाँ गणेश को 'लोही गणेश' कहा जाता है।

महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक ने गणेश-पूजा को राष्ट्रीय एवं सार्वजनिक महोत्सव का रूप प्रदान किया। इस उत्सव के दिनों में समस्त महाराष्ट्र के विविध कार्यक्रमों का अटूट सिलसिला चलता है। पूर्णाहुती के दिन गणेश प्रतिमाओं का सागर में विसर्जन किया जाता है।

शैव, वैष्णव तथा शक्ति सम्प्रदायों की तरह गाणपत्य सम्प्रदाय भी है जिसे शैवों, वैष्णवों और शक्ति सम्प्रदायों, सभी ने उनकी महानता स्वीकार की है। हिन्दू धर्म और भारत की सीमाएँ लांघ कर उनकी महिमा तुर्किस्तान, चीन, तिब्बत, वर्मा, थाईलैण्ड, कम्पूच्या, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और जापान के बाद अमरिका मोरक्को में भी पहुँची है। तुर्किस्तान में बाझालिक की गुफा के मंदिर की दीवारों पर पालथी मारकर वैठे गणपति का चित्र है। चोनी तुर्किस्तान में गणपति की चार भुजाएँ हैं। चीन में गणपति को गजराज माना जाता है। तिब्बत के मन्दिरों और बौद्ध विहारों के प्रवेश द्वारों पर गणेश की मूर्ति है। कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को 'गणपति हृदय' नामक मंत्र जपवाया था।

जापान के कई मंदिरों में चारों दिशाओं के द्वारों पर गणपति हैं। पश्चिम दिशा के गणपति को 'व्रजवासी' कहते हैं। उनके हाथ में धनुष बाण हैं। पूर्व दिशा के गणपति को 'वज्रचिन्ह' कहते है। उनके हाथ में छोटा छत्र है। दक्षिण दिशा के गणपति 'वज्रभक्षक' हैं। उनके हाथ में पुष्पमाला है। उत्तर दिशा के गणपति 'वज्रमुखविनायक' हैं। उनके हाथ में तलवार है। जापान में गणपति 'कांटीगन' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्रार्थना क्या है ?

—मेरा एक प्रश्न है, 'आराधना और प्रार्थना करते हुए मैंने लगभग तीस वर्ष गुजार दिए। हाथ कुछ लगा नहीं। आखिर ऐसी प्रार्थना का फल ही क्या है?'

—प्रार्थना के परिणाम के पहले उसका अर्थ समझना आवश्यक है। इस प्रसंग में स्वामी विवेकानन्द का स्मरण आता है। उनके मित्र स्वामी रामकृष्ण ने परेशान विवेकानन्द से कहा था, 'तू जाकर देवी से सब कुछ माँग क्यों नहीं लेता?' विवेकानन्द कई बार मन्दिर गये, घंटों आराधना में लीन रहे, फिर खाली हाथ वापस आ गये। आते ही बोले, 'वहाँ पहुँचते ही भूल जाता हूँ, कि मेरी कोई माँग भी है।' रामकृष्ण ने कहा था, विवेकानन्द को अब सब कुछ मिल गया है। यदि प्रार्थना के क्षण में भी इसके मन में माँग की दृष्टि बनी रहती तो मैं समझता इसे प्रार्थना की कला नहीं आती।

—शायद प्रार्थना की कला किसी को नहीं आती।

—प्रार्थना का समानार्थी शब्द न 'रिक्वेस्ट' है और न आराधना।

—दोनों हथेलियों को फैलाकर माँगी गयी प्रार्थना भीख है।

—प्रत्येक प्रार्थना एक ऐसी याचना है, जिसकी अपनी गंध होती है।

—इसीलिए प्रार्थना करने वाले को प्रार्थी अथवा याचक कहा जाता है।

—याचना एक भीख है और भिखारी का लक्ष्य दाता नहीं उससे होने वाली उपलब्धि की ओर होता है। यह कहा जा सकता है कि याचक अपने दाता को नगण्य घोषित कर देता है। दाता को हेय दृष्टि से देखना भीतर संशय को जन्म देता है।

समुद्रसंगम : कन्याकुमारी

श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

यदि प्रयाग इसलिए तीर्थराज है कि वहाँ पर गंगा और यमुना और गुप्त रूप से सरस्वती मिलती हैं और इसलिए त्रिवेणी होती है, तो उस तीर्थ को क्या कहेंगे जहाँ एक तरफ अरब सागर, दूसरी तरफ बंगाल की खाड़ी और तीसरी तरफ साक्षात् हिन्द महासागर आकर मिलता है। शायद इस तीर्थ को तीर्थराजों का तीर्थराज कहा जाता, परन्तु यहाँ पर 'तीर्थ' (पवित्र जल) से भी अधिक महत्वपूर्ण कन्याकुमारी की मूर्ति है जिसकी शान्त और सौम्य शोभा दूर-दूर से आने वाले यात्रियों को शांति और संतोष प्रदान करती है। इसीलिए इस तीर्थ को कन्याकुमारी के नाम से याद किया जाता है। कन्याकुमारी जहाँ पर स्थित है, वहाँ भारत की धरती का छोर है और वह ऐसा स्थान है जहाँ से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक बीच में कोई टापू भी नहीं है। जम्बू द्वीप का वह अंतिम स्थल है। इसके बाद जल ही जल है।

अब तो कन्याकुमारी तक रेल लाइन बन रही है। वैसे कन्याकुमारी तक पहुँचने के लिए दो मार्ग हैं। राज्य पुनर्गठन के पहले कन्याकुमारी केरल का और उससे पहले त्रावंकोर राज्य का भाग था। इसलिए त्रिवेन्द्रम् तक रेल से और इसके बाद बस या कार द्वारा कन्याकुमारी तक पहुँचा जा सकता था। दूसरा मार्ग तामिलनाडु के तिन्नवेली जिले से होकर है। तिन्नवेली से भी बसों के मार्ग से नागरकोयेल होते हुए कन्याकुमारी पहुँचा जा सकता है। इसे नागरकोयेल इसलिए कहते हैं कि यहाँ पर नाग देवताओं का मन्दिर है।

त्रि-मूर्ति

नागरकोयेल और कन्याकुमारी के बीच में शुचीन्द्रम् का मंदिर है। यह मन्दिर स्थापत्य और शिल्प कार्य का अद्वितीय उदाहरण है। यहाँ पर शिव का मंदिर है। यह मंदिर तामिलनाडु की गोपुरम् शिखर प्रणाली का बना हुआ है और यहाँ पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों की मूर्तियाँ हैं। स्थानीय परम्पराओं के अनुसार जहाँ पर शुचीन्द्रम् का मंदिर स्थापित है, उसे ज्ञानारण्य कहते थे। और यहाँ पर अत्रि और अनुसूया रहते थे। कहा जाता है कि यहाँ पर तीनों देवता अनुसूया से भिक्षा माँगने आये थे और उन्होंने अनुसूया की परीक्षा करने के लिए कहा कि वे किसी ऐसे व्यक्ति के हाथ से भिक्षा नहीं लेंगे जो कोई वस्त्र पहने हो, तो अनुसूया ने उन तीनों को अपने तपोबल से छोटे-छोटे बालक बना दिया और उन्हें भोजन कराया और इसके बाद जब उन देवताओं की पत्नियाँ अपने पतियों की तलाश में आईं तो वे छोटे बालक उन्हें सौंप दिये। बाद में उनकी प्रार्थना पर उनका पूर्व रूप स्थापित कर दिया। जब तक अत्र ऋषि, जो हिमालय में तपस्या करने गए हुए थे, लौट आए और उन्हें त्रिमूर्ति के दर्शन हुए। तभी से शुचीन्द्रम् का मंदिर बनाया गया जहाँ पर तीनों देवताओं की पूजा होती है। वैसे एक और कथा भी है। जब गौतम ऋषि ने इन्द्र को श्राप दिया कि तुम्हारे शरीर में हजारों स्त्री-चिन्ह हो जाएँगे, तब उन्होंने ज्ञानारण्य में आकर तपस्या की थी। उस समय भगवान् शिवने उन्हें पवित्र किया। इसलिए यहाँ पर इन्द्रने शुचीन्द्रम् का मंदिर बनवाया। इस मन्दिर में कुछ ऐसे पत्थर हैं जिनको बजाने से मृदंग की सी आवाज आती है। इसमें वेणुगोपाल, शिव और हनुमान की विशाल और सुन्दर मूर्तियाँ हैं। यहाँ की परिक्रमा भी बहुत सुन्दर है और उसमें दीपक लगे हुए हैं और रामेश्वर की परिक्रमा को छोड़कर दक्षिण की सभी मंदिर-परिक्रमाओं से बड़ी है।

शुचीन्द्रम् से आगे बढ़कर कन्याकुमारी का ग्राम मिलता है। यहाँ पर मुख्यतया मछुए रहते हैं जिनकी जनसंख्या लगभग ७ हजार है। कहा यह जाता है कि गोआ से लेकर कन्याकुमारी तक का केरल प्रदेश परशुराम ने अपने तप के प्रभाव से समुद्र से छीना था। उन्होंने गोआ से अपना फरसा फेंका जो कन्याकुमारी में आकर गिरा और तब से यह क्षेत्र धीरे-धीरे समुद्र ने खाली कर दिया जो आज केरल की भूमि बन गई।

कन्या कुमारी मंदिर

यह तीर्थ शताब्दियों से दर्शकों का आकर्षण रहा है। कहा जाता है कि आदिपुरुष आदम यहाँ आये थे। दूसरी कथा यह है कि प्रसिद्ध ईसाई पादरी सेंट जेवियर यहाँ आए और उन्होंने स्थानीय मछुओं को कैथोलिक सम्प्रदाय की दीक्षा दी। यहाँ पर बड़ा पुराना गिरजाघर है जिसमें एक हजार लोग बैठ सकते हैं। यहाँ पर एक मस्जिद भी है। लेकिन कन्याकुमारी का आकर्षण जैसा कि हम कह चुके हैं, कन्याकुमारी का मंदिर है। इस मंदिर के तीन दरवाजे हैं। वैसे तो दक्षिण की परम्परा के अनुसार चार दरवाजे थे। एक दरवाजा समुद्र की ओर खुलता था उसे वन्द कर दिया गया। कहा यह जाता है कि कन्याकुमारी की नाक में हीरे की जो सीक है उसकी रोशनी इतनी तेज थी कि दूर से आने जाने वाले नाविक यह समझकर कि यह कोई दीपक जल रहा है, तट के लिए उधर आते थे, किन्तु रास्ते में जो शिलाएँ हैं उनसे टकराकर नावें टूट जाती थीं। यह मंदिर केरल की प्रणाली का वना हुआ है। यहाँ पर पूजा-अर्चना भी केरल के नाम्वुद्री ब्राह्मण केरल की प्रथा से करते हैं।

असुरों से संघर्ष

यहाँ की कथा यह है कि भारत के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत के आठ पुत्र और एक पुत्री थी। उन्होंने अपने राज्य का वँटवारा कर दिया और दक्षिण का हिस्सा उनकी कुमारी पुत्री को मिला जिससे इसका नाम कुमारी पड़ गया। एक समय पर जब असुरों का जोर वढ़ गया और उनका राजा बाणासुर देवताओं को कष्ट देने लगा तो पृथ्वी माता ने भगवान् विष्णु से प्रार्थना की तो विष्णु भगवान् ने कहा कि देवताओं को चाहिए कि वे पराशक्ति की आराधना करें, वही वाणासुर को नष्ट कर सकती हैं। इस पर देवताओं ने एक यज्ञ किया जिसके वाद भगवती पराशक्ति उनके सामने प्रकट हुईं और उन्होंने वचन दिया कि वे बाणासुर को नष्ट कर धर्म की स्थापना करेंगी। वे एक कुमारी कन्या के रूप में आकर यहाँ पर रहने लगीं। जब वे वड़ी हुईं तो शुचीन्द्रम् मंदिर के भगवान् शिव के साथ विवाह की चर्चा हुई। उस समय नारद मुनि ने यह अनुभव किया कि यदि इनका शिव से विवाह हो गया तो वाणासुर नष्ट नहीं हो सकेगा, क्योंकि कुमारी कन्या ही बाणासुर को नष्ट कर सकेगी। वे कुमारी कन्या से भी मिले और शिव से भी मिले और उन्होंने विवाह की तिथि भी निश्चित कर दी और कहा कि उस दिन अर्धरात्रि को विवाह का मुहूर्त है। प्रसन्न होकर भगवान् शिव कन्याकुमारी की तरफ चले, पर जब वे शुचीन्द्रम् से तीन मील दक्षिण वड्डुकम्पराय नामक स्थल पर पहुँचे तो नारद ने एक मुर्गे का रूप ग्रहण किया और बाँग देने लगा। भगवान् शिव ने समझा कि वह मुहूर्त निकल गया और वे वापिस शुचीन्द्रम् लौट गये। देवी ने भी यह समझा कि समय पर शिव आए नहीं तो यह निर्णय किया कि वे आजीवन कुमारी रहेंगी, विवाह नहीं करेंगी। विवाह की दावत के लिए जो भोजन तैयार किये गए थे वे सब रेत में फेंक दिये गए और वह रेत में वदल गये। कन्याकुमारी में अनेकों रंग की जो रेत है, उसका एक कारण यह भी वताया जाता है।

बाणासुर ने जब कन्याकुमारी की सुन्दरता का वर्णन सुना तो वह भी देखने आया। आते ही उसने कन्याकुमारी से विवाह का अनुरोध किया और जब उन्होंने स्वीकार नहीं किया तो उसने तलवार निकालकर जबर्दस्ती उन्हें ले जाना चाहा। देवी को इस समय की प्रतीक्षा थी ही। उन्होंने भी अपनी तलवार निकाल ली और इसके बाद उस दैत्य को अपने चक्रायुध से नष्ट कर दिया। इसके वाद पराशक्ति फिर अपनी तपस्या करती रहीं। इसी के उपलक्ष्य में आश्विन नवरात्रि के उत्सव होते हैं। कन्याकुमारी से दो मील उत्तर महावनपुरम के मंदिर में देवी की सवारी जाती है। वहाँ वंजारे लोग देवी और बाणासुर के युद्ध का अभिनय करते हैं और इसे परिवेत्ताई के नाम से पुकारा जाता है।

पाण्ड्य नरेश कन्याकुमारी की पूजा कुलदेवी के रूप में करते थे यूनानी यात्री टालमी जब इधर से होकर गुजरा था उस समय यहाँ वन्दरगाह था। हाल में कन्याकुमारी की विशेषता दो कारणों से और वढ़ गयी। १२ फरवरी, १९४८ को यहाँ पर महात्मा गांधी की भस्म प्रवाहित की गई और उसके वाद गांधी स्मारक मंदिर की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त विवेकानन्द का एक भव्य बड़ा मंदिर समुद्र में बीचोंबीच बन गया है। कन्याकुमारी के छोर से आगे एक पहाड़ी शिला है। १८९२ में स्वामी विवेकानन्द रामेश्वरम और मदुरै

[शेष पृष्ठ १८ पर]

भक्ति मुक्ति से भी बड़ी है

स्वामी अखंडानंदजी सरस्वती

●

पुराने जमाने की वात है, एक धनी गृहस्थ के घर पर भगवत्कथा हो रही थी ! वैशाख महीने की शुक्ल पक्ष की एकादशी थी। सब लोग पवित्र उत्सव कार्य में संलग्न थे। कथाप्रसंग में सभी तन्मय थे। सुयोग देखकर एक डाकू घर में घुसा, किन्तु उसे ढूंढ़ने में कहीं भी कुछ हाथ नहीं लगा। उसी समय कथावाचक पंडितजी का ऊँचा स्वर सुनायी पड़ा। वे कह रहे थे "प्रातःकाल की अरुणिमा से पूर्व दिशा रक्तिम हो गयी थी। नन्दमहल से श्रीकृष्ण व सुदामा आदि ग्वालवालों के साथ गौचारण को निकल पड़े थे। वे लाखों करोड़ों रुपये के गहनें हीरे जवाहर तथा मोतियों से जड़े स्वर्णभूषण पहने थे जिनके प्रकाश से प्रातःकाल का उजाला भी फीका पड़ गया था।" इतनी वातें सुनते ही डाकू बाहर निकला और पंडितजी का इंतजार करने लगा।

डाकू के आनन्द की सीमा नहीं थी। कथा समाप्त होते ही सब लोग भगवान का प्रसाद लेकर घर चलने लगें। उधर पंडित जी जव डेरे की ओर चल पड़े तो डाकू ने पंडित जी को धमकाते हुए रुक जाने को कहा। पंडित मारे डर के रुक गये। अव डाकू ने नजदीक आकर पूछा—पंडित जी, सही सही वताइए जरा भी टालमटोल की तो बस....

पंडित जी बोले डेरे पर चलो, पुस्तक देखकर सही-सही सव कुछ बता दूँगा। डाकू पंडित जी के साथ हो लिया। डेरे पर पहुँचते ही पंडित जी ने श्रीकृष्ण और बलराम की रूपमाधुरी का वर्णन शुरू किया तो डाकू निहाल हो उठा किन्तु वे तो यमुना तट पर वृन्दावन में कदम्ब वृक्ष के नीचे मिलेंगे।

डाकू ने पूछा कि कुल कितने के गहने होंगे। पंडितजी ने कहा कि यही कुल दस बीस करोड़ के। डाकू ने कहा कि पंडित जी मुझे किस दिशा की ओर जाना होगा। हाँ एक वात याद रखना अगर बात झूठी निकली तो अपनी खैर न समझना और यदि सच हुई तो तुम्हारा हिस्सा जरूर दूँगा। पंडित जी बोले, देखो उत्तर दिशा की ओर चले जाना। वे प्रतिदिन प्रातःकाल गौएँ चराने अवश्य ही आते हैं।

पंडित जी ने तो अपने सिर पर आई बला टाली किन्तु डाकू को उस रात नींद नहीं आयी और अगला दिन इसी चिन्ता में निकल गया। रात आयी तो उसने कंधे पर रस्सी और हाथ में मोटा डंडा लिये निकल चला उत्तर दिशा की ओर। यह उत्तर भी अपनी धुन का था दूसरों के देखने में जो शायद दक्खिन ही रहा हो किन्तु वह तो अपनी धुन और लगन का पक्का था।

चलते-चलते डाकू को एक नदी के किनारे वन मिला। पास ही छोटा सा पर्वत था। कदम्ब वृक्ष की पहचान के लिए उसने कितने ही वृक्षों का स्पर्श किया था। एक पेड़ के ऊपर बैठकर प्रातःकाल होने का इंतजार करने लगा। फिर लगा कि कहीं वे लोग देख न लें तो गढ़े में छिपकर बैठ गया। फिर लगा कि यदि वंशी की ध्वनि सुनाई पड़ी तो, फिर निकल कर वाहर आया और गहने छीनने का अभ्यास करने लगा। जरा सी आहट मिलते ही कदम्ब के पेड़ पर चढ़ जाता। आखिर प्राची दिशा में सूर्योदय की लालिमा बिखर गयी। अब तो डाकू की बेचैनी बढ़ जाना स्वाभाविक थी।

वह थोड़ी देर में देखता है कि जैसा पंडितजी ने बताया था बिल्कुल सच निकला। डाकू ने उन्हें देखा और गहने छीनने के लिए पुकार भी नहीं पाया था कि मंत्रमुग्ध सा हो गया। आखिर कैसे मां-बाप हैं जिन्होंने इन्हें गौ चराने के लिए जंगल में भेज दिया है। अरे इनके गहने कैसे छीनूं इन्हें तो और सजाना चाहिए था तो फिर मैं यहाँ आया ही क्यों हूँ ?

आखिर डाकू ने बुलंद आवाज में ललकारा 'खड़े हो जाओ और सारे गहने उतार दो।' भगवान् श्रीकृष्ण बोले कि

हम तुम्हें अपने गहने न दें तो तुम क्या करोगे ? डाकू बोला–देखते नहीं हो इस लाठी से तुम्हारा सिर तोड़ डालूंगा। इतना सुनते ही श्रीकृष्ण ने जोरदार आवाज लगायी बाबा ओ बाबा !

डाकू ने झपटकर श्रीकृष्ण का मुँह तो बंद कर दिया किन्तु स्पर्श से सारे शरीर में बिजली सी कौंध गयी। अब तो डाकू बदल चुका था। किन्तु गहनें की याद आते ही बोला अगर तुम दोगे तो गहनें ले लूंगा किन्तु तुम्हारे मां-बाप तो नहीं मारेंगे। क्या तुम्हारे पास और भी गहने हैं ?

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने शरीर से जब गहने उतारे तो डाकू ने दुपट्टा देते हुए कहा कि बाँध दो। फिर पूछा बेमन तो नहीं दे रहे हो। भगवान् श्रीकृष्ण बोले तुम फिर आना अबकी बार से अधिक गहने देंगे।

डाकू पोटली लिये आनन्द के समुद्र में डूबता-उतराता पंडितजी के घर पहुँचा और बोला पंडितजी पहचान लीजिये यही गहने थे न ? आपकी जितनी इच्छा हो ले लीजिये। पंडित तो हक्के-बक्के ही रह गये। उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था।

पंडितजी बोले हमें पहले उनके दर्शन करा दो तभी विश्वास होगा। अंत में पंडित जी उस डाकू के साथ नियत स्थान पर पहुँचे। यद्यपि यहाँ वन, नदी तथा कदम्ब वृक्ष है किन्तु यह व्रज नहीं है और यमुना नहीं है पर है कुछ वैसा ही। रात बीती। सबेरा होते ही डाकू तो उनका ध्यान कर रहा था किन्तु पंडित जी परीक्षा लेने गये थे। डाकू ने कहा–देखो पंडित जी वंशी-ध्वनि सुनाई पड़ रही है वे आ गये। पंडित जी ने कहा कि तुम पागल हो मुझे तो कुछ भी नहीं सुनाई पड़ रहा है और न उनकी दिव्य ज्योति ही मुझे दीख रही है। यदि वे सचमुच ही हैं तो कह दो आज तुम जो देना चाहते हो पंडित जी के हाथ में रख दो। डाकू ने स्वीकार कर लिया।

डाकू ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा कि आज मैं तुम्हारे गहने वापस करने आया हूँ किन्तु पंडित जी को तनिक अपनी छटा तो दिखा दो ना उन्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण बोले कि बूढ़े पंडित विद्वान हैं तो क्या हुआ ये मेरे दर्शन के अधिकारी थोड़े हैं। डाकू के बहुत आग्रह पर श्रीकृष्ण ने कहा कि तुम मुझे और पंडित जी को एक साथ स्पर्श करो। डाकू के ऐसा करते ही पंडित जी को मदन मोहन की बांकी झांकी के दर्शन मिल गये वे दण्डाकार गिर पड़े।

भगवान को जिसने विश्वास की आँखों से देखा वे उसे मिले और ठीक उसी रूप में जिस रूप में भक्त ने चाहा। उन्हें केवल विश्वास, प्रेम और लगन चाहिये। उनकी दृष्टि में डाकू और पंडित समान हैं।

भक्त की इच्छा है क्योंकि वे स्वयं तो इच्छाहीन हैं वास्तविक दृष्टि से ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं है। शास्त्र में कहा गया है कि भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति है। ज्ञान की शोभा इसी में है कि वह भक्तियुक्त हो। श्रीमद्भागवत में इससे भी आगे लिखा है कि भगवान् तो मुक्ति दे सकते हैं किन्तु भक्ति नहीं प्रदान कर सकते। तात्पर्य स्पष्ट है कि भक्ति मुक्ति से भी बड़ी है।

●

[पृष्ठ १६ का शेषांश]

होते हुए यहाँ आए थे और देवी के सामने दण्डवत् प्रणाम करके समुद्र की शिलाओं को देखकर समुद्र में तैरकर उन शिलाओं के पास पहुँचे और वहाँ पर बहुत देर तक ध्यान करते रहे। ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में भी यहाँ पर, कोई छोटा-सा मन्दिर रहा होगा। विवेकानन्द मंदिर के चारों तरफ एक परकोटा है और उससे नीचे ही स्नान के लिए घाट बना हुआ है, जहाँ पर यात्री स्नान कर सकते हैं।

कन्याकुमारी के सूर्योदय और सूर्यास्त का दर्शन अपनी एक विशेषता रखता है। कन्याकुमारी भारत का सुन्दरतम तीर्थ है और सबसे बड़ी बात यह है कि यहाँ आज भी मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह प्रकृति की गोद में बैठा है।

●

कर्ण और कुंती

श्री हरीन्द्र दवे

●

हमने पहले देखा कि महाभारत के युद्ध में कोई जी लगाकर' नहीं लड़ा। इनमें भी यदि भीष्म, द्रोण या कर्ण जैसे वीर थोड़ा जी लगाकर लड़े होते तो पाण्डवों के लिए विजय इतनी सरल न होती। कुन्ती यह जानती थी। कुन्ती यह भी जानती थी कि कृष्ण की सन्धिवार्ता के बाद भीष्म और द्रोण जी लगाकर नहीं लड़ेंगे। कृष्ण की सन्धिवार्ता के बाद विदुर कुन्ती से मिलते हैं। विदुर के जाने के बाद कुन्ती मन-ही-मन विचार करती है।

नाचार्यः कामवाञ्शिष्यैर्द्रोणो युध्यते जातुचित्।
पाण्डवेषु कथं हार्दं कुर्यान्न च पितामहः॥
(उद्योग. १४२;१५)

आचार्य द्रोण अपने प्रिय शिष्यों से अपनी इच्छा से युद्ध नहीं करेंगे। पितामह भी पाण्डवों पर स्नेह क्यों न रक्खें?

मात्र कर्ण ही एक ऐसा है, जो जी लगाकर लड़ेगा।

कृष्ण कर्ण के पास जाते हैं तब उनका आशय लोक-कल्याण का है। कृष्ण कर्ण को समझा कर संभावित युद्ध रोकना चाहते हैं। कर्ण को वे उसके अधिकार से 'राजपद' देना चाहते हैं।

कुन्ती माँ है, फिर भी कर्ण के साथ उसका अनुबन्ध उतना दृढ़ नही है। कर्ण उसका पहला पुत्र है। तथापि उसके विषय में जब वह पहले-पहल विचार करती है तब 'दुर्मते' 'मोहानुवर्ती' आदि शब्द उसके मन में आते हैं। यह कर्ण ही दुर्योधन के मोह में फँसकर हमेशा पाण्डवों से द्वेष करता रहता है। कर्ण उसका पुत्र है, वह उसके स्नेह से और जिस राज्य पर उसका अधिकार है उससे वंचित रहा है अतः उससे मिलने हेतु कुन्ती उत्सुक नहीं है। पर कर्ण पाण्डवों का 'महत् अनर्थ' हो ऐसा काम करता रहता है। उसे इस कार्य से रोकने और उसको यथातथ्य बात कहकर उसका मन पाण्डवों की ओर मोड़ने हेतु वह कर्ण के पास जाने का निर्णय करती है। जो कर्ण कुँवारी-कन्या अवस्था में मेरे गर्भ में आरक्षित रहा है वह—

कस्मान्न कुर्याद वचनं, पथ्य भ्रातृहितं तथा।
(उद्योग. १४२;२५)

भाइयों के हित में कहा गया मेरा वचन क्यों नहीं स्वीकार करेगा?

भीष्म और द्रोण के मन में पाण्डवों के लिए कोमल लगाव के प्रति कुन्ती आश्वस्त है, पर कर्ण के हृदय में भी ऐसी कोई ममता है इस बाबत उसे शंका है।

तो इस तरह कुन्ती कर्ण के पास जाती है तब उसका प्रयोजन कृष्ण से भिन्न है। कृष्ण परमार्थ के लिए कर्ण के पास गये थे, कुन्ती स्वार्थ के लिए जाने का उपक्रम करती है।

भगवान वेद व्यास अजोब कवि हैं। कन्यावस्था में जन्म देकर कुल मर्यादा के कारण जिसे त्याग दिया है ऐसे पुत्र से माता का प्रथम मिलन वे कितनी अद्भुत चित्रात्मकता से निरूपित करते हैं। कुन्ती गंगा तट पर जाती है।

कर्ण वीर है या खल? इस बाबत जम कर चर्चाएँ होती रही हैं। मराठी में शिवाजी सामन्त ने 'मृत्युञ्जय' उपन्यास में कर्ण को वीर के रूप में—'एक बालिस्त ऊँचे मानव' के रूप में चित्रित किया है, और दाजी पणसीकर के अभी हाल में प्रकाशित ग्रन्थ 'महाभारत : सूडाचा एक प्रवास' (महाभारत : एक शत्रुता यात्रा) में कर्ण चण्डाल चौकड़ी का एक सदस्य था ऐसी स्थापना की गयी है, ऐसा मैंने अपने मराठी मित्रों से सुना। पर मूल महाभारत के सान्निध्य में जायँ तो कर्ण के इन दोनों पहलुओं का परिचय देने में भगवान वेदव्यास कसर नहीं रखते। कृष्ण ने कर्ण

को 'धर्म के सूक्ष्म ज्ञान के जानकार' कहकर सम्बोधित किया था; कुन्ती कर्ण के पास जाती है तब गंगातट पर उपासना-रत कर्ण के वर्णन में महाभारतकार दो शब्दों का प्रयोग करते हैं—'घृणिनः'—दयालु तथा 'सत्यसंगीन्'— सत्य का संग करने वाला; ये दो विशेषण व्यास ने व्यर्थ ही इस्तेमाल नहीं किये हैं। कर्ण में दया न होती तो उसे कृष्ण या कुन्ती के समक्ष मृदु होने की कोई जरूरत नहीं थी। और वह सत्यसंगी न होता तो मैत्री के सत्य का द्रोह करके राज्य-सत्ता के मोह की ओर प्रेरित हुआ होता।

ऐसे कर्ण के पीछे जाकर कुन्ती खड़ी रहती है।

> अतिष्ठत्सूर्यतापार्ता कर्णस्योत्तरवाससि।
> कौरव्यपत्नी वार्ष्णेयी पद्ममालेव शुष्यती ॥
>
> (उद्योग. १४२;२९)

कुरुकुल में जन्मे पाण्डु की पत्नी तथा वृष्णिवंश में उत्पन्न हुई कुन्ती, सूर्य के प्रचण्ड ताप में पद्ममाला की तरह मुरझाने लगी थी; पर वह कर्ण के उत्तरीय वस्त्र की छाया का सहारा लेकर खड़ी रही। दोनों हाथ ऊँचे करके पूर्व दिशा की तरफ मुड़कर सूर्य को अर्घ्य देते कर्ण के उत्तरीय की छाँह उसकी माँ को मिलती है। कुन्ती इस उम्र में भी कितनी सुकुमार रही होगी इसका आभास व्यास ने उसे पद्ममाला की जो उपमा दी है उससे होता है। और यह ताप केवल सूर्य का है या पुत्रत्याग जैसे कर्म का ताप उसे जला रहा है? या फिर 'जातिवध' या 'जातिक्षय' जैसे शब्दों से कुन्ती जिसका उल्लेख करती है उस महाभारतयुद्ध का प्रताप उसे जला रहा है? जो भी हो, कर्ण के उत्तरीय की छाँह लेने की बात जितनी रमणीय है उतनी ही सूचक भी है। ऐसे महाभारतयुद्ध में कर्ण के पास किसी राहत की आशा से आयी कुन्ती अन्त में उसके उत्तरीय की शीतलता पाती है। यह बात हम आगे देखेंगे।

कर्ण अपना जप पूरा करके पीछे घूमता है और तत्काल ही उसकी दृष्टि कुन्ती पर पड़ती है। वह कुन्ती को पाण्डवों की माता के रूप में ही नहीं जानता, स्वयं कुन्ती के गर्भ से जन्मा है यह हकीकत भी जानता है। यदि इसमें कर्ण के मन में कोई शंका रही भी होगी तो उसे कृष्ण ने उसके जन्म का रहस्य बताकर दूर कर दिया है। स्वयं को,जन्म देने वाली माँ मिलने आयी है तब कर्ण उसे प्रणाम करके जो शब्द कहता है उनकी गुरुता और कुलाभिमान दोनों अनूठे हैं।

> राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वामभिवादये।
> प्राप्ता किमर्थं भवति ब्रूहि किं करवाणि ते।
>
> (उद्योग. १४३;१)

राधा और अधिरथ का पुत्र कर्ण, मैं आपका अभिवादन करता हूँ।

कर्ण कुन्ती के समक्ष वह 'राधेय' है ये शब्द सगर्व बोलता है। जिस माता ने उसका पालन-पोषण किया है, उसे किसी राजवंशीय मोह के हेतु वह छोड़ने को तैयार नहीं है। और 'कौन्तेय' कहलाने के बदले 'राधेय' कहलाने में उसे अधिक गौरव का बोध होता है। दूसरी बात यह कि वह जानता है कि कुन्ती किसी 'अर्थ' के लिए आयी है, इसी से पूछता है:

आप किस अर्थ (काम) के लिए आयी हैं? मुझे कहें मैं आपका कौन सा काम करूँ?

'राधेय' शब्द कर्ण ने जान-बूझकर कहा था। ये शब्द कुन्ती को चुभेंगे यह भी वह जानता था। उसका वाग्बाण ठीक मर्म पर प्रहार करता है। कुन्ती तुरत ही कहती है—

> कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता।
> नासि सूतकुले जातः कर्ण तद्विद्धि मे वचः ॥
>
> (उद्योग. १४३;२)

कर्ण का वाक्य 'राधेय' शब्द से शुरू हुआ था. कुन्ती का उत्तर 'कौन्तेय' शब्द से आरम्भ होता है। कुन्ती कहती है: 'तू कुन्ती का पुत्र है, राधा का नहीं। अधिरथ तेरा पिता नहीं है। तेरा जन्म सूतकुल में नहीं हुआ है। कर्ण तेरे जन्म का रहस्य मैं तुझे बताने आयी हूँ।' और ऐसा कहकर वह कर्ण से उसके जन्म की, कन्यावस्था में अपने बटोरे और त्याग दिये कलंक की कथा कहती है, और कृष्ण ने कहे हुये वे सब प्रलोभन देने के साथ वह आगे बढ़कर कहती है कि आज अच्छा हो कि कौरव लोग कर्ण और अर्जुन का मिलाप देखें—

> कर्णार्जुनौ वै भवतां यथा रामजनार्दनौ।
>
> (उद्योग. १४३;१०)

बलराम और कृष्ण की भाँति कर्ण और अर्जुन की जोड़ी भी विख्यात हो।

कुन्ती के इन वचनों के साथ सूर्यनारायण भी आकाशवाणी द्वारा कहते हैं :

सत्यमाह पृथा वाक्यं कर्ण मातृवचः कुरु।
(उद्योग. १४४;२)

पृथा जो कहती है वह सत्य है। कर्ण, तू अपनी माता के वचनों का पालन कर।

कर्ण की कैसी कड़ी परीक्षा यहाँ होती है। पहले तो कृष्ण जैसे कृष्ण उसके आगे अनेक प्रलोभन रख जाते हैं, फिर कुन्ती आती है फिर तो स्वयं भगवान सवितानारायण भी उससे कुन्ती जैसा कहती है वैसा करने को कहते हैं।

कर्ण यहाँ बुद्ध की कक्षा में पहुँचता है। मार के विविध प्रलोभनों के समक्ष जैसे बुद्ध टिक सके वैसे ही कर्ण भी टिक सकता है। कर्ण के प्रलोभनों में कृष्ण और सूर्य जैसे प्रतापी पुरुष हैं, उन्हीं के साथ कुन्ती, उसकी जन्म-माता भी है। पुनः यदि वह इन सबकी बात मान लेता है तो राज्यपाट मिलेगा, और दूसरे पक्ष में कर्ण जान गया है कि केवल मृत्यु है। फिर भी कर्ण अटल है। कृष्ण ने जैसा कहा कर्ण धर्म का ज्ञाता है। माता-पिता के वचन का पालन करना यह एक धर्म है। परन्तु इस धर्म को वह अपने वैयक्तिक धर्म के साथ रखता है। वह कहता है—सच है तू मेरी माँ है; तेरी आज्ञा पालन करना मेरे लिये धर्म का द्वार है यह भी सच है : पर तूने मेरा जन्म होते ही मेरा त्याग किया जिससे मेरा यश और कीर्ति दोनों ही नष्ट हो गये। तेरी यह बात भी सच है कि मेरा जन्म सूतकुल में नहीं हुआ है, मैं जन्मना क्षत्रिय हूँ। पर मुझे 'क्षत्रसत्क्रियाम्' क्षत्रिय संस्कार नहीं मिले हैं। तूने जो किया, उससे अधिक बुरा क्या मेरा कोई दुश्मन भी कर पाता? जब मुझपर दया करने का समय था तब तूने दया नहीं की, पर अब जब दया करने का समय बीत गया है, तब तू मुझे तेरी आज्ञा पालन करने को कहती है? (उद्योग. १४४;४-७)

कर्ण बहुत ही कठोर सत्य कुन्ती से कह रहा है। वह तो स्पष्टतः कहता है कि तेरी यह बात मेरे किसी हित के लिए नहीं है वह तो 'केवलात्महितैषिणी'—मात्र आत्महित की इच्छा से कही गयी बात है।

तथापि इस कारण से कर्ण माता की आज्ञा का अनादर नहीं करता, वह कहता है :

कृष्णे न सहितात्को वै न व्यथेत, धनंजयात्।
कोऽद्य भीतं न मां विद्यात्, पार्थानां समिति गतम्॥
(उद्योग. १४४;९)

कृष्ण और अर्जुन दोनों एक साथ हों तो कौन भयभीत न होगा? एक तो अर्जुन का बल और उसमें कृष्ण की प्रेरणा मिले यह बात ही भय प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। अतः यदि आज मैं पाण्डवों की सभा में, पार्थों की समिति में आ जाऊँ तो कौन मुझे भयभीत नहीं मानेगा?

अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः।
पाण्डवान्यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति॥
(उद्योग. १४४;१०)

पहले से मैं अभ्राता—भाई बिना का गिना जाता रहा हूँ, अब युद्धकाल में मैं अपनी यह सगाई प्रगट करके पाण्डवों के पास जाऊँ तो क्षत्रिय मेरे लिए क्या कहेंगे?

कर्ण और कृष्ण के जीवन की समांतरता हमने पहले देखी थी; कृष्ण ने राजवंश में जन्म लिया, ग्वालों के यहाँ पले और पुनः राजवंश में चले गये। कारण यह कि कृष्ण को जीवन में कुछ कार्य करने थे। कर्ण को पाण्डवों के साथ जुड़कर ऐसा कोई जीवन-कार्य नहीं करना है। वह राजगद्दी और द्रौपदी के साथ वर्ष के षष्ठांश में विलास—इन दो के लिये पाण्डवों के पास जाय? आज तक वह 'अभ्राता' था और अब भाइयों की जरूरत नहीं है। युद्धकाल में वह पाण्डवों के भाई के रूप में प्रकाश में आना नहीं चाहता।

वीरत्व कर्ण के इनकार का एक कारण है, दुर्योधन ने जो कुछ किया उसके लिए कृतज्ञता यह दूसरा कारण है। महा घोर युद्ध को पार करने की इच्छा करने वाले दुर्योधन ने कर्ण को अपनी नौका के रूप में वरण किया है। अब कर्ण उसे कैसे त्याग सकता है? स्वयं दुर्योधन—उपजीवी है—उसी के सहारे अपना गौरव प्राप्त कर सका है। अब प्राण-रक्षा का विचार किये बिना उस उपकार का बदला चुकाने का वक्त आ पहुँचा है।

लेकिन कुंती यहाँ आई है उसका उद्देश्य कुछ दूसरा ही है। उसके मनमें कर्णके लिये स्नेह छलक नहीं रहा है। केवल अपने पुत्रों की रक्षा ही उसका उद्देश्य है। कर्ण ही जी लगाकर लड़ेगा ऐसा वीर है। कृष्ण और अब कुंती-इन दोनों की मुलाकातों ने कर्ण के युद्धसंकल्प को निर्बल बना दिया है।

माँ की आज्ञा का पालन करना चाहिये, यह कर्ण जानता है। पर आज्ञा जिस स्वरूप में है उस रूप में दुर्योधन का पक्ष छोड़कर पांडवों के साथ मिलकर उसका पालन करना संभव नहीं है। तो अब कर्ण माता जो चाहती है वही करना चाहता है। इसीसे वह कहता है :

अर्जुनेन समं युद्धं मम यौधिष्ठिरे बले।

(उद्योग० १४४, २१)

युधिष्ठिर की समूची सेना में मैं केवल अर्जुन के साथ ही युद्ध करूँगा। युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव आदि वध के योग्य हैं तो भी मैं उनका वध नहीं करूँगा। इतना ही नहीं। वह वचन देता है कि—

न ते जातु न शिष्यन्ति पुत्राः पंच यशस्विनी।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयी॥

(उद्योग० १४४; २२)

हे यशस्विनी, तेरे पाँच पुत्र कायम रहेंगे। अर्जुन यदि मर जायगा तो कर्ण सहित और कर्ण मरेगा तो अर्जुन सहित।

इस प्रकार कुंती कर्ण के संकल्प को डगमगा देती है। कर्ण अब सिवा अर्जुन के किसी के भी सामने जी लगाकर नहीं लड़ सकेगा, क्योंकि बाकी के चार भाइयों को उसने अभयदान दिया है। कर्ण के वीरत्व का जो वर्णन कर्णपर्व के बीच आता है उसे देखते हुए यदि कुंती यह अभयदान-न मांगा होता तो शायद पाँच पाण्डव युद्ध के अंत में अखंडित न रह पाये होते। इतना ही नहीं, कर्ण का युद्धसंकल्प यदि फीका न पड़ा होता तो शायद 'यतो धर्मस्ततो जयः', इतना तो खैर निश्चित था, पर यह जय पांडवों को कुछ अधिक मंहगी पड़ी होती।

कर्ण से इतना बड़ा वचन माँग लिया, बदले में माता पुत्र को कौनसा आशीर्वाद देती है?

कुंती पांडवों को ही चाहती थी, कर्ण को नहीं। कर्ण को ज्येष्ठ पांडव के रूप में स्थापित करके उसे राजगद्दी देने का निर्णय भी इन पांडवों के प्राण बचें इसी हेतु लिया गया था! कर्ण ने माता की यह इच्छा पूरी की।

कर्ण प्रणाम करता है, तब कुंती आशीर्वाद देती है; कुंती यहाँ तनिक भी दंभ नहीं करती। वह उसे शतायु होने का या चिरंजीवी होने का आशीर्वाद नहीं देती। वह तो कहती है—

अनामयं स्वस्ति— (उद्योग. १४४;२६)
रोगरहित रहना!'

कर्ण का वचन और माता का प्रतिभाव—इन दोनों पर मनन करें तो कर्ण एक वित्ता ऊँचे मानव के रूप में प्रस्थापित हुए विना नहीं रहता।

(डॉ॰ भानुशंकर मेहता द्वारा अनुदित)

●

मैं सदेह भारत हूँ। सारा भारत मेरा शरीर है। कन्याकुमारी मेरा पैर और हिमालय मेरा सिर है मेरे बालों में गङ्गा बह रही है। विन्ध्याचल मेरी कमरबन्द है। पूर्व पश्चिम मेरी दो भुजायें हैं जिनको फैलाकर मैं अपने देशवासियों को गले लगाता हूँ। हिन्दुस्तान मेरे शरीर का ढाँचा है और मेरी आत्मा सारे भारत की आत्मा है। मैं चलता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि तमाम हिन्दुस्तान चल रहा है। जब मैं बोलता हूँ, तो तमाम हिन्दुस्तान बोलता है।

—स्वामी रामतीर्थ

जीवन्मुक्त भक्त हरिबाबा

डॉ० रामावतार

•

भगवान जब किसी भक्त को जन्म देते हैं तो उसके साथ कोई अलौकिक घटना अवश्य होती है। 'हरिबाबा' का जन्म होशियारपुर निवासी श्री प्रताप सिंह के यहाँ सम्वत् १९४१ की फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशी को सायं चन्द्रोदय के समय हुआ था। प्रताप सिंह पेंगरवाल में पटवारी थे। वे साधुसेवी और परम सदाचारी थे। बालक के जन्म लेते ही उनके यहाँ एक अद्भुत घटना घटित हुई जिसे देखकर सभी आश्चर्य-चकित हो गए। थोड़ी देर बाद ही 'खड़-खड़' के शब्द के साथ आकाश से कोई वस्तु उनके आंगन में आ गिरी। लोगों ने उसके पास जाकर देखा तो वह श्री रघुनाथ जी की मूर्ति थी।

माता-पिता ने इस बालक को साक्षात् भगवान का अवतार माना और परम्परानुसार उसका नाम दीवान सिंह रखा गया। वे अपने घर में सबसे छोटे थे किन्तु शुरू से ही उनमें बाल-चपलता के स्थान पर गंभीरता थी।

वे अपने से बड़ों का सदा आदर करते और संतों को प्रणाम करके उनकी सेवा में निमग्न रहते। कई संतों ने तो दीवान सिंह को महान् भक्त होने का आशीर्वाद दिया था। होशियारपुर में माध्यमिक शिक्षा ग्रहण करने के बाद वे लाहौर के मेडिकल कालेज में प्रविष्ट हुए किन्तु अध्यात्म में रुचि रखने के कारण उन्होंने मेडिकल की शिक्षा लेना बन्द कर दिया और सिद्धसन्यासी स्वामी सच्चिदानन्द जी के शिष्य हो गए।

एक दिन उनकी धर्म परायण माता जी ने एकान्त में ले जाकर उनसे विवाह का प्रस्ताव किया जिसे उन्होंने ठुकराते हुए कहा "मैं तुम्हारे घर में रहने के लिए नहीं आया हूँ। मैंने तो तुम्हारे प्रेम में बँधने के कारण ही यहाँ जन्म लिया है। विवाह करके मैं गृहस्थ नहीं बनना चाहता! मुझे संसार में अब अनेक कार्य करने हैं। यह कहकर वे धड़ाम से गिर पड़े। फिर किसी ने उनसे विवाह करने का कभी आग्रह नहीं किया।

गुरुदेव ने इन्हें आज्ञा दी कि काशी जाकर शिक्षा ग्रहण करो और वे वहाँ हिन्दू कालेज में बी० एस० सी० करने लगे किन्तु अध्यात्म चिंतन और मनन नहीं छोड़ा। परिणाम-स्वरूप उनकी पढ़ाई बंद हो गई। एक दिन उनके मन में अचानक वैराग्य लेने की भावना जागृत हो गई और अपना सारा सामान गरीबों को बाँटकर गेरुआ वस्त्र धारण कर सन्यास ले लिया।

कुछ दिन बाद वे होशियारपुर आए और अपने गुरु सच्चिदानन्दजी से मिले। संन्यासी के रूप में देखकर उन्होंने कहा कि तुमने संन्यास ले लिया है अतः हमें प्रसन्नता हुई। जाओ अब तुम्हारा नाम स्वतः उजागर हो गया। यहीं पर उनकी भेंट तत्वनिष्ठ सन्त उड़ियाबाबा से हुई और दोनों में अपार प्रेम उत्पन्न हो गया।

उड़िया बाबा ज्ञाननिष्ठ जीवनमुक्त महापुरुष थे और हजारों लोग उनकी पूजा अर्चना करने के लिए भीड़ लगाये रहते थे परन्तु हरिबाबा का दर्शन मिलना ही कठिन था।

पूर्व के दीवान सिंह अब 'हरिबाबा' के नाम से विख्यात थे। एक बार वे घूमते-घूमते वहाँ पहुँचे, जहाँ 'श्रीराम जै-राम जै-जै-राम' का कीर्तन चल रहा था। वहां पहुँचकर वे आनन्द मग्न हो गए। गौरवर्ण के सुगठित शरीर वाले इस सन्यासी को देखकर लोगों का मस्तक स्वतः उनके चरणों पर झुक जाता। कीर्तन करते-करते उनके नेत्र सजल हो उठते और उनका सारा शरीर कंपायमान हो जाया करता। इतना ही नहीं, लोगों ने देखा कि उनका शरीर कभी पीत, कभी श्वेत और कभी मेघवर्ण का हो जाता।

वर्धा के इस कीर्तन-महोत्सव से उनकी भाव-समाधि लगने लगी और भगवत् प्रेमधारा से वे सराबोर रहने लगे। गौरांग महाप्रभु का चरित्र पढ़कर वे अत्यधिक प्रभावित हुए और भगवान कृष्ण की रट लगाने लगे। गंगा तट पर स्थित, गांव-गांव में वे रहने लगे। अब उनको कृष्णभक्ति इतनी प्रस्फुटित हो गई कि गाँववालों से कहने लगते "भैया तुमने मेरे कृष्ण को देखा है? वह घनश्याम कहाँ मिलेगा? कोई मुझे प्राणधन के दर्शन करा दे। मैं उसका सदा आभार मानूंगा।" यह कहकर वे फूट-फूट कर रोने लगते।

ग्रामवासी यह दृश्य देखकर घबरा जाते। कभी-कभी वे एक स्थान पर खड़े होकर आत्म-विह्वल होकर 'हरिबोल-हरिबोल' शब्दों का संकीर्तन करने लगते। इस प्रकार उन्होंने अपना 'हरिबाबा' नाम सार्थक कर दिया। हरिबाबा का कहना था कि पीड़ित व्यक्ति को जो अपना मानकर उसका कष्ट निवारण करता है उसके हृदय में भगवान् निवास करता है। वह सच्चा सन्त है। वर्धा से लौटते समय वे कुछ दिन अमरकंटक में रहे। वहाँ एक कुष्ठ रोगी था। हरिबाबा उसकी पीड़ा देखकर बहुत छटपटाए और नित्य नीम के जल से उसके घाव को धोकर मरहम पट्टी करने लगे। कुछ दिन बाद वह निरोग हो गया और उन्हें आशीर्वाद देकर अपने घर चला गया।

'हरिबाबा' ने धार्मिक कार्यों के साथ-साथ सामाजिक कार्यों में भी रुचि ली। उक्त क्षेत्रमें गंगा जी की बाढ़ से भीषण तबाही हो जाती थी अतः 'बाबा' ने ग्रामीणों के निवेदन पर एक पुल बनवाने का कार्य उठा लिया।

इस कार्य हेतु वे गांव-गांव जाकर घंटा बजाकर लोगों को एकत्र करते और दस मिनट तक कीर्तन कराने के बाद पुल निर्माण के महत्त्व पर प्रकाश डालते थे। उन्हें धन और जन दोनों की सहायता के आश्वासन मिले और अगली रामनवमी तक बांध पूरा कराने का उन्होंने संकल्प ले लिया।

आश्चर्य की बात यह है कि जिस प्रकार भगवान् राम का नाम लेकर वानरों ने समुद्र में शिलाएँ तैराकर बाँध बनाया था उसी प्रकार प्रभु की प्रेरणा से ग्रामवासियों ने वह कार्य शुरू किया। सबसे पहले 'बाबा' ने अपने हाथों "हरिबोल" कह कर पाँच टोकरी मिट्टी डाली फिर सभी गांववासी "हरिबोल-हरिबोल" कहकर मिट्टी डालने लगे। समय से बांध का निर्माण पूरा हुआ और सात सौ गांव जो प्रतिवर्ष बाढ़ में डूब जाते थे उनकी रक्षा हो गई। बांध बन जाने से लोगों में साहस जागा और अब वे 'बाबा' के कहे अनुसार रामधुन व कीर्तन में लग गए।

पूज्य उड़ियाबाबा के गोलोकवासी हो जाने के बाद उनको श्री श्रीमाता आनन्दमयी जी के दर्शन हुए और उनके साथ उन्होंने ढाका व नवद्वीप तक यात्राएँ सम्पन्न कीं। सम्पूर्ण दक्षिण भारत की यात्रा करके उन्होंने रामधुन का प्रचार-प्रसार किया। समय की पाबंदी करना उन्हें प्रिय था अतः उनके कीर्तन समय पर ही शुरू किए जाते थे। रेल की यात्रा करते समय वे डिब्बे में ही कीर्तन कराने लगते। जिससे यात्रियों का मन प्रसन्न हो जाया करता था।

जब हरिबाबा कीर्तन करते तो उसे सुनकर लोग आकर्षित हो जाया करते और उनके स्वर में स्वर मिलाकर 'हरिबोल-हरिबोल' का तेजी से उच्चारण करके एक समा बांध देते थे। कभी-कभी तो झांझ, मंजीरा और मृदंग बजा ग्रामीणजन कीर्तन का आनन्द लेते। उस ससय बाबा आल्हादित होकर नृत्य भी करने लग जग जाते थे।

उनका कहना था कि तन्मय होकर संकीर्तन करने का तुरन्त फल मिल जाता है। उन्होंने कई लोगों को कीर्तन करना सिखाया जिससे उनके शरीरजन्य रोग दूर हो गए। वास्तव में उनका कीर्तन प्राणमय और आनन्दमय बन जाता था।

हरिबाबा ने कई स्थानों पर बड़ी-बड़ी संकीर्तन मंडलियाँ स्थापित कर दी थीं और यदाकदा अपने भक्तजनों के मध्य बैठकर भाव विभोर होकर हरिकीर्तन किया करते थे।

उन्होंने अपने पावन चरणों से भारत के कई प्रदेश पवित्र किये और भक्ति एवं साकार पूजन का प्रचार किया।

अपने अंतिम दिनों में वे काशीधाम में आकर निवास करने लगे जहाँ वे श्री श्रीमाता आनन्दमयी जी के सान्निध्य में बहुत दिन तक रहे। पौष कृष्ण एकादशी के पवित्र दिन उन्होंने अपने भक्तजनों एवं पूज्य माता जी की उपस्थिति में श्रीहरि के मंगलमय संकीर्तन को सुनते हुए इस पार्थिव शरीर को यहीं छोड़कर अपने इष्टदेव के धाम को प्रयाण कर गए।

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

जुलाई, १९८४

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, दाल, साग आदि १५००) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के ब्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

श्री स्वामी गणेश्वरानन्द तीर्थ, मुमुक्षु भवन, वाराणसी कच्चा १०-७-८४

श्री १०८ स्वामी ईश्वरानन्द जी तीर्थ की आराधना कच्चा २२-७-८४

श्रीमती यशोदा देवी, मुमुक्षु भवन वाराणसी कच्चा २६-७-८४

श्री गोपीरामजी अग्रवाल, कलकत्ता कच्चा २८-७-८४

श्रीस्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती, वृन्दावन कच्चा ३१-७-८४

अस्थायी भण्डारा

श्रीमती सुरमा देवी पसारी द्वारा

श्रीहरद्वारी लाल खण्डेलवाल, वाराणसी कच्चा ३-७-८४

,, ,, , कच्चा ४-७-८४

श्री साधूराम मिश्र, केनजरी, कानपुर पक्का १३-७-८४

श्री चिनकूराम, आसनसोल कच्चा १९-७-८४

श्री वासुदेव गुटगुटिया, संथाल परगना पक्का, फलाहार २४-७-८४

श्री टीकम चन्द बाजोरिया, राँची कच्चा २५-७-८४

श्री महावीर प्रसाद बुबना, जयनगर कच्चा ३०-७-८४

अन्नक्षेत्र

श्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, काशी मुमुक्षु भवन, वाराणसी १५०-००

श्री नारायन प्रसाद पसारी, वाराणसी १०१) वार्षिक

श्री विश्वनाथदास अग्रवाल, भैरो बावली १०१) ,,

प्रह्लादराय रुँगटा द्वारा श्रीसत्यनारायण रुँगटा कलकत्ता (जुलाई) ३००-००

स्थायी कोष

श्रीमती बिचुलिया देवी पत्नी स्व० श्री सर्वजीत चौबे, गाजीपुर ३१००-००

होमियोपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
४४१	१९६६	२४०७

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
९०	४१६	५०६

यौगिक उपचार केन्द्र (१८ जुलाई '८४ से प्रारम्भ

कुल योगाभ्यासी १३ ३१, जुलाई '८४ तक

Regd. No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82 अगस्त १९८४ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतोय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यता प्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२०१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा-कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद-वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी हैं। हर फ्लैट में तीन कमरे, रसोई, स्नान-घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन विताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

•

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित

सितम्बर १९८४

आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ३ : अंक १२
आश्विन सं० २०४१
सितम्बर १९८४

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

वार्षिक : अठारह रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दोसौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

माया
स्वामी शिवानन्द सरस्वती १
क्या निराश हुआ जाय ?
हजारीप्रसाद द्विवेदी ३
राजयज्ञ
६
जीवन बोझ है या उत्सव ?
श्री गुणवन्त शाह ७
श्री भंवरमल सिंघी अभिनन्दन समारोह
९
जापानी धर्म-भावना
डॉ० बदरीनाथ कपूर ११
सात दशकों की जीवनयात्रा
१४
स्वर्ग-सुख का मूल
देवीभागवत की एक कथा १५
सेना का केन्द्रबिंदु
श्री हरीन्द्र दवे १७
स्वामी विवेकानन्द के अतीन्द्रिय अनुभव
श्री रतनलाल जोशी २१
वैराग्य हजारीप्रसाद द्विवेदी २४

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम द्वितीय तृतीय वर्ष की सजिल्द फाइलें

मुमुक्षु के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के अंकों की फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी है। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेज कर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा,
अस्सी, वाराणसी—५

मुमुक्षु

वर्ष : ३] सितम्बर १९८४ [अंक : १२

माया

स्वामी शिवानन्द सरस्वती

•

माया ईश्वर की भ्रमात्मक और दुर्बोध शक्ति है। जिस प्रकार उष्णता को अग्नि से दूर नहीं किया जा सकता उसी प्रकार माया को भी ईश्वर से पृथक् नहीं किया जा सकता है। माया ईश्वर की उपाधि है। माया पर ईश्वर का नियन्त्रण है। माया न तो सत् है न असत्, इसलिए माया अनिवर्चनीय है। यह सारा विश्व माया की ही अभिव्यक्ति है। सारे सांसारिक अनुभव माया के ही कार्य हैं। आत्मसाक्षात्कार-प्राप्त योगी माया को पार कर जाता है।

माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है। अभिन्न से अर्थ है जो अलग न की जा सके। माया को ब्रह्म से अलग नहीं किया जा सकता है। अग्नि और उष्णता के समान ही माया और ब्रह्म अभिन्न हैं।

घड़ा एक कार्य है। उसे देखने पर यह निर्णय होता है कि उसका कोई कारण होना चाहिए। इसी प्रकार यह संसार देखकर इस निर्णय पर पहुँचना होता है कि इसका भी कोई कारण होना चाहिए। वह कारण ही माया, ब्रह्म की भ्रमात्मक शक्ति है।

जो स्वभावतः एक अवर्णनीय है एवं जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, वह है माया। माया अनिर्वचनीय है। वह ब्रह्म की अवर्णनीय भ्रमात्मक शक्ति है जिससे यह सारा संसार उत्पन्न होता है।

माया बड़ी चतुर और धोखा देनेवाली है। वह तो ईश्वर की भ्रमात्मक शक्ति है, वह एक ऐसा आवरण तत्त्व है जो असीम ब्रह्म में ससीम रूपों की सृष्टि करता है। माया की दो शक्तियाँ हैं—आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति। आवरण-शक्ति के द्वारा माया सत्य को छिपाती है और विक्षेप-शक्ति के द्वारा विश्व की सृष्टि करती है और झूठे नाम-रूपों का निर्माण करती है।

आवरण-शक्ति आत्मा को छिपाती है और जीव पर आवरण डाल देती है। इसके कारण से ही जीव अपने पंच-कोशों से छूट नहीं पाता है। आवरण-शक्ति के दो प्रकार हैं—एक है असत्-आवरण और दूसरा अभान-आवरण। असत्-आवरण के कारण यह विचार प्रारम्भ होता है कि ब्रह्म नहीं है। लोग कहते हैं—"यदि ब्रह्म है तो वह दिखता क्यों नहीं?" इस विचार का कारण है अभान आवरण। श्रुतियों के श्रवण द्वारा ब्रह्म के परोक्षज्ञान से असत्-आवरण हटाया जा सकता है और अभान-आवरण निदिध्यासन द्वारा ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान से दूर किया जा सकता है।

अव्यक्त, माया, मूल-प्रकृति, प्रधान, गुणसाम्य—ये सारे शब्द पर्यायवाची हैं। माया के अप्रकट स्वरूप का नाम अव्यक्त है। जिस प्रकार बीज के अन्दर सारा वृक्ष सूक्ष्म रूप में समाया होता है, उसी प्रकार प्रलय-काल में इस अव्यक्त के अन्दर बीज-रूप में सारा ब्रह्माण्ड समाया रहता है। अव्यक्त और प्रधान ये दोनों सांख्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। सत्व, रजस् और तमस् का संयोग ही मूल-प्रकृति है जैसे श्वेत, रक्त एवं कृष्ण वर्ण के तीन धागों से बटी हुई

रस्सी हो। गुण-साम्यावस्था में ये तीनों गुण समान अनुपात में होते हैं। यह प्रलय या सुषुप्ति की स्थिति है। जिस प्रकार मनुष्य प्रतिदिन गहरी निद्रा का अनुभव करता है, उसी प्रकार सारा विश्व प्रलयकाल में सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है। प्रलय में कई जीव अपने संस्कारों के कारण मूल प्रकृति में लीन हो जाते हैं जैसे सोने के बारीक कण मोम की डली में चिपक जाते हैं। प्रलय के अन्त में जीवों के कर्म परिपक्व हो जाते हैं। उनके कर्मों का फल ईश्वर देना चाहता है और फिर इस सम्पूर्ण विश्व की पुनः सृष्टि होती है।

माया में शुद्ध सत्व की मात्रा अधिक होती है। माया में परब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही ईश्वर है। माया ईश्वर की उपाधि है। ईश्वर का वह कारण-शरीर है। माया ईश्वर के अधीन है। ईश्वर को अव्याकृत और अन्तर्यामी के नाम से पहचाना जाता है। ईश्वर इस विश्व का निमित्त कारण है। जैसे मकड़ी अपने अन्दर से ही जाल पैदा कर लेती है, उसी प्रकार ईश्वर स्वयं तमोगुण से एक रूप होकर विश्व का उपादान कारण भी बन जाता है। अशुद्ध सत्व ही अविद्या है। इस अवस्था में सत्व में रजोगुण अधिक मात्रा में मिश्रित होता है। अविद्या जीव का कारण-शरीर है। यह आनन्दमय-कोश है। जीव और ईश्वर इस कारण-शरीर के द्वारा सुषुप्ति का अनुभव कर लेते हैं। यह कारण-विकास है।

कुछ ही दिनों पहले जूनागढ़ में एक विचित्र घटना हुई। एक लड़की की शादी हुई। वह बारह साल की थी। विवाह के छः साल बाद वह लड़की लड़के में परिवर्तित हो गयी। पुरुष के सारे विशिष्ट चिह्न उसमें आ गये। वह पति का घर छोड़ कर पिता के घर लौट आयी। उसका पिता धनी आदमी था। वह अभी हाल में मरा। वकीलों से परामर्श किया गया कि उसकी सम्पत्ति उस लड़की (लड़के) को मिलनी चाहिए या नहीं। माया सब-कुछ कर सकती है। वह नपुंसक पैदा कर सकती है। पुरुष में स्त्रियों की मधुर आवाज, स्त्रियों में पुरुष की कर्कश ध्वनि, स्त्रियों में दाढ़ी-मूछ पुरुषों में नारी-सुलभ चिकनी मुखाकृति पेट के अन्दर चेहरा, शिर पर खुर, आधा मनुष्य, आधा शेर, आधा घोड़ा—क्या-क्या नहीं कर सकती। इससे स्पष्ट होता है कि सारा संसार एक भ्रम है, असत्य है और एकमात्र आत्मा ही सत्य और शाश्वत है। प्रकृति के गम्भीर अध्ययन से वैराग्य और विवेक होता है और प्रकृति के स्वामी आत्मा के साक्षात्कार की प्रेरणा मिलती है।

सूर्य ठण्डा हो जाय, चन्द्रमा उष्ण हो जाय, अग्नि अधोमुख होकर जलने लगे, बरफ गरम हो जाय, विष्ठा से गुलाब की सुगन्धि आने लगे तब भी ज्ञानी पुरुष को आश्चर्य नहीं होगा। वह जानता है कि यह सारा उस माया का मायाजाल है।

माया स्वयं बदलती रहती है और संसार को भी बदल देती है, परन्तु ब्रह्म अपरिवर्तिनीय है। वह अचल, महान्, स्थिर और अजन्मा है।

राख के नीचे दबी हुई आग देखी नहीं जा सकती, किन्तु यह नहीं कह सकते कि वहाँ आग नहीं है, इसी प्रकार आत्मा शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियों से आवृत है, दिखता नहीं है, इस लिए यह नहीं कह सकते कि वह है ही नहीं।

•

जाहि विधि राखे राम

आसन, बसन, सिंहासन सब सोने के, काहू दिन टूटी खाट भुइयैं परि रहिये।
काहू दिन रसोई में व्यंजन छप्पन प्रकार, काहू दिन अलोनी दाल बिना लोन खइये।
काहू दिन हाकिमी हुकूमत है औरन पै, काहू दिन नीचन की चार बात सहिये।
हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरि नाम, जाही बिधि राखैं राम ताही विधि रहिये।

•

क्या निराश हुआ जाय ?

हजारीप्रसाद द्विवेदी

मेरा मन कभी-कभी बैठ जाता है। समाचार-पत्रों में ठगी, डकैती, चोरी, तस्करी और भ्रष्टाचार के समाचार भरे रहते हैं। आरोप-प्रत्यारोप का कुछ ऐसा वातावरण बन गया है कि लगता है, देश में कोई ईमानदार आदमी रह ही नहीं गया है। हर व्यक्ति सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है। जो जितने ही ऊँचे पद पर है, उसमें उतने ही अधिक दोष दिखाये जाते हैं। एक बहुत बड़े आदमी ने मुझसे एक बार कहा था कि इस समय सुखी वही है जो कुछ नहीं करता, वह जो कुछ भी करेगा उसमें लोग दोष खोजने लगेंगे। उसके सारे गुण भुला दिये जायेंगे और दोषों को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया जाने लगेगा। दोष किसमें नहीं होते? यही कारण है कि हर आदमी दोषी अधिक दिख रहा है, गुणी कम या बिलकुल नहीं। स्थिति अगर ऐसी है तो निश्चय ही चिन्ता का विषय है।

क्या यही वह भारतवर्ष है जिसका सपना तिलक और गांधी ने देखा था? विवेकानन्द और रामतीर्थ का आध्यात्मिक ऊँचाई वाला भारतवर्ष कहाँ है? रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मदन-मोहन मालवीय का महान् संस्कृति-सभ्यता वाला भारतवर्ष किस अतीत के गह्वर में डूब गया? आर्य और द्रविड़, हिन्दू और मुसलमान, यूरोपीय और भारतीय आदर्शों की मिलन भूमि 'महामानव समुद्र' क्या सूख ही गया? मेरा मन कहता है, ऐसा हो नहीं सकता। हमारे महान् मनीषियों के सपनों का भारत है और रहेगा। ऊपर की सतह पर जितना भी कोलाहल और उथल-पुथल क्यों न दिखायी दे रही हो, नीचे शान्त, अचंचल गाम्भीर्य में अब भी भारत महान् है, अनुकरणीय है। यह सही है कि इन दिनों कुछ ऐसा माहौल बना है कि ईमानदारी से मेहनत करके जीविका चलाने वाले निरीह और भोले-भाले श्रमजीवी पिस रहे हैं और झूठ और फरेब का रोजगार करने वाले फल-फूल रहे हैं। ईमानदारी को मूर्खता का पर्याय समझा जाने लगा है, सच्चाई केवल भीरु और बेबस लोगों के हिस्से पड़ी है। ऐसी स्थिति में जीवन के महान् मूल्यों के बारे में लोगों की आस्था ही हिलने लगी है।

बात नयी नहीं है। पर इसकी बीभत्सता शायद पहले कभी इतनी विकराल होकर नहीं प्रकट हुई। आज से चार सौ साल पहले बाबा तुलसीदास ने कुछ ऐसा ही माहौल देखा था। वे व्याकुल भाव से कह गये हैं:

सीदत साधु, साधुता सोचति,
खल बिलसत, हुलसति खलई है।

परन्तु आधुनिक साधनों और सुविधाओं के विकास के साथ-साथ धन-संग्रह की प्रवृत्ति को जैसा बढ़ावा इस समय मिला है, वैसा उन दिनों नहीं था। 'खलई का हुलास' बेहिसाब बढ़ गया है और उसी अनुपात में, बल्कि कुछ अधिक मात्रा में ही, 'साधुता का सोच' भी बढ़ा है। तुलसीदास ने महान् जीवन-मूल्यों में आस्था नहीं छोड़ी थी। लगता है, उनके समकालीन अधिकांश लोगों ने भी नहीं छोड़ी थी, पर आज? आज भी छोड़ने की जरूरत नहीं है।

ऊपर-ऊपर जो कुछ दिखायी दे रहा है, वह बहुत हाल की मनुष्य-निर्मित नीतियों की त्रुटियों की देन है। सदा मनुष्य-बुद्धि नयी परिस्थितियों का सामना करने के लिए नये सामाजिक विधि-निषेधों को बनाती है, उनके ठीक साबित न होने पर उन्हें बदलती है। ऊहापोह, ग्रहण-त्याग, संशोधन-परिवर्धन का सिलसिला चलता ही रहता है। उथल-पुथल भी होती है, कई बार दुर्व्यवस्था के कारण निरीह व्यक्तियों का कष्ट भी बढ़ता है, बहुधा सुविधाभोगी वर्ग की स्थिति में परिवर्तन के कारण व्यक्ति-विशेष बुरी तरह ध्वंस हो जाता है। नियम कानून सबके लिए बनाये जाते हैं, पर मनुष्य-समाज बहुत जटिल प्रक्रियाओं से होकर गुजरकर और भी जटिल होता है, सबके लिए कभी भी एक ही नियम सुखकर

नहीं होते। मनुष्य की बुद्धि से निर्मित व्यवस्था हमेशा त्रुटि-युक्त होती है। सामयिक कायदे-कानून कभी युग-युग से परीक्षित आदर्शों से टकराते भी हैं, इससे ऊपरी सतह आलोड़ित भी होती है। पहले भी हुआ है, आगे भी होगा। उसे देखकर हताश हो जाना ठीक नहीं है।

भारतवर्ष ने कभी भी भौतिक वस्तुओं के संग्रह को महत्व नहीं दिया। उसकी दृष्टि में मनुष्य के भीतर जो महान् आन्तरिक तत्व स्थिर भाव से बैठा हुआ है, वही चरम और परम है। लोभ-मोह, काम-क्रोध आदि विकार मनुष्य में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं, पर उनको प्रधान शक्ति मान लेना और अपने मन और बुद्धि को उन्हीं के इशारे पर छोड़ देना बहुत निकृष्ट आचरण है। भारतवर्ष ने कभी भी इनको महत्व नहीं दिया, इन्हें सदा संयम के बन्धन में बाँध कर रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु, भूख की उपेक्षा नहीं की जा सकती, बीमार के लिए दवा की उपेक्षा नहीं की जा सकती, गुमराह को ठीक रास्ते पर ले आने के उपायों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हुआ यह है कि इस देश के कोटि-कोटि दरिद्रजनों की हीन अवस्था को दूर करने के लिए ऐसे अनेक कायदे-कानून बनाये गये हैं जो कृषि, उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा और स्वास्थ्य की स्थिति को अधिक उन्नत और सुचारु बनाने के लक्ष्य से प्रेरित हैं। अपने-आप में यह लक्ष्य बहुत ही उत्तम है, परन्तु जिन लोगों को इन कार्यों में लगना है उनका मन सब समय पवित्र नहीं होता। प्रायः ही वे लक्ष्य को भूल जाते हैं और अपनी ही सुख-सुविधा की ओर ज्यादा ध्यान देने लगते हैं। व्यक्तिचित्त सब समय आदर्शों द्वारा चालित नहीं होता। जितने बड़े पैमाने पर इन क्षेत्रों में मनुष्य की उन्नति के विधान बनाये गये, उतनी ही मात्रा में लोभ-मोह जैसे विकार भी विस्तृत होते गये। लक्ष्य की बात भूल गयी। आदर्शों को मजाक का विषय बनाया गया और संयम को दकियानूसी मान लिया गया। परिणाम जो होना था वह हो रहा है। यह कुछ थोड़े-से लोगों के बढ़ते हुए लोभ का नतीजा है, किन्तु इससे भारतवर्ष के पुराने आदर्श और भी अधिक स्पष्ट रूप से महान् और उपयोगी दिखायी देने लगे हैं।

भारतवर्ष सदा कानून को धर्म के रूप में देखता आ रहा है। आज एकाएक कानून और धर्म में अन्तर कर दिया गया है। धर्म को धोखा नहीं दिया जा सकता। यही कारण है कि जो लोग धर्मभीरु हैं, रूढ़िग्रस्त हैं, वे कानून की त्रुटियों से लाभ उठाने में संकोच नहीं करते।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण खोजे जा सकते हैं कि समाज के उपरले स्तर में चाहे जो भी रहा हो, भीतर-भीतर भारतवर्ष अब भी यह अनुभव कर रहा है कि धर्म कानून से बड़ी चीज है। अब भी सेवा, ईमानदारी, सच्चाई और आध्यात्मिकता के मूल्य बने हुए हैं। ये दब अवश्य गये हैं, लेकिन नष्ट नहीं हुए। मनुष्य आज भी मनुष्य से प्रेम करता है, महिलाओं का सम्मान करता है, झूठ और चोरी को गलत समझता है, दूसरे को पीड़ा पहुँचाने को पाप समझता है और कठिनाई में पड़े हुए बेबस लोगों की सहायता करने में अपने को कृतकृत्य अनुभव करता है। हर आदमी अपने व्यक्तिगत जीवन में इस बात का अनुभव करता है। समाचार पत्रों में जो भ्रष्टाचार के प्रति इतना आक्रोश है, वह यही साबित करता है कि हम ऐसी चीजों को गलत समझते हैं और समाज से उन तत्वों की प्रतिष्ठा कम करना चाहते हैं जो गलत तरीके से धन या मान संग्रह करते हैं। दोषों का पर्दाफाश करना बुरी बात नहीं है। बुराई यह मालूम होती है कि किसी के आचरण के गलत पक्ष को उद्घाटित करते समय उसमें रस लिया जाता है और दोषोद्घाटन को एकमात्र कर्त्तव्य ही मान लिया जाता है। बुराई में रस लेना बुरी बात है, अच्छाई को उतना ही रस लेकर उजागर न करना और भी बुरी बात है। सैकड़ों घटनाएँ ऐसी घटती हैं जिन्हें उजागर करने से लोकचित्त में अच्छाई के प्रति अच्छी भावना जागती है।

मैं एक बार रेलवे स्टेशन पर टिकिट लेने गया। गलती से मैंने दस रुपये के बदले सौ रुपये का नोट दे दिया। टिकिट बाबू ने उस समय वह रुपया रख लिया। मुझे पता भी नहीं चला कि मैंने कितनी बड़ी गलती की है। मैं जल्दी-जल्दी गाड़ी में आकर बैठ गया। थोड़ी देर में टिकिट बाबू उन दिनों के सैकेण्ड क्लास के डिब्बे में हर आदमी का चेहरा पहचानता हुआ उपस्थित हुआ। उसने मुझे पहचान लिया

और वड़ी विनम्रता के साथ मेरे हाथ में नब्बे रुपये रख दिये और कहा, 'यह बहुत बड़ी गलती हो गयी थी। आपने भी नहीं देखा, मैंने भी नहीं देखा। उसके चेहरे पर विशेष सन्तोष की गरिमा थी। मैं चकित रह गया। कैसे कहूँ कि दुनिया से सच्चाई और ईमानदारी लुप्त हो गयी? ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं, परन्तु यही एक घटना ठगी और वंचना की अनेक घटनाओं से अधिक शक्तिशाली है।

एक बार मैं बस में यात्रा कर रहा था। मेरे साथ मेरी पत्नी और तीन बच्चे भी थे। बस में कुछ खराबी थी, जो रुक-रुक कर चलती थी। गन्तव्य से कोई पाँच मील पहले ही एक निर्जन (सुनसान) स्थान में बस ने जवाब दे दिया। रात के कोई दस बजे होंगे। बस के यात्री घबड़ा गये। कण्डक्टर ऊपर गया और एक साइकिल लेकर चलता बना। लोगों को सन्देह हो गया कि हमको धोखा दिया जा रहा है। बस में बैठे लोगों ने तरह-तरह की बातें शुरू कर दीं। किसी ने कहा, 'यहाँ डकैती होती है। दो दिन पहले इसी तरह एक बस को लूट लिया गया।" परिवार सहित अकेला मैं ही था। बच्चे 'पानी', 'पानी' चिल्ला रहे थे। पानी का कहीं ठिकाना नहीं था। ऊपर से आदमियों में डर समा गया था। कुछ नौजवान लोगों ने ड्राइवर को पकड़ कर मारने-पीटने का हिसाब बनाया। ड्राइवर के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। लोगों ने उसे पकड़ लिया। वह बड़े कातर ढंग से मेरी ओर देखने लगा, और बोला, "हम लोग बस का कोई उपाय कर रहे हैं, बचाइये, ये लोग मारेंगे।" डर तो मेरे मन में भी था, पर उसकी कातर मुद्रा देख कर मैंने और यात्रियों को समझाया कि मारना ठीक नहीं है। परन्तु यात्री इतना घबड़ा गये थे कि वे मेरी बात सुनने को तैयार नहीं हुए। वे लोग कहने लगे, 'इसकी बातों में मत आइए, धोखा दे रहा है। कण्डक्टर को पहले ही डाकुओं के यहाँ भेज दिया है।" मैं भी बहुत भयभीत था, पर ड्राइवर को किसी तरह मारपीट से बचाया। डेढ-दो घण्टे बीत गये। मेरे बच्चे खाना और पानी के लिए व्याकुल थे। मेरी और मेरी पत्नी की हालत बुरी थी। लोगों ने ड्राइवर को मारा तो नहीं, पर उसे बस से उतार कर एक जगह घेर कर रखा। कोई दुर्घटना होती है तो पहले ड्राइवर को समाप्त कर देना उन्हें उचित जान पड़ा। मेरे गिड़गिड़ाने का कोई विशेष असर नहीं पड़ा। इसी समय क्या देखता हूँ कि एक खाली बस चली आ रही है और उस पर हमारी बस का कण्डक्टर भी बैठा हुआ है। उसने आते ही कहा, 'अड्डे से नयी बस लाया हूँ, इस पर बैठिए। यह बस चलने लायक नहीं है। फिर मेरे पास एक लोटे में पानी और थोड़ा दूध लेकर आया और बोला, 'पण्डित जी! बच्चों का रोना मुझसे नहीं देखा गया। वहीं दूध मिल गया, थोड़ा लेता आया।' यात्रियों में फिर जान आयी। सबों ने उसे धन्यवाद दिया। ड्राइवर से माफी माँगी और बारह बजे से पहले ही सब लोग बस अड्डे पर पहुँच गये। कैसे कहूँ कि मनुष्यता एकदम समाप्त हो गयी। कैसे कहूँ कि लोगों में दया-माया रह ही नहीं गयी। जीवन में न जाने कितनी ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिन्हें मैं कभी भूल नहीं सकता।

ठगा भी गया हूँ, धोखा भी खाया है, परन्तु बहुत कम स्थलों पर विश्वासघात नाम की चीज़ मिली है। केवल उन्हीं बातों का हिसाब रखूँ जिनमें धोखा खाया है तो जीवन कष्टकर हो जायेगा। परन्तु ऐसी घटनाएँ बहुत कम नहीं हैं जहाँ लोगों ने अकारण सहायता की है, निराश मन को ढाढ़स दिया है और हिम्मत बँधाई है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक प्रार्थनागीत में भगवान् से प्रार्थना की थी कि 'संसार में केवल नुकसान ही उठाना पड़े, धोखा ही खाना पड़े तो ऐसे अवसरों पर भी हे प्रभो! ऐसी शक्ति दो कि मैं तुम्हारे ऊपर सन्देह न करूँ।'

संसारेते लभिले क्षति, पाइले सुधु वंचना
तोमाके जेन ना करि संशय।

मनुष्य की बनायी विधियाँ गलत नतीजे तक पहुँच रही हैं तो उन्हें बदलना होगा। वस्तुतः आये दिन इन्हें बदला ही जा रहा है। लेकिन अब भी आशा की ज्योति बुझी नहीं है। महान् भारतवर्ष को पाने की सम्भावना बनी हुई है, बनी रहेगी।

मेरे मन! निराश होने की जरूरत नहीं है।

●

राजयज्ञ

•

राजा महाविजित परलोक के लिए पुण्य कमाना चाहते थे। उन्होंने एक महायज्ञ करने का निश्चय करके अपने पुरोहित से कोई शुभ तिथि निश्चित करने को कहा। पुरोहित सोच-विचार कर बोला—'महाराज! मेरी सम्मति में तो यज्ञानुष्ठान के लिए अभी कोई अच्छा अवसर नहीं है। राज्य में चारो ओर अशांति है, नगर-ग्राम लुट रहे हैं। नागरिकों का न तो जीवन सुरक्षित है और न मानसम्मान, सारी प्रजा भय-त्रास से पीड़ित है, त्राहि-त्राहि मची है। ऐसी दशा में आपका महायज्ञ सफल न होगा।'

राजा ने कहा—'क्या आपका अभिप्राय यह है कि, चोर-डाकुओं के उपद्रव के कारण मेरे यज्ञ में विघ्न पड़ सकता है? मैं बड़ी कठोरता से उनका दमन करके इस पुण्य कार्य को शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न करूँगा।'

पुरोहित ने फिर निवेदन किया—'राजन्'। सम्भवतः आप यह सोच रहे हैं कि, कुछ लोगों को फाँसी देकर, कुछ को जेल भेजकर और कुछ को देश से निर्वासित करके अपराधों पर नियंत्रण कर लेंगे। पर इन उपायों से काम नहीं चलेगा। पुराने अपराधियों की जगह नये-नये अपराधी निकल आयेंगे। आप कहाँ तक, किसको-किसको दण्ड दीजिएगा?'

राजा ने चिन्तित और आतुर होकर पूछा—'तब क्या करना चाहिए?'

पुरोहित—'आप पहले अपराध के मूल को देखिये। वह है, बेकारी। लोगों के पास काम नहीं है, इससे गरीबी बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में अपराधों का बढ़ना स्वाभाविक है। आप इसके मूल को काट दीजिए। इसका उपाय यह है कि, जो लोग कृषि कार्य के उपयुक्त हों, उन्हें आवश्यकतानुसार अच्छे बीज, हल-बैल और खेत आदि दे दीजिए, जो लोग व्यापार के योग्य हों उनके लिए पूंजी की व्यवस्था कर दीजिए और जो लोग नौकरी कर सकें, उन्हें यथायोग्य कार्य दीजिए। इस प्रकार सब अपने-अपने काम में लग जाएँ, तो कोई उपद्रव क्यों करेगा? आप देखेंगे कि सब लोग मेहनत करके कमाएँगे और समय पर आपको 'कर' देंगे। इस उपाय से राज्य की समृद्धि और सभ्यता की भी वृद्धि होगी।'

राजा—'यह व्यवस्था तो यज्ञ के बाद भी हो सकती है? हमारा महायज्ञ पहले हो जाय, तब इस पर विचार करेंगे।'

पुरोहित—'महाराज! प्रजा यों ही पीड़ित एवं असन्तुष्ट है। आपके यज्ञ में तो और भी अनर्थ होगा।'

राजा—'क्यों?'

पुरोहित—'राजन्! महायज्ञ के लिए आपको धन की आवश्यकता होगी और आप उसके लिए गरीब प्रजा पर नये-नये 'कर' लगाएँगे। मेरी राय में तो परलोक को सुधारनेके पूर्व महाराज इह लोकको सुधारने का यत्न करें, तो श्रेयस्कर होगा। आपकी योजना शुद्ध होते हुए भी समयानुकूल नहीं है।'

राजा महाविजित पर पुरोहित की बातों का प्रभाव पड़ा। उन्होंने यज्ञ का विचार छोड़कर पहले जनता को सुधारने का संकल्प किया। किसानों को राज्य से कृषि-सम्बन्धी सुविधाएँ दी गयीं, जो लोग व्यवसाय करना चाहते थे, उन्हें राज्य से आर्थिक सहायता मिली और पढ़े-लिखे लोगों को उपयुक्त पदों पर नियुक्त किया गया।

परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय में सारे राष्ट्र का कायाकल्प हो गया। लोग सुखी एवं समृद्ध हो गये। कहीं अशांति का नाम न रहा। जनता हृदय से अपने राजा से प्रेम करने लगी। इसके उपरान्त राजा महाविजित ने जनता से यज्ञ के विषय में सम्मति ली। सबने बड़े उत्साह से महाराज को महायज्ञ करने की सलाह दी।

[शेष पृष्ठ १३ पर]

जीवन बोझ है या उत्सव ?

श्री गुणवन्त शाह

●

भगवान् कृष्ण को पूर्णावतार माना जाता है इस बात का रहस्य अभी समझ में नहीं आया है। एक बात जरूर समझ में आती है कि जीवन का स्वीकार कृष्ण ने पूरी समग्रता के साथ किया था। जीवन को जैसा है वैसा स्वीकार करना थोड़ा मुश्किल होता है। कृष्ण ने जीवन की अखिलता को परम सहजता से स्वीकार किया और उसको अभिवादन किया। जीवन के साथ ऐसे सहज आलिंगन के परिणामस्वरूप कृष्ण का स्मरण जनसामान्य के हृदय में एक अनोखी प्रसन्नता की संवेदना जगा देता है।

कहते हैं कि ईसा मसीह जीवन में कभी भी हँसे नहीं थे। ईसा महान् योगी थे। कृष्ण को भी योगेश्वर कहा जाता है। किसीने भी योगेश्वर को नाचते, कूदते, रास रचाते; वंशी बजाते देखा है ? कृष्ण योगेश्वर थे पर कैसे अनोखे ? गोपियों के साथ तन्मय होकर नाचे। गोपियों को जिस सहजता से उन्होंने स्वीकारा उसी सहजता से कुब्जा को भी स्वीकार किया। कृष्ण की खूबी इस सहज-स्वीकार में ही निहित है। हमें इस सहज-स्वीकार का गोपीवाला पूर्वार्ध समझ में आता है कारण यह कि ऐसा करने की शक्ति और वृत्ति हमारे अन्दर है ऐसा हम मान कर बैठे हैं। सहज-स्वीकार का उत्तरार्ध हमें बहुत ही अवांछित लगता है। कृष्ण की सोलह हजार रानियाँ थीं। सोलह हजार रानियों के पति को योगेश्वर कहने की चेष्टा का रहस्य यहीं छिपा है। आदमी एक पत्नी को भी पूरी सहजता से स्वीकार करता है क्या ? दो पत्नी के पति के जीवन में एक साथ दो स्टेशन झेलते रेडियो का बेसुरापन देखने को मिलता है। कृष्ण पूर्ण रूप से प्रसन्न थे। गीता में (दूसरे अध्याय में) उन्होंने प्रसन्नता (प्रसाद) को बहुत महत्व दिया है।

पश्चिम के युवक कृष्ण की ओर आकर्षित होते हैं। कारण यह कि आज के युवक को भगवान् भी गम्भीर नहीं खपता। भगवान् को उपदेशक के रूप में स्वीकार करने को वे तैयार नहीं हैं। आज का युवक जल्दी से 'बोर' (ऊबना) हो जाता है। उन्हें चाहता है हँसता नाचता, प्रसन्नता से भरा संगीत प्रवाहित करता 'स्मार्ट' भगवान्। बहुत से लोग बालकृष्ण को भजते हैं। आज का युवक युवा कृष्ण का आराधक है।

हमारे जीवन में से धीरे-धीरे नृत्य अदृश्य होता गया है। सदियों से आदमी नाचता रहा है। किसी भी देश या राज्य का सांस्कृतिक कार्यक्रम नृत्य बिना देखा है ? नृत्य जीवन का एक अंग था। नृत्य घटता गया है और हृदय-रोग बढ़ता जा रहा है। भविष्य में कोई अनुसन्धान नृत्य और कोलेस्ट्राल का सम्बन्ध ढूंढ निकाले तो कोई नयी बात नहीं होगी ? स्टेज पर आदिवासी नृत्य देख कर हम हर्षित होते हैं इसका कारण है। जो हमारे जीवन में से अदृश्य हो गया है, उसे स्टेज पर देख कर खुश होना ही तो बच रहा है। नृत्य के प्रति जीवन की अनुरक्ति विदा हो चुकी है। हृदय जीवन का यह बोझ उठा नहीं सकता अतः हारकर बन्द हो जाता है। टीला चढ़ती ट्रक की भाँति हमारी गति घटती है और पेट्रोल ज्यादा जलता है। बोझ बढ़ता रहता है। किसी सुप्रीम कोर्ट के जज के लिए नाचना सहज हो सकता है क्या ? कैसी विचित्र बात है ? ईसा के अनुयायियों ने अभी नृत्य को तिलांजलि नहीं दी है, पर कृष्ण के भक्तों ने नाचना छोड़ दिया है। सुधरे हुए हिन्दू नवरात्रि में थोड़े खुलते हैं, पर वह भी बड़े अंश में बहनें ही। विचारणीय बात है। किसी को खुलते देखने में भी कैसी प्रसन्नता होती है ? जब किसी और को खुलते देखने में इतना आनन्द आता है तो स्वयं खुलने में कितना आनन्द मिलेगा ? हिन्दू धर्म की एक खूबी थी। इसमें नृत्य को भी मन्दिरों के साथ, आराधना के साथ, भक्ति के साथ जोड़ लिया गया है। नृत्य खो जाने की चेष्टा

है। नृत्य घड़ी भर के लिये मिट जाने की कला है। कोई प्राध्यापक, कोई प्रधान, कोई डाक्टर नृत्य द्वारा घड़ी भर को मिट जाय तो उसका स्टेटस क्या था? उसे मिट जाने के लिये भी शराब चाहिये। नाइट-क्लबों के अन्धकार में वे मिट जाने के लिये टटोलते हैं लेकिन स्टेज पर का उजाला उनका पल्ला नहीं छोड़ता।

मथुरा के सामने से गुजरती डीलक्स ट्रेन में से भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाभूमि के दर्शन होते हैं। सिर पर दूध की मटकी ले कर जाती हुई स्त्रियों का पहिनावा भी गुजरात की मरवाडण (ग्वालिन) जैसा ही है। कुछ पलों के लिए वहाँ काठियावाड़ खड़ा हो जाता है। कृष्ण यहाँ से भाग कर काठियावाड़ गये थे।

कृष्ण जहाँ भी जायें वहाँ गोकुल। गोकुल माने प्रसन्नता। गोकुलाष्टमी माने जीवन में से अदृश्य हो रही प्रसन्नता को बचा लेने का उत्सव। जीवन कोई बोझ नहीं है, उत्सव है, इस बातकी याद दिलानेका यह त्योंहार है। गोकुलाष्टमी माने शब्दों के कारागार में बंदी बने समाजवाद को मुक्त करने का महोत्सव। सबको गोकुल जाना अच्छा लगता है पर नदी पार करने की ताकत कहाँ है? वासुदेव को अब कैद रास आ गयी है।

विनोबा जी ने अनेक वर्षों पूर्व 'जीवनदृष्टि' नामक एक मजेदार पुस्तक लिखी थी। इसमें उन्होंने कृष्ण के जीवन की विशिष्टताएँ बहुत ही मौलिक ढंग से वर्णित की हैं। राममनोहर लोहिया भी कृष्ण के जीवन पर बहुत बार मस्ती से बोलते थे। सच्चे अर्थ में कृष्ण एक समाजवादी नेता थे। उन्होंने अर्जुन का सारथीपद स्वीकार किया यह उस जमाने में ऐसी वैसी बात नहीं थी। आज का कौन सा प्रधान 'शोफर' बनने को तैयार होगा? शायद तैयार हो भी जाय तो इसमें कोई और बात नहीं आवेगी। कृष्ण ने उस जमाने में जूठी पत्तलें उठायीं। प्रधान की तो बात ही छोड़िये, सामूहिक भोज सम्पन्न होने के बाद कोई क्लर्क भी यह काम करने को तैयार होगा क्या? महाभारत का युद्ध हो रहा था तब सन्ध्या होने पर कृष्ण नित्य तबेले में घोड़ों को खिलाने, उनके घाव साफ करने जाते थे। इन छोटे-छोटे कामों में क्या रहस्य है कि उसे योगेश्वर करें? इसमें उनकी 'डिग्निटी' कहाँ रह पायेगी?

गोपालकृष्ण समाजवाद के प्रतीक जैसे दिखते हैं। भारत का ग्वाला ऊपर उठेगा तब गरीबी घट गयी होगी। गाँव का मक्खन गोकुल की गोपियाँ पैसे के लोभ में शहर ले जाती थीं। कृष्ण ने इसके विरुद्ध मटकी फोड़ने का सत्याग्रह किया। उनका वाद्य भी समाजवादी है। एकदम कम खर्च में, आसानी से तैयार हो सके ऐसा ग्राम-सुलभ वाद्य दूसरा कौन सा हो सकता है? आज भी संसार में बाँसुरी से सस्ता वाद्य ढूंढना शेष है। गाँव के भूमिपुत्रों को इसे बजाना अपने आप ही आ जाता है। बाँसुरी बजाना सिखाने के लिए कक्षायें नहीं चलानी पड़तीं। इसमें से जीवन के सुर सहजता से बहने लगते हैं। उनका आभूषण भी ऐसा ही सस्ता। मोर मुकुट माने बिना खर्च का गहना। गाँव के निम्न से निम्न आदमी को मिल सके ऐसी चीजों की महिमा उन्होंने बढ़ायी। सुदामा गरीबी से ऊबकर, पत्नी के दबाव से द्वारका जाने को चले तब कृष्ण को अच्छी लगती चीज में चावल लिये। कृष्ण को पकवान ही प्रिय होते तो सुदामा की फजीहत ही होती न। कृष्ण दौड़कर सुदामा से भेंटे। गरीब या गरीबी का ऐसा सहज आलिंगन सामान्य धनवान के लिए बहुत शक्य नहीं है। द्रुपद के दरबार में द्रोण की कैसी दुर्गति हुई थी?

कृष्ण ने सुदामा का सहज स्वीकार किया, कारण यह कि उन्होंने समग्र जीवन का सहज स्वीकार किया था। कृष्ण की खूबी जीवन के ऐसे परम स्वीकार में थी।

●

नामी कोई बगैर मशक्कत नहीं हुआ, सौ बार जब अकीक कटा, तब नगीं हुआ

—अनाम

श्री भंवरमल सिंघी अभिनन्दन समारोह

९ अगस्त, '९८४ ई०। सबेरे से ही लेक गार्डेन स्थित सिंघीजी के भवन में विवाह समारोह जैसी हलचल मची हुई थी। श्रीमती सुशीला सिंघी जो हमेशा अस्वस्थ और चिड़-चिड़े शक्ल की लगती थीं, आज उनकी आकृति सद्य: प्रस्फुटित गुलाब की तरह खिल गयी थी। वे अतिथियों को जलपान कराने के बाद सभी को लेकर अपने द्वारा संचालित स्कूल 'परिवारकी' में आयीं जहाँ पहले से ही समारोह का लघु आयोजन किया गया था। स्कूल की प्रधानाध्यापिका श्रीमती चित्रा सेन ने अतिथियों का आगे बढ़कर स्वागत किया।

इस अवसर पर तिलक, माला, उत्तरीय पहनाकर श्री भंवरमल सिंघी का उलूक ध्वनि के साथ अभिनन्दन किया गया। नन्हीं-नन्हीं वालिकाओं ने स्वागत-गान के पश्चात् महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रसिद्ध गीत नाट्य 'वर्षा मंगल' का अभिनय किया।

अध्यापिकाओं तथा वालक-वालिकाओं ने अपने संरक्षक सिंघीजी को अनेक उपहार भेंट दिये। जलपान का दिव्य प्रवन्ध किया गया था, पर वाहर मूसलधार वृष्टि होने के कारण लोग परेशान थे।

समारोह में सर्वश्री सिद्धराज ढड्ढा, मोहनलाल गुप्त, विश्वनाथ मुखर्जी, विश्वनाथ उपाध्याय ने भाषण दिये। भंवरमल सिंघी ने प्रत्युत्तर में घोषणा की कि इस प्रकार के सांस्कृतिक आयोजन में माइक की आवश्यकता होती है। मैं अपनी ओर से स्कूल को माइक आदि दूँगा।

दिन भर भयंकर वर्षा होती रही। वाहर से आये अतिथि और दर्शक चिंतित थे कि शाम का कार्यक्रम लुण्ड हो जायगा। सहसा चार वजे पानी बन्द हो गया। पिछले तीन माह से श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल इस समारोह के लिए श्रम करती रहीं। सहयोगियों में सर्वश्री अशोक सेकसरिया, शिशिर कुमार गुप्त और कमल किशोर गोयनका थे।

मंचसज्जा अतुलनीय थी। सप्त दशकों की जीवन-यात्रा का तीन टुकड़ों में फ्लैप, पीछे सात केले के खम्भे और कुशासन पर 'श्री भंवरमल सिंघी अभिनन्दन समारोह' का साइनवोर्ड लगाया गया था। श्रीमती प्रतिभाजी दिन भर कलात्मक कुर्सियों के संग्रह करने के पीछे परेशान थीं। जिन लोगों ने उन कुर्सियों की डिजाइनें देखीं, वे उनकी रुचि की दाद देते रहे। अध्यक्ष थे—प्रसिद्ध गांधीवादी नेता श्री पी० सी० सेन और मुख्य अतिथि श्रीअज्ञेय। अगर चुनाव की दृष्टि से माना जाय तो श्री सेन सिंघीजी के गांधीवाद के प्रतीक थे। श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका उनकी सामाजिक सेवा, अज्ञेयजी साहित्य सेवा, गोविन्द केजरीवाल पत्रकारिता, नन्दकुमार जालान मारवाड़ी समाज, तरुण राय नाटक, विश्वनाथ उपाध्याय जेल-जीवन और सिद्धराज ढड्ढा उनके सुधारवादी पक्ष, प्रोफेसर कल्याणमल तथा प्रभाकर माचवे शिक्षा के प्रतीक थे। इन सभी सत्कर्मों से सिंघीजी गुजर चुके हैं।

इस अवसर पर सर्वप्रथम यजुर्वेद के 'जीवेम शरदः शतम्' का पाठ अनामिका की ओर से श्रीमती यामा सर्राफ ने किया। माल्यार्पण के समय अध्यक्ष सेन महाशय इतने भावविभोर हो गये कि माला लानेवाले के हाथ से छीनकर स्वयं अपने हाथ से सिंघीजी को पहनायी। इसके बाद संपादकों की ओर से कमल किशोर गोयनका ने आयोजन पर प्रकाश डाला। कार्यक्रम का संचालन श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल कर रही थीं। दिन भर कार्यरत रहने के बाद भी वे इतनी उत्साह से भरी हुई थीं कि कहीं से थकावट के चिन्ह नजर नहीं आ रहे थे। इस अवसर पर प्रकाशित 'भंवरमल सिंघी सप्त दशकों की जीवन यात्रा' नामक अभिनन्दन ग्रंथ अज्ञेयजी ने सिंघीजी को भेंट किया।

गोयनकाजी के वक्तव्य के बाद भाषणों का सिलसिला प्रारंभ हुआ। सर्वप्रथम प्रोफेसर कल्याणमल लोढ़ा ने सिंघीजी के साहित्यिक अवदानों की चर्चा की। इसके बाद समिति के अध्यक्ष श्री भगवती प्रसाद खेतान तथा श्री प्रभुदयाल हिम्मत-सिंहका के भाषण हुए। तत्पश्चात् सर्वश्री प्रभाकर माचवे,
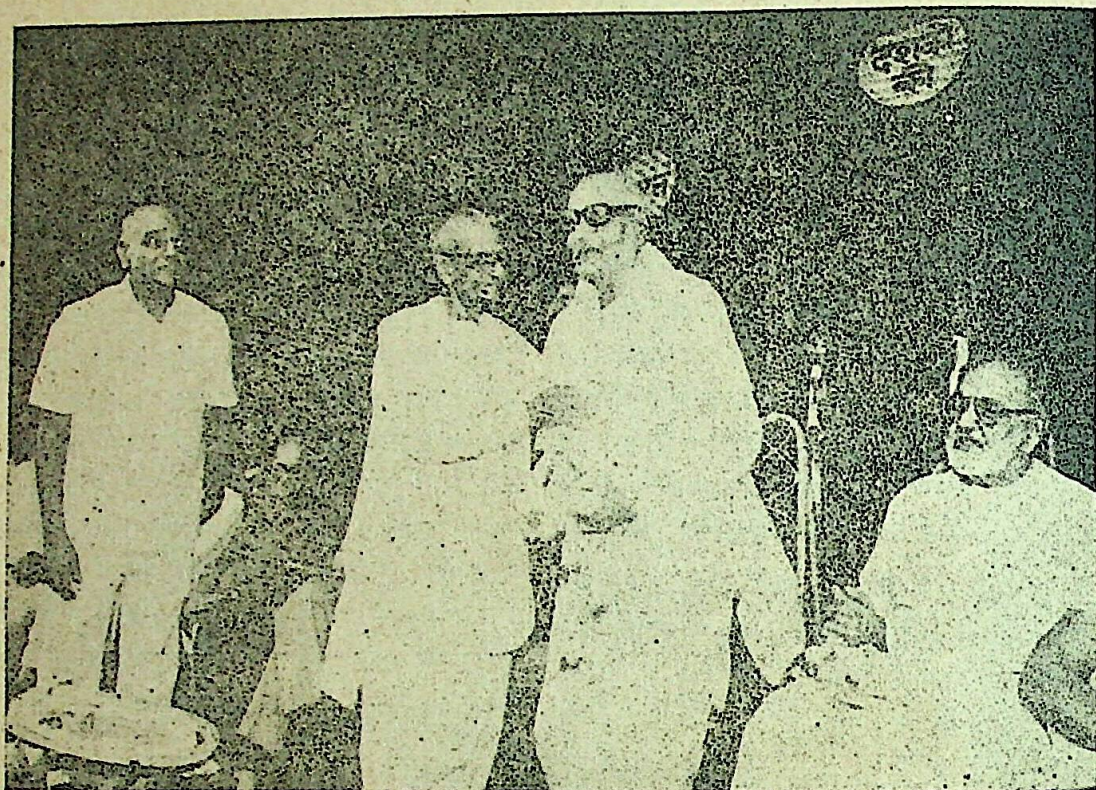
श्री भंवरमल सिंघी का अभिनन्दन करते हुए श्री पी. सी. सेन
उपस्थित श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

तरुण राय (धनंजय वैरागी), विश्वनाथ उपाध्याय, नन्द किशोर जालान कन्हैयालाल सेठिया, गोविन्द प्रसाद केजरीवाल, कृष्णचन्द्र अग्रवाल, सिद्धराज ढड्ढा, मोहनलाल गुप्त और विश्वनाथ मुखर्जी ने अपने विचार प्रकट किये। इसके बाद मुख्य अतिथि के पद से श्री अज्ञेयजी ने सारगर्भित भाषण दिया। एकाएक जब सिंघीजी का नाम लिया गया तब जनता की ओर से आवाज आयी—'पहले सुशीलाजी कुछ बोलें।'

प्रतिभाजी ने हँसकर कहा—'कार्यक्रम में उनका नाम नहीं है, पर आपके अनुरोध पर सुशीलाजी को बुला रही हूँ।'

श्रीमती सुशीला सिंघी के पश्चात् श्री भंवरमल सिंघी ने अनेक अछूती घटनाओं का जिक्र करते हुए सर्व श्री वसन्त लाल मुरारका, रामकुमार भुवालका, सीताराम सेकसरिया, भागीरथ कानोड़िया, मूलचन्द्र अग्रवाल, मोहन सिंह सेंगर आदि गुरुजनों के प्रति आभार प्रकट किया कि उनके कारण मैं इतना योग्य बन सका। अपने अध्यक्षीय भाषण में श्रद्धेय सेन महाशय ने सिंघीजी के कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अन्त में श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल ने धन्यवाद दिया।

कार्यक्रम कला मन्दिर के हाल में हुआ था और अन्त तक हाल भरा था। लौटते समय बड़े-बूढ़े इस बात की चर्चा करते रहे कि आज कलकत्ते के एक गुमनाम समाजसेवी का वास्तविक अभिनन्दन हुआ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सिंघीजी का अभिनन्दन ग्रंथ अन्य अभिनन्दन ग्रंथों से भिन्न और पठनीय है। इस बृहत् समारोह को सफल बनाने में डॉ० प्रतिभा अग्रवाल तथा उनके सहयोगियों ने अथक परिश्रम किया था।

जापानी धर्म-भावना

डॉ० बदरीनाथ कपूर

अनेक स्थलों पर पढ़ा-सुना है कि जापान के लोग नास्तिक हैं और उनमें धार्मिक आचारों के प्रति झुकाव नहीं है। परन्तु इस वक्तव्य को आंशिक सत्य के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। कारण? ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ही नहीं, राजनीतिक और भौतिक दृष्टि से भी जापान एक ऐसा विलक्षण देश है जिसमें आगुन्तक जो कुछ देखना-ढूंढ़ना चाहता है, वह उसे मिल जाता है। जैसे जापान एक अलग दुनिया है वैसे ही जापान में भी अपनी एक अलग दुनिया—तरह-तरह के लोगों की अपनी अलग दुनिया—होती है और उस दुनिया से इतर जो कुछ होता है उसको प्रायः अनदेखा किया जाता है।

एक बौद्ध मन्दिर में बौद्ध पुजारी के साथ लेखक

अभी कल की बात है। १३ अगस्त से १६ अगस्त तक ओ-बोन उत्सव मनाया गया। प्रायः सभी औद्योगिक संस्थानों तथा कार्यालयों में इन दिनों छुट्टी रहती है। प्रायः सभी लोग अपने-अपने गाँव-देहातों में जाते हैं। कहा जाता है कि इन दिनों पूर्वजों की आत्माएँ लौटकर आती हैं और उनसे आशीर्वाद-प्राप्ति का सुयोग मिलता है। प्रायः इन्हीं दिनों भारत में पितृपक्ष सम्बन्धी कार्यकलाप चलते हैं और अमावस्या को पितृविसर्जन किया जाता है। जापानी परम्परा कुछ भारतीय परम्परा जैसी ही प्रतीत होती है। उन्हीं दिनों घूमते-फिरते हम लोग स्थानीय बौद्ध मन्दिर सनरोड (अंग्रेजी नाम है) के पास से निकल रहे थे। मन्दिर के प्रांगण में नगाड़े पर थाप दी जा रही थी और सारी की सारी भीड़ गोल बनाए हुए नगाड़े की थापों पर झूमती, नाचती और गाती हुई परिक्रमा कर रही थी। हम मन्त्रमुग्ध होकर यह दृश्य देख रहे थे और यह भी देख रहे थे कि सुन्दर और रंग-बिरंगे कपड़े पहने हुए बच्चे, युवा और बूढ़े बराबर चले आ रहे हैं और उस आनन्द-धारा में समाते चले जा रहे हैं। आनन्दातिरेक की इस घड़ी में पुण्य आत्माओं का आगमन और दर्शन असम्भव तो नहीं! देवता यदि ऐसे अवसरों पर पुष्पवर्षा नहीं करते होंगे तो कब करते होंगे।
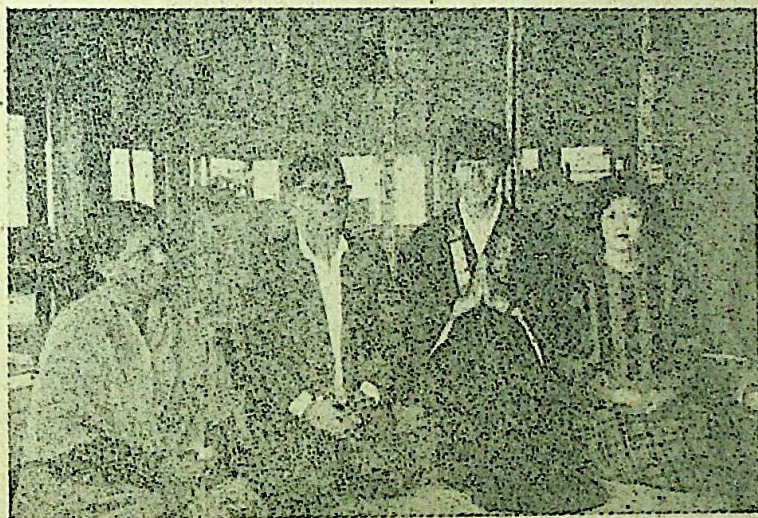
विदेशियों को जापानी घरों में जाने के अवसर कम ही मिलते हैं। इसके अनेक कारण हैं—घरों का छोटा होना, दूरी अधिक होना, व्यस्तता अधिक होना आदि। अतः प्रत्यक्ष रूप से तो कुछ देखना सम्भव नहीं परन्तु दूरदर्शन के माध्यम से अनेक अवसरों पर देखा है कि दिया जलाने के समय घरों में स्थापित देवस्थानों पर दीये जलाए जाते हैं तथा मंत्रों, सूत्रों आदि का पाठ भी होता है।

अनेक अवसरों पर शोभा-यात्राएँ भी देखी हैं जिनमें विभिन्न मतों के अनुयायी एक जैसे वस्त्र धारण किये हुए रथ और पालकियाँ कंधों पर उठाए जयघोष करते जाते हैं। हर मन्दिर या श्राइन में समय-समय पर या वार्षिक उत्सव होते हैं जहाँ श्रद्धालुओं की बहुतायत देखी जाती है।

यहाँ के प्रमुख धर्म शिंतों और बौद्ध ही हैं जब कि अब ईसाइयों ने भी काफी हाथ-पाँव फैला लिये हैं और फैलाते चल रहे हैं। टोक्यों में ही अब इनके सैकड़ों गिरजे हैं जहाँ हर रविवार को वे इकट्ठे होते हैं। शिंतों और बौद्ध अवलम्बियों का ऐसा कोई साप्ताहिक या मासिक नियत कार्यक्रम नहीं होता। सम्भवतः इसलिए भी ईसाई मिशनरियों ने जापानियों को नास्तिक घोषित किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। दूसरे आज के इस व्यस्तता के युग में जापानियों के पास इतना समय ही कहाँ है कि वे पूजा-पाठ भी करें और देवालयों का चक्कर भी लगाएँ। हर जापानी को सुबह छह-सात बजे तक उठना पड़ता है। एक-दो घण्टे की यात्रा करके ठीक समय पर फैक्टरी या दफ्तर पहुँचना पड़ता है। प्रायः हर जापानी अपने बँधे समय से कुछ अधिक ही अपने काम को करता है। वह काम को देवता मानता है और आज की समृद्धि इसी देवता के प्रति प्रणति का फल है। यह समर्पण कर्तव्य के प्रति समर्पण, राष्ट्रहित के प्रति समर्पण धर्म भावना नहीं है ?

जापानियों जैसी कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी, विनम्रता और सहिष्णुता अन्य राष्ट्रवासियों में नहीं है। पति बौद्ध है तो पत्नी ईसाई, माँ शिन्तो धर्म की माननेवाली है तो पिता नास्तिक है। लेकिन सब मिलकर रहते हैं, कोई समस्या नहीं। क्या यह उच्च धर्मभावना नहीं ? जो लोग धर्म और सम्प्रदाय, मत और मतान्तर की दुहाई देकर हिंसा-हत्या में लिप्त होते हैं यदि आप उन्हें ही धार्मिक मानते हों तो मानें। वे धर्म के नाम से जीते हैं इसलिए धर्मी हैं और जो धर्मों की विषमताओं के बीच समता और समानता, सहिष्णुता और सहयोग को प्रतिष्ठित करते हैं वे आदर्श धर्मी कहलाने के हकदार हैं। जापानी आदर्श धर्मी हैं।

बौद्ध और शिंतों धर्मियों को यहाँ अलग-अलग करना सम्भव नहीं। घर में बच्चे के जन्म पर हर जापानी परिवार श्राईन (शिंतो देवालय) में जाता है और किसी के स्वर्ग सिधारने पर बौद्ध मन्दिर की शरण लेता है। शिंतों यहाँ का प्राचीन धर्म है ईसापूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी का। जापानी सम्राट् इसी धर्म का प्रतिनिधि माना जाता है। वर्तमान सम्राट् परम्परा ईसापूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी से अविच्छिन्न चली आ रही है। यह मुख्यतया सूर्य देव के आराधक हैं। वैसे इनके अस्सी हजार से ऊपर ही देवी-देवता हैं। शिंतों देवालयों में मुख्य रूप से गोल शीशे (और तलवार तथा रत्न) की पूजा की जाती है। शीशा सम्भवतः सूर्य का ही प्रतीक है। कोई भी इन देवालयों में जा सकता है। पुजारी आपके लिए विशेष प्रार्थना करेगा। आप पर से दुष्ट आत्माओं की छाया दूर करने के लिए कागज की कतरनों से बनी चौरी घुमाएगा। आपको चीनी, चाय, टाफी और साके (जापानी पवित्र शराब) का प्रसाद भी देगा। सामान्यतः हर व्यक्ति वर्ष आरम्भ में किसी-न-किसी प्रसिद्ध श्राईन में अवश्य जाता है। ऐसी प्रथा सी बन गई है।

कामाकुरा के महाबुद्ध

बौद्ध मंदिरों की भी यहाँ कमी नहीं है। बौद्धधर्म का जापान में पदार्पण सन् ५३४ में हुआ था। बहुत जल्दी इसकी महत्ता का विस्तार हुआ। आठवीं शताब्दी में इसने एक तरह से शिंतो धर्म को आत्मसात् कर लिया और जापान का मुख्य राजधर्म बन गया। उन दिनों नारा जापान की राजधानी थी। वहाँ इस धर्म के अवलंबियों ने अनेक बड़े-बड़े मंदिर स्थापित कर लिये। शक्ति बढ़ने के साथ-साथ इस धर्म के कर्णधारों ने अपनी सेना भी गठित की। एक बौद्ध पुजारी तो इतना शक्तिशाली भी हुआ कि उसने अपने को सम्राट घोषित कर दिया। परन्तु राज-परम्परा किसी तरह बच गई। सम्राट् ने नारा राजधानी को छोड़ दिया। आगे चलकर इस बुद्ध सेना के दो वर्ग बन गए। गृहयुद्ध के दिनों में इनमें से एक एक पक्ष की सहायता करता तो दूसरा दूसरे पक्ष की। शक्तिप्राप्ति के साथ साथ व्यभिचार भी खूब पनपा। १६वीं शताब्दी में सेनापति नोबुनागा ने इन आतंकवादी बौद्धों का सफाया किया। उसने कहा : 'यदि मैं इस विपदा को समूल नष्ट नहीं करता हूँ तो यह कभी नष्ट होनेवाली नहीं। ये पुजारी अपनी प्रतिज्ञाओं का भी पालन नहीं करते। ये मछली खाते हैं, भाँग पीते हैं, रखेलियाँ रखते हैं और कभी धार्मिक पुस्तकों को पलटते तक नहीं। ये कैसे बुराइयों से हमें बचा सकते हैं, कैसे सत्य की रक्षा कर सकते हैं? इनको घेर लो, इनके मंदिरों को जला दो, एक भी बचकर न निकलने पाए।'

सैकड़ों मंदिर जला दिए गए। हजारों पुजारियों को मार डाला गया। परन्तु बौद्ध धर्म अब भी जीवित है। इसकी अनेक स्थानीय शाखाएँ-प्रशाखाएँ अब भी जोर-शोर से धर्मप्रचार में जापान में ही नहीं, विश्व के अन्य हिस्सों में भी लगी हैं।

बौद्ध लोग बुद्ध-सूत्रों का पाठ करते हैं, माला से जप करते हैं। श्रद्धालु फल चढ़ाते हैं। मैं एक बौद्ध मंदिर में—योकोहामा में—गया था। सौभाग्य से मैंने उस समय भगवान बुद्ध की एक ३५० वर्ष पुरानी लकड़ी की बड़ी मूर्ति के दर्शन किये। हर बारहवें वर्ष (चूहा वर्ष में) एक महीने के लिए इस मूर्ति के दर्शनों का सौभाग्य मिलता है। कामाकुरा में एक बौद्ध मंदिर में देखा कि जो बच्चे गर्भ में ही मर जाते हैं उनकी आत्मा की शांति के लिए विशेष आराधना होती है। यहाँ लाखों बाल-पिंड बने हुए हैं। हर बौद्ध-मंदिर में एक कक्ष रहता है जिसमें मृत व्यक्ति की अस्थियाँ रखी रहती हैं और उनकी आत्मा की शांति के लिए नित्य प्रार्थना भी होती है।

जापानी धर्मी हैं, और सच्चे दिल से धर्मी हैं।

●

[पृष्ठ ६ का शेषांश]

शुभ समय पर यज्ञ आरम्भ हुआ। राजा का कोष पहले ही भरा था। न कोई नया 'कर' लगाया गया और न किसी पर किसी प्रकार का दबाव डाला गया। फिर भी सब स्वेच्छा से लोकप्रिय राजा के यज्ञ में सहयोग देने को आतुर थे। भेंट-स्वरूप लोग गुड़, घी, दूध, दही आदि यज्ञ-सामग्री लेकर नियत समय पर उपस्थित हुए। धनी लोग स्वर्ण-रत्न की भेंट लेकर आये।

राजा महाविजित ने सबका यथोचित सत्कार करके कहा—इस महायज्ञ के लिए सबकी शुभकामना ही बहुत है। इस शुभ अवसर पर यदि आप लोग अपने-अपने धन क सद्व्यय करना ही चाहते हैं, तो मेरी राय यह है कि, इसी धन से यज्ञमण्डप के समीप लूले-लँगड़ों और अनाथों के लिए एक आश्रम बनवा दिया जाय।'

धनिकों ने इस प्रस्ताव को बड़े हर्ष से स्वीकार किया। राजा का यज्ञ धूम-धाम से सम्पन्न हो गया और यज्ञशाला के पास शीघ्र ही शरणार्थियों का एक सुन्दर आश्रम भी बनकर तैयार हो गया।

●

भंवरमल सिंघी—

सात दशकों की जीवनयात्रा

सम्पादक—श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल एवं श्री कमल किशोर गोयनका

हिन्दी में आजकल अभिनन्दन ग्रंथों की बाढ़ आ गयी है। योग्य और अयोग्य व्यक्तियों के अभिनन्दन ग्रंथ या स्मारिकाएँ प्रकाशित होती हैं। इनमें मंत्री से लेकर संतरी तक की शुभकामनाएँ तथा अभिनन्दित के कार्यकलापों की प्रशंसा रहती है। ऐसे अभिनन्दन ग्रंथों में शुभकामना भेजनेवाले अपना छपा मैटर देखकर ग्रंथ को आलमारी में और स्मारिकाओं को कूड़े में फेंक देते हैं। बहुत कम अभिनन्दन ग्रंथ ऐसे प्रकाशित हुए हैं जिन्हें संदर्भ ग्रंथ के रूप में संजोकर रखने की या बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है।

प्रस्तुत ग्रंथ इन सारे दोषों से मुक्त है। सबसे बड़ी खूबी इसके नाम में है—'सात दशकों की जीवन-यात्रा।' यह अभिनन्दन ग्रंथ नहीं, बल्कि उनके जीवन के सत्तर वर्षों की यात्रा का वर्णन है। ग्रंथ का यह नाम रखने में संपादकों ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। कुल ५८ पृष्ठों में श्री भंवरमल सिंघी का जीवन-परिचय है। सरल, मँजी हुई भाषा में इस प्रकार की जीवनी लिखना सरल कार्य नहीं है। सिंघीजी की जीवनी पढ़ने के बाद मुझे एक कहानी याद आ गयी।

वैदिक काल में आर्य लोग सरस्वती नदी के किनारे रहते थे। सरस्वती के पूर्वी भूभाग को वे वर्जित प्रदेश समझते थे। फलतः न तो वे आगे आते थे और न किसी को जाने देते थे। ठीक इसी समय विदेह माधव ने विद्रोह किया और नौजवानों की टोली लेकर वह आगे बढ़ा। गण्डक नदी के आगे जाने की हिम्मत उसे नहीं हुई। अगर वह विद्रोह करके तत्कालीन नौजवानों में साहस न भरता, रास्ता न दिखाता तो आर्य लोग उत्तर प्रदेश से बर्मा तक न फैल पाते।

ठीक इसी प्रकार युवा सिंघीजी के विद्रोह ने मारवाड़ी-समाज को नयी दिशा दिखायी। वे अनेक युवकों के आदर्श बने। उन्होंने बालविधवा सुशीलाजी से विवाह करके समाज को चुनौती दी। समाज-सुधार के नाम पर लाठियों की मार खायी, अनेक अपमान सहे। फिर भी अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। अपने घर में कई विधवाओं का विधवा-विवाह कराया। इस कार्य में उन्हें सहयोग मिलता रहा—सर्वश्री सीताराम सेकसरिया, भागीरथ कानोड़िया, बसन्तलाल मुरारका, प्रभुदयाल हिम्मत सिंहका जैसे समाज-सुधारकों का। केवल यही नहीं, 'वसुधैव कुटुम्बम्' के अनुसार उन्होंने अपनी एक लड़की बंगाली को और एक जायसवाल को दी। पुत्रवधू बंगाली लाकर रूढ़ीवादी समाज को मान दिया। साहित्य के क्षेत्र में आपकी देन कम नहीं है। इस दृष्टि से सिंघीजी 'युग-पुरुष' हैं और नवयुवकों को प्रेरणा देने वाले साधक।

इस ग्रंथ को शुभकामनाओं और अग्रजों के आशीर्वादों से बचाकर पूर्ण रूप से पठनीय बनाया गया है। जहाँ तक संस्मरणों का सवाल है संस्मरण बहुत ही सीमित और अन्तरंग लोगों के हैं। इस ग्रंथ में सिंघीजी की जेल डायरी लाजवाब है। लगता है, सिंघीजी का भी भरपूर सहयोग मिला है। सिंघीजी की प्रथम पुस्तक की भूमिका रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखी है। महात्मा गांधी का आशीर्वाद और जयप्रकाश नारायण जी के पत्रों के ब्लाक छापे गये हैं। इससे सिंघीजी को गहराई से समझा जाता है कि वे मूल्यवान सामग्रियों को सजोकर रखते आये हैं। ग्रंथ में सिंघीजी के विभिन्न विषयों पर लिखे गये लेखों का संकलन है। सभी लेख पठनीय हैं। पुस्तक के अन्त में सिंघीजी द्वारा अब तक लिखे गये लेखों की क्रमवार सूची दी गयी है। अगर सिंघीजी चाहते तो इन सभी का संकलन छपवा सकते थे।

ग्रंथ की छपाई, साज-सज्जा बहुत ही उत्तम है। आत्म-प्रचार वाले चित्रों को न छापकर संपादकों ने अपनी सूझबूझ का परिचय दिया है। निस्सन्देह ग्रंथ पठनीय और संग्रहणीय है। इसके लिए संपादकद्वय साधुवाद के पात्र हैं। श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल को हम अभीतक रंगमंच से जुड़ी लेखिका समझते रहे, पर इस ग्रंथ के संपादन को देखकर उनकी प्रतिभा का लोहा मानने को हम बाध्य हैं।

स्वर्ग-सुख का मूल

('देवीभागवत' की एक कथा का सरल-संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर)

लक्ष्मी, सरस्वती और गंगा—तीनों ही तब भगवान् विष्णु के साथ स्वर्ग में निवास करती थीं एक दिन जब वे भगवान् विष्णु के पास बैठी थीं। तो गंगा रह-रह कर नारायण के प्रति कटाक्ष-विक्षेप करने लगीं। कुछ देर के लिए तो नारायण विस्मय में पड़ गये। फिर गंगा की ओर देखकर वे भी मुस्करा पड़े।

सरस्वती गंगा की अतिशय प्रसन्न मुद्रा को बड़े ध्यान से देख रही थीं। उन्होंने गंगा और विष्णु की यह प्रेम-क्रिया भी देख ली। नारी-सुलभ ईर्ष्या प्रज्ज्वलित हो उठी और उनके धैर्य का बाँध टूट गया। स्वभावतः ही वे गंगा पर क्रुद्ध हो गयीं। लक्ष्मी की नजरों से यह सारा व्यापार छिपा नहीं रहा। उन्होंने बड़े सरल-सहज ढंग से सरस्वती को समझाने की चेष्टा की, परन्तु क्रोध के आवेग में कौन सुनता है? फिर ईर्ष्या-जनित क्रोध इतनी जल्दी शान्त भी तो नहीं होता। सरस्वती पर लक्ष्मी की बातों का कोई असर नहीं हुआ। उनके नेत्र रक्तवर्ण हो गये, उनका शरीर काँपने लगा और उनके होंठ मारे क्रोध के फड़फड़ाने लगे।

क्रोध से काँपती, वे भगवान् विष्णु से बोलीं—'स्वामी, सज्जन एवं धार्मिक पति का कर्तव्य है कि, वह सभी भार्याओं को समान दृष्टि से देखे। गंगा के प्रति आपका यह प्रणय निश्चय ही पक्षपातपूर्ण है। लक्ष्मी के प्रति भी आपका स्नेह कुछ कम नहीं है। केवल मैं ही एक हूँ, जिसे आपका अत्यल्प स्नेह प्राप्त है। लक्ष्मी के प्रति आपका विशेष अनुराग है, अतः उसे आपका विपरीत आचरण भी सह्य है। किन्तु मैं किस आधार पर मौन रहूँ। जो मनीषीगण आपको सत्वगुण का अधिष्ठाता कहते हैं, वे नितान्त मूर्ख हैं। वे वस्तुतः आपकी मनोवृत्ति भली प्रकार समझ ही नहीं पाये।'

सरस्वती को क्रुद्ध देखकर भगवान् विष्णु मौन ही वहाँ से उठकर बाहर चले गये। सरस्वती तब कठोर स्वर में गंगा से बोलीं—'निर्लज्ज, तुझे स्वामी के स्नेह का गर्व है। तभी तू अन्धी होकर असमय में ही अपने स्वामी के साथ प्रणय जताती है। पर आज मैं तेरा सारा दर्प चूर्ण कर दूँगी। देखूँ, हरि मेरा क्या कर लेते हैं।'

रुष्टा सरस्वती गंगा के केश पकड़ कर खींचने के लिए उद्यत हुई। लक्ष्मी ने यह अनर्थ होते देखा, तो बीच में आ गयीं और सरस्वती के क्रोध को शान्त करने की चेष्टा करने लगीं।

पर क्रोधांध व्यक्ति ऐसे अवसरों पर और भी विवेक खो बैठता है। सरस्वती लक्ष्मी से रुष्ट तो थीं ही—अब उनका विवेक भी साथ छोड़ बैठा। वाणी में आग डालती वे लक्ष्मी को शाप दे बैठीं—'पद्मे, गंगा के अन्यायपूर्ण आचरण को देखकर भी, तुम पक्षपातवश जड़-भाव से खड़ी रही। ऊपर से मेरे काम में भी व्यर्थ ही विघ्न डालती हो। अतः मैं शाप देती हूँ कि शीघ्र ही तुम्हें यह शरीर त्यागकर वृक्ष और सरिता का रूप धारण करना होगा।'

लक्ष्मी सरस्वती के इस शाप को सुनकर भी शान्त रहीं। उनके होठों पर प्रेम भरी मुस्कान उसी भाँति नृत्य करती रही, पर गंगा अपना धैर्य खो बैठीं। वे दुःख-संतप्त स्वर में बोलीं—'पद्मे, तुम इस दुष्ट-स्वभावा को छोड़ दो। यह दुःशीला है। वाक् की अधिष्ठात्री होने से सदा कलह ही किया करती है। किन्तु आज इसने औचित्य की सीमा का उल्लंघन किया है—इसने तुम्हें शाप दिया है। मैं इसे क्षमा नहीं कर सकती। मैं इसे शाप देती हूँ कि, इस गर्वीली और कर्कशा औरत को मर्त्यलोक में जाना पड़ेगा। वहाँ यह सरिता का रूप धारण कर, पापियों का पाप ग्रहण करेगी।'

गंगा के मुख से शाप सुन कर सरस्वती ने भी तत्काल गंगा को शाप दिया—'तब तू भी मेरी ही तरह मृत्युलोक में जाकर पापियों का पाप अपने आंचल में भरेगी।'

तभी वहाँ भगवान् आ गये। शाप की बात ज्ञात हुई, तो वे लक्ष्मी से बोले—"पद्मे, तुम अंश-रूप में धर्मध्वज राजा के घर अयोनिसम्भवा कन्या के रूप में जन्म लोगी। वहाँ भाग्य के दोष से तुम्हें वृक्ष-रूप धारण करना होगा। तुम तब त्रैलोक्यपावनी तुलसी के नाम से विख्यात होगी। शाप के फलस्वरूप तुम्हें अंश-रूप में सरिता का भी रूप धारण करना होगा। अपने इस रूप में तुम पद्मावती के नाम से विख्यात होगी।"

"गंगे, तुम्हें भी मर्त्यलोक में नदी के रूप में जन्म लेना होगा। तुम भागीरथी के नाम से विख्यात होगी और मेरे अंश से उत्पन्न राजा शान्तनु तुम्हारे पति होंगे। बाद में, तुम पूर्णरूपेण शिव के पास निवास करोगी।

"और, भारती।" भगवान् सरस्वती से बोले—"तुम्हें" भी मर्त्यलोक में जन्म लेना होगा। फिर तुम पूर्ण रूप से ब्रह्म-सदन में जाकर ब्रह्मा की पत्नी बनोगी।

"लक्ष्मी बहुत शान्त प्रकृति और सात्विक विचारों की है। वह भक्तिपरायणा भी है। अतः वह कहीं भी रहेगी, मेरे निकट ही रहेगी।

"वस्तुतः पद्मा के समान नारियाँ विरले ही मिलती हैं। इसी से जो नारियाँ पद्मा का अंश लेकर जन्म लेती हैं, उनका सर्वदा सर्वत्र आदर होता है। उन्हें कहीं भी कदापि भर्त्सना नहीं मिलती।"

अपनी तीनों पत्नियों को शाप का फल बताने के बाद भगवान् फिर बोले—

तिस्रो भार्यास्त्रिशीलाश्च त्रयो भृत्याश्च बांधवाः।
ध्रुवं वेदविरुद्धाश्च न ह्येते मंगलप्रदाः॥
स्त्री पुंवच्च गृहे येषां गृहीणां स्त्रीवशः पुमान्।
निष्फलं च जन्म तेषामशुभं च पदे पदे॥
मुखे दुष्टा योनिदुष्टा यस्य स्त्री कलहप्रिया।
अरण्यं तेन गन्तव्यं महारण्यं गृहाद्वरम्।
जलानां च स्थलानां च फलानां प्राप्तिरेव च।

—"तीन भार्या, तीन भृत्य अथवा तीन बाँधव का एकत्र बैठना निषिद्ध और वेदविरुद्ध है, क्योंकि तीन जन कभी एक स्वभाव के नहीं हो सकते। अतः तीन जनों का एक साथ निवास मंगलदायक नहीं है। जिस घर में पुरुष स्त्री के वशीभूत है, पग-पग पर उसे अशुभ का ही दर्शन होता है। जिसकी पत्नी कटुभाषिणी तथा कलहप्रिय हो, उसके लिए निविड़ वन में चला जाना ही श्रेष्ठ है। ऐसे व्यक्ति के लिए घर की अपेक्षा वन ही अधिक सुखकर होता है। घर तो वही भरा-पूरा हो सकता है, जहाँ पद्मा-जैसी शान्त-प्रकृति सात्त्विक विचारों वाली और भक्तिपरायणा गृहणी का वास हो। ऐसे घर और ऐसी गृहिणी को पाने वाला वस्तुतः बड़ा भाग्यशाली है। उसे प्राप्त होने वाले सुख के सामने तो स्वर्ग में उपलब्ध होने वाला महासुख भी तुच्छ है।"

●

प्रेम में अलगाव नहीं

दुर्गम पथ पर अपनी अंजुली फूलों से भरे भिक्षुणी बढ़ी चली जा रही थी। उसकी दृष्टि बचाकर अंजुली से एकाध पंखुरी जहाँ भी नीचे गिर जाती, धरती धन्य-धन्य हो जाती, पर्वत मुस्करा उठते। भिक्षुणी ने मौन खड़े एक भिक्षु के चरणों में वह अंजुली उंडेल दी और अत्यंत श्रद्धा से नतमस्तक हो गयी। भिक्षु भिक्षुणी को अवाक् देखता रह गया, और अचानक सहमकर बोला, यह क्या कर रही हो?'

भिक्षुणी का अकम्पित उत्तर था, 'मैंने भगवान बदल दिये हैं।' 'परन्तु तुम मेरा रास्ता कैसे बदल सकती हो?'—भिक्षु उत्तेजित था 'नहीं भगवन्, भिक्षुणी उसी स्थिर स्वर में बोली, मैं तो दोनों रास्ते एक कर रही हूँ। प्रेम में अलगाव होता ही नहीं।'

●

सेना का केन्द्रबिंदु

श्री हरिन्द्र दवे

•

कृष्ण का दूतकार्य पूरा हुआ। अब शान्ति की कोई सम्भावना नहीं है। 'जाति-संहार' निवारण की कोई सम्भावना नहीं रही है। युद्ध की तैयारी ही तो अब सबके लिए बच रही है। पाण्डवों के शिविर में जब सेनापति कौन हो इस बाबत चर्चा चल रही है, तब युधिष्ठिर कहते हैं :

एष नो विजये मूलमेष तात विपर्यये।
अत्र प्राणश्च राज्यं च भावाभावौ सुखासुखे ॥
(उद्योग. १४९;३५)

हे तात, (भीम ने शिखण्डी को सेनापति नियुक्त करने की बात की, उसके बाद युधिष्ठिर ये शब्द उसे अर्थात् भीम को सम्बोधित करके कहते हैं) कृष्ण ही हमारी विजय या पराजय के मूलाधार हैं। हमारे प्राण, हमारा राज्य, हमारे भाव-अभाव तथा हमारे सुख-असुख कृष्ण में ही प्रतिष्ठित हुए हैं।

कृष्ण में पाण्डवों का समर्पणभाव इस हद तक दृढ़ हुआ है। इसी से अब जब सेनापति कौन बने इसकी चर्चा में रात बीतने आयी है, तब कृष्ण जिसका नाम बतायें वही हमारा सेनापति हो ऐसी भावना युधिष्ठिर व्यक्त करते हैं। दुर्योधन अन्य लोगों के आश्रय से युद्ध करता है। पाण्डव कृष्ण के आश्रय में युद्ध में प्रवृत्त हैं। दुर्योधन ने जिनका सहारा लिया है उनमें से कोई भी युद्ध करने या युद्ध टालने को दृढ़ संकल्प नहीं है। लेकिन कृष्ण तो युद्ध-निवारण के तमाम प्रयत्न कर चुके हैं। अतः पाण्डव कृष्ण के आश्रय मेंहोकर पाण्डवभी कृष्ण की तरह निष्कलंक इस युद्ध में प्रवेश करते हैं।

युधिष्ठिर पूर्व-अनुभव से जानते हैं कि कृष्ण की सम्मति बिना कोई कार्य सफल नहीं होता। इसी से वे सेनापति पद पर कौन होना चाहिये इसकी चर्चा में रात बीत जाय इसकी अपेक्षा कृष्ण ही इसका निराकरण प्रस्तुत करें यह चाहते हैं।

दुर्योधन के पक्ष में तो युद्ध की तैयारी की शुरुआत ही पक्ष को निर्बल करनेवाले संकेतों से होती है। कृष्ण की सन्धिवार्ता विफल होने के बाद भी 'जाति-संहार' की सम्भावना से काँप उठते धृतराष्ट्र दुर्योधन को समझाने का एक प्रयत्न किये बिना नहीं रह पाते। वे दुर्योधन जिस आकांक्षा पर युद्ध की इमारत खड़ी करता है उसी को पाये में से हटा लेने की इच्छा करते हैं, वे कहते हैं :

मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि,
(उद्योग. १४७;३०)

मैं ही जिस राज्य का हिस्सेदार नहीं हूं, उस राज्य की तू कैसे अभिलाषा करता है ?

यह राज्य पांडु का है और उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्रों का है, यह बात एक बार फिर से धृतराष्ट्र स्वयं कहते हैं, पर व्यर्थ।

सेनापति पद किसे देना यह दुविधा दुर्योधन के लिए नहीं है। भीष्म कुल के बुजुर्ग हैं, इतना ही नहीं, योद्धाओं में भी प्रमुख हैं। भीष्म का पाण्डवों के लिए शुभ अभिगम आरम्भ से ही सर्वविदित है। इसी से वे सेनापति पद स्वीकार करते हैं, तब कहते हैं : यह अहंभावी कर्ण या तो शुरू में लड़े, या तो मैं आरम्भ में लड़ूं। कर्ण के उफान को तोड़ने का क्या यह सहेतुक प्रयास था ? या फिर राजवंशी होने के अभिमान के कारण सूत पुत्र की तरफ की हिकारत यहाँ व्यक्त हो रही थी ?

युधिष्ठिर सेना के सात भाग करके इनके सात सेनापति नियुक्त करते हैं। इनमें द्रुपद, विराट, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, शिखण्डी और मगधराज सहदेव हैं। राजसूय से पहले कृष्ण-अर्जुन-भीम ने गिरिव्रज जाकर जरासंध की हत्या की थी; पर जरासंध का पुत्र पाण्डवों की ओर से लड़ता है ? इतना ही नहीं, पाण्डवों का एक सेनापति भी है। इन सबमें

सम्पूर्ण सेनाओं के सेनापति के रूप में धृष्टद्युम्न को रक्खा जाता है। अर्जुन इन सब सेनापतियों का पति है, और—

अर्जुनस्यापि नेता च संयन्ता चैव वाजिनाम्।
संकर्षणानुजः श्रीमान् महाबुद्धिर्जनार्दनः॥
(उद्योग. १५४;१४)

पर इस अर्जुन का नेता कौन है? अर्जुन और उसके अश्वों दोनों को काबू में रखनेवाला सारथि है संकर्षण—बलराम के अनुज श्रीमान् महाबुद्धि जनार्दन।

थोड़े से शब्दों में महाकवि कृष्ण के लिए कितना कुछ कह देते हैं! वे अर्जुन के नेता हैं, इतना ही नहीं, उसके अश्वों को वश में रखनेवाले हैं। इन्द्रियों के लिए भी अश्व शब्द का प्रयोग होता है। अर्जुन को वे समग्ररूप से वश में रखनेवाले हैं। और फिर उन्हें तीन विशेषण दिये गये हैं; संकर्षण के भाई; बलराम का प्रताप कितना रहा होगा, इसका ख्याल इस विशेषण से आता है, श्रीमान्—श्री जिसके पास है ऐसे और महाबुद्धि—बुद्धि में जिनका जोड़ा नहीं है ऐसे जनार्दन कृष्ण।

पाण्डवों की सेना के सिरमौर हैं श्रीकृष्ण, फिर अर्जुन, फिर धृष्टद्युम्न, फिर अन्य छ सेनापति। पाण्डवों की सैन्य-रचना सुश्लिष्ट है। ऐसे असंख्य महारथी साथ हैं, जबकि दुर्योधन की छावनी में या तो भीष्म लड़ें, या कर्ण, ऐसी परिस्थिति युद्ध हो उससे पहले ही बन जाती है।

ऐसे महाभारत युद्ध में जब विविध प्रतापी पुरुष दो पक्षों में बँट गये थे, तब कोई तटस्थ भी रहा था क्या?

एक तो बलराम तटस्थ रहे थे। दुर्योधन, कृष्ण की नारायणी सेना प्राप्त करके प्रसन्न हुआ था। अर्जुन ने 'अयुद्धमानः'—युद्ध न करनेवाले कृष्ण को पसन्द किया था। जब अर्जुन ने यह पसन्दगी की तभी बलराम के लिए दुविधा उत्पन्नहो गयी थी। बलराम का समभाव दुर्योधनके लिए था। यह बात बलराम छिपाते नहीं। युद्ध के लिए उत्सुक पाण्डवों की छावनी में बलराम आते हैं, तब बात की शुरुआत ही 'यह कृष्ण मेरा कहा नहीं मानता' जैसे शब्दों से करते हैं: 'तथ्यं मे नाकरोद् वाक्यं त्वदर्थे मधुसूदनः'—'आपका (पाण्डवों) होकर, कृष्ण कौरव-पाण्डवों दोनों के साथ समान व्यवहार करने की मेरी बात नहीं मानता' ऐसी फरियाद करने के बावजूद कृष्ण पाण्डवों के पक्ष में हैं तब—

ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति मे निश्चिता मतिः।
तथा ह्यभिनिवेशोऽयं वासुदेवस्य भारत॥
(उद्योग. १५४;३०)

पाण्डवों की विजय निश्चित है, ऐसा मैं मानता हूँ, कारण यह कि कृष्ण ऐसा ही चाहते हैं।

पाण्डव जीतेंगे, पाण्डव पराक्रमी हैं, पर सामने के पक्ष में भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, किसी का भी पराक्रम कम नहीं है। पर पाण्डव जीतें यह कृष्ण का अभिनिवेश है; कृष्ण चाहते हैं कि पाण्डव जीतें इसलिए पाण्डव जीतेंगे।

बलराम कृष्ण के विरुद्ध नहीं होना चाहते और दुर्योधन अपना प्रियपात्र शिष्य होने के कारण कृष्ण के साथ रह नहीं सकते। इसी से युद्ध में भाग नहीं लेते।

कृष्ण के लिए निर्व्याज प्रेम के कारण बलराम युद्ध से दूर रहते हैं तो भीष्मक का पुत्र रुक्मी निर्व्याज अहंकार के कारण युद्ध से दूर रहता है। वह दोनों पक्षों से कहता है: आपको गरज हो तो मैं आपकी सहायता करूँ, मैं अकेला आपको विजय दिलाने में समर्थ हूँ।

निर्व्याज प्रेम और निर्व्याज अहंकार—ये दोनों इस युद्ध से दूर रहे।

महाकवि व्यास परिस्थिति का निरूपण करते हैं, तब पूरी नाट्यात्मकता से निरूपित करते हैं। अपनी युद्धखोरी प्रगट करने मात्र से दुर्योधन को सन्तोष नहीं हुआ है। वह तो पाण्डवों पर बोली-ठोली मारना चाहता है। पाण्डव अब यहाँ तक पहुँचकर किसी कारणवश युद्ध का विचार त्याग दें तो, ऐसी आशंका ही दुर्योधन के मन में रही होगी। इस कारण वह उलूक को पाण्डवों के शिविर में भेजकर पाण्डवों को अपमानित करनेवाला सन्देश भेजता है। पाण्डवों को उनकी प्रतिज्ञा याद दिलवाता है। विराट नगर में भीम रसोइये के रूप में और अर्जुन बृहन्नला के रूप में रहे थे इस बात की याद दिलाकर दुर्योधन पाण्डवों को ललकारता है। कृष्ण पाण्डवों के साथ है इस बात का उसे बिलकुल ही भय नहीं है, इस बात को स्पष्ट करते हुए वह कहता है:

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युध्यस्व सह केशवः॥
(उद्योग. १५८;३४)

यह राज्य अब वासुदेव के भय से या अर्जुन के भय से मैं वापस नहीं लौटाऊँगा, अतः हे अर्जुन, अब कृष्ण को साथ लेकर लड़ने को तैयार हो जा। दुर्योधन की यह शेखी कहाँ तक पहुँचती है? वह कहता है: जिसका बाण कभी व्यर्थ नहीं जाता, ऐसे मेरे सामने सहस्र वासुदेव और 'शतानि' (सैंकड़ों) अर्जुन दश दिशा में भाग जायँगे। अभिमान में औचित्य नहीं रहता, अतः अपने प्रहार से सैंकड़ों अर्जुन दूर भागेंगे यह कहने के साथ ही हजारों वासुदेव भी दूर भागेंगे ऐसा कहकर कृष्ण को अर्जुन से भी नीचे उतरते चित्रित करने की चेष्टा करता है।

उलूक के ये शब्द पाण्डवों को सुलगा देते हैं: कारण यह कि इनमें द्यूतसभा, द्रौपदी की विवशता, भीम की प्रतिज्ञा, विराट नगर का गुप्तवेश—सब याद करके दुर्योधन ने वाक् प्रहार किया था। पाण्डव क्रोध में आकर कुछ कहें इससे पहले कृष्ण उन्हें रोक कर कहते हैं:

श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत्ते तथास्तु तत्।
(उद्योग. १५९;६)

कृष्ण उलूक से कहते हैं: तू दुर्योधन से जाकर कहना, कि तेरी बात हमने सुनी। उसका अर्थ ग्रहण किया। तेरा जैसा मत है, वैसा ही होगा।

दुर्योधन युद्ध चाहता है, वह विजय नहीं चाहता। इसी से तो कृष्ण दुर्योधन के इस मत को 'तथास्तु' कहने से हिचकते नहीं। इतनी उग्र, कडुवी, वक्रोक्ति भरी वाणी के अन्त में कृष्ण कहते हैं—'तथास्तु'—अर्थात् कि ठीक है ऐसा ही हो। बोली-ठोली के बहाने दुर्योधन पाण्डवों के पौरुष को ललकारता है, पर अब पाण्डवों का पौरुष उसका उत्तम उत्तर देगा ही।

कृष्ण बहुत कम अवसरों पर अपने बारे में कोई बात कहते हैं, पर यहाँ कहते हैं: यदि तू (दुर्योधन) यह मानता हो कि कृष्ण मात्र पाण्डवों के सारथि ही हैं तो तूं भूल करता है। मैं सारथि अवश्य हूँ पर कैसा:

यद्युत्पतसि लोकांस्त्रीन् यद्याविशसि भूतलम्।
तत्र तत्रार्जुनरथं प्रभाते द्रक्ष्यसेऽग्रतः॥
(उद्योग. १५९;११)

तू भले ही त्रिलोक को लाँघ जा, या पृथ्वी के तल में प्रविष्ट हो जा, तो भी अगली सुबह जिस स्थान पर तू होगा उसके आगे (अग्रभाग में) अर्जुन का रथ देखेगा।

कृष्ण अर्जुन के सारथि हैं, उसका यह प्रताप है।

दुर्योधन भीष्म को आगे बढ़ाता है, तब भीष्म फिर एक बार कर्ण का अपमान करते हैं। भीष्म कौरवों के रथियों, महारथियों आदि की गिनती करते हैं तब कर्ण को अर्धरथी गिनाते हैं। इतने सारे योद्धाओं के समक्ष अपना यह 'तेजोवध' कर्ण सहन नहीं कर पाता। दुर्योधन के पक्ष में इस तरह पहले से ही फूट पड़ जाती है। पर वही भीष्म जब पाण्डवों के बल का वर्णन दुर्योधन के समक्ष करने बैठते हैं तो कहते हैं:

लोहिताक्षो गुडाकेशो नारायणसहायवान्।
उभयोः सेनयोर्वीराः रथी नास्तीह तादृशः॥
(उद्योग. १६६;२८)

लोहिताक्ष—लाल आँखोंवाला अर्जुन: एक तो अर्जुन स्वयं कोपायमान हो तब कितना दुःसह होगा? और फिर उसमें 'नारायण-सहायवान्'—उसकी सहायतार्थ नारायण है, कृष्ण हैं।

आधे चरण में ही अर्जुन का यह वर्णन करने के बाद, भीष्म उसी साँस में कहते: दोनों सेनाओं में अनेक वीर हैं, पर उसके जैसा रथी दूसरा कोई नहीं है।

इसके साथ ही भीष्म के मुख से, दुर्योधन की पराजय का, भवितव्य, युद्ध शुरू होने से पहले ही कहाकवि कहलाते हैं। वे दो बाते सामने रखते हैं:

स हि स्त्रीपूर्वको राजन् शिखंडी यदि ते श्रुतः।
कन्या भूत्वा पुमान् जातो न योत्स्ये तेन भारत॥
(उद्योग, १६९; २०)

हे दुर्योधन, तुमने सुना ही होगा कि शिखंडी पहले स्त्री था, फिर वह पुरुष हो गया। उसके साथ मैं युद्ध नहीं करूँगा।

एक बात भीष्म ये कहते हैं। फिर दूसरी बात कहते हैं—

सर्वांस्त्वन्यान्हनिष्यामि पार्थिवान्भरतर्षभ।
यान्समेष्यामि समरे न तु कुन्तीसुतान्नृप॥
(उद्योग, १६९; २१)

इसके अलावा अन्य सभी राजाओं को मैं मारूँगा, पर कुंती के पुत्रों को मैं नहीं मार सकूँगा।

भीष्म जिन्होंने परशुराम जैसे श्रेष्ठवीर को हंफा डाला था, वे पांडुपुत्रोंके समक्ष पीछे हटेंगे ऐसी तर्कहीन बात व्यास नहीं कहते। पर भीष्म कुंतीपुत्रों को मारना ही नहीं चाहते।

दुर्योधन इन दोनों की बाबत कारण पूछता है तब भीष्म की चतुराई देखने योग्य है। वे शिखंडी की हत्या क्यों नहीं करेंगे इस बाबत वे एक लंबी कथा कहते हैं। इस कथा में सब रमे हुए हैं तब वे कुन्तीपुत्रों को क्यों नहीं मारेंगे यह बात चुपके से टाल जाते हैं।

युद्ध के लिये जब दोनों सेनाएँ तैयार हैं, तब दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, कर्ण आदि से पूछता है कि आप लोग कितने समय में पांडवों की सेना का नाश कर सकते हैं? भीष्म और द्रोण एक एक महीना कहते हैं, कृपाचार्य दो महीने कहते हैं, अश्वत्थामा 'दसरात' में स्वयं यह सिद्ध कर सकता है ऐसा कहता है। कर्ण कहता है: मैं यह केवल पाँच रात में सिद्ध कर सकता हूँ।

अर्जुन से युधिष्ठिर ऐसा ही प्रश्न पूछता है तब अर्जुन का उत्तर सुन्दर है। कृष्ण की सहायता है तो निमष मात्र में मैं इस कौरवसेना का संहार कर सकने में समर्थ हूँ।

इनमें से प्रत्येक की समय मर्यादा की बाबत बहुत गहरी मीमासा की जा सकती है: पर अर्जुन की कृष्ण के प्रति श्रद्धा उसे 'निमेषमात्र' यह शब्द कहने को प्रेरित करती है। जो 'निमित्तमात्र' बन सकता है वही 'निमेषमात्र' में दुर्योधन की सेना के संहार की बात कह सकता है। अर्जुन के अभिगम में और दुर्योधन के वीरों के अभिगम में विद्यमान प्रमुख अंतर यह है कि दुर्योधन के पास वीरत्व की कमी नहीं है, पर कृष्ण कहीं नहीं है। इधर युधिष्ठिर की सेना में भी वीरत्व की कमी नहीं है, पर कृष्ण की उपस्थिति इस वीरत्व की वृद्धि करती है। इसी से उद्योगपर्व के अंत में जब युधिष्ठिर की समग्र सेना का वर्णन हुआ है, तब उसमें सभी वीरों की बात तो है ही, पर साथ ही महाकवि व्यास वर्णन करते हैं:

अन्वयातां ततो मध्ये वासुदेवधनंजयौ।
(उद्योग १९७; १५)

और इस सेना के मध्य में है वासुदेव तथा धनंजय।

कृष्ण युद्ध तक पहुँची इस समूची परिस्थिति में शांति के हिमायती रहे, धर्म के पुरस्कर्ता रहे, और युद्ध के लिये तत्पर रहे। क्या ये संयोग ही 'यतो कृष्णस्ततो जयः' का उद्घोष नहीं करते?

सैन्य कितना है इसकी महिमा नहीं है, सेना के केन्द्र में कौन है इसकी महिमा है। दुर्योधन की सेना के केन्द्र में भीष्म कर्ण के बीच का विवाद है। पांडवों के सैन्य का नाश करने के वास्ते की क्षमता का भिन्न-भिन्न वीरों के भिन्न-भिन्न परिमाण हैं। युधिष्ठिर की सेना के बीच में दो कृष्ण हैं: एक कृष्ण वासुदेव और दूसरा कृष्ण धनंजय।

(अनु० डॉ० भानुशंकर मेहता)

(क्रमशः)

•

मैंने गरीब की झोपड़ी के दर्शन किये। वहाँ एक माता बच्चे को दूध पिला रही थी। थोड़ी देर बाद उसने बच्चे का चुम्बन लिया और उसे सुला दिया। फिर कल की बासी रोटी लेकर खाने बैठी। इतने में एक अन्धा बच्चा भीख माँगते हुए उस वृद्धा के द्वार पहुँचा। बुढ़िया ने वह रोटी उस अन्धे बच्चे को दे दी और स्वयं सो रही।

मैंने देखा, वह बुढ़िया नहीं सो रही थी, साक्षात् करुणा ही सो रही थी।

—खलील जिब्रान

•

स्वामी विवेकानन्द के अतीन्द्रिय अनुभव

श्री रतनलाल जोशी

स्कूल में पढ़ते समय एक रात को मैं द्वार वन्द कर ध्यान करते-करत अन्तर्लीन हो गया। कितनी देर तक ऐसी तन्मयता से ध्यान करता रहा था, कह नहीं सकता। किन्तु जव ध्यान भंग हुआ तव क्या देखता हूँ कि दक्षिण दीवाल को भेदकर एक ज्योतिर्मय मूर्ति निकल आयी है और मेरे सामने खड़ी है। उसके मुख पर अद्भुत ज्योति थी, पर भाव मानो कोई भी न था—प्रशान्त संन्यासी-मूर्ति का मस्तक मुण्डित था और उसके हाथों में दण्ड-कमण्डल थे। मेरे ऊपर टकटकी लगाकर कुछ समय तक वह देखती रही, मानो मुझसे कुछ कहेगी। मैं भी अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगा। तत्पश्चात् मन कुछ ऐसा भयभीत हो गया कि मैं शीघ्र ही द्वार खोलकर वाहर निकल भागा। लेकिन वाद में वड़ा पछतावा हुआ क्योंकि मैं निरे मूर्ख के समान उस ज्योतिर्मय मूर्ति से डरकर बाहर भाग आया। सम्भव था कि वह कुछ मुझसे कहती। परन्तु प्रयत्न करने पर भी फिर उस मूर्ति के दर्शन मुझे नहीं हुए। कितने ही दिन मनन और ध्यान किया और संकल्प किया कि यदि फिर उसके दर्शन मिलें तो मैं उससे डरूँगा नहीं, वरन् वार्तालाप करूँगा। किन्तु फिर दर्शन का सौभाग्य मुझे नहीं मिल सका।

१८९८ का फरवरी मास। बेलूरमठ के स्वामी विवेकानन्द अपने शिष्यों से घिरे बैठे हैं और उनके अनुरोध से अपने जीवन की कुछ अलौकिक घटनाएँ सुना रहे हैं। यह घटना उस समय की है जब वह स्कूल में छात्र थे।

थोड़ी देर तक चारों ओर मौन छा गया। पर मौन भंग करते हुए एक शिष्य ने स्वामीजी से पूछा :

'उस मूर्ति के बारे में आपका क्या खयाल है ? किस देवता ने आपको इस प्रकार दर्शन दिए होंगे ?'

स्वामीजी—'हाँ, मैंने काफी सोचा था, किन्तु तब कोई ओर-छोर नहीं मिल पाया था। तब ऐसा अनुमान होता है कि साक्षात् भगवान बुद्धदेव ने ही मुझे दर्शन दिए थे !'

कुछ रुककर स्वामीजी फिर वोले—'मन के शुद्ध होने पर अर्थात् मन की तृष्णा और वासना के शान्त हो जाने पर ऐसे कितने ही दिव्य दर्शन होते हैं। वे दर्शन वड़े ही अद्भुत होते हैं, परन्तु उन पर ही पूरा ध्यान केन्द्रस्थ कर देना श्रेयस्कर नहीं। रात-दिन उनमें ही मन के रंगे रहने से साधक अपनी मंजिल पर और आगे नहीं वढ़ सकता। सिर्फ चमत्कारों में खोकर रह जाता है और ये चमत्कार अन्तिम साध्य नहीं हैं। आत्मा का साक्षात करना ही हमारा उचित मन्तव्य है।'

'.........देखो', जब मैं अमरीका में था, तव भी मुझमें अद्भुत शक्तियों का स्फुरण हुआ करता था। क्षणमात्र में मैं मनुष्य की आँखों से उसके मन के सब भावों को जान जाता था। किसीके मन में कोई कैसी ही वात क्यों न हो, वह सब मेरे सामने प्रत्यक्ष हो जाती थी। कभी किसी-किसी से अनायास ही उसके मन की गोप्य बातें कह भी दिया करता था। जिन-जिनसे मैं ऐसा कहा करता था, उनमें से अनेक मेरे चेले वन जाते थे। यदि कोई किसी बुरे अभिप्राय से मुझसे मिलने आता था तो वह इस शक्ति का परिचय पाकर फिर कभी मेरे पास नहीं आता था।

जव मैंने शिकागो आदि शहरों में भाषण करना आरम्भ किया, तव सप्ताह में वारह-वारह, तेरह-तेरह और कभी इससे भी अधिक वक्तृताएँ देनी पड़ती थीं। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक परिश्रम बहुत अधिक होने के कारण मैं वहुत थक जाता था और अनुमान होता था कि मानो वक्तृताओं के सब विषय समाप्त होनेवाले ही हैं। मैं चिन्तित हो उठता कि अब क्या कहूँगा। एक दिन वक्तृता देने के बाद लेटे हुए ऐसी चिन्ता से परेशान था—बस अब तो सब कह दिया ? अब नए विषय कहाँ से लाऊँ ? सोचते-सोचते कुछ तन्द्रासी आ गयी। उसी अवस्था में मैंने सुना जैसे कोई मेरे पास खड़ा होकर वक्तृता दे रहा हो। उसमें कितने ही नए भाव तथा नयी कथाओं का वर्णन है।

मेरे लिए वे ऐसे नए थे, मानों वे सब इस जन्म में कभी मेरे सुनने में या ध्यान में आए ही नहीं। सोकर उठने पर मैं इन सब बातों का स्मरण रखता था और वक्तृताओं में नही बातें कहा करता था। ऐसा कितनी ही बार हुआ। कई वक्तृताएँ पलङ्ग पर लेटे-लेटे मैंने सुनी। कभी-कभी तो ये वक्तृताएँ इतनी जोर से दी जाती थीं कि दूसरे कमरों में औरों को भी सुनाई पड़ती थीं। दूसरे दिन वे लोग मुझसे पूछते थे—'स्वामीजी कल रात में आप किससे इतने जोर से वार्तालाप कर रहे थे? उनके इस प्रश्न को मैं किसी प्रकार टाल दिया करता था। वास्तव में, मैं क्या सफाई देता, वे घटनाएँ तो बड़ी रहस्यमयी थीं।'

'महाराज, मेरा तो ऐसा अनुमान है कि आप ही अपने सूक्ष्म शरीर में वक्तृताएँ दिया करते थे और उन्हीं की प्रति ध्वनि स्थूल शरीर से निकला करती थी।'·········एक शिष्य ने अपनी सम्मति दी।

एक शिष्य ने पूछा, 'स्वामीजी, क्या इस प्रकार की अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ सामान्य जीवन में सम्भव है, क्या ये मन की अलौकिक स्फूर्तियाँ ही हैं या और कुछ?'

मन का खेल

स्वामीजी अपनी तेजस्वी आँखों को ऊपर उठाते हुए बोले—

'हाँ, सारा खेल मन का ही तो हैं। सारे युगों से, संसार के सब लोगों का अलौकिकता में विश्वास चला आ रहा है। हम सभी ने अनेक अद्भुत चमत्कारों के बारे में सुना है और कुछ ने उनका स्वयं अनुभव भी किया है। इस विषय का प्रारम्भ आज मैं स्वयं देखी हुई घटनाओं को बतलाकर करूँगा। मैंने एक बार ऐसे मनुष्य के बारे में सुना, जो किसी के मन के प्रश्न का उत्तर प्रश्न सुनने के पहले ही बता देता था। और मुझे यह भी बतलाया गया कि वह भविष्य की बातें भी बताता है। मुझे उत्सुकता हुई और अपने कुछ मित्रों के साथ मैं वहाँ पहुँचा। हममें से प्रत्येक ने पूछने का प्रश्न अपने मन में सोच रखा था। और गलती न हो, इसलिएए हमने वे प्रश्न कागज परलिखकर जेब में रख लिए थे। ज्योंही हममें से एक को उसने देखा, त्योंही उसने हमारे प्रश्न और उनके उत्तर देना शुरू कर दिया। फिर उस मनुष्य ने कागज पर कुछ लिखा, उसे मोड़ा और उसके पीछे मुझे हस्ताक्षर करने के लिए कहा, और बोला इसे पढ़ो मत जेब में रख लो, जब तक कि मैं इसे फिर न माँगूं।' इस तरह उसने हर एक से कहा। बाद में उसने हम लोगों को हमारे भविष्य की कुछ बातें बतलायीं। फिर उसने कहा, 'अब किसी भी भाषा का कोई शब्द या वाक्य तुम लोग अपने मन में सोच लो।' मैंने संस्कृत एक का लम्बा वाक्य सोच लिया। वह मनुष्य संस्कृत बिल्कुल नहीं जानता था। उसने कहा, 'अब अपनी जेब का कागज निकालो!' कैसा आश्चर्य। वही संस्कृत का वाक्य उस कागज पर लिखा था! और नीचे यह भी लिखा था कि जो कुछ मैंने इस कागज पर लिखा है, वही यह मनुष्य सोचेगा। और यह बात उसने एक घण्टा पहले ही लिख दी थी। फिर हममें से दूसरे को, जिसके पास भी उसी तरह का एक दूसरा कागज था, कोई एक वाक्य सोचने को कहा गया। उसने अरबी भाषा का एक वाक्य सोचा। अरबी भाषा का जानना तो उसके लिए और भी असम्भव था। वह वाक्यांश था कुरान शरीफ का। लेकिन मेरा मित्र क्या देखता है कि वह भी कागज पर लिखा है।

हममें से तीसरा था डाक्टर। उसने किसी जर्मन भाषा की डाक्टरी पुस्तक का वाक्य अपने मन में सोचा। मगर आश्चर्य कि उसके कागज पर भी वह वाक्य लिखा था।

यह सोचकर कि कहीं पहले मैं भ्रम में न रहा हूँ, कई दिनों बाद मैं फिर दूसरे मित्रों को साथ लेकर वहाँ गया। लेकिन इस बार भी उसने वैसी ही आश्चर्यजनक सफलता पायी।

मानसिक बल

प्राचीन समय में हजारों वर्ष पूर्व ऐसी बातें आज की अपेक्षा और भी अधिक परिमाण में हुआ करती थीं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब किसी देश की आबादी घनी होने लगती है, तो मानसिक बल का ह्रास होने लगता है। जो देश विस्तृत है और जहाँ लोग बिरले बसे होते हैं, वहाँ मानसिक बल अधिक होता है। विश्लेषणप्रिय होने के कारण

हिन्दुओं ने इन विषयों को लेकर उनके संबंध में अन्वेषण किया है। वे जिस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं, वह यह है कि यह सारा अद्भुत सामर्थ्य मनुष्य के मन में अवस्थित है। मनुष्य का मन समष्टि-मन का अंशमात्र है। प्रत्येक मन दूसरे प्रत्येक मन से संलग्न है। और प्रत्येक मन, वह चाहे जहाँ रहे, सम्पूर्ण विश्व के साथ सम्वद्ध है।

मेरे गुरुदेव परमहंस रामकृष्ण तो बार-बार कहते थे कि हमारा मन केवल इस व्यक्त-अव्यक्त जगत के साथ ही क्यों, जगदीश्वर भगवान के साथ भी अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। हम व्यक्ति का साक्षात कर कभी तो व्यक्ति की विभूतियों तक ही सीमित रह जाते हैं, कभी हमारी साधना जगत तक जाती है और जगत को ही सर्वस्व समझकर हम आगे की यात्रा भूल जाते हैं, किन्तु जो मूल ध्येय को जानते हैं, वे इन मरीचिकाओं से मोहित न होकर परमात्मा को अपने भीतर व्यक्त करते हैं, उससे साक्षात करते हैं—विभूतियाँ या अलौकिक अतीन्द्रिय शक्तियाँ वहाँ तृणवत हो जाती हैं। कोई कामना ही बाकी नहीं रह जाती, हम पूर्णकाम हो जाते हैं।'

स्वामीजी के उद्दीप्त मुखमंडल को अपलक देख रहे और उनके रहस्योद्घाटन के 'परम' रस को दत्तचित पी रहे शिष्य वर्ग को देख विवेकानन्द का रोम-रोम आनन्द-विभोर हो उठा। अपने गुरुदेव की स्मृति में आसुओं की गंगा-यमुना उनकी आँखों से बह पड़ी। रुद्ध कंठ से बोले, मैं तो भाग्यवान हूँ। स्वयं तो अनाड़ी-अबोध था। दुराग्रही भी। किन्तु गुरुदेव तो करुणा के निःसीम सागर थे। भक्ति के बिना भी उन्होंने मुझे चमत्कार की इन मरीचिकाओं से पार कर दिया।

एक शिष्य ने प्रणाम करते हुए डरते-डरते पूछा—'भगवन्, क्या रामकृष्ण देव ने आपको ईश्वर-दर्शन भी कराया था ?'

स्वामी आनन्द-विस्फारित नेत्रों से शिष्य-समुदाय को सप्रेम निहारते हुए बोले—'क्यों नहीं ? तब मैं निरा युवक था। दरिद्रता से सारा परिवार सन्तप्त था। मुझे नौकरी चाहिए थी, धन चाहिए था। अपने ही में डूबा मैं भूल गया था कि सबकी चिन्ता करनेवाला ईश्वर भी है, माँ भी है। मैंने गुरुदेव से जिद की कि माँ से सिफारिश कर दो। उन्होंने मुझे माँ के पास भेज दिया। माँ की वात्सल्य मुद्रा देखकर मैं सब भूल गया। माँ और मैं दोनों एक-दूसरे को अपलक देखते रहे—मेरे नेत्रों से झड़ी लग गयी। सर्वत्र माँ-ही-माँ थी और कुछ नहीं था। जगत-पर-जगत उनके स्तनों का दुग्ध पान कर रहा था। मां मुस्करायीं, मेरी ओर हाथ बढ़ाया। क्या माँगता मैं ? माँ से भी कभी कोई माँगता है ? क्या माँ से भी माँगने की आवश्यकता पड़ती है ? माँ तो पुत्र की सारी आवश्यकताएँ जानती हैं। मगर माँ नहीं मानीं—गुरुदेव के चरणों से लिपट गया। वे माँ, माँ कहते हुए रो रहे थे।'

अन्तिम वाक्य कहते-कहते विवेकानन्द समाधि में लीन हो गए।

वैराग्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी

●

उचित और अनुचित की ठीक-ठीक मीमांसा कर सकने वाली मनोवृत्ति को विवेक कहते हैं, किन्तु केवल विवेक-ज्ञान मात्र से मनुष्य ठीक कर्त्तव्य का पालन नहीं कर पाता। दुर्योधन के नाम पर महाभारत में व्यास जी के नाम पर एक श्लोक प्रचलित है जिसका भावार्थ यह है कि 'हे हृषिकेश, धर्म को मैं जानता तो हूँ, परन्तु धर्म-युक्त आचरण के प्रति मेरे चित्त में प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् समझ-बूझकर भी जो कर्त्तव्य है, उसका आचरण मैं नहीं कर सकता। इसी प्रकार अधर्म को जानते हुए भी मैं अधर्म-युक्त कार्यों से विरत नहीं हो पाता। हृदय के अन्तराल में बैठकर तुम जैसा कराते हो वैसा ही करता हूँ।'

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा
नियुक्तो स्मि तथा करोमि॥

इस प्रकार सत् और असत् की या धर्म या अधर्म की उचित मीमांसा करने वाले विवेकी लोग भी सब समय यथोचित कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर पाते। शास्त्र में बताया गया है कि विवेक के साथ-साथ चित्त में वैराग्य का भी उदय होना चाहिए। जब सत् और असत् का ज्ञान हो जाये तो असत् का त्याग करने की जो वृत्ति है उसको वैराग्य कहते हैं। परन्तु यह वैराग्य कहते हैं। यदि एक दिन में ही उदित होकर विलीन हो जाये, तो उसे श्मशान वैराग्य कहते हैं। श्मशान में जाकर प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है, सुख-भोग अनित्य और नश्वर हैं, परन्तु यह वैराग्य क्षणिक और अस्थायी होता है। निरन्तर अभ्यास के बाद मनुष्य मनोवृत्तियों को असत् आचरण की ओर जाने से रोक पाता है। अर्जुन ने भगवद्गीता में भगवान् से कहा था कि मन बड़ा चंचल है और उसका निग्रह करना उसी प्रकार कठिन है जैसे आंधी का रोकना। इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया था कि वैराग्य और अभ्यास से इस कठिन कार्य को किया जा सकता है।

"अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।"

●

तुलसी कानन चैव गृहे यस्यावतिष्ठते। तद्गृहं तीर्थभूतं हि नायान्ति यमकिंकराः॥
जिस घर में है लगा, तुलसी का अति पूत। वह घर तीर्थ समान है, नहिं आते यम दूत॥
धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्। धर्मेण लभ्यते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥
धन मिलता है धर्म से, सुख भी देता धर्म। जगत सार है धर्म का, सब कुछ देता धर्म॥
दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा। पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम्॥
बाँए जिनके जानकी, लखन दाहिनी ओर। संमुख श्री हनुमान उन, नमन राम को मोर॥

(अनुवादक—समाजरत्न श्री मुरारीलाल केडिया)

●

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

अगस्त, १९८४

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, दाल, साग आदि १५००) रुपये एक बार में।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये एक बार में।

उपर्युक्त राशि के ब्याज से प्रतिवर्ष एक दिन।

श्री बृजमोहन सराफ,	कलकत्ता	कच्चा	१-८-८४
श्री कमल कुमार कायाँ,	,,	,,	४-८-८४
श्री रामजी दास लोहिया,	,,	,,	८-८-८४
श्री गोपीरामजी अग्रवाल,	,,	,,	२६-८-८४
श्री रघुनाथप्रसाद डालमिया	,,	,,	३०-८-८४

अस्थायी भण्डारा

स्व० पं० रामनाथ तिवारी द्वारा

श्री सुभाष नाथ तिवारी, देवरिया — पक्का — २-८-८४

डॉ ल्लन सिंह, वनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी — कच्चा — ३-८-८४

श्री ओम प्रकाश छारिया, छारा, राजस्थान — पक्का — ५-८-८४

श्री जनार्दन स्वरूप ब्रह्मचारी, काशी मुमुक्षु भवन, वाराणसी — कच्चा — ६-८-८४

श्रीमती केशर देवी गोयनका, केदारघाट, वाराणसी — पक्का — ७-८-८४

श्रीमती शान्ति देवी केडिया, काशी मुमुक्षु भवन, वाराणसी — पक्का — ९-८-८४

श्री अर्जुनदास सुहासरिया बाकुड़ा — पक्का — १०-८-८४

श्री कमलकुमार की माताजी, कलकत्ता — पक्का — ११-८-८४

स्व० स्वामी शीतेश्वरानन्द तीर्थ द्वारा

श्री श्यामलाल प्रभाकर, नई दिल्ली — पक्का — १६-८-८४

श्री शिवप्रसाद वर्मा, पीलीकोठी, वाराणसी — कच्चा — ३१-८-८४

अन्नक्षेत्र

श्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, काशी मुमुक्षु भवन, वाराणसी — १५०) मासिक

श्री ताराचन्द गुप्ता, नई दिली (चीनी वितरण) ४५)

श्री विजय कुमार वैद — ३००)

श्रीमती सरस्वती देवी गोयनका, कलकत्ता — १००)

श्रीमती गायत्री देवी वजाज, कलकत्ता — १००)

श्रीमती दुर्गा देवी सांगानेरिया (२ बोरा गेहूँ) ३७०)

श्री प्रहलादराय द्वारा श्री सत्यनारायण रूँगटा काशी मुमुक्षु भवन, वाराणसी — ३००) मासिक

श्रीमती शान्ती देवी केडिया, काशी मुमुक्षु भवन, वाराणसी — ५०५) (मार्च से जुलाई '८४)

श्री शिव भगवान जालान चैरिटी ट्रस्ट द्वारा

श्री राम कुमार सराफ, मारवाड़ी सेवा-संघ, वाराणसी — ९००) (फरवरी से जुलाई '८४)

श्री रामकुमार सराफ, मारवाड़ी सेवा-संघ, वाराणसी — ४५०) (फरवरी से जुलाई '८४)

जीर्णोद्धार

श्री राधाकृष्ण झुनझुनवाला, कलकत्ता — ६७००)

यौगिक उपचार केन्द्र

श्री एस. आर. अग्रवाल चैरिटेबुल ट्रस्ट, कलकत्ता — १५७५)

नेत्र चिकित्सा शिविर

श्री बद्री दास कोठारी, कलकत्ता — ५०१)

श्री ताराचन्द गुप्ता, नई दिल्ली — ५०१)

श्री रामवल्लभ चमड़िया काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी — ५०१)

श्री सत्यनारायण अग्रवाल की माता जी काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी — ५०)

श्री श्यामलाल अग्रवाल, कलकत्ता — ५१)

होमियोपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
३९६	१६६५	२०६१

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
११३	६११	७२४

योगिक उपचार केन्द्र

नये योगी	पुराने योगी	कुल योगी
२५	३२	५७

Regd. No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82

सितम्बर, १९८४ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जो के अधीन मान्यता प्राप्त

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२०१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दोनों दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा-कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पांच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है, इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद-वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं जिनमें प्रातःकालीन एवं सायकालीन पूजा अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रम्हचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एव पर्यटकों के आवास की उत्तम और आधुनिकतम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आधुनिक साज-सज्जा के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लैट भी है। हर फ्लैट में तीन कमरे रसोई, स्नान-घर आधुनिक सुविधाओं से युक्त है। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदार खण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन बिताने की कामना से काशी पधारने वालों का स्वागत है।

●

काशी मुमुक्षु भवन सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा शिव प्रेस, ए. १०।२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित।